

सरस्वती प्राच्य ग्रन्थमाला-४

श्रीमद्भद्रकालङ्कदेवविरचितम्

अकलङ्कग्रन्थत्रयम्

[स्वोपज्ञविवृतिसहितं लघीयस्त्रयम् न्यायविनिश्चयः, प्रमाणसंग्रहश्च]

[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारशास्त्रिनिर्मितटिप्पणादिसहितम्]

सम्पादक

न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारशास्त्री, जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक भंडार

अहमदाबाद-३८०००१

प्रकाशक :

सरस्वती पुस्तक भंडार
११२, हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद—३८०००१
फोन ५३५६६९२

प्रथम संस्करण १९३९
पुनर्मुद्रण १९९६

मूल्य—३००

मुद्रक :-

हिमोशु लेज़र सिस्टम
४६, सस्कृत नगर, रोहिणी सेक्टर १४
दिल्ली—११००८५
दूरभाष—७२६२०००, ७८६२१८३

Saraswati Oriental Series No.-8

034716



AKALANĀKAGRANTHATRAYAM

[SVOPAJÑAVIVṚTI-SAHITAM LAGHĪYASTRAYAM,
NYĀYAVINIŚCAYAḤ AND PRAMĀÑASAṄGRAHAḤ]

OF

SRI BHATTĀKALANĀKĀDEVA

EDITED WITH CRITICAL NOTES, VARIANT READINGS,
INTRODUCTION AND INDEXES ETC.

By

NYAYACHARYA PANDIT MAHENDRA KUMAR SHASTRI
JAINA & PRĀCĪNA NYĀYATĪRTHA

PUBLISHED BY

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

AHMEDABAD - 380001

Published By:

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

112, Hathukhana, Ratanpol

Ahmedabad-380001

Phone · 5356692

First Edition 1939

Reprint 1996

Price · Rs 300

Printed at :

Humanshu Laser System

46, Sanskrit Nagar,

Rohini Sect 14, Delhi 110085

Ph 7262000 / 7862183

समर्पणम्—

१—विभाति सद्ब्रह्मवपुर्गणेशप्रसादवर्णी गुरुरसदीयः ।
प्रसादतो यस्य निरस्य विभ्रं करोमि निभ्रं सकलेप्सितार्थम् ॥

२—मञ्जुलजैनहितैपीत्याख्यं पत्रं प्रचारयन् प्रथितः ।
पूर्णगवेषणमभितः सञ्चितजैनेतिहासश्च ॥
नाथुरामप्रेमी सन्ततमृत्साहयन्नतिप्रेम्णा ।
न्यायकुमुदसम्पादनलभं चेतो ममाकार्षीत् ॥

३—श्रीजैनवाणीप्रणयी मुसद्दीलालः स्वधर्मस्य निपेवकोऽस्ति ।
यस्यानुकम्पाभिरहं चिराय स्याद्वादविद्यालयमाश्रयामि ॥

तेनोदाहृतनाम्नां सतां त्रयाणां करारविन्देषु ।
अमलाकलङ्कशास्त्रत्रयं क्रमादप्यते मोदात् ॥

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारेण

ग्रन्थानुक्रम

१ प्रास्ताविक (मुनि जिनविजयजी)	१-६
२ प्राक्थन (पं० सुखलालजी)	७-१३
३ सम्पादकीय चक्रव्य	१-१०
(सम्पादनगाथा, सस्करण परिचय, सशोधन- सामग्री, आभारप्रदर्शन)	
४ प्रस्तावना (पं० महेन्द्रकुमार)	११-१०६
(१) ग्रन्थकार	११-३२
जन्मभूमि-पितृकुल	११-१३
समय विचार	१३-१७
अकलंक के ग्रन्थों की तुलना	१७-३२
भर्तृहरि-कुमारिल	१७-१८
भर्तृहरि-धर्मकीर्ति	१८
कुमारिल-धर्मकीर्ति	१८
धर्मकीर्ति का समय	२१-२४
भर्तृहरि-अकलंक	२४
कुमारिल-अकलंक	२४
धर्मकीर्ति-अकलंक	२५
प्रज्ञाकरगुप्त-अकलंक	२६-२९
कर्णकगोमि-अकलंक	२९-३०
धर्मोत्तर-अकलंक	२९-३०
शान्तरक्षित-अकलंक	३१-३२
(२) ग्रन्थ	३३-१०६
ब्राह्मस्वरूप परिचय	३३-४२
(ग्रन्थत्रय की अकलंककर्तृकता, नाम का इतिहास तथा परिचय, रचना शैली)	
छान्तरिक विषय परिचय	४३-१०६
प्रमाणनिरूपण	४३-७५
प्रमाणसामान्य	४३
प्रमाणसम्प्लव	४४
ज्ञान का स्वपरसंबन्धनविचार	४५-४७
प्रत्यक्ष	४८-५२
सर्वज्ञत्वविचार	५२-५७
परोक्ष	५७-६५
वाद	६५-६६
जय-पराजय व्यवस्था	६६-६७
जाति	६७
श्रुत	६७-७०
वेदापीरुषेयत्वविचार	७०-७२
प्रमाणाभास	७२

ज्ञानके कारणों का विचार	७२-७४
प्रमाण का फल	७५
प्रमेयनिरूपण	७५-८४
प्रमाण का विषय	७५-७६
श्रीव्य श्रीर सन्तान	७६-७७
विभ्रमवाद सर्ववेदनाईसादिनिरास	७८-८२
भूतचेतन्यवादनिरास	८२-८४
मयनिरूपण	८५-१००
जैनवृष्टि का आधार और स्थान	८५-९२
नय	९२-९४
नेगमादिनय विवेचन	९४-१००
निरूपणनिरूपण	१००-१०१
सप्तभगोन्निरूपण	१०१-१०६
सप्तमंगी	१०१-१०३
सकलादेश-विकलादेश	१०३-१०४
सहायादिदूषण	१०५-१०६
५ ग्रन्थत्रय का विषयानुक्रम	१०७-११६
६ लघीयस्त्रय (मूलग्रन्थ)	१-२६
७ न्यायविनिश्चय	२६-६४
८ प्रमाणसंग्रह	६७-१२७
९ टिप्पण	१३१-१२२
लघीयस्त्रय टिप्पण	१३१-१५४
न्यायविनिश्चय टिप्पण	१५५-१७०
प्रमाणसंग्रह टिप्पण	१७१-१८०
टिप्पणपरिशिष्ट	१८१-१८२
१० परिशिष्ट	१-६०
१ लघीयस्त्रय-कारिकानुक्रम	१-२
२ लघीयस्त्रय-अवतरण	२
३ न्यायविनिश्चय-कारिकानुक्रम	३-१२
४ प्रमाणसंग्रह-कारिकानुक्रम	१३-१४
५ प्रमाणसंग्रह-अवतरण	१४
६ लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयगत दार्शनिक साक्षात्तिक नामसूची	१५-५२
७ टिप्पणोपयुक्त ग्रन्थसंकेतविवरण	५३-५७
८ टिप्पणनिदिष्ट आचार्यसूची	५७
९ लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयवाह्य अकलंकोक्त गद्यपद्यसूची	५८-६०
११ शुद्धि-पाठभेद	६०



AKALĀṆKA GRANTHATRAYAM

(SVOPAJĪVAHĪTISAHITAM LAGHĪYASTHAYAM, NYĀYATINISĒ'YAH,
PRAMĀṆASĀNGRAHAŚĒ'YĀ)

OF

ŚRĪ BHATTĀKĀLĀṆKADEVA

EDITED WITH: -CRITICAL NOTES, VARIANT READINGS, INTRODUCTION
AND INDEXES ETC

BY

Nyayacharya Pandit Mahendra Kumar Śāstri

JAINA & JĀṬHĪNA NYĀYĀSTHĪTĪ, PART OF "NYĀYĀSTHĪTĪ GRĀṆTHĪ"
NYĀYĀSTHĪTĪ GRĀṆTHĪNĪMĪ ŚRĪ JAINA NYĀYĀSTHĪTĪ,
PART III, PART I

PRINTED BY

THE SAṆCHĀLAKA-SIṆGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

AHMEDABAD CALCUTTA

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

अकलंकग्रन्थत्रयम्

[स्वोपज्ञविधृतिसहितं लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चयः, प्रमाणसंग्रहश्च ।]

[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारशास्त्रिनिर्मितटिप्पणादिसहितम्]



सम्पादक

न्यायाचार्य परिडित महेन्द्रकुमारशास्त्री जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ

सम्पादक—“न्यायकुमुदचन्द्र”

न्यायाध्यापक श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, भदौनी, बनारस ।



प्रकाशन कर्ता

संचालक—सिंधी जैन ग्रन्थमाला

अ ह म दा बा द — क ल क ता

प्रास्ताविक

सिंधी जैन ग्रन्थमाला के १२ वे मणिके रूपमें पाठको के करकमलमें, आज यह

अकलकप्रन्थत्रय नामक पुस्तक उपस्थित की जा रही है। इस ग्रन्थत्रय के कर्ता भट्ट श्री अकलकदेव जैनधर्म के दिगम्बर संप्रदाय के एक महान् ज्योतिर्वर आचार्य थे। जैनमतसम्मत खास खास सिद्धान्तों और पदार्थों की प्रमाणपरिष्कृत व्याख्या और तर्कामित प्रतिष्ठा करने में इन आचार्य का शायद सर्वाधिक कर्तृत्व है। आर्हतमत के दार्शनिक विचारों की मौलिक सुश्रुतला के व्यवस्थित सकलन का कार्य मुख्यतया इन तीन आचार्यों ने किया है—१ दिवाकर सिद्धसेन, २ स्वामी समन्तभद्र और ३ भट्ट अकलकदेव। इनमें प्रथम के दो आचार्य आविष्कारक कोटिके हैं और भट्ट अकलक समुच्चायक और प्रसारक कोटिके हैं। सिद्धसेन और समन्तभद्र, इन दोनों में कौन पूर्वकालीन हैं और कौन पश्चात्कालीन इसका अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया। ज्ञाननयन पंडित सुखलालजी ने सम्मतितर्क आदि की प्रस्तावना में, तथा जैन-इतिहासान्वेषक प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तक में, इस विषय की यद्यपि खूब ऊहापोहपूर्ण आलोचना और विवेचना की है, तथापि अभी इसमें और भी अधिक प्रमाण और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता अपेक्षित है इसमें सन्देह नहीं।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार दिवाकर सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रभावक पुरुष हैं और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदाय के। तथापि इन दोनों आचार्यों को दोनों सम्प्रदायों के अनुगामी विद्वानों ने, समान श्रद्धास्पद और समान प्रामाणिक के रूपमें स्वीकृत और उल्लिखित किया है। जिस आदर के साथ सिद्धसेनसूरि की कृतियों श्वेताम्बर साहित्य में प्रतिष्ठित हैं उसी आदर के साथ वे दिगम्बर साहित्य में भी उद्धृत हैं और जो सम्मान दिगम्बर साहित्य में समन्तभद्राचार्य को समर्पित है वही सम्मान श्वेताम्बर साहित्य में भी सुस्यूत है। इन दोनों की कृतियों में, परस्पर संप्रदाय-भेद की कोई विरलोपात्मक व्याख्या सूचिन न होकर, समन्वयात्मक व्याख्या ही विशेषतः विवेचित होने से, इन दोनों का स्थान, दोनों संप्रदायों में समान सम्मान की कोटि का पात्र बना हुआ है।

भट्ट अकलकदेव, स्वामी समन्तभद्र के उपरि सिद्धान्तों के उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक हैं। जिन मूलभूत तात्त्विक विचारों का और तर्क-सत्रादों का स्वामी समन्तभद्र ने उद्बोधन या आविर्भाव किया उन्हींका भट्ट अकलकदेव ने अनेक तरह से उपबृंहण, विरलोपण, संचयन, समुपस्थापन, सकलन और प्रसारण आदि किया।

इस तरह भट्ट अकलंकदेव ने जैसे समन्तभद्रोपज्ञ आर्हतमतप्रकर्षक पदार्थों का परिस्फोट और विकास किया वैसे ही पुरातन-सिद्धान्त-प्रतिपादित जैन पदार्थों का भी, नई प्रमाण-परिभाषा और तर्कपद्धति से, अर्थोद्घाटन और विचारोद्बोधन किया। जो कार्य रवेताम्बर संप्रदाय में जिनभद्रगणी, मल्लवादी, गन्वहस्ती और हरिभद्रसूरि ने किया वही कार्य दिगम्बर संप्रदाय में अनेक अंशों में अकेले भट्ट अकलंकदेव ने किया; और वह भी कहीं अधिक सुंदर और उत्तमरूपसे किया। अत एव इस दृष्टि से भट्ट अकलंकदेव जैन-वाङ्मयाकाश के यथार्थ ही एक बहुत बड़े तेजस्वी नक्षत्र थे। यद्यपि संकुचित विचार के दृष्टिकोण से देखने पर वे संप्रदाय से दिगम्बर दिखाई देते हैं और उस संप्रदाय के जीवन के वे प्रबल बलवर्द्धक और प्राणपोषक आचार्य प्रतीत होते हैं; तथापि उदार दृष्टि से उनके जीवनकार्य का सिंहावलोकन करने पर, वे समग्र आर्हतदर्शन के प्रखर प्रतिष्ठापक और प्रचण्ड प्रचारक विदित होते हैं। अतएव समुच्चय जैनसंघ के लिये वे परम पूजनीय और परम श्रेष्ठ मानने योग्य युगप्रधान पुरुष हैं।

सिंधी जैन ग्रन्थमाला में, इस प्रकार इनकी कृतियों का यह संगुम्फन, माला के गौरव के सौरभ की सृष्टि का वतानेवाला और ज्ञानमधु-खोलुप विद्वद्-भ्रमरगण को अपनी तरफ अधिक आकृष्ट करनेवाला होगा। ग्रन्थमाला के प्रतिष्ठाता श्रीमान् सिंधीजी, यद्यपि संप्रदाय की दृष्टिसे रवेताम्बर समाज के एक प्रधान अग्रणी और जातिनेता पुरुष हैं; तथापि अपने उच्च संस्कार और उदार स्वभाव के कारण ये साम्प्रदायिक लुब्धता से सर्वथा परे हैं। जैन समाजके व्यापक गौरव का, ये साम्प्रदायिकता के रंगीन ओर विरूपदर्शी चशमे पहन कर उच्चावच अवलोकन नहीं करते। समुच्चय जैन साहित्यगत सुन्दर सुन्दर ग्रन्थरत्नों का, भेदभाव-निरपेक्ष, सुसंस्कृत रीति से समुद्धार करना और तद्द्वारा जगत् में समुच्चय जैन साहित्य का समादर बढ़ाना, यही इस ग्रन्थमाला के स्थापन में इनका आदर्श ध्येय है। इसी ध्येय के अनुसार, रवेताम्बर साहित्य की संपत्तिरूप समके जानेवाले पूर्व प्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थरत्नों के साथ, आज दिगम्बर साहित्य के मणिरूप इन कृतियों का भी सर्वप्रथम प्रकाशन किया जा रहा है। और भविष्य में अन्य भी ऐसे कई दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थरत्न यथासमय प्रकाशित किये जाने की भावना है।

सिंधीजी का यह आदर्श कार्य, जैन समाज के अन्यान्य धनिक जनो के लिये अनुकरणीय है। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैन समाज में, अभी तक सिंधी जी के जैसा आदर्श उदारचेता, साहित्यप्रिय और ज्ञानोपासक कोई धनिक सज्जन अग्रसर नहीं हुए, जो इस प्रकार अपने द्रव्य का, अमेदभाव से सदुपयोग करने की इच्छा रखते हों। यद्यपि, श्रीमद् राजचन्द्रजी की प्रेरणा और भावना को लक्ष्यकर, उनके कुछ अनुयायी जनो में यह साम्प्रदायिक भाव शिथिल हुआ नजर आता है और उनके द्वारा संचालित रामचन्द्र ग्रन्थमाला में, जो बहुत वर्षों से बम्बई से प्रकाशित हो रही है—

रवेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों के कुछ ग्रन्थों का समान रूपसे प्रकाशन किया जाता है, तथापि उस ग्रन्थमाला का ध्येय शुद्ध साहित्यिक न होकर उसका ध्येय धार्मिक है। उसके पीछे जो प्रेरणा है वह एक अर्थ में असांप्रदायिक होकर भी, दूसरे अर्थ में बहुत कुछ सांप्रदायिक है। वह श्रीमद् राजचन्द्रजी के एक नये अतएव एक तीसरे ही संप्रदाय का प्रभाव, प्रकाश और प्रचार करने की दृष्टि से प्रकट की जाती है। सिंधी जैन ग्रन्थमाला के पीछे ऐसा कोई सङ्कुचित हेतु नहीं है। इसका हेतु विशुद्ध साहित्य-सेवा और ज्ञानज्योति का प्रसार करना है। जैन धर्म के पूर्वकालीन समर्थ विद्वान् अपने समाज और देश में, ज्ञानज्योति का प्रकाश फैलाने के लिये, यथाशक्ति अनेकानेक विषयों के जो छोटे बड़े अनेकानेक ग्रन्थनिबन्धन रूप दीपकों का निर्माण कर गये हैं, लेकिन देश काल की भिन्न परिस्थिति के कारण, अब वे वैसे क्रियाकारी न हो कर निर्वाणोन्मुखसे बन रहे हैं, उन्हीं ज्ञानदीपकों को, इस नवयुगीन-प्रदर्शित नई सङ्गोधनपद्धति से सुपरिमार्जित, सुपरिष्कृत और सुसज्जित कर, समाज और देश के प्रोत्साहन में प्रस्थापित करना ही इस ग्रन्थमाला का एक मात्र ध्येय है। समाज और देश इससे तत्तद् विषयों में उदीप्त और उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश प्राप्त करें।



प्रस्तुत ग्रन्थके संपादक और संपादन कार्य के विषय में पंडितवर श्रीसुखलाल जी ने अपने वक्तव्य में यथेष्ट निर्देश कर दिया है। एक तरह से पंडितजी के परामर्श से ही इस ग्रन्थ का संपादन कार्य हुआ है। संपादक पंडित श्रीमहेन्द्रकुमार जी अपने विषय के आचार्य हैं और तदुपरान्त खूब परिश्रमशील और अध्ययनरत अध्यापक हैं। आधुनिक अन्वेषणात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से विषयों और पदार्थों का परिशीलन करने में यथेष्ट प्रवीण हैं। दार्शनिक, सांप्रदायिक और वैयक्तिक पूर्वग्रहों का पक्षपात न रख कर तत्त्वविचार करने की शैली के अनुगामी हैं। इससे भविष्य में हमें इनसे जैन साहित्य के गभीर आलोचन-प्रत्यालोचन की अच्छी आशा है।



ग्रन्थ के उपोद्घातरूप जो विस्तृत निबन्ध राष्ट्रभाषा में लिखा गया है, उसके अवलोकन से, जिज्ञासुओं को ग्रन्थगत हार्द का अच्छी तरह आकलन हो सकेगा, और साथ में बहुत से अन्यान्य तात्त्विक विचारों के मनन और चिन्तन की सामग्री भी इसमें उपलब्ध होगी। ग्रन्थकार महृ अकलकदेव के समय के बारे में विद्वानों में कुछ मतभेद चला आ रहा है। इस विषय में पंडितजी ने जो कुछ नये विचार और तर्क उपस्थित किये हैं उन पर तज्ज्ञ विद्वान् यथेष्ट ऊहापोह करें। हम इस विषय में अभी अपना कुछ निर्णायक मत देने में असमर्थ हैं। प्रस्तावना के पृ० १४-१५ पर पंडितजी ने नन्दीचूर्ण के कर्तृत्व के विषय में जो शका प्रदर्शित की है—वह हमें संशोधनीय

भालूम देती है। शायद, सबसे पहले हमने ही अपने 'हरिमद्रसूरि का समयनिर्णय' नामक उस पुगने निबन्ध में यह सूचित किया था कि नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास-गणी महत्तर हैं और वे ही निशीथचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के कर्ता भी हैं। और नन्दीचूर्णि के प्रान्तोल्लेख से यह भी निर्धारित किया था कि—उसकी रचना शक-संवत् ५१८ (वि० स० ७३३) में समाप्त हुई थी। पंडितजी को चूर्णि का रचनाकाल तो मान्य सा लगता है लेकिन कर्ता के विषय में सन्देह है। इसके कर्ता जिनदासगणी ही हैं इसका कोई प्रमाण इन्हे नहीं दिखाई देता। साथ में, भाडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैन केटलॉग से प्रो० H. R. कापडिया का मत भी प्रदर्शित किया है, जिसमें उन्होंने 'नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास हैं यह प्रघोपमात्र है' ऐसा कहा है। प्रो० कापडिया ने यह प्रघोपमात्र है, ऐसा कथन किस आधार से किया है इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। लेकिन उस केटलॉग में जो नन्दीचूर्णि का प्रान्त पद्य स्वयं प्रोफेसर महाशय ने उद्धृत किया है उसमें तो, इस चूर्णि के कर्ता 'जिनदास गणि महत्तर' हैं, ऐसा प्रकट विधान किया हुआ मिलता है। यह ठीक है कि नन्दीचूर्णि का यह पद्य गूढ है और गूढ ही रूप में चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश किया है, जिससे प्रो० कापडिया इस गूढ भाव को समझने में असफल हुए हो। इसका विशेष विस्तार न करके हम सिर्फ यहाँ पर इतना ही सूचित कर देना चाहते हैं कि—इस पद्य का जो प्रथम पाद 'निरेणगामेत् महासहाजिता' ऐसा लिखा हुआ है वह कुछ भ्रष्टसा है, इसके बदले 'निरेणगामेत् महासदाजिना' ऐसा पाठ चाहिए। इस पाद में कुल १२ अक्षर हैं और इन बारह अक्षरों को छौटपलट कर क्रम में रखने से 'जिनदासगणिणा महत्तरेणा' यह वाक्य निकल आता है। निशीथचूर्णि में भी इन्होंने इसी ढँग से अपना और अपने गुरु आदि का नामोल्लेख किया है। इसलिये नन्दीचूर्णि के भी कर्ता वही जिनदास गणी महत्तर हैं जो निशीथचूर्णि के कर्ता हैं यह निश्चित है।*

* प्रसंगवश, हम यहाँ पर इस नन्दीचूर्णि के रचना समय के विषय में भी कुछ निर्देश कर देना चाहते हैं। जिस तरह पंडित श्री महेश्वरकुमारजी ने, इसके कर्तृत्व के विषय में शका की है इसी तरह कुछ विद्वान् इसके रचनाकाल के विषय में भी वैसे ही शका करते हैं। जिस तरह प्रो० कापडिया जैसे उक्त पद्य के मर्म को न समझ कर इसके कर्ता के नाम को 'प्रबोधयान' कह देने का साहस करते दिखाई देते हैं, वैसे कुछ विद्वान्, इस चूर्णि के प्रान्त में जो रचनाकाल निर्देशक पवित है, उसके उत्तने अथा की प्रक्षिप्त बतला कर, उसका अपलाप करते दिखाई देते हैं। उनका साहस तो इनसे भी बहुत बढ़ कर है। वे इस पवित्रगत, उस वाक्याश का अपलाप करके ही नहीं चुप रहते, वे तो अपने छपाये हुए ग्रन्थों से उत्तने वाक्याश को, स्वेच्छापूर्वक निकाल कर बाहर फेंक देने तक का अधिकार रखते हैं और बिना किसी प्रमाण बतलाए कह देना चाहते हैं कि किसी किसी प्रति में यह पाठ नहीं भी मिलता है और इसलिये यह प्रक्षिप्त है। इत्यादि।

नन्दीचूर्णि की जो प्रति छपाई गई है उसमें ऐसा ही किया गया मजर भा रहा है। इसके

इस सम्बन्ध के जो अन्य विचार हैं उन पर हमने अभी तक कोई विशेष विचार नहीं किया। निःश्रीचूर्ण में जिस सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ का निर्देश है वह अकल्क-कृत ही है या किसी अन्यकृत है इसका विशेष विचार आवश्यक है। सम्प्रदाय भेद के कारण एकही नामके दो दो ग्रन्थ रचे जाने के उदाहरणों का हमारे साहित्य में अभाव नहीं है। सिद्धपाण्डु, समयसार, नयचक्र, धर्मपरीक्षा आदि ऐसे अनेक समानात्मक ग्रन्थ

छपवानेवाले वे ही मुप्रसिद्ध आगमोद्धारक आचार्यवर्य श्रीसागरानन्द सूरि हैं, जिनकी ज्ञानोपासना के हम अत्यन्त प्रशंसक हैं और जिनका शास्त्रव्यासग जैनसमाज के समग्र साधुवर्ग में सर्वोत्कृष्ट है। सूरिजी महाराज, हरिभद्रसूरि के उस समयनिर्णय के विरुद्ध हैं जो हमने अपने निबन्ध में निश्चित किया है। उसीके सबन्ध में आपका यह मन्तव्य है कि नन्दीचूर्ण के रचनासमय का जो निर्देश उसकी प्रारम्भ पंक्ति में किया गया है वह ठीक नहीं है और इसलिये वह प्रक्षिप्त है। किसी ग्रन्थ में किसी पंक्ति के प्रक्षिप्त होने की बात कोई आश्चर्यजनक नहीं होती। संकटों प्रथो में संकटों पंक्तियाँ प्रक्षिप्त मिलती हैं। लेकिन यह पंक्ति प्रक्षिप्त है या मौलिक है इसका विचार और निर्णय किसी प्रमाण के आधार से ही किया जाता है। बिना आधार के किया जानेवाला कथन विद्वानों को ग्राह्य नहीं हो सकता। अगर हमें किसी ग्रन्थ में की कोई पंक्ति, उसकी पुरानी हस्तलिखित पोथियों में, भिन्न भिन्न शब्दोवाली या वाक्याशोवाली प्राप्त हो, तो हमें जरूर मानना पड़ेगा कि उस पंक्ति की मौलिकता के विषय में कुछ न कुछ गूढ़ रहस्य है। ऐसे शक्ति स्थलों में सत्यान्वेषी विद्वानों का कर्तव्य होता है कि उन पंक्तियों का खूब सत्यतापूर्वक संशोधन और संपादन किया जाय और कहीं की प्रति में कौन पाठ मिलता है और कौन नहीं मिलता इसका प्रामाणिक परिचय दिया जाय। हो सके तो उसकी फोटो-प्रतिकृति भी प्रकट की जाय। ऐसा करनेसे हमारा कथन और मन्तव्य सत्य का अधिक समर्थन करनेवाला होता है और हमारी प्रामाणिकता बढ़ती है। नन्दीचूर्ण के कर्ता चाहे जिस समय में हुए सिद्ध हो, हमें उसके बारे में यत्किंचित् भी कदाग्रह नहीं है, वैसे ही हरिभद्रसूरि के समय का जो निर्धारण हमने किया है उससे ग्रन्थया ही यदि वह किसी ग्रन्थ प्रामाणिक आधारों पर से सिद्ध हो सकता हो तो हम उसको उसी अण स्वीकार करने को उद्यत ही नहीं हैं, बल्कि उसको भी है। हमारे लिये इसमें कोई आग्रह या पूर्वग्रह की बात नहीं है। हमारा आग्रह है प्रामाणिकता का। यदि, सागरानन्दसूरिजी महाराज, नन्दीचूर्ण की ऐसी कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति का विश्वसनीय परिचय दें और पता बतायें, कि जिसमें उनको, विवादग्रस्त पंक्ति के पाठोत्तर मिले हो या उसका सर्वथा अभाव ही वृष्टिगोचर हुआ हो, तो हम अवश्य उनके अनुग्रहीत होने और हम अपना अनुरोध कर निश्चित करेंगे। ग्रन्थया हमारा यह सन्देश कि 'सूरिजी महाराज ने, सामिप्रय, नन्दीचूर्ण के उस उल्लेख को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है और वैसे करके अपने एक महान् पूर्वचार्य की कृति का और उसके साथ ही एक सार्वजनिक ऐतिहासिक तथ्यका अपलाप करने का निश्चय अपराध किया है' दूर नहीं होगा। क्योंकि हमने जितनी प्रतियाँ इस ग्रन्थ की जहाँ कहीं मंडारों में, देखी हैं उन सबमें, यह पंक्ति बराबर लिखी हुई मिली है। सासकर, जबसे सागरानन्दसूरिजी की वह मुद्रित प्रति हमारे हाथ में आई तबसे हम इस विषयमें बड़ी सावधानी और बड़ी उत्सुकता के साथ इसका अन्वेषण कर रहे हैं कि कोई एक भी प्रति वैसी मिल जाय जिसमें सूरिजी का मुद्रित किया हुआ पाठभेद हो, जिससे हम अपनी शका की निवृत्ति कर सकें और अपने अनुरोध का निवारण कर मिथ्यात्व नष्ट कर सकें। अगर इस वक्तव्य में हमारी कुछ धृष्टता मालूम दे तो साथ में उसे क्षमा की जाने की प्रार्थना है।

हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो संप्रदायो में मिलते हैं और जिनके कर्ता भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह बौद्ध और ब्राह्मण मत के साहित्य में भी ऐसे समनामक कई ग्रन्थ मिलते हैं। केवल ग्रन्थ ही नहीं, कई समनामक विद्वान् भी हमारे भूतकाल के इतिहास में, भिन्न भिन्न सम्प्रदायो में और भिन्न भिन्न काल में हो चुके हैं, जिनका समयादि निश्चितता ज्ञात न हो सकने के कारण हमारे इतिहास की गुरिथियों बड़ी जटिल हो रही हैं। अगर किसी शास्कार के विषय में कोई समयसूचक निर्देश मिल जाता है तो वह भी ठीक है या नहीं इसकी पूरी मीमांसा की अपेक्षा रखता है। समय सूचक सबत्सर भी, यदि उसके साथ किसी खास विशिष्ट नामका उल्लेख नहीं किया हुआ हो तो, विचारणीय होता है कि वह कौन सबत् है—शक है, विक्रम है, गुप्त है, हर्ष है या वैसा कोई और है। हमारे देश के पुराने लेखों में ऐसे कई संवत्तों का विधान किया हुआ मिलता है जिनका अभी कुछ पता नहीं चला है। जिन संवत्तों का प्रारंभ हम एक तरह से निश्चितता के साथ असुक्त काल में हुआ मानते हैं, उनके बारे में भी कितनी ही ऐसी नई नई समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं, जो मानी हुई निश्चितता को शकाशील बना देती हैं। इसलिये हमारे इन इतिहास की पहेलियों का ठीक ठीक वास्तविक उत्तर ढूंढ़ निकालना बड़ा कठिन कार्य है। इसमें कोई शक नहीं है कि इसके लिये बहुत अन्वेषण, बहुत सशोषण, बहुत परिशीलन, और बहुत आलोचन-प्रत्यालोचन की आवश्यकता है। किसी प्रकार के अभिनिवेश से रहित होकर, केवल सत्य के शुद्ध स्वरूप को जानने की इच्छा से प्रेरित होकर, जो विद्वान् इस मार्ग में प्रवृत्त होते हैं वे ही अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, दूसरे तो भ्रम की भूलभुलैया में आजीवन भटकते रहते हैं और अन्त तक प्रगति के मार्ग से पराङ्मुख बने रहते हैं। न उनको आगे बढ़ने का कोई रास्ता मिलता है और न वे आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास और सत्त्वज्ञान विषयक इन जटिल समस्याओं का, निरभिनिवेशता के साथ आलोचन-प्रत्यालोचन करना और तद्द्वारा सम्यग्ज्ञान का, यथाशक्ति प्रकाश और प्रसार करना, यही एक प्रधान नीति, सिंधी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले ग्रन्थों के संपादनकार्य में रखी गई है। और उसी नीति के आदर्शानुसार ये ग्रन्थरत्न सुयोग्य संपादक विद्वानों द्वारा संपादित और परिष्कृत होकर प्रसिद्ध हो रहे हैं। ग्रन्थमाला के संचालन में, इस प्रकार अपने इन सुहृद् मित्रों का जो हमें सहयोग प्राप्त हो रहा है उसके लिये हम इनके पूर्ण कृतज्ञ हैं।

आवणशुक्ला पत्रमी }
संवत् १९९६ }
व व है }

जिनविजय

प्राकृतन



§ १. प्राकृतयुग और संस्कृतयुग का अन्तर-

जैन परम्परा मे प्राकृतयुग वह है जिसमें एकमात्र प्राकृत भाषाओ मे ही साहित्य रचने की प्रवृत्ति थी । संस्कृतयुग वह है जिसमे संस्कृत भाषा मे भी साहित्यनिर्माण की प्रवृत्ति व प्रतिष्ठा स्थिर हुई । प्राकृतयुग के साहित्य को देखने से यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय भी जैन विद्वान् संस्कृत भाषासे, तथा संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित अवश्य थे । फिर भी संस्कृतयुग मे संस्कृत भाषा में ही शास्त्र रचने की ओर झुकाव होने के कारण यह अनिवार्य था कि संस्कृत भाषा, तथा दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक हो । वाचक उमास्वाति के पहले की संस्कृत-जैन-रचना का हमें स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता । फिर भी सम्व है उनके पहले भी वैसी कोई रचना जैन-साहित्य में हुई हो । कुछ भी हो संस्कृत-जैन-साहित्य नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाओ में विकसित तथा पुष्ट हुआ जान पड़ता है ।

१-तत्त्वज्ञान तथा आचार के पदार्थों का सिर्फ आगमिक शैली मे संस्कृत-भाषा में रूपान्तर, जैसे कि तत्त्वार्थम्याथ, प्रशमरति आदि ।

२-उसी शैली के संस्कृत रूपान्तर में कुछ दार्शनिक छाया का प्रवेश, जैसे सर्वार्थसिद्धि ।

३-इने गिने आगमिक पदार्थ (खासकर ज्ञानसम्बन्धी) को लेकर उसपर मुख्यतया तार्किकदृष्टि से अनेकान्तवाद की ही स्थापना, जैसे समन्तमद् और सिद्धसेन की कृतियों ।

४-ज्ञान और तत्सम्बन्धी आगमिक पदार्थों का दर्शनान्तरीय प्रमाण शास्त्र की तरह तर्कबद्ध शास्त्रीकरण, तथा दर्शनान्तरीय चिन्तनो का जैन वाङ्मय में अधिकाधिक सगतीकरण, जैसे अकलंभ और हरिमद् आदि की कृतियों ।

५-पूर्वाचार्यों की तथा निजी कृतियों के ऊपर विस्तृत-विस्तृत टीकाएँ लिखना और उनमें दार्शनिक वादो का अविकाधिक समावेश करना, जैसे विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, अमयदेव, वादिदेव आदि की कृतियाँ ।

६—श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय दोनो प्राचीन कृतियों की व्याख्याओं में तथा निजी मौखिक कृतियों में नव्यन्याय की परिष्कृत शैली का संचार, तथा उसी शैली की अपरि-मित कल्पनाओं के द्वारा पुराने ही जैन-तत्त्वज्ञान तथा आवार सम्बन्धी पदार्थों का अभूत-पूर्व विशदीकरण, जैसे उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियों ।

उपर्युक्त प्रकार से जैन-साहित्य का विकास व परिवर्द्धन हुआ है, फिर भी उस प्रबल तर्कयुग में कुछ जैन पदार्थ ऐसे ही रहे हैं जैसे वे प्राकृत तथा आगमिक युग में रहे । उनपर तर्क-शैली या दर्शनान्तरीय चिन्तन का कोई प्रभाव आजतक नहीं पड़ा है । उदा-हरणार्थ—सम्पूर्ण कर्मशास्त्र, गुणस्थानविचार, पद्मव्यविचारणा, खासकर लोक तथा जीववि-भाग आदि । सारांश यह है कि संस्कृत भाषा की विशेष उपासना, तथा दार्शनिक ग्रन्थों के विशेष परिशीलन के द्वारा जैन आचार्यों ने जैन तत्त्वचिन्तन में जो और जितना विकास किया है, वह सब मुख्यतया ज्ञान और तत्सम्बन्धी नय, अनेकान्त आदि पदार्थों के विषय में ही किया है । दूसरे प्रमेयों में जो कुछ नयी चर्चा हुई भी है वह बहुत ही थोड़ी है और प्रासंगिक मात्र है । न्याय-वैशेषिक, साख्य-मीमांसक, बौद्ध आदि दर्शनों के प्रमाणशास्त्रों का अवगाहन जैसे जैसे जैनपरम्परा में बढ़ता गया वैसे वैसे जैन आचार्यों की निजी प्रमाणशास्त्र रचनेकी चिन्ता भी तीव्र होती चली और इसी चिन्ता में से पुरातन पंचविध ज्ञानविभाग की भूमिका के उपर नये प्रमाणशास्त्र का महल खड़ा हुआ ।

§ २. सिद्धसेन और समन्तभद्र—

जैन परम्परा में तर्कयुग की या न्याय-प्रमाण-विचारणा की नींव डालने वाले ये ही दो आचार्य हैं । इनमें से कौन पहले या कौन पीछे है इत्यादि अभी सुनिश्चित नहीं है । फिर भी इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उक्त दोनो आचार्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुए हैं । नये साधनों के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर का समय छठी शताब्दी का अन्त भी सम्भव है । जो कुछ हो पर स्वामी समन्तभद्र के बारे में अनेकविध ऊहपोह के बाद मुझको अब अतिस्पष्ट हो गया है कि—वे 'पूज्य-पाद देवन्दी' के पूर्व तो हुए ही नहीं । 'पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आस के समर्थन में ही उन्होंने आसमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्द ने आसपरीक्षा तथा अष्टसहस्री में सर्वथा स्पष्टरूप से लिखी है । स्वामी समन्तभद्र की सब कृतियों की भाषा, उनमें प्रति-पादित दर्शनान्तरीय मत, उनकी युक्तियों, उनके निरूपण का ढंग और उनमें विद्यमान विचारविकास, यह सब वस्तु पूज्यपाद के पहले तो जैन परंपरा में न आई है न आने का समझ ही था । जो दिग्भाग, मर्चूहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के साथ समन्तभद्र की कृतियों की बाह्यान्तर तुलना करेगा और जैन संस्कृत साहित्य के विकास-क्रम की ओर ध्यान देगा वह मेरा उपर्युक्त विचार बड़ी सरलता से समझ लेगा ।

अधिक संभव तो यह है कि समन्तमद्र और अकलक के बीच साक्षात् विद्या का संबन्ध हो; क्योंकि समन्तमद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलक की ही व्याख्या है। यह हो नहीं सकता कि अनेकान्तदृष्टि को असाधारण रूप से स्पष्ट करनेवाली समन्तमद्र की विविध कृतियों में अतिविस्तार से और आकर्षक रूप से प्रतिपादित सप्तमंगियों को तत्त्वार्थ की व्याख्या में अकलक तो सर्वथा अपनावे, जब कि पूज्यपाद अपनी व्याख्या में उसे छुएँ तक नहीं। यह भी संभव है कि—शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह-गत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तमद्र का ही सूचक हो। कुछ भी हो पर इतना निश्चित है कि श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के बाद तुरन्त जिनमद्रगण्य क्षमाश्रमण हुए और दिगम्बर परंपरा में स्वामी समन्तमद्र के बाद तुरन्त ही अकलक आए।

§ ३. जिनमद्र और अकलक—

यद्यपि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा में संस्कृत की प्रतिष्ठा बढ़ती चली। फिर भी दोनों में एक अन्तर स्पष्ट देखा जाता है, वह यह कि—दिगम्बर परंपरा संस्कृत की ओर झुकने के बाद दार्शनिक क्षेत्र में अपने आचार्यों को केवल संस्कृत में ही लिखनेको प्रवृत्त करती है जब कि श्वेताम्बर परंपरा अपने विद्वानों को उसी विषय में प्राकृत रचनाएँ करने को भी प्रवृत्त करती है। यही कारण है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में सिद्धसेन से यशोविजयजी तक कौं दार्शनिक चिन्तनवाली प्राकृत कृतियों भी मिलती हैं। जब कि दिगम्बरीय साहित्य में मात्र संस्कृतनिबद्ध ही वैसी कृतियाँ मिलती हैं। श्वेताम्बर परंपरा का संस्कृत-युग में भी प्राकृत भाषा के साथ जो निकट और गभीर परिचय रहा है, वह दिगम्बरीय साहित्य में विरल होता गया है। क्षमाश्रमण जिनमद्र ने अपनी प्रधान कृतियाँ प्राकृत में रचीं जो तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही हैं। मद्भारक अकलक ने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजवार्तिक संस्कृत में लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य की तरह तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही है। परन्तु जिनमद्र की कृतियों में ऐसी कोई स्वतन्त्र संस्कृत कृति नहीं है जैसी अकलक की है। अकलक ने आगमिक अन्य राजवार्तिक लिखकर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकार से विशेषावश्यक के स्थान की पूर्ति तो की, पर उनका ध्यान शीघ्र ही ऐसे प्रश्न पर गया जो जैन-परंपरा के सामने जोरो से उपस्थित था। बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रों की कक्षा में खड़ा रह सके ऐसा न्याय-प्रमाण की समग्र व्यवस्था-बाला कोई जैन प्रमाण-अन्य आवश्यक था। अकलक, जिनमद्र की तरह पाँच ज्ञान, नव आदि आगमिक वस्तुओं की केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप न रहे, उन्होंने उसी पञ्चज्ञान, सप्तनय आदि आगमिक वस्तु का न्याय और प्रमाण-शास्त्ररूप से ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैन न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के स्वतन्त्र प्रकरणों की माँग पूरी हुई। उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्क का मार्ग भी सिद्ध-

सेन तथा समन्तमद्र के द्वारा परिष्कृत हुआ ही था, फिर भी प्रबल दर्शनान्तरों के विकसित विचारों के साथ प्राचीन जैन निरूपण का तार्किक शैली में मेल बिठाने का काम जैसा तैसा न था जो कि अकलंक ने किया। यही सबब है कि अकलंक की मौलिक कृतियों बहुत ही संक्षिप्त हैं, फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगे के जैन न्याय का वे आधार बन गई हैं।

यह भी संभव है कि महारक अकलंक क्षमाश्रमण जिनमद्रकी महत्त्वपूर्ण कृतियों से परिचित होंगे। प्रत्येक मुद्दे पर अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करने की राजवार्तिकगत व्यापक शैली ठीक वैसी ही है जैसी विशेषावरयक भाष्य में प्रत्येक चर्चा में अनेकान्त दृष्टि लागू करने की शैली व्यापक है।

§ ४ अकलंक और हरिमद्र आदि-

तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेन गणि जो गन्धहस्तीरूपसे सुनिश्चित हैं, उनके और याकिनीसुत हरिमद्र के समकालीनत्व के सम्बन्ध में मैं अपनी समावना तत्त्वार्थ के हिन्दी विवेचन के परिचय में बतला चुका हूँ। हरिमद्र की कृतियों में अभी तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया गया जो निर्धिवादरूपसे हरिमद्र के द्वारा अकलंक की कृतियों के अवगाहन का सूचक हो। सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में पाया जानेवाला सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख अगर अकलंक के सिद्धिविनिश्चय का ही बोधक हो तो यह मानना पड़ेगा कि गन्धहस्ती सिद्धसेन कमसे कम अकलंक के सिद्धिविनिश्चय से तो परिचित थे ही। हरिमद्र और गन्धहस्ती अकलंक की कृतियों से परिचित हो या नहीं फिर भी अधिक समावना इस बातकी है कि अकलङ्क और गन्धहस्ती तथा हरिमद्र ये अपने दीर्घ जीवन में थोड़े समय तक भी समकालीन रहे होंगे। अगर यह समावना ठीक हो तो विक्रम की आठवीं और नववीं शताब्दी का अमुक समय अकलङ्क का जीवन तथा कार्यकाल होना चाहिए।

मेरी धारणा है कि विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जो अकलङ्क की कृतियों के सर्व प्रथम व्याख्याकार हैं वे अकलङ्क के साक्षात् विद्याशिष्य नहीं तो अनन्तरवर्ती अवश्य हैं; क्योंकि इनके पहिले अकलङ्क की कृतियों के ऊपर किसी के व्याख्यान का पता नहीं चलता। इस धारणा के अनुसार दोनों व्याख्याकारों का कार्यकाल विक्रम की नववीं शताब्दी का उत्तरार्ध तो अवश्य होना चाहिए, जो अभी तक के उनके ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के साथ मेल खाता है।

§ ५ गन्धहस्तिभाष्य

दिगम्बर परम्परा में समन्तमद्र के गन्धहस्ति महाभाष्य होने की चर्चा कभी चल पड़ी

थी। इस बारे में मेरा असंदिग्ध निर्णय यह है कि—तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर या उसकी किसी व्याख्या के ऊपर स्वामी समन्तभद्र ने आत्ममीमांसा के अतिरिक्त कुछ भी लिखा ही नहीं है। यह कभी संभव नहीं कि समन्तभद्र की ऐसी विशिष्ट कृति का एक भी उल्लेख या अवतरण अकलक और विद्यानन्द जैसे उनके पदात्रुवर्ती अपनी कृतियों में बिना किए रह सके। वेशक अकलक का राजवार्तिक गुण और विस्तार की दृष्टिसे ऐसा है जिसे कोई भाष्य ही नहीं महाभाष्य भी कह सकता है। रवेताम्बर परंपरा में गन्धहस्ती की वृत्ति जब गणहस्तिमहाभाष्य नाम से प्रसिद्ध हुई तब करीब गन्धहस्ती के ही समानकालीन अकलक की उसी तत्त्वार्थ पर बनी हुई विशिष्ट व्याख्या अगर दिगम्बर परम्परा में गन्धहस्ति-भाष्य या गन्धहस्ति महाभाष्य रूपसे प्रसिद्ध या व्यवहृत होने लगे तो यह क्रम दोनो फिरको की साहित्यिक परम्परा के अनुकूल ही है।

परन्तु हम राजवार्तिक के विषय में गन्धहस्ति-महाभाष्य विशेषण का उल्लेख नहीं पाते। तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसा विरल उल्लेख मिलता है जो समन्तभद्र के गन्धहस्तिभाष्य का सूचन करता हो। मेरी दृष्टि में पीछे के ऐसे सब उल्लेख निराधार और किञ्चदन्तीमूलक हैं। तथा यह ही हो सकता है कि—अगर तत्त्वार्थ-महाभाष्य या तत्त्वार्थ-गन्धहस्ति-महाभाष्य नाम का दिगम्बर साहित्य में मेल बैठाना हो तो वह अकलक-कीय राजवार्तिक के साथ ही बैठ सकता है।



३६. प्रस्तुत संस्करण—

प्रस्तुत पुस्तक में अकलकीय तीन मौलिक कृतियाँ एक साथ सर्वप्रथम सम्पादित हुई हैं। इन कृतियों के सन्ध में तात्त्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जितना साधन उपलब्ध है उसे विद्वान् सम्पादक ने टिप्पण तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टों के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में सन्निविष्ट किया है। जो जैन, बौद्ध और ब्राह्मण, सभी परंपरा के विद्वानों के लिए मात्र उपयोगी ही नहीं बल्कि मार्गदर्शक भी हैं। वेशक अकलक की प्रस्तुत कृतियाँ अभी तक किसी पाठ्यक्रम में नहीं हैं तथापि उनका महत्त्व और उपयोगिता दूसरी दृष्टि से और भी अधिक है।

अकलकग्रन्थत्रय के सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार जी के साथ मेरा परिचय छह साल का है। इतना ही नहीं बल्कि इतने अरसे के दार्शनिक चिन्तन के अखाड़े में हम लोग समशील साधक हैं। इससे मैं पूरा ताटस्थ्य रखकर भी नि संकोच कह सकता हूँ कि—पं० महेन्द्रकुमार जी का विद्याव्यायाम कम से कम जैन परंपरा के लिए तो सत्कारास्पद ही नहीं अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ का बहुश्रुत सम्पादन उक्त कथन का साक्षी है। प्रस्तावना में विद्वान् सम्पादक ने अकलकदेव के समय के बारे में जो विचार प्रकट किया है,

मेरी समझ में अन्य समर्थ प्रमाणों के अभाव में वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलना मूलक होने से सत्य के विशेष निकट है। समयविचार में सम्पादक ने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है वह तत्त्वज्ञान, तथा इतिहास के रसिकों के लिए बहुमूल्य भोजन है। ग्रन्थ के परिचय में सम्पादक ने उन सभी पदार्थों का हिन्दी में वर्णन किया है जो अकलङ्कीय प्रस्तुत ग्रन्थत्रय में ग्रथित हैं। यह वर्णन सम्पादक के जैन और जैनेतर शास्त्रों के आकंठ पान का उद्धार मात्र है। सम्पादक की दृष्टि यह है कि—जो अम्ब्यासी जैन प्रमाण-शास्त्र में आने वाले पदार्थों को उनके असली रूप में हिन्दी भाषा के द्वारा ही अल्पश्रम में जानना चाहे उन्हें वह वर्णन उपयोगी हो। पर उसे साधन्त सुन लेने के बाद मेरे ध्यान में तो यह बात आई है कि संस्कृत के द्वारा ही जिन्होंने जैनन्याय-प्रमाण शास्त्र का परिशीलन किया है वैसे जिज्ञासु अध्यापक भी अगर उस वर्णन को पढ़ जायेंगे तो संस्कृत मूलग्रन्थों के द्वारा भी स्पष्ट एवं वास्तविक रूप में अज्ञात, कई प्रमेयों को वे सुज्ञात कर सकेंगे। उदाहरणार्थ कुछ प्रमेयों का निर्देश भी कर देता हूँ—प्रमाणसम्बन्ध, द्रव्य और सन्तान की तुलना आदि। सर्वज्ञत्व भी उनमें से एक है, जिसके बारे में सम्पादक ने ऐसा ऐतिहासिक प्रकाश डाला है जो सभी दार्शनिकों के लिए ज्ञातव्य है। विशेषज्ञों के ध्यान में यह बात बिना आए नहीं रह सकती कि—कम से कम जैनन्याय-प्रमाण के विद्यार्थियों के वास्ते तो सभी जैन संस्थाओं में यह हिन्दी विभाग वाचनीय रूप से अवरय सिफारिश करने योग्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उस प्रमाणमीमांसा की एक तरह से पूर्ति ही करता है जो चौढ़े ही दिनों पहले सिंधी जैन सिरीज में प्रकाशित हुई है। प्रमाणमीमांसा के हिन्दी टिप्पणों में तथा प्रस्तावना में नहीं आए ऐसे प्रमेयों का भी प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी वर्णन में समावेश है, और उसमें आए हुए अनेक पदार्थों का सिर्फ दूसरी भाषा तथा शैली में ही नहीं बल्कि दूसरी दृष्टि, तथा दूसरी सामग्री के साथ समावेश है। अतएव कोई भी जैनतत्त्वज्ञान का एव न्याय-प्रमाणशास्त्र का गभीर अम्ब्यासी सिंधी जैन सिरीज के इन दोनों ग्रन्थों से बहुत कुछ जान सकेगा।

प्रसंगवश मैं अपने पूर्व लेख की सुधारणा भी कर लेता हूँ। मैंने अपने पहले लेखों में अनेकान्त की व्याप्ति बतलाते हुए यह भाव सूचित किया है कि—प्रधानतया अनेकान्त तात्त्विक प्रमेयों की ही चर्चा करता है। अलबत्ता उस समय मेरा वह भाव तर्कप्रधान ग्रन्थों को लेकर ही था। पर इसके स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि—तर्कयुग में अनेकान्त की विचारणा भले ही प्रधानतया तात्त्विक प्रमेयों को लेकर हुई हो फिर भी अनेकान्तदृष्टि का उपयोग तो आचार के प्रदेश में आगमों में उतना ही हुआ है जितना कि तत्त्वज्ञान के प्रदेश में। तर्कयुगीन साहित्य में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ बने हैं जिन में प्रधानतया आचार के विषयों को लेकर ही अनेकान्तदृष्टि का उपयोग हुआ है। अतएव समुच्चय रूप से यही कहना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि आचार और विचार के प्रदेश में एकसी लागू की गई है।

सिंधी जैन सिरीज के लिए यह सुयोग ही है कि जिसमें प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य की कृतियों का एक विशिष्ट दिगम्बर विद्वान् के द्वारा ही सम्पादन हुआ है। यह भी एक आकस्मिक सुयोग नहीं है कि दिगम्बराचार्य की अन्यत्र अलभ्य परन्तु श्वेताम्बरीय भाण्डार से ही प्राप्त ऐसी विरल कृति का प्रकाशन श्वेताम्बर परंपरा के प्रसिद्ध वावू श्री बहादुर-सिंह जी सिंधी के द्वारा स्थापित और प्रसिद्ध ऐतिहासिक मुनि जिनविजय जी के द्वारा संचालित सिंधी जैन सिरीज में हो रहा है। जब मुझको विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजय जी के द्वारा प्रमाणसंग्रह उपलब्ध हुआ तब यह पता न था कि वह अपने दूसरे दो सहोदरो के साथ इतना अधिक सुसज्जित होकर प्रसिद्ध होगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी
१४-८-१९३९ ई०

—सुखलाल संघवी

[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी,
भूतपूर्व जैनवाङ्मयाध्यापक गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद]



येनाशेषकृतर्कविभ्रमतमो निर्मूलग्रन्मीलितम् ।
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः ॥
स्याद्वादाप्रतिषप्रभृतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः ।
स श्रीमान् अकलङ्कमातुरसमो जीयाजिनेन्द्रः प्रभुः ॥
—प्रभाचन्द्रः

सम्पादकीय वक्तव्य

§ १. सम्पादन गाथा—

सन् १९३५ के अप्रैल माह में मैंने सिद्धिविनिश्चयटीका के पारायण के लिए उसकी एक कापी करना प्रारम्भ किया। उसने कई जगह 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ का नाम देखकर अकलङ्कहत प्रमाणसंग्रह के खोज करने की इच्छा हुई। जुलाई १९३५ में मान्यवर पंडित सुखलालजी जब ग्रीष्मावकाश के बाद काशी आए तो मैंने प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ की चरचा उनसे की। पंडितजी जहा कहीं शास्त्रमण्डार देखने की सुविधा पाते हैं वही सूक्ष्मता से उसका निरीक्षण कर अतिमहत्त्व के ग्रन्थों को अपनी यादी में लिखवा लेते हैं। उन्होंने जब अपनी नोटबुक के पन्ने उलटवाये तो सचमुच पाटन के भडार के चुने हुये ग्रन्थों में प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ का नाम दर्ज था। अभी यह निश्चितरूप से मालूम नहीं हुआ था कि यह हमारा इष्ट प्रमाणसंग्रह है या अन्य कोई।

पंडितजी ने सहज शास्त्रसिक श्री मुनि पुण्यविजयजी को पत्र लिखा। उनका यह उत्तर पाकर कि 'उक्त प्रमाणसंग्रह अकल्ककर्तृक है तथा उसकी कापी भिजवाएँगे' हम लोग आनन्दविभोर हो गये, और मार्च १९३६ में उनके द्वारा भिजवाई गई फल्गु-नोरथरूप कापी को पाकर तो सचमुच नाच ही उठे। पंडितजी ने इसकी सूचना और संक्षिप्त परिचय उसी समय 'वीर, जैनदर्शन तथा जैनसिद्धान्तभास्कर' आदि पत्रों में भिजवा दिया था। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ को २-४ बार वाच जाने पर भी मुझे सन्तोष न हुआ; अतः उसके अक्षरशः वाचननिमित्त मैंने उसकी एक कापी की।

समस्त दर्शनशास्त्रों में भारतीय रूप से अखण्डभद्र पंडितजी ने इस प्रकार के साथ ही साथ अकलङ्क के स्वोपज्ञविनृतियुक्त लघीयज्ञय को जो उस समय उपलब्ध था, एकही संग्रह में प्रकाशित करने की योजना बनाई और उसे सिंधी सीरिज के सम्पादक अपने पंडितरूप समशीलसखा मुनि जिनविजयजी से कही। मुनिजी ने कलाप्रिय बाबू बहादुरसिंहजी सिंधी के सद्बिचारानुसार संचालित और परिपोषित सिंधी सीरिज में इन्हे प्रकाशित करना स्वीकार करके बाबूजी के साहित्यिक-असाम्प्रदायिकभाव को कार्यरूप में परिष्कृत किया।

पंडित सुखलालजी की योजनाएँ बस्तुतः गहरी अर्थमयी तथा वेजोद्ध होती हैं। उन्होंने जब तक न्यायकुसुमदचन्द्र का कार्य चलता रहा तब तक मुझसे इसकी चरचा ही नहीं की कि—मुझे इनका सम्पादन करना है। नवम्बर १९३७ में जब न्यायकुसुम का कार्य किनारे आलगा तब एक दिन टहलते समय उन्होंने अपनी चिरपोषित योजना बताई कि—'प्रमाणसंग्रह और लघीयज्ञय के साथ ही साथ न्यायविनिश्चयमूल को भी मिलाकर

‘अकलङ्क ग्रन्थत्रय’ को एक साथ प्रकाशित किया जाय और इनका सम्पादन मैं करूँ।’ मेरा अभी तक यही ख्याल था कि जिस प्रकार जैनतर्कभाषा प्रमाणमीमांसा आदि का कार्य हम लोग पंडितजी के सम्पादकत्व में आंशिक भार को उठा कर करते आए हैं उसी तरह प्रमाणसंग्रहादि का कार्य भी इसी संभूयकारिता में ही निष्पन्न होगा। पंडितजी का क्षीणशरीर पर अद्भुत पुष्टमनोगति एवं समुचित व्यवस्थाप्रणाली का ध्यान करके तो मुझे ऐसा लगा कि—पंडित जी क्यों मेरे ही ऊपर यह भार डाल रहे हैं ? क्या अब पंडितजी सचमुच सन्मत्तितर्क की कार्यसमाप्तिकाल की भांति फिर लम्बा विश्राम करना चाहते हैं ? पर मेरी ये आशंकाएँ प्रमाणमीमांसा के अवशिष्ट कार्य के भार का विचार आते ही विलीन हो गईं। वस्तुतः उस समय मीमांसा का कार्य इतना बाकी पड़ा था कि उसके निवटते निवटते ही करीब ११ साल का समय लग गया।

पंडितजी के इस स्नेहल आश्वासन के बीच कि—‘भाई, जिम्मेवारी तुम्हारी है कार्य तो हम लोगों का एक दूसरे की पूर्ण मदद से चलेगा ही’ मैंने इसका सम्पादन भार बड़े उत्साह से ले लिया; क्योंकि उनके साथ ३-४ वर्षों के प्रत्यक्षकार्यानुभव से मैं यह समझता ही था कि—पंडितजी के इतने का कहने अर्थ है—संपादन की रूपरेखा, योजना एवं व्यवस्था के निदर्शन का बौद्धिक भार लेना। इस तरह पूर्ण साधनों तथा आश्वस्त-वातावरण के बीच इसका सम्पादन चालू किया गया। उसका फलरूप यह संस्करण है।

इस संस्करण में मुद्रित खोपड़विवृत्तिसहित लघीयखण्ड, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण-संग्रह ये तीनों ग्रन्थ सर्वप्रथम ही प्रकाशित हो रहे हैं। सिर्फ इतः पूर्व लघीयखण्ड की मूलकारिकाएँ अभयनन्दि की वृत्ति के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई हैं।

§ २. संस्करण परिचय—

प्रस्तुत संस्करण में प्रस्तावना के अतिरिक्त तीन स्थूल विभाग हैं—१ मूलग्रन्थ, २ टिप्पण, ३ परिशिष्ट। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मूलग्रन्थ—मूलग्रन्थों में सर्वप्रथम लघीयखण्ड ततः न्यायविनिश्चय फिर प्रमाणसंग्रह का मुद्रण हुआ है। इस क्रम में ग्रन्थों की रचनाकाल के इतिहास का आधार लिया है। रचनाशैली तथा विचारों की प्रौढ़ता का ध्यान से निरीक्षण करने पर मालूम होता है कि प्रस्तुतग्रन्थत्रय में लघीयखण्ड ही अकलंकदेव की आबकृति है तथा प्रमाणसंग्रह अन्तिम। लघीयखण्ड खोपड़विवृत्ति सहित मुद्रित कराया है। प्रभाचन्द्राचार्य ने इसके उपर १८ हजार श्लोक प्रमाण ‘न्यायकुमुदचन्द्र’ नाम की बृहत्काय टीका लिखी है। वह इतनी विस्तृत एवं शास्त्रार्थबहुल है कि उसमें से मूल कारिकाओं एवं विवृत्ति को ढूँढ़ निकालना अत्यन्त कठिन है। फिर अभी तो उसके मात्र दो परिच्छेद ही मुद्रित हुए हैं, जिनमें सिर्फ ६ कारिकाओं की ही विवृत्ति आती है। अतः अकलंक के हार्द को जानने के लिए यह आवश्यक हुआ कि इसका अखण्ड रूप से पृथक् मुद्रण हो। इन्हीं ग्रन्थों के शाब्दिक एवं

आर्थिक शिल्पाधार पर ही उत्तरकालीन आचार्यों ने जैनन्याय का महाप्रासाद खड़ा किया है। अकलंकदेव का वाक्यविन्यास एव प्रतिपादनशैली इतनी दुरवगाह है कि उसमें न्यायशास्त्र की योग्यभूमिका रखनेवाले लोगो को भी बिना आशङ्कन के सीधे ही प्रवेश करना वस्तुतः कठिन है। इसीलिए प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से कारिकाओं के अनेक उत्पानवाक्यो से चुन कर वे उत्पान वाक्य दिए हैं, जिनसे कारिका का सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ भी भासित हो जाय, और प्रतिपाद्य विषयों का स्थूल वर्गीकरण भी हो जाय।

इसी तरह न्यायविनिश्चय के ऊपर वादिराजरीरविरचित २० हजार श्लोक प्रमाण 'न्यायविनिश्चयविवरण' नाम की टीका उपलब्ध है, जो आजतक अमुद्रित है। उसमें न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के शाब्दिक तथा आर्थिक दृष्टि से दस दस अर्थ तक किए गए हैं। साधारणतः २।३ अर्थ तो चले ही हैं। उस लिखितविवरण से विषय-वर्गीकरण को ध्यान में रखकर कारिकार्थस्पर्शी उत्पानवाक्य न्यायविनिश्चय में छोटकार दे दिए हैं। उत्पानवाक्यों के द्वारा विषयवगाहन को सुलभ बनाने के लिए कहीं कहीं एक ही कारिका के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षों के अंशों को पृथक् उत्पान देकर छुपाया पड़ा है। इन उत्पानवाक्यों के विलुप्त अंश को इसलिए सक्षिप्त किया है कि—जिससे व्यर्थका संसार भी न बढ़े और आवश्यक भाग भी न छूटे।

प्रमाणसंग्रह की एक मात्र प्रति पाटन के भंडार में मिली। यह नितान्त अशुद्ध है। इसमें जो कारिकांश गद्यभाग में प्रतीक रूप से शामिल थे, उन्हें पृथक् करके कारिका के रूप में [] इस ब्रेकेट में छुपाया है। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ पर सिद्धि-विनिश्चयटीका के उल्लेखानुसार एक 'प्रमाणसंग्रहलंकार या प्रमाणसंग्रहमान्य' नाम की टीका का पता तो चलता है; पर वह न जाने किस भंडार में कीटको का भोजन बनकर शास्त्रमर्कों की हास्यास्पद शास्त्रमर्क का उदाहरण बन अपना जीवन निःशेष कर रही होगी। यद्यपि इसके विषयो का सामान्य विमानन कर अपनी ओर से उत्पानवाक्य देने का पहिले विचार किया था; पर यह सोचकर कि—'जब लघीयलक्ष्य और न्याय-विनिश्चयमें प्राचीन टीकाकारों के ही उत्पानवाक्य दिए हैं तब इसमें अपनी ओर से अभी कुछ न लिखकर जैसा का तैसा मूलग्रन्थ ही प्रकाशित करना समुचित होगा' अपनी ओर से उत्पानवाक्य देने की इच्छा को विषयसूची में ही सीमित कर दिया और प्रमाण-संग्रह को बिना किसी उत्पानवाक्य के मूलमात्र ही छुपाया है।

लघीयलक्ष्य में आए हुए अवतरणवाक्यों को इटासिक टाइप में " " डबल इनवर्टेड कामा में तथा प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों को चालूटाइप में ही डबल इनवर्टेड कामा में छुपाया है। सब ग्रन्थों में कारिकाओं का टाइप चालू टाइप से बड़ा रखा है।

टिप्पण्य—टिप्पण्य लिखते समय पहिले तो यह विचार कर लिखना शुरू किया

कि—प्रस्तुतग्रन्थगत खास खास शब्दों पर ऐतिहासिक एवं तात्त्विक विवेचन के साथ ही साथ भावोद्घाटन भी संस्कृत में ही किया जाय । तदनुसार ही लघीयलघयके प्रमाणाप्रवेश के प्रथमपरिच्छेद के टिप्पण लिखे मी । पीछे तो एक तरफ से इस कार्य की बड़समय-साभ्यता और विस्तार, तथा दूसरी ओर इने गिने विद्वानो के सिवाय साधारण अभ्यासियों के लिए इसकी अल्पोपयोगिता का विचार करने से यही उचित प्रतीत हुआ कि इस टिप्पणभाग को इतना विस्तृत न किया जाय । अतः मध्यममार्ग निकालकर मुख्यतया निम्नदृष्टियों के अनुसार टिप्पण लिखे हैं—

१—अकलङ्कदेव ने प्रस्तुतग्रन्थो में जिन पूर्ववर्ती और समवर्ती वादो या विचारो की समालोचना की है उन पूर्वपक्षीय विचारो का उन्हीं ग्रन्थकारों के ग्रन्थो से अवतरण देकर समग्र तथा स्पष्टीकरण ।

२—यदि पूर्वपक्ष के आधारभूत पूर्वकालीन या समकालीन ग्रन्थ उपलब्ध न हो तब भी उन पूर्वपक्षीय विचारों का अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के ग्रन्थो के अवतरण द्वारा भी स्पष्टीकरण ।

३—पूर्वपक्ष के भाव को समानतन्त्रीय ग्रन्थो में आए हुए पूर्वपक्ष के शब्दो द्वारा विशदीकरण । तापर्य यह कि—प्रस्तुतग्रन्थगत पूर्वपक्षीय विचारो का पूर्ववर्ती, समवर्ती और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थो से, तथा अकलङ्कदेवकी तरह उन पूर्वपक्षो का खंडन करने वाले बौद्धादिग्रन्थो से भी अवतरण देकर पूरा पूरा खुलासा करना ।

४—अकलङ्कदेव ने जिन शब्दो या विचारो द्वारा इतरमतो का निरसन किया है उन उत्तरपक्षीय शब्दो और विचारो की पूर्वकालीन, समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों से शाब्दिक और आर्थिक तुलना ।

५—प्रस्तुत तीनों ग्रन्थो के गद्य-पद्यांश जिन जिन ग्रन्थो में जिस जिस पाठभेद से उद्धृत मिलते हैं, उन ग्रन्थो का स्थलनिर्देश करके उन गद्यपद्यांशोका पाठभेद के साथ आकलन । जिससे मूलग्रन्थों की पाठशुद्धि का समर्थन हो ।

६—प्रस्तुतग्रन्थगत कारिकाओ की अन्य आचार्यों द्वारा की गई विविध व्याख्याओ का तत्पत्रग्रन्थों से सञ्चयन ।

७—अकलङ्क के प्रस्तुतग्रन्थत्रयगत विचारो की जिन ग्रन्थो में आलोचना की गई है उन ग्रन्थों के उस आलोचनात्मक भाग का सकलन ।

८—प्रस्तुत ग्रन्थो में आए हुए दर्शनान्तरीय पारिभाषिक शब्दो का प्रामाणिक रूप से भावोद्घाटन ।

९—प्रमाणसंग्रह के टिप्पण लिखते समय यह बात और भी ध्यान में रखी गई है कि—इसकी कारिकाओ या गद्यभाग की अन्य ग्रन्थो में जो भी व्याख्या उपलब्ध हो उसका पूरा संग्रह किया जाय । जिससे इस ग्रन्थ की उत्थानवाक्य न देने की कमी भी यथासंभव पूर्ण हो जाय और अमुकभाग का अर्थ भी स्पष्ट हो जाय ।

इस टिप्पणसंग्रह में मुद्रित दार्शनिकग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक-कालंकार, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनीटीका, हेतुत्रिन्दु, हेतुत्रिन्दुटीका, मोक्षकरीय तर्कभाषा, सिद्धिविनिश्चयटीका से उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चय, नयचक्रवृत्ति आदि अलम्ब्य लिखित तथा प्रूपुस्तकों का विशिष्ट उपयोग किया गया है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थत्रय की यावत् ऐतिहासिक और तात्त्विक सामग्री के संग्रह करने का समग्र प्रयत्न किया है।

टिप्पण में जिस ग्रन्थ का पाठ दिया गया है उस ग्रन्थ का नाम [] इस त्रेकिट में दिया गया है, शेष द्रष्टव्य ग्रन्थों के नाम त्रेकिट के बाहर दिए हैं।

परिशिष्ट—इस संस्करण में ६ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट लगाए हैं। इन ग्रन्थों की कारिकाओं के आधे भाग भी अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पाए जाते हैं, अतः कारिकाओं के आधे आधे भागों का अनुक्रम बनाया है, जिससे अनुक्रम बनाने का उद्देश सर्वांश में सफल हो।

१—लघीयसूत्र के कारिकार्थ का अकारादिक्रमसे अनुक्रम।

२—लघीयसूत्र में आए हुए अवतरणवाक्यों का अनुक्रम।

३—न्यायविनिश्चय के कारिकार्थ का अनुक्रम।

४—प्रमाणसंग्रह के कारिकार्थ का अनुक्रम।

५—प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों की सूची।

६—लघीयसूत्रादिग्रन्थत्रय के सभी लाक्षणिक और दार्शनिक शब्दों की सूची।

७—टिप्पणसंग्रह में उपयुक्त ग्रन्थों के सकेत का विवरण तथा स्थलनिर्देश।

८—टिप्पणनिर्दिष्ट आचार्यों की सूची।

९—अकलंकदेव के नाम से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत उन गद्यपद्यभागों की सूची, जो प्रस्तुतग्रन्थत्रय में नहीं हैं। इसमें उन्हीं गद्यपद्यभागों का संग्रह किया है, जिन्हे ग्रन्थकारों ने अकलंककर्तृकरूप से उद्धृत किया है।

प्रस्तावना—इसके दो विभाग किए हैं—पहिला ग्रन्थकार से सम्बन्ध रखता है, तथा दूसरा ग्रन्थों से।

ग्रन्थकार विभाग में अकलंकदेव के समयनिर्णय के लिए उपयोगी नवीन सामग्री का संकलन है। इसमें ग्रन्थों का आन्तरिक परीक्षण कर उन विशिष्ट एवं तथ्य विचारों का चयन है जिनके आधार से विचार करने पर ग्रन्थकार के इतिहास विवेचन में खासी मदद मिलेगी। अभी तक के इस दिशा में हुए प्रयत्न बाह्यनिरीक्षण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

ग्रन्थविभाग में ग्रन्थों का बाह्यस्वरूप, उनका अकलंककर्तृत्व, उनके नाम का

इतिहास तथा विस्तृत आन्तरिक विषयपरिचय है। आन्तरिक विषयपरिचय में अकलङ्ककेव के प्रस्तुत ग्रन्थों में आए हुए विचारों का विषयदृष्टि से विवेचन है। यह परिचय प्रस्तुतग्रन्थत्रय के हार्द को समझने में तो सहायक होगा ही पर इससे भी अधिक मदद न्यायशास्त्र की साधारण भूमिकावाले जैनन्याय के प्रवेशार्थियों को देगा। इस विषयपरिचय में प्रस्तुतग्रन्थत्रय का सार तो आ ही गया है, साथ ही साथ बहुत से महत्वपूर्ण विषयों का स्वतन्त्र विवेचन भी है। इससे जैनन्याय के विशिष्ट अभ्यासी भी नवीन विचार-सामग्री पा सकेंगे।

§ ३. संशोधन सामग्री—

लघीयस्य सविवृति—न्यायकुमुदचन्द्र की ईबरमंडारवाली प्रति के प्रारम्भ में विवृति के ११ त्रुटितपत्र विद्यमान हैं। सर्वप्रथम इन्हीं पत्रोंके आधार से इसकी टीका न्यायकुमुदचन्द्र से मैनें और मित्रवर पं० कैलाशचन्द्रजी ने विवृति का पूरा सकलन किया था। उन त्रुटित विवृति के पत्रों में करीब ६१ कारिकाओं की ही विवृति थी। इन त्रुटित पत्रों का भी प्रस्तुत संस्करण में उपयोग किया है। इनकी संज्ञा 'ई०' रखी है। इसके पश्चात् मास्टर मोतीलालजी संघी तथा पं० चैनसुखदासजी काव्यतीर्थ की कृपा से जयपुर से एक विवृति की प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति प्रायः शुद्ध है। इस प्रति के मिलने से सकलित विवृति को पूर्णता तथा प्रामाणिकता प्राप्त हुई। इस प्रति का 'ज०' संकेत रखा है। इसमें कुल १५ पत्र हैं। एक पत्रमे १३ पंक्तियाँ हैं। एक दो पत्रोंमें १२ तथा ११ पंक्तियाँ भी हैं। पत्र की लम्बाई चौड़ाई "१० ३/४ × ४ ३/४" इंच है। एक पंक्ति में ४१—४२ अक्षर हैं।

न्यायविनिश्चय—न्यायविनिश्चयमूल की कोई प्रति आज तक नहीं मिली। इसका उद्धार न्यायविनिश्चयविवरण से किया गया है। 'अनेकान्त' (द्वितीयवर्ष पृ० १०४) में पं० जगलकिशोरजी मुख्तार ने इसकी उद्धार कथा में लिखा है कि—'इसके उद्धार का सर्वप्रथम प्रयत्न पं० जिनदास-पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर ने किया। वह उद्धृत अंश मुख्तार सा० को प्राप्त हुआ। मुख्तार सा० ने उसकी बहुत सी त्रुटियों निकालकर पं० भाणिकचन्द्रजी सहारनपुर की सहायता से उसे क्रमबद्ध तथा पूर्णप्राय किया।' यह कापी मुख्तार सा० द्वारा इसके सम्पादनकाल में मुझे प्राप्त हुई।

इसके बाद दूसरा प्रयत्न स्यादादविद्यालय के धर्माध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने किया। मुख्तार सा० के संग्रह से उसका मिलान करने पर मालूम हुआ कि—मुख्तार सा० के संग्रह में कुछ कारिकाश विवरण में आए हुए पूर्वपक्षीय ग्रन्थों के थे। इन्होंने कुछ नवीन पर सन्दिग्ध पद्यों का पता लगाया। जब यह निश्चय हुआ कि—प्रस्तुत संस्करण में न्यायविनिश्चय मूल भी छपाया जाय, तो मैनें भी न्यायविनिश्चयविवरण से मूलमाग

छोटना शुरू किया, और उसी के आधार से प्रेस कापी बनाई। मुस्तार सा० के संग्रह से मिलान करने पर, जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी के परिवर्तनों की भी सूचना थी, मैंने अपने संग्रह को पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से बहुत कुछ मिलता जुलता पाया। बाद में कारिकाओं की संख्या तथा पाठ के निर्णयार्थ पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से मिलान भी किया।

मुस्तार सा० के संग्रह में तो विवादग्रस्त कारिकाओं की संख्या ५-६ है। जिसे मुस्तार सा० ने पं० कैलाशचन्द्रजी की सूचनानुसार विचाराधीन रखा है। पर पं० कैलाशचन्द्रजी तथा मेरे संग्रह में पारस्परिक विचार विमर्श के बाद विवादग्रस्त कारिका सिर्फ एक ही बची है। प्रथमपरि० की चौथी 'हिताहितासि' वाली कारिका पं० कैलाशचन्द्रजी मूल की नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि-न्यायविनिश्चयविवरण की प्रति में 'खल-क्षणमसङ्कीर्णं' कारिका पर ११७ का अंक पड़ा है। जो मेरे संग्रह से यदि 'हिताहितासि' वाली कारिका निकाल दी जाय तो ठीक बैठता है। अर्थात् ११७॥ वां अंक उसपर आयगा। आधी कारिका का हेर फेर तो किसी श्लोक को ३ चरण का मानने से भी हो सकता है। मेरा विचार है कि-जिस तरह अन्य कारिकाएँ हम लोगो ने व्याख्यान के आधार से ही सकलित की हैं उसी तरह जब इस कारिका का भी यथावत् व्याख्यान विवरण में पाया जाता है तब इसे भी मूल की ही मानना चाहिए। इस कारिका में इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण करने के बाद ही विवरण में शका की गई है कि-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह दिया है कि वृत्ति में इसका लक्षण है। इससे भी मालूम होता है कि-अकलङ्कदेव ने इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण तो कारिका में किया है तथा अनिन्द्रिय और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण वृत्ति में। ११७ वाली सख्याका निर्वाह तो तीन कारिकाओं को तीन तीन चरण वाली मानकर भी किया जा सकता है। बाकी कारिकाओं के विषय में मेरा तथा पं० कैलाशचन्द्रजी का प्रायः समान मत है।

इस तरह तीन भिन्न संग्रहों के आधार से न्यायविनिश्चय मूल का संपादन किया गया है। न्यायविनिश्चयविवरण की बनारसवाली प्रति अत्यन्त अशुद्ध ही नहीं है, किन्तु उसमें कई जगह ४-४ पत्र तक के पाठ छूटे हैं, २-४ पक्तियाँ छूटना तो साधारणसी बात है। मैंने इसकी शुद्धि के लिए मूडविट्टी के वीरवाणीविलास भवन से न्यायविनिश्चयविवरण की ताडपत्रीय प्रति जुलाई। प्रति कनडी अक्षरो में है। अतः एक कनडी-वाचक की सहायता से कारिकाओं के मूलस्थलों के विवरणों को शुद्ध किया और छूटे हुए पत्रों में से मूलांश का संग्रह किया। इतना समझ प्रयत्न होने पर यह संग्रह पाठकों के सामने आया है। मैं स्वयं अभी इसकी पूर्णता के विषय में निःशंक नहीं हूँ; क्योंकि-सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ६६ B) में आए हुए "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये

सहस्रबो गुण्याः इत्यस्य 'सुखमाह्लादानाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्गूनः कान्तासमागमे ॥' इत्युदाहरणं स्यात्' इस अवतरण से मालूम होता है कि— 'सुखमाह्लादानाकारं' कारिका न्यायविनिश्चय की है । पर विवरण में यह कारिका मूल की नहीं मालूम होती; क्योंकि एक तो इसका व्याख्यान नहीं किया गया, दूसरे विवरण (पृ० २३० B) में यह कारिका 'तदुक्तं स्याद्वाद्महार्णवे' लिखकर विना किसी उत्थानवाक्य के उद्धृत पाई जाती है । हाँ, इतना विश्वास अवश्य है कि—यह संग्रह शुद्धि के बहुत पास होगा ।

प्रमाणसंग्रह—मैं पहिले लिख आया हूँ कि—प० सुखलालजी और मुनि पुण्य-विजयजी के प्रयत्न से इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई । उसी प्रतिलिपि के अनुसार प्रेसकापी की गई थी । प्रेसकापी का ताड़पत्र से मिलान तथा कुछ शुद्धपाठों की मूचना श्रीमान् मुनि पुण्यविजयजी ने की । प्रमाणसंग्रह की यह एक मात्र प्रति अत्यन्त अशुद्ध है । इसकी मूलप्रति के अनुसार शुद्धता के लिए मुनि पुण्यविजयजी ने इसके मूफो का मिलान भी ताड़पत्र की प्रति से किया है । इसका परिचय भी मुनिजी ने इस प्रकार लिखा है—

पाठन के संघवी के पाठे के ताड़पत्रीय पुस्तक भंडार की यह प्रति है । डब्बा नं० १३५, प्रति नं० २ है । इस पोथी में खीनिर्वाण केवलमुक्ति आदि निम्नलिखित १४ प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं—

- १—खीनिर्वाण, पत्र ११—१३ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ४५ ।
 - २—केवलमुक्ति, पत्र १३—१५ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ३३ ।
 - ३—मोक्षोपदेशपञ्चाशक, पत्र १५—१८ तक, संस्कृत, मुनिचन्द्रसूरीकृत, श्लोक ५१ ।
 - ४—प्रमाणसंग्रह, पत्र ६०—६२ तक, संस्कृत, अकलङ्कदेवकृत ।
 - ५—ईश्वरकर्तृत्वप्रकरण, पत्र ६३—६८ तक, संस्कृत, चन्द्रप्रभकृत ।
 - ६—ब्राह्मणजातिनिराकरण, पत्र ६८—१०४ तक, संस्कृत ।
 - ७—बोटिकप्रतिपेव, पत्र १०४—१०८ तक, संस्कृत, हरिभद्रसूरीकृत ।
 - ८—सर्वज्ञान्यवस्थाप्रकरण, पत्र १०८—१२१ तक, संस्कृत ।
 - ९—क्षणिकवादनिरासप्रकरण, पत्र १२२—१२७ तक, संस्कृत ।
 - १०—गणकारिका रत्नटीकासमेत, पत्र १२८—१५५, संस्कृत, मासर्वज्ञकृत ।
 - ११—यमप्रकरण, पत्र १५५—१५६ तक, संस्कृत, विशुद्धमुनि पङ्गोचर शिष्यकृत, श्लोक २१ ।
 - १२—लकुलिशप्रार्थना, पत्र १५७, संस्कृत, श्लोक १३ ।
 - १३—कारणपदार्थ, पत्र १५७—१५९ तक, संस्कृत, श्लोक ३६ ।
 - १४—पुराणोक्तस्कन्दनामानि, पत्र १५९, संस्कृत, श्लोक ७ ।
- इनमें प्रमाणसंग्रह पत्र ६० से ६२ में है ।

पत्रों की लम्बाई चौड़ाई "१४ $\frac{1}{2}$ ×२ $\frac{1}{2}$ " इंच है। एक पत्र में ४ से ८ तक पंक्तियाँ हैं। दो विभाग में लिखा गया है। एक पंक्ति में ६०-६३ अक्षर है। ताड़पत्रीय प्रतियों के पत्र प्रायः छोटे बड़े होते हैं। इस प्रति में १४ इंच से लेकर २ $\frac{1}{2}$ इंच तक के चौड़े पत्र हैं।

लिपि के ऊपर से प्रति १२ वीं सदी की लिखी हुई मालूम होती है। प्रति में लेखक का पुष्पिका लेख नहीं है। प्रति में कहीं कहीं किसी विद्वान् वाचक ने अक्षर सुधारे हैं, अवग्रह, पदच्छेद तथा टिप्पण भी किये हैं।

प्रति की लिपि सुन्दर, स्वच्छ तथा स्पष्ट है। हाँ, कुछ अक्षरों में विपर्यास हुआ है। जैसे कि-श के बदले स, स के बदले श बहूत जगह लिखा है। सकल के बदले शकल शास्त्र के बदले सास्त्र इत्यादि। व और व का भेद तो लेखक ने रखा ही नहीं है। निम्न अक्षरों को समझने में भ्रम होता है—व ध, त्व न्व न्ध, ध्य ब्र ध्य, न्त न्न त्त, न् क्क आदि। कहीं कहीं परसवर्ण किया है। व्यजन न् के बदले नु तथा नु के बदले न्, कु के बदले क्क अथवा क्क लिखा है। कर्म धर्म शर्म तर्क सर्व इत्यादि शब्द द्वित्व करके लिखे हैं। प्रति प्राचीन, अखड तथा सुरक्षित है। कहीं कहीं दीमक के जाने के निशान मालूम होने हैं; पर प्रति के अक्षर खराब नहीं हुए हैं।

अन्य प्रमाणसंग्रह—मद्रास प्रान्त की प्राइवेट लाइब्रेरियों के सूचीपत्र में निम्नस्थानों पर प्रमाणसंग्रह का पता चला है—

केटलाग नं० १४६७—अन्नस्वामी श्रौति भवानी (coimbatore)

२३८०—सरस्वती मंडारकमेटी Tnuvalli kkeni (ट्रिचिवेल)

३१७०—सीताराम शास्त्रियर आस्थानपंडित मैसूर।

५०६८—Attan Alaka PPangar of Alvar Truna Pari (Tinnivelly)

५३८७—अन्नस्वामी ऑफ श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली)

५८०७—विद्वान् श्रीरंगाचारिअर of shri valli Puttur (Tinnivelly)

मैंने इन सब स्थानों को जवानी पत्र लिखे पर कहीं से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। मालूम नहीं कि इन स्थानों में प्रमाणसंग्रह अकलकृत जैन ग्रन्थ है या अन्य कोई अजैन प्रमाणसंग्रह। अडयार लाइब्रेरी के सूचीपत्र में भी प्रमाणसंग्रह का नाम था। खोज करने पर मालूम हुआ कि—यह कोई अजैन ग्रन्थ है और उसमें दायभाग के प्रमाणों का संग्रह है। शास्त्रसिक महानुभावों को उक्त स्थानों में प्रमाणसंग्रह की खोज करनी चाहिए।

§ ४. आभार प्रदर्शन—

अद्वैत प्रभाहट्टि पं० सुखलालजी—आपने अत्यन्त कठिन्ता से प्राप्त प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ के सम्पादनका भार मुझे सौंपा। आपकी अमूल्य तथा मार्मिक सूचनाओं के अनुसार ही इसका सम्पादन किया गया है। आपकी सूक्ष्मदृष्टि एवं सत्साहित्य-प्रवृद्धिविषयक

उदारभाव से मैं बिना किसी कठिनाई के इसका सम्पादन करने में समर्थ हुआ। ग्रन्थ के टिप्पण हिन्दीलेखन आदि सभी कार्य आपकी सूचना एवं परामर्श के अनुसार ही हुए हैं। सिंधी ग्रन्थमाला के संस्थापक सदाशय बाबू बहादुरसिंह जी सिंधी—जो बिना किसी सम्प्रदायभेद के उत्तम साहित्य का अकल्पित औदार्य से प्रकाशन कर संस्कृति के इस अंग की भी सुदृढ़ रक्षा कर रहे हैं। ग्रन्थमाला के संपादक विद्वान् मुनि श्रीजिनविजयजी—जिनकी सुसंस्कृत कार्यप्रणाली से ग्रन्थमाला का सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन हो रहा है, तथा जिनने सम्पादन के आन्वन्तर एवं बाह्य स्वरूपनिर्धारण में अपने चिरकालीन सम्पादन प्रकाशन के अनुभव से अनेकों सूचनाएँ दीं।

मुनि श्रीपुण्यविजयजी—आपने प्रमाणसंग्रह की प्रेसकापी को तथा प्रूफों को ताड़पत्र से मिलाकर अनेक शुद्ध पाठों की सूचना दी। प्रमाणसंग्रह का प्रतिपरिचय भी आपने ही लिखा है। आप जैसा निःस्वार्थ साहित्यप्रेम अन्वयत्र कम दिखाई देता है। आप की इस सहज परकार्यपरायणता से मुझे बड़ा आरवासन मिला है। भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री—आपकी सहायता से ही सर्वप्रथम विवृति का संकलन किया गया था। आपने अपने संकलित न्यायविनिश्चय से हमें जब जरूरत हुई तब कारिकानिर्णय, अशुद्धिशोधन तथा पाठान्तर देने में सहज आतृत्व से पूर्ण योग दिया। पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार—आपने बड़े श्रम से तैयार किया हुआ न्यायविनिश्चयमूल का लिखित संग्रह पं० सुखलालजी का पत्र पाते ही तुरन्त भेज दिया। जिसके आधार से कारिकानिर्णय आदि में बड़ी सहायता मिली।

त्रिपिटिकाचार्य मिर्जुवर राहुलसाकृत्यायन—आपने अपनी असाधारण कर्मठता से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिनी टीका, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति और स्वोपज्ञवृत्ति टीका के प्रूफ दिए, तथा प्रमाणवार्तिकालंकार की सर्वथा अलम्य प्रेसकापी से नोट लेने दिए। आप की इस आन्तरिक उदारता के कारण मैं टिप्पणों में अलम्य अवतरणों का संग्रह कर सका हूँ। मि० P. तारकस M. A. ने हेतुबिन्दुमूल देखने दिया।

कविरत्न पं० चैनसुखदासजी, तथा मास्टर मोतीलालजी संघी जयपुर ने लघीयल्लय-ल्लविवृति की प्रति भेजी। पं० लोकनाथ पारवनाथ शास्त्री मूढविद्दी ने न्यायविनिश्चया-लङ्कार की प्रति भेजी। भाई पं० दलसुखजी न्यायतीर्थ ने छपाई परिशिष्ट आवि बनाने की सूचनाएँ दीं। प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री मैसूर तथा प्रो० ए. एन. उपाध्याय कोल्हापुर ने अकलङ्क के समय विषयक अपने मन्तव्य की पत्र द्वारा विस्तार से सूचना दी। अतएव मैं उक्त महानुभावों का आन्तरिक आभार प्रदर्शन करता हूँ। इति शम्।

श्रुतपत्रमी, ज्येष्ठ शुक्ल ५,)
वीरनिवाण स० २४६६)
स्याद्वाद विद्यालय काशी }

सम्पादक—

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री

प्रस्तावना

१. ग्रन्थकार

श्रीमद्ब्रह्मकालदेव श्री जीवनगाथा न तो उन्होने स्वयं ही लिखी है और न तन्निकट-समयवर्ती किन्हीं दूसरे आचार्यों ने ही। उपलब्ध कथाकोशों में सबसे पुराने हरिपेणकृत कथाकोश में समन्तभद्र और अकलंक जैसे युगप्रधान आचार्यों की कथाएँ ही नहीं हैं। हरिपेण ने स्वयं अपने कथाकोश का समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० ६४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोश में अकलंक की कथा मिलती है। पं० नाथूराम जी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश की ही ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने विक्रमसंवत् १५७५ के आसपास पद्यरूप में परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनबी भापा की 'राजावलीकथे' में भी अकलंक की कथा है। इसका रचनाकाल १६ वीं सदी के बाद है। इस तरह कथाग्रन्थों में चौदहवीं सदी से पहिले का कोई कथाग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें अकलंक का चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलंकदेव के ६०० वर्ष बाद की इन कथाओं का इतिवृत्तज्ञ विद्वान् पूरे पूरे रूप में अनुसरण नहीं करते हैं। इनके सिवाय अकलंक के शास्त्रार्थ का उल्लेख मल्लिपेण-प्रशस्ति में है। यह प्रशस्ति विक्रमसंवत् ११८५ में लिखी गई थी। अकलंक के पिता का नाम राजवार्तिक प्रथमाध्याय के अन्त में आए हुए 'जीवाच्चिर' श्लोक में 'लघुहृद्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलंक के जीवनवृत्त की सामग्री नहीं बत है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उस पर अन्य प्रबल साधक प्रमाणों के अभाव में सहसा जोर नहीं दिया जा सकता।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने कथाकोश आदि के आधार से जैनहितैषी (भाग ११ अंक ७-८) में अकलंकदेव का जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधार से न्याय-कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ में उसका पिछपेण्य न करके सिर्फ उन्हीं मुद्दों पर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषय में अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करने के लिए प्रेरकसामग्री संकलित की जा सकी है। खास कर समयनिर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूप से प्रस्तुत है; क्योंकि इस दिशा में जैसी गुंजाइश है वैसा प्रयत्न नहीं हुआ।

§ १. जन्मभूमि-पितृकुल-

प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्त के आराधनाकथाकोश के लेखानुसार अकलंक का जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहाँ के राजा

शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थ में उन्हें काञ्ची के जिनदास ब्राह्मण का पुत्र बताया है। इनकी माता का नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिक के प्रथम अध्यायके अन्तमें पाया जाने वाला यह श्लोक है—

“जीयाच्चिरमकलंकत्रज्ञा लघुहव्वनृपतिवरतनयः ।

अनवरतनिखिलजननुतविधयः प्रशस्तजनहृदयः ॥”

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्व राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानों की आजतक की पर्यालोचना से ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथे का वर्णन प्रमाणकोटि में नहीं मानते और कथाकोश के वर्णन की अपेक्षा उनका मुकाब राजवार्तिक के श्लोक की ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूट-वंशीय इन्द्रराजद्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्त में पिता को अब्ब या अप्प शब्द से कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्णराज को भी अब्ब शब्द से कहता हो। यह तो एक साधारणसा नियम है कि जिसे राजा ‘अब्व’ कहता हो, उसे प्रजा भी ‘अब्व’ शब्द से ही कहेगी। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था, दन्तिदुर्ग के बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि—पुरुषोत्तम कृष्णराज के प्रथम से ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको ‘लघु अब्ब’ शब्द से कहते होंगे। बाद में कृष्णराज के राज्यकाल में ये कृष्णराज के मंत्री बने होंगे। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्था में राज्याधिकारी हुए थे। इसलिये यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुषोत्तम की अवस्था भी करीब करीब उतनी ही होगी और उनका ज्येष्ठ पुत्र अकलंक दन्तिदुर्ग की सभा में, जिनका उपनाम ‘साहसतुंग’ कहा जाता है, अपने हिमशीतल की समा में होने वाले शास्त्रार्थ की बात कहे। पुरुषोत्तम का ‘लघुअब्व’ नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तम की अपेक्षा प्रसिद्ध नाम ‘लघुअब्व’ अधिक पसन्द करते होंगे। यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्य का है तो उसमें पुरुषोत्तम की जगह ‘लघुअब्व’ नाम आना स्वाभाविक ही है। ‘लघुअब्व’ एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे। अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे।

यद्यपि अभी तक इतिहास से यह मालूम हो सका है कि—मान्यखेट राजधानी की प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्ष ने की थी। पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानों का एकमत नहीं है। यह तो सम्भव है कि अमोघवर्ष ने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो,

क्योंकि अमोघवर्ष के पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यान्' आदि उल्लेख मिलते हैं। अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्ष ने ही मान्यखेट को प्रतिष्ठित किया था। तब भी इससे कथाकोश की बाते सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकती। इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि—कथाकोशकार के समय में राष्ट्रकूटवशीय राजाओं की राजधानी आमतौर से मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकार ने शुभतुग की राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है।

यदि पुरुपोत्तम और लघुअब्ब के एक ही व्यक्ति होने का अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलकदेव की जन्मभूमि मान्यखेट के ही आस पास होगी तथा पिता का असली नाम पुरुपोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअब्ब' होगा। 'लघुअब्ब' की जगह 'लघुहब्ब' का होना तो उच्चारण की विविधता और प्रति के लेखनवैचित्र्य का फल है।

§ २. समय विचार—

अकलक के समय के विषय में मुख्यतया दो मत हैं। पहिला स्वर्गीय डॉ० के० वी० पाठक का और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा प० जुगलकिशोर मुस्तार का। डॉ० पाठक मल्लिपेयाप्रशस्ति के 'राजन् साहसतुग' श्लोक के आधार से इन्हें राष्ट्रकूटवशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानते हैं, और अकलकचरित के—
“विक्रमार्कशकान्दीयशतसप्तप्रमाञ्जुपि । कालेऽकलकयतिनो वाँद्वैर्वादे महानभूत् ॥”
इस श्लोक के 'विक्रमार्कशकान्द' शब्द का शकसवत् अर्थ करते हैं। अतः इनके मतानुसार अकलकदेव शकसवत् ७०० (ई० ७७८) में जीवित थे।

दूसरे पक्ष में श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुस्तारसा० 'विक्रमार्कशकान्द' का विक्रमसवत् अर्थ करके अकलक देवकी स्थिति विक्रम स० ७०० (ई० ६४३) में बतलाते हैं।

प्रथममत का समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र त्रिचाभूषण तथा प० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानों ने किया है। इसके समर्थनार्थ हरिवंशपुराण (१।३१) में अकलकदेव का स्मरण, अकलक द्वारा धर्मकीर्ति का खडन तथा प्रभाचन्द्र के कथाकोश में अकलक को शुभतुग का मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं।

दूसरे मत के समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मत के समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाटीका में राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना, हरिभद्र के द्वारा 'अकलक न्याय' शब्द का प्रयोग, सिद्धसेनगणि का सिद्धि-विनिरचय वाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णि में सिद्धिदिनिश्चय का दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिए गए हैं।

१ इन दोनों मतों के समर्थन की सभी युक्तियों का विस्तृत संग्रह न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में देखना चाहिए।

हमारी विचारसरणि—किसी एक आचार्य का या उसके ग्रन्थ का अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इस में हमें इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनेतर। अपने सम्प्रदाय में तो जब मामूली से थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसन के द्वारा मार्गभावना की ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी ख्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानों की तो बात ही क्या! स्वसम्प्रदाय में प्रसिद्धि के लिये अधिक समय की आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं; पर स्वसम्प्रदाय में तो किसी बृद्ध आचार्य द्वारा असाधारणप्रतिभाशाली युवक आचार्य का भी उल्लेख होना संभव है। पर अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धि के लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्व के साम्प्रदायिक वातावरण में असाधारण प्रसिद्धि के बिना अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों पर इस प्रकार की छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करने में तथा समालोचन या अनुसरण करने में प्रवृत्त हो। अतः सम्प्रदायान्तर के उल्लेख या समालोचन करने वाले आचार्य से समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्य के समय में समकालीन होने पर भी १५-२० वर्ष जितने समय का पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं; पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गेन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखकों के द्वारा लिखी गई विरवस्त सामग्री के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिकपरीक्षण को अधिक महत्त्व देना सत्य के अधिक निकट पहुँचने का प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षण के सिवाय अन्य बाह्य साधनों का उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहाँ इसी विचार पद्धति के अनुसार विचार करूँगा।

अकलंक के ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के आधार से मेरा विचार स्पष्टरूप से अकलंक के समय के विषय में डॉ० पाठक के मत की ओर ही अधिक झुकता है। हाँ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठक की समर्थन पद्धति से भिन्न है। मैं पक्षि विरोधी मत की उन एक दो खास युक्तियों की आलोचना करूँगा जिनके आधार पर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारों को विस्तार से लिखूँगा जिनने मेरी मति डॉ० पाठक के मतसमर्थन की ओर झुकाई।

आलोचना—(१) निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावकरूप से उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णि के अन्त में दी हुई गाथा से उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस

चूर्णि के रचनाकाल का पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दीचूर्णि की प्राचीन और विश्वसनीय प्रति में उसका रचनासमय शक ५१८ (ई० ६७६) दिया है पर इसके कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर है यह अभी संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं—

१—अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि ही ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्णि जिनदास की है, पर कोई साधकप्रमाण नहीं मिला। माण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर के जैनागम कैंटलॉग में प्रो० H B कापडिया ने स्पष्ट लिखा है कि—नन्दीचूर्णि के कर्त्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है।

२—निशीथचूर्णि की तरह नन्दीचूर्णि के अन्त में जिनदास ने अपना नाम नहीं दिया।

३—नन्दीचूर्णि के अन्त में पाई जाने वाली—

“गिरेण गामेत् महासहा जिता, पस्यती सख जगद्धिताकुला ।

कमद्धिता वीसेत् चितितकखरो फुडं कहेयं अभिहाणकम्मुया ॥”

इस गाथा के अक्षरो को छोट पलटने पर भी ‘जिनदास’ नाम नहीं निकलता।

४—नन्धप्ययन टीका के रचयिता आचार्य मलयगिरि को भी चूर्णिकार का नाम नहीं मालुम था; क्योंकि वे अपनी टीका में पूर्वटीकाकार आचार्यों का स्मरण करते समय हरिमद्रसूरि का तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिमद्र के द्वारा आधार रूप से अत्रलम्बित चूर्णिके रचयिता का वे नामोल्लेख नहीं करते ‘तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु’ इतना लिखकर ही चुप हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि—आचार्य मलयगिरि चूर्णिकार के नाम से अपरिचित थे; अन्यथा वे हरिमद्र की तरह चूर्णिकार का नाम लिखे बिना नहीं रहते।

अतः जब नन्दीचूर्णि की और निशीथचूर्णि की एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णि के समय से निशीथचूर्णि के समय का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णि का सिद्धिविनिश्चय वाला उल्लेख अकलंक का समय ई० ६७६ से पहिले ले जाने में साधक नहीं हो सकता।

(२) अकलंकचरित के ‘विक्रमार्क शकाब्द’ वाले उल्लेख को हमें अन्य समर्थ प्रमाणों के प्रकाश में ही देखना तथा संगत करना होगा; क्योंकि अकलंकचरित १५ वीं १६ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। यह अकलंक से करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलंकचरित के कर्त्ता के सामने यह परम्परा रही होगी कि ‘सवत्

१ माण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैनागम कैंटलॉग (Part II. P. 302) में मलयगिरिचरित लिखित तीन नन्दिचूर्णविवरणों का परिचय है। उनमें चूर्णिकार तथा हरिमद्र का निम्न श्लोकों में स्मरण किया है—

“नन्धप्ययन पूर्वं प्रयाशितं येन विषमभावायम् । तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोस्तु विद्युये परोपकृते ॥१॥

यस्यै समस्तभूपीठं यज्ञो यस्याभिवर्द्धत । तस्मै श्रीहरिमद्राय नमस्तीकाविद्यगमिने ॥२॥”

७०० में अकलंक का शास्त्रार्थ हुआ था'; पर उन्हें यह निश्चित मालूम नहीं था कि—यह संवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई ? आगे लिखे हुए 'अकलंक के ग्रन्थों की तुलना' शीर्षक स्तम्भ से यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलंक ने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्यों के विचारों की आलोचना की है। कुमारिल आदि का कार्यकाल सन् ६५० ई० से पहिले किसी भी तरह नहीं जाता; क्योंकि भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) की आलोचना कुमारिल आदि के ग्रन्थों में पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकान्द से विक्रमसंवत् विवक्षित किया जाय तो अकलंक को कुमारिल आदि से पूर्वकालीन नहीं तो ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यह अकलंक के द्वारा जिन अन्य आचार्यों की समालोचना की गई है, उनके समय से स्पष्ट ही विरुद्ध पड़ता है। अतः हम इस श्लोक को इतना महत्त्व नहीं दे सकते, जिससे हमें सारी वस्तुस्थिति को उलट कर भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमि को, जिनमें स्पष्टरूप से पौर्वापर्य है खींचतान कर समान काल में लाना पड़े। अकलंकदेव के ग्रन्थों से मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यों के मूल एवं टीकाग्रन्थों का था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि—उन्होंने वसुवन्धु या दिग्नाग के ग्रन्थ नहीं देखे थे। किन्तु बौद्धों के साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलंक को उन पूर्वग्रन्थों का देखना भर पर्याप्त नहीं था, उन्हें तो शास्त्रार्थ में खण्डनीय जटिल युक्तिजाल का विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थ में उपयोगी दलीलों के कोटिक्रम में पूर्ण निष्णात-अकलंक का महान् बाद विक्रम ७०० में असंभव मालूम होता है; क्योंकि धर्मकीर्ति आदि का ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह संभव नहीं है। सारांश यह कि—हमें इस उल्लेख की संगति के लिए अन्य साधक एवं पोषक प्रमाण खोजने होंगे। मैंने इसी दिशा में यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिभद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलंक का उल्लेख, हरिवंशपुराण में

१ हरिवंशपुराण के "इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिध्याकरणोक्तिण । देवस्य देवसद्यस्य न वन्दन्ते गिरः कथम् ॥" (१-३१) इस श्लोक में प० कलाशत्रुजयी देवनन्दि का स्मरण मानते हैं। उसके लिये 'देवसद्यस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठ शुद्ध बताते हैं (भ्यायकुमुद प्रस्ता०)। पर इस श्लोक का 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिध्याकरणोक्तिण' विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि—वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणों के इक्षिन्-श्रुता-विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणों के अभ्यासी तो हो सकते हैं पर जैनेन्द्र व्याकरण के तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दि का स्मरण हरिवंशकार को करना था तो वे 'जैनेन्द्रकर्तुः' या 'जैनेन्द्रप्रणेतुः' ऐसा कोई पद रखते। एक ही पद में जैनेन्द्र के कर्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणों के अभ्यासी देवनन्दि का उल्लेख व्याकरणशास्त्र के नियमों से विरुद्ध है। देवनन्दि का स्मरण मानने के लिए 'देवसद्यस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठरूप कल्पनागौरव का, तथा 'देवनन्दस्य' पाठ के अष्ट रूप में देवनन्दि का संकेत मानने रूप विलम्बकल्पना का भार व्यर्थ ही डोना पड़ता है। अतः इस श्लोक में शब्दशास्त्रनिष्णात अकलंक का ही स्मरण मानना चाहिए।

अकलंक का उल्लेख, धीरसेन द्वारा राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना आदि ऐसे रबरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हें खींचकर कहीं भी बिठाया जा सकता है। अतः उनकी निराधार खींचतान में मैं अपना तथा पाठको का समय खर्च नहीं करूँगा।

§ ३. अकलंक के ग्रन्थों की तुलना—

हमें अकलंक के ग्रन्थों के साथ जिन आचार्यों के ग्रन्थों की तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एव समय के निर्णय की खास आवश्यकता है। अतः तुलना लिखने के पहिले उन खास खास आचार्यों के पौर्वापर्य तथा समय के विषय की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रथम मर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्यों के समय आदि का विचार होगा फिर इनके साथ अकलंक की तुलना करके अकलंकदेव का समय निर्णीत होगा।

मर्तृहरि और कुमारिल—इत्सिंग के उल्लेखानुसार मर्तृहरि उस समय के एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इत्सिंग ने जब (सन् ६२१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब मर्तृहरि की मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अतः मर्तृहरि का समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। मर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शन के प्रस्थापक थे। मीमांसकशुीण कुमारिल ने मर्तृहरि के वाक्यपदीय से अनेकों श्लोक उद्धृत कर उनकी समालोचना की है। यथा—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याप्यलक्षणम्।

अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥” [वाक्यपदीय २।१२१]

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६-१०) में कुमारिल ने वाक्यपदीय के “तत्त्वावबोध, शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते” (वाक्यप० १।७) अश को उद्धृत कर उसका खडन किया है। मीमांसारलोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से) में वाक्यपदीय (२।१-२) में आए हुए दशविध वाक्यलक्षणों का समालोचन किया है। मर्तृहरि के स्फोटवाद की भी आलोचना कुमारिल ने (मी० श्लो० स्फोटवाद) बड़ी प्रखरता से की है। डॉ० के. वी. पाठक ने यह निर्धारित किया है कि—कुमारिल इसवी सन् की ८ वीं शताब्दी के पूर्वभाग में हुए हैं। डॉ० पाठक के द्वारा अन्विष्ट प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल मर्तृहरि (सन् ६५०) के बाद हुए हैं। अतः कम से कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा; पर वे इतने बाद तो कभी नहीं हो सकते। मेरे ‘धर्मकीर्ति और कुमारिल’ के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि—कुमारिल मर्तृहरि के बाद होकर मी धर्मकीर्ति के कुछ पूर्व हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल के विचारों का खडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्ति के पारस्परिक पौर्वापर्य के विषय में अभ्रान्त नहीं थे। यही कारण है कि—वे कुमारिल का समय ई०

८ वीं का पूर्वभाग मानते थे। धर्मकीर्ति का समय आगे सन् ६२० से ६६० तक निश्चित किया जायगा। अतः कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा।

भर्तृहरि और धर्मकीर्ति—कुमारिल की तरह धर्मकीर्ति ने भी भर्तृहरि के स्फोटवाद तथा उन के अन्य विचारों का खंडन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्तौपज्ञ-वृत्ति में किया है। यथा—

१—धर्मकीर्ति स्फोटवाद का खंडन प्रमाणवार्तिक (३।२५१ से) में करते हैं।

२—भर्तृहरि की—“नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।

आवृत्तिपरिपाकार्या बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥” [वाक्यप० १।८५]

इस कारिका में वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकार का खंडन धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख कर के करते हैं—

“समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या ।”

अतः धर्मकीर्ति का समय भर्तृहरि के अनन्तर मानने में कोई सन्देह नहीं है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति—डॉ० विद्याभूषण आदि को विश्वास था कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति की आलोचना की है। मद्रास युनि० से प्रकाशित बृहती के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में प्रो० रामनाथ शास्त्री ने उक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिये मीमांसाश्लोकवार्तिक के ४ स्थल (मी० श्लो० पृ० ६६ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१) भी खोज निकाले हैं। मालूम होता है कि—इन स्थलों की पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्या में जो उत्थान वाक्य दिए हैं, उन्हीं के आचार से ही प्रो० रामनाथ जी ने उन श्लोकों को धर्मकीर्ति के मतखंडनपरक समझ लिया है। यहाँ पार्थसारथिमिश्र की तरह, जो कुमारिल से ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं, शास्त्रीजी भी भ्रम में पड़ गए हैं। क्योंकि उन श्लोकों में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके बल पर उन श्लोकों का अर्थ साक्षात् धर्मकीर्ति के मतखंडनपरक रूप में लगाया जा सके। ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकार को, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिक की अपेक्षा तात्त्विक अधिक है ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी तरह डॉ० पाठक का यह लिखना भी अभ्रान्त नहीं है कि—“मीमांसा श्लोकवार्तिक के शून्यवाद प्रकरण में कुमारिल ने बौद्धमत के ‘बुद्ध्यात्मा प्राद्य प्राहक रूप से भिन्न दिखाई देता है’ इस विचार का खंडन किया है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र धर्मकीर्ति का निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं—

१ यह उद्धरण न्यायकमुषचन्द्र की प्रस्तावना से लिया है।

“अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यस्तित्ये

ब्राह्मग्राहकसवित्तिमेदवानिव लक्षते ॥”

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के

डॉ० पाठक जिन श्लोकों की व्याख्या में मुकुन्द

उद्धृत किए जाने का जिक्र करते हैं, व श्लोक हैं—

“मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः ।

चित्राभिद्वित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपप्लवात् ।

प्रविभक्तमित्यत्र नान्यमर्थमपेक्षते ॥”

इन श्लोकों की व्याख्या में न केवल कुमारिल

भी ‘अविभागोऽपि’ श्लोक को उद्धृत कर चुके हैं

श्लोकों की शब्दावली का ध्यान से पर्यवेक्षण करने

श्लोकों को सीधे तौर से पूर्वपक्ष के निर्णय करने

शब्दावली ‘अविभागोऽपि’ श्लोक की शब्दावली

यद्यपि आर्थिक दृष्टि से ‘अविभागोऽपि’ श्लोक

बैध संभव है। पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति

के पूर्वज आचार्य बसुबन्धु आदि ने विस्तृत

सिद्धि आदि ग्रन्थों में बड़े विस्तार से उक्त

जिम प्रमाणमुच्चय पर धर्मकीर्ति ने प्रमाण

विवेचन होगा ही। स्थिरमति आदि सिद्धि

मात्रतासिद्धि पर मान्य आदि रचके उन

धर्मकीर्ति तो उक्त मत के अनुवादक हैं।

उद्धृत श्लोक के अन्त पर कुमारिल को

अब मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत

कि धर्मकीर्ति ही कुमारिल का स्वयं

१—कुमारिल ने शिवरमायके

अपने हाथ किए गए सर्वज्ञानविज्ञान

“धर्मज्ञाननिवेनस्तु केवलेश्वरः

अर्थात्—सर्वज्ञ के निराकरण का

मत्र पदार्थों के जाननेवाले का

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक

१ यह श्लोक कुमारिल

निर्णय सुगत

सुगत है।

३

ग

वान्त

मपाल,

गोलभद्र ।

शुक्तिसगत

मय मृत्यु हो

मस्त विद्वानो

र्ति का नाम

धर्मकीर्ति जैसे

नि

ही पूरे जोर से सिद्ध करते हैं, उन्हें सुगत की सर्वज्ञता अनुपयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि—

“हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः । यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पर्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पर्यतु । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृह्णानुपासहे ॥”

[प्रमाणवा० १।३४-३५]

अर्थात्—जो हेय-दुःख, उपादेय-निरोध, हेयोपाय-समुदय, और उपादेयोपाय-मार्ग इन चार अर्थसङ्गो का जानता है वही प्रमाण है। उसे समस्त पदार्थों का जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है। वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थों को जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्व का परिज्ञान होना चाहिए। यदि दूरवर्ती पदार्थों का द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हम को दूरद्रष्टा गृह्णो की उपासना पहिले करनी चाहिए।

२—कुमारिल ने शब्द को नित्यत्व सिद्ध करने में जिन क्रमबद्ध दलीलों का प्रयोग किया है धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिक में (३।२६५ से आगे) खण्डन करते हैं।

३—कुमारिल के ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यम्’ इस वाक्यलक्षण का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२५६) में ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेत्’ उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं।

४—कुमारिल के “नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणात्” [मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४] इस वाक्य का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं—

“मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतक वचः ।

सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिव्यापनाद् यदि ॥” [प्रमाणवा० ३।२८६]

५—कुमारिल के “अतोऽत्र पुञ्जितत्वाद्गुणपक्षा मृषार्थता” [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १६६] इस श्लोक का खण्डन धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक स्तोपञ्जवृत्ति (३।२९१) में किया है—“ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात् ।”

६—कुमारिल ने “आप्तवादाविसवादसामान्यादनुमानता” दिग्नाग के इस वचन की मीमांसाश्लोकवार्तिक में (पृ० ४१८ और ९१३) में समालोचना की है। इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२९६) में देते हैं।

७—कुमारिल श्लोकवार्तिक (पृ० १६८) में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का निम्नरूप से वर्णन करते हैं—

“अस्ति ह्यल्लोचनाज्ञान प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥”

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका “केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवद-कल्पनाम् । आहुर्बाला . ” उल्लेख करके खण्डन किया है।

८—कुमारिल वेद के अपौरुषेयत्वसमर्थन में वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु का भी प्रयोग करते हैं—

“वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥” [मी० श्लो० पृ० १४६]

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओं के साथ ही साथ कुमारिल के इस हेतु का भी उल्लेख करके खडन करते हैं—

“यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेम वर्णपदक्रमम् ।

वक्तुं समर्थः पुरुषः तथान्योऽपीति कश्चन ॥” [प्रमाणवा० ३।२४०]

प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्ति के टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोक की उन्धानिका इस प्रकार देते हैं—“तदेव कर्तुरस्मरणादिति हेतु निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् इति दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि ।” इससे स्पष्ट है कि—इस श्लोक में धर्मकीर्ति कुमारिल के वेदध्ययनवाच्यत्व हेतु का ही खडन कर रहे हैं ।

इन उद्धरणों से यह बात असन्दिग्धरूप से प्रमाणित हो जाती है कि—धर्मकीर्ति ने ही कुमारिल का खडन किया है न कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति का । अतः भर्तृहरि का समय सन् ६०० से ६५० तक, कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक, तथा धर्मकीर्ति का समय सन् ६२० से ६६० तक मानना समुचित होगा । धर्मकीर्ति के इस समय के समर्थन में कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाने हैं—

धर्मकीर्ति का समय—डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्ति का समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते हैं । यह प्रसिद्धि है कि—धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अव्यक्त वर्मपाल के शिष्य थे । चीनी यात्री ह्वेनसांग जब सन् ६३५ में नालन्दा पहुँचा तब वर्मपाल अव्यक्षपद से निवृत्त हो चुके थे और उनका वयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अव्यक्षपद पर था । ह्वेनसांग ने इन्हीं से योगशास्त्र का अध्ययन किया था । ह्वेनसांग ने अपना यात्रा विवरण सन् ६४५ ई० के बाद लिखा है । उसने अपने यात्रावृत्तान्त में नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वानों की जो नामावली दी है, उसमें ये नाम हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रमामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र । धर्मकीर्तिक का नाम न देने के विषय में साधारणतया यही विचार है, और वह युक्तिसंगत भी है कि—धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे ।

मिश्र राहुलसाह्यायन जी का विचार है कि—“धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी । चूकि ह्वेनसांग को तर्कशास्त्र से प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानों के नाम देने को बाध्य भी नहीं था, इसी लिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिखा ।” राहुलजी का यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे शुभप्रधानतार्किक का नाम ह्वेनसांग को उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने

पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धु आदि का लिया है। तर्कशास्त्र से प्रेम न होने पर भी गुणमति स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकों का नाम जब हुएनसाग लेता है तब धर्मकीर्ति ने तो बौद्धदर्शन के विस्तार में उनसे कहीं अधिक एव ठोस प्रयत्न किया है। इसलिए धर्मकीर्ति का नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु हुएनसाग की सहज गुणानु-रागिता का द्योतक भी था। यह ठीक है कि—हुएनसाग सबके नाम लेने को बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजान में भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्ति का कार्यकाल गुणमति स्थिरमति आदि से पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थों पर धर्मकीर्ति की विशालग्रन्थराशि का कुछ तो असर मिलना चाहिए था। जो उनके ग्रन्थों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हुएनसाग ने एक जिनमित्र नामके आचार्य का भी उल्लेख किया है। इत्सिंग के “धर्मकीर्ति ने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा” इस उल्लेख के अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्ति का कार्यकाल ‘जिन’ के पश्चात् था; क्योंकि हुएनसाग के ‘जिनमित्र’ और इत्सिंग के ‘जिन’ एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं। अतः यही उचित मालूम होता है कि—धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब हुएनसाग ने अपना यात्राविवरण लिखा।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। इसने सन् ६७१ से ६९५ तक भारतवर्ष की यात्रा की। यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय में रहा। इसने अपना यात्रानृचान्त सन् ६९१-९२ में लिखा है। इत्सिंग ने नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षाप्रणाली आदि का अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञातकों की चर्चा के सिलसिले में लिखता है कि—“प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्य से होती है और उन्हें नाग और हाथी की तरह समझा जाता है। पहिले समय में नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकाल में वसुबन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक, अन्तिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।” (इत्सिंग की भारतयात्रा पृ० २७७) इत्सिंग (पृ० २७८) फिर लिखते हैं कि—“धर्मकीर्ति ने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा। प्रज्ञागुप्त ने (मतिपाल नहीं) सभी विपत्ती मतों का खडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया।” इन उल्लेखों से मालूम होता है कि—सन् ६९१ तक में धर्मकीर्ति की प्रसिद्धि ग्रन्थकार के रूप में हो रही थी। इत्सिंग ने धर्मकीर्ति के द्वारा हेतुविद्या के सुधारने का जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्ति के हेतुविद्ग्रन्थ को लक्ष्य में रखकर किया गया है, जो हेतुविद्या

१ विभागाके प्रमाणसमुच्चय पर जिनैन्द्रविरचित टीका उपलब्ध है। सम्भव है वे जिनैन्द्र ही हुएनसाग के जिनमित्र हों।

का एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्या पर सर्वाङ्गीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययन से हेतुविद्या का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिंग के द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदि के साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्ति के टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्त का नाम लिए जाने से यह मालूम होता है कि—उसका उल्लेख किसी खास समय के लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैमे लम्बे समय वाले युग के लिए है। इससे यह भी ज्ञा होता है कि—धर्मकीर्ति इत्सिंग के धाराविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राष्ट्रलजी की कल्पनानुसार धर्मकीर्ति की मृत्यु हो गई होनी तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरि को धर्मपाल का समकालीन लिखकर उनकी मृत्यु के विषय में भी लिखता है कि—‘उसे मरे हुए अर्था ४० वर्ष हो गए’ उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति की मृत्यु पर भी ‘ऑस् वहाए विना न रहता।

यद्यपि इत्सिंग धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप से लिखता है, परन्तु वह हेतुविद्या में पाण्डित्य प्राप्त करने के लिये पठनीय शास्त्रों की सूची में हेतुद्वाराशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञासिद्धेत्तु, एकीकृत अनुमानों पर शास्त्र, आदि ग्रन्थों का ही नाम लेता है, धर्मकीर्ति के किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं—इत्सिंग ने अपना यात्रा विवरण चाइनी भाषा में लिखा है अतः अनुवादको ने जिन शब्दों का हेतुद्वार न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतुविन्दु और न्यायविन्दु भी हो सकता हो। अथवा धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप में जानकर भी इत्सिंग उनके ग्रन्थों से परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की अपेक्षा अन्य आचार्यों के ग्रन्थ नालन्दा में विशेषरूप से पठन गठन में आते दोगे।

इस विवेचन से हमारा यह निश्चित विचार है कि—भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल (सन् ६२० से ६८०) की भी आलोचना करने वाले, तथा प्रमाणवार्तिक, न्यायविन्दु, हेतुविन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ६ प्रौढ, विस्तृत और सटीक प्रकरणों के रचयिता धर्मकीर्ति की समयावधि सन् ६२५—६५० में आगे सम्भवानी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६६० तक रखनी समुचित होगी। इससे हुएनसांग के द्वारा धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख न होने का, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेख का वास्तविक अर्थ भी समत हो जाता है। तथा तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाय का धर्मकीर्ति को तिब्बत के राजा चोद् त्सन् गम् पो का, जिसने सन् ६२६ से ६८६ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलकदेव ने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्ति की समालोचना के साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदि के विचारों का भी आलोचन किया है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थों के साथ अकलक के ग्रन्थों की आन्तरिक तुलना अकलक के

समयनिर्णय में खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलंक के साथ उक्त आचार्यों की तुलना क्रमशः की जाती है—

भर्तृहरि और अकलंक—भर्तृहरि के स्फोटवाद की आलोचना के सिलसिले में अकलंक देव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० २३१) में वाक्यपदीय की (१।७६) “इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा ।” इस कारिका में वर्णित इन्द्रियसंस्कार, शब्द-संस्कार तथा उभयसंस्कार रूप तीनों पक्षों का खंडन किया है।

राजवार्तिक (पृ० ४०) में वाक्यपदीय की “शब्देषु प्रक्रियामेदरविधैवोपवर्ण्यते” [वाक्यप० २।२३५] यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से) के शब्दसिद्धि प्रकरण में भी स्फोटवाद का खंडन है। शब्दाद्वैतवाद का खंडन भी सिद्धिविनिश्चय में (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलंक—अकलंकदेव के ग्रन्थों में कुमारिल के मन्तव्यों के आलोचन के साथ ही साथ कुछ शब्दसादर्य भी पाया जाता है—

१—कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि—

“प्रत्यक्षाद्यविसवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।

सद्भाववारणे शक्तं को नु त कल्पयिष्यति ॥” [मी० श्लो० पृ० ८५]

अर्थात्—जब प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञ का सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करने की कल्पना भी कर सकेगा ?

अकलंकदेव इसका प्रतिवन्दि उत्तर अपनी अष्टशती (अष्टसह० पृ० ५८) में देते हैं कि—“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षण पुष्पाति त कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितु वा” अर्थात्—जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतु का पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञ का प्रतिषेध या उसके सद्भाव में संशय कर सकता है ?

२ तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित के लेखानुसार कुमारिल ने सर्वज्ञनिराकरण में यह कारिका भी कही है कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लव्य गच्छति ।

न योजनशत गन्तु शक्तोऽभ्याशतैरपि ॥” [तत्त्वस० पृ० ८२६]

अर्थात्—यह समझ है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करने पर अधिक से अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकड़ों वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यों न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नहीं कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यों न किया जाय ज्ञान का प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थ के जानने में नहीं हो सकता।

अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० ४२५ B.) में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो नोल्खेरन् भवादृशः । योजनाना सहस्रं किं बोल्खवेदधुना नरैः ॥”

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्य के कारण आप दस हाथ भी ऊँचा नहीं कूद सकते तब दूसरो से हजार गोजन कूदने की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादा से ऊँचा कूदने में शारीरिकगुरुत्व बाधक होता है।

३—कुमारिल ने जैनसम्मत केवलज्ञान की उत्पत्ति को आगमाश्रित मानकर यह अन्याय-न्याश्रय दोष दिया है कि—‘केवलज्ञान हुए बिना आगम की सिद्धि नहीं हो सकती तथा आगम सिद्ध हुए बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती’—

“एव चै, केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूत्रमातीतादिविषय जीवस्य परिकल्पितम्॥

“नतं तदागमास्तिद्धोत् न च तेनागमो विना ।” [मी० श्लो० पृ० ८७]

अकलङ्कदेव न्यायविनिश्च (का० ४१२-१३) में भीमासारलोकवार्तिक के शब्दों को ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगम की परम्परा अनादि है। इस पुरुष को केवलज्ञान पूर्व आगम से हुआ तथा उस आगम की उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञ से। यथा—

“एव यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नतं तदागमास्तिद्धोत् न च तेन विनागमः ॥

सत्यमर्थब्रह्मादेव पुरुषातिगमो मतः। प्रभवः पौरुषेयोस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥”

शाब्दिक तुलना—

“पुरुषोऽन्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [मी० श्लो० पृ० ६६५]

“प्रस्यन्नप्रतिसवेधः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [न्यायवि० का० ११७]

“तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [प्रमाणसं० पृ० ११२]

धर्मकीर्ति और अकलङ्क—अकलक ने धर्मकीर्ति की केवल मार्मिक समालोचना ही नहीं की है, किन्तु परपक्ष के खडन में उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। अकलक के साहित्य का बहुभाग बौद्धों के खडन से भरा हुआ है। उसमें जहाँ धर्मकीर्ति के पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानों की समालोचना है वहाँ धर्मकीर्ति के उदारकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदि के विचारों का भी निरसन किया गया है। अकलङ्क और धर्मकीर्ति की पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूप से नीचे की जाती है—

१—धर्मकीर्ति के सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरण का पहिला श्लोक यह है—

“बुद्धिपूर्वा क्रिया दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भाव सान येषु न तेषु धीः ॥”

अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक (पृ० १६) में इसे ‘तद्दृक्तम्’ लिख कर उद्धृत किया है, तथा सिद्धिविनेश्वर (द्वितीय परि०) में तो ‘ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अध्यान्तैः पुरुषैः क्वचित्’ इस हेरफेर के साथ मूल में ही शामिल करके इसकी समालोचना की है।

२—हेतुविन्दु प्रथमपरिच्छेद का “अर्थक्रियार्थी हि धर्मः प्रेक्षावान् प्रमाणप्रमाणं वाऽन्वेपते” यह वाक्य लघीयलक्ष्य की स्वोपज्ञविवृति (पृ० ३) में मूलरूप से पाया जाता है। हेतुविन्दु की—

“पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिवैव सः । अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥”

इस आद्यकारिका की आलोचना सिद्धिविनिश्चय की हेतुलक्षणसिद्धि में की गई है ।

३—प्रमाणविनिश्चय के “सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्विद्योः” वाक्य की अष्टशती (अष्टसह० पृ० २४२) में उद्धरण देकर आलोचना है ।

४—वादन्याय की—“असाधनाङ्गवचनमदोद्भावनं द्वयोः ।

निग्रहस्थानमन्यतु न युक्तमिति नेष्यते ॥”

इस आद्यकारिका की समालोचना न्यायविनिश्चय (का० ३७८) में, सिद्धिविनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण में, तथा अष्टशती (अष्टसह० पृ० ८१) में हुई है ।

५—प्रमाणवार्तिक स्वोपबन्धवृत्ति का “तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावन्वस्तदपेक्षाः तदसम्भकार्यकारणाः तस्य मेदात् यावन्त्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयः ।” यह अश अष्टशती (अष्टसह पृ० १३८) के “ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्याम् स्वभावान्तराणि” इस अश से शब्द तथा अर्थदृष्ट्या तुलनीय है ।

६—प्रमाणवार्तिक की आलोचना तथा तुलना के लिए उपयोगी अवतरण न्याय-विनिश्चयादि ग्रन्थों में प्रचुर रूप से पाए जाते हैं । ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रन्थत्रय के टिप्पणों में संगृहीत किए हैं । देखो—लघी० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५९-१७० में आए हुए प्रमाणवार्तिक के अवतरण ।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलङ्क-धर्मकीर्ति के टीकाकारों में प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार है । ये केवल टीकाकार ही नहीं हैं किन्तु कुछ अपने खतन्त्र विचार भी रखते हैं । इनका समय अमी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है । डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण उन्हें १० वीं सदी का विद्वान् बताते हैं । मिन्तु राहुल सांकृत्यायनजी ने टिवेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है । इनका नामोल्लेख अनन्त-वीर्य सिद्धिविनिश्चयटीका में, विद्यानन्द अष्टसहस्री में, तथा प्रमाचन्द्र प्रमेयकमलमार्चण्ड में करते हैं । जयन्तमह ने (न्यायम० पृ० ७४) जिनका समय ईस्वी ८ वीं का मध्य भाग है, इनके वार्तिकालंकार के “एकमेवेद सविद्वेष इर्षविषादादाधनेकाकारविवर्च पर्यायः तत्र यथेष्टं संज्ञा क्रियन्ताम्” इस वाक्य का खडन किया है । अतः इनका समय ८ वीं सदी का प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिये । इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में एक प्रज्ञागुप्त नाम के विद्वान् का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—“प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया ।” हमारे विचार से इत्सिंग के द्वारा प्रशंसित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं हैं । वे वार्तिकालंकार के रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं; क्योंकि इनके वार्तिकालंकार में विपक्ष खडन का भाग अधिक है ।

इस तरह सन् ६९१-९२ में लिखे गए यात्रा विवरण में प्रज्ञाकरगुप्त का नाम

होने से ये भी धर्मकीर्ति के समकालीन ही है। हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होंगे। अतः इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है। यह समय मिच्छु राहुलजी द्वारा सूचित टिवेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार भी ठीक बैठता है। प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार की मिच्छु राहुलजी द्वारा की गई प्रेसकापी पलटने से मालूम हुआ कि प्रज्ञाकर ने मात्र प्रमाणवार्तिक की टीका ही नहीं की है; किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किए हैं। जैसे—

१—सुष्ठु अवस्था मे ज्ञान की सत्ता नहीं मानकर जाग्रद् अवस्था के ज्ञान को प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञान में कारण मानना तथा भाविमरण को अरिष्ट—अपशकुन में कारण मानना। तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकर के द्वारा आविष्कृत हैं। वे वार्तिकालंकार में लिखते हैं कि—

“अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्व्य-
मुमयापेक्षयापि समानम् । यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । नचानन्तर्व्यमेव तत्त्वे
निवन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात् ।

गाढसुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निवन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते ॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव । श्रुत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि
श्रुत्युर्न भविष्यन् भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति ।” [वार्तिकालंकारे पृ० १७६]

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ११० A) का यह उल्लेख—“ननु प्रज्ञाकरमिप्रायेण
भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भावः”—इस
बात का सबल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारण-
वाद के सिलसिले में अनन्तवीर्य का यह लिखना कि “इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मो-
त्तरादीनामिति मन्यते ।” [सिद्धिबि० टी० पृ० १६१A.] प्रज्ञाकर के व्यवहितकारणवादी
होने का खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकर के इस मत को समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा
उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नहीं मानते थे।

२—स्वमान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्न में स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर
मानता है। स्वप्न में जो शरीर का दौड़ना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादि पर गमन
आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकाय के अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता
है, उसीमें होती हैं। इस सूक्ष्मशरीर को वह स्वमान्तिकशरीर शब्द से कहता है। यथा—
“यथा स्वमान्तिकः कायः त्रासलघनधावनैः । जाग्रदेहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥”

“स्वमान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात्” [वार्तिकालंकारे पृ० १४८, १८४]

अनन्तवीर्यार्थ्य के सिद्धिबिनिश्चयटीका (पृ० १३८ B.) में उल्लिखित “प्रज्ञाकरस्तु
स्वमान्तिकशरीरवादी ” वाक्य से स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्त का था।

३—धर्मकीर्ति ने सुगत की सर्वज्ञता के समर्थन में अपनी शक्ति न लगाकर धर्मज्ञत्व का समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्व के साथ ही साथ सर्वज्ञत्व का भी समर्थन करते हैं। सर्वज्ञत्व के समर्थन में वे 'सत्यस्वप्रज्ञान' का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

“इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिक सविदन्येव” [वार्तिकालंकार पृ० ३१६]

४—पीतशंखादिज्ञानों के द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती, अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर सस्थानमात्र अंश से होने वाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंश में उन्हें अनुमानरूप से प्रमाण मानना चाहिए, तथा अन्य अंश में संशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञान में आशिक प्रमाणाता तथा आशिक अप्रमाणाता है। यथा—

“पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। सस्थानमात्रार्थ-
क्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—

‘प्रतिमास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥’
ततोऽनुमानं सस्थाने, संशयः परत्रेति प्रख्यद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च, अनेन
मणिप्रभाया मणिज्ञान व्याख्यातम् ।” [वार्तिकालंकार पृ० ६]

अकलंकदेव ने प्रज्ञाकरगुप्त के उक्त सभी सिद्धान्तों का खंडन किया है। यथा—

१—अकलंकदेव ने सिद्धिविनिश्चय में जीव का स्वरूप बताते हुए ‘अभिन्नः
सविदात्मार्थः स्वापप्रबोधौ’ विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध
तथा मरण और जन्म आदि में जीव अभिन्न रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नहीं
होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है कि—‘तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’
यदि सुतादि अवस्थाओं में ज्ञान का अभाव माना जायगा तो मिद्धा-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि
नहीं बन सकेंगी; क्योंकि सर्वथा ज्ञान का अभाव मानने से तो मृत्यु ही हो जायगी।
मूर्च्छा और अतिनिद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सद्भाव मानने पर ही हो सकता है। हाँ,
उन अवस्थाओं में ज्ञान तिरोहित रहता है। अनन्तवीर्याचार्य ‘तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’
वाक्य का व्याख्यान विस्मरूप से करते हैं—“ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—
‘तदभाव इत्यादि’ ज्ञानस्य असति मिद्धादेः अनुपपत्तेः इति। मिद्धो निद्रा आदिः यस्य
मूर्च्छादिः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावः तदवस्थ एव ।” [सिद्धिवि० टी०
पृ० ५७६ A] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि—अकलंकदेव सुप्रमावस्था में ज्ञान नहीं मानने
वाले प्रज्ञाकर का खंडन करते हैं। अत एव वे न्यायविनिश्चय (का० २२२) में भी जीव-
स्वरूप का निरूपण करते हुए ‘सुप्रमादौ बुद्धः’ पद देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहित-
कारणवाद पर भी उन्होंने आक्षेप किया है। (देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A ।)

इसके सिवाय अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेद में स्पष्टरूप से लिखते हैं
कि—“ न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभाव प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति ” अर्थात्—
जो लोग स्वापादि अवस्थाओं में निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञान का अभाव मानते

हैं उनका ऐसा मानना प्रमाणहीन है। इस पंक्ति से अकलंक के द्वारा प्रज्ञाकर के अतीतकारणवाद के ऊपर किए गए आक्षेप की बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२-न्यायविनिश्चय (का० ४७) में अकलंकदेव ने प्रज्ञाकर के स्वप्नान्तिकशरीर का अन्तःशरीर शब्द से उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० १३८ B.) में भी अकलंक ने स्वप्नान्तिक शरीर पर आक्रमण किया है।

३-अकलंकदेव प्रज्ञाकर की तरह सर्वज्ञता के समर्पण में न्यायविनिश्चय (कारि० ४०७) में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं। तथा प्रमाणसंग्रह (पृ० ६६) में तो स्पष्ट ही सत्यस्वप्नज्ञान का ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा—“स्वयंप्रमुखलङ्घनार्हः स्वार्थालोक-परिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत् ।”

४-जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्त ने पीतशंखाविज्ञान को संस्थानमात्र अंश में प्रमाण तथा इतराश में अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलंक भी लघीयस्वयं तथा अष्टशती में द्विचन्द्रज्ञान को चन्द्रांश में प्रमाण तथा द्वित्वाश में अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थों के अन्तरण के लिए देखो—लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। अष्टशती में तो अकलंकदेव प्रज्ञाकर गुप्त की संस्थानमात्र में अनुमान मानने की बात पर आक्षेप करते हैं। यथा—“नापि लैङ्गिकं लिंगलिंगिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरैकत्वात् किं केन ह्यतं स्यात् ।” [अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७]

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलंक के ग्रन्थों की शाब्दिक और आर्थिक तुलना में बहुत मदद मिलेगी।

“एकमेवेदं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त पर्यायः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्” [वार्तिकालंकार]

“हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरं चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान् प्रतिजानीते ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B.] शेष के लिए देखो—लघी० टि० पृ० १३५ पं० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५६ पं० ११, पृ० १६२ पं० १३, पृ० १६५ पं० २०।

प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रमाणवार्तिक की टीका का नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकाल में इनकी प्रसिद्धि ‘अलङ्कारकार’ के रूप में भी रही है। अकलंकदेव का ‘तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार’ या ‘तत्त्वार्थवार्तिकन्याख्यानालंकार’ नाम भी वार्तिकालंकार के नामप्रभाव से अज्ञात नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलों के आधार से कहा जा सकता है कि—अकलंकदेव ने धर्मकीर्ति की तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्त को देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी बट कर की है।

कर्णकगोमि और अकलंक—धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेद पर ही वृत्ति बनाई थी। इस वृत्ति की कर्णकगोमिरचित टीका के श्रूफ हमारे सामने हैं। कर्णकगोमि के समय का विलकुल ठीक निश्चय न होने पर भी इतना तो

उनके ग्रन्थ देखने से कहा जा सकता है कि—ये मंडनमिश्र के बाद के हैं। इन्होंने अनेकों जगह मण्डनमिश्र का नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० खट्ट० टीका (पृ० ८८) में ‘तदुक्तं मण्डनेन’ कहकर “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निषेद्धु विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥” यह कारिका उद्धृत की है, तथा इसका खंडन भी किया है।

मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि (पृ० १६३) में मी० रत्नोक्तवार्तिक (पृ० ५४२) की “वर्णा वा ध्वनयो वापि” कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक (पृ० २७६) में तन्त्रवार्तिक (२।१।१) की ‘अभिधाभावनामाहुः’ कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल (सन् ६०० से ६८०) के बाद तो होना ही चाहिए। वृहती द्वितीयभाग की प्रस्तावना में इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अतः मण्डन का उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमि का समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकरगुप्त के उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में (पृ० १३७) ‘अलङ्कार एव अवस्तुत्वप्रतिपादनात्’ लिखकर वार्तिकालंकार का उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६६० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलङ्कदेव ने प्रमाणसंग्रह में इनके मत की भी आलोचना की है। यथा—

जब कुमारिल आदि ने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूप पर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्ष में नहीं रहते, अतः हेतु का पक्षधर्मत्वरूप अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है ? तब इसका उत्तर कर्णकगोमि ने अपनी खट्टुटीका में इस प्रकार दिया है कि—काल को पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा—“तदा च स एव कालो धर्मा तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ? [प्रमाणवा० खट्ट० टी० पृ० ११]

अकलङ्कदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—यदि कालादि को धर्मी मानकर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा—“कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः ।” [प्रमाणसं० पृ० १०४]

धर्मोत्तर और अकलङ्क—अज्ञाकार की तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्ति के यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय न्यायविन्दु आदि पर टीका लिखने के सिवाय कुछ स्वतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० ३६० B) के लेखानुसार मालूम होता है कि—अकलङ्कदेव ने न्यायविनिश्चय (का० १६२) में धर्मोत्तर (न्यायवि० टी० पृ० १६) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विचारों की आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० २६ B) में लिखते हैं कि—चूर्णों में अकलङ्कदेव ने धर्मोत्तर के (न्यायविन्दुटीका पृ० १) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शन का प्रतिक्षेप किया है। यह चूर्णों अकलङ्कदेव की ही है; क्योंकि—“तथा च सूक्तं चूर्णों

देवत्य वचनम्' इस उल्लेख के साथ ही एक श्लोक न्यायविनिश्चयविवरण में उद्धृत देखा जाता है (देखो इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट ६ वां)। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्य ने सिद्धिविनिश्चय के अनेक वाक्यों को धर्मोत्तर के खडन रूप में सूचित किया है। धर्मोत्तर करीब करीब प्रज्ञाकर के समकालीन मालूम होते हैं।

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्ति के टीकाकारों में शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वादन्याय की टीका के सिवाय तत्त्वसंग्रह नाम का विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इनका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। (देखो तत्त्वसंग्रह की प्रस्तावना) अकलंक और शान्तरक्षित की तुलना के लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते हैं—

“वृत्ते शाखाः शिलाश्याम इत्येषा लौकिका मतिः।” [तत्त्वसं० पृ० २६७]

“तानेव परयन् प्रत्येति शाखा वृत्तेऽपि लौकिकः।” [न्यायविनि० का० १०४,
प्रमाणसं० का० २६]

“अत्रिकल्पमभिधान्त तद्योगीश्वरानामसम्।” [तत्त्वसं० पृ० ६३४]

“अत्रिकल्पकमध्वान्त प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।” [न्यायवि० का० १५५]

“एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिबुद्ध्याः। निहन्तु हेतवोऽशक्ताः कोन त कल्पयिष्यति॥”
[तत्त्वसं० पृ० ८८५]

“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुण्याति त कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति सरयितु वा।” (अष्टशं अष्टसह० पृ० ५८)

इनके सिवाय शान्तरक्षित ने सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकादिविद्या का दृष्टान्त दिया है।

यथा—“अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या या (या) सुविभाविता।

परचित्तपरिज्ञान करोतीहिव जन्मनि॥” [तत्त्वसं० पृ० ८८८]

अकलंकदेव भी (न्यायवि० का० ४०७) सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकाविद्या का दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणों से अकलंक और शान्तरक्षित के विन्वप्रतिविन्वभाव का आभास हो सकता है।

अकलंक के साथ की गई प्रज्ञाकर आदि की तुलना से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्यों को खींच कर एक काल में किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरि के समालोचक कुमारिल, कुमारिल का निरसन करने वाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार के बाद बनी हुई कर्णकगोमि की टीका तक का ब्यालोचन करने वाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्ति के समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति के समय से इनको अवश्य ही कम से कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षों में प्रमाणवार्तिक की टीका वार्तिकालंकार की रचना तथा कर्णकगोमि की वृत्तिका रची होगी,

और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलङ्क जैसे तार्किक को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलङ्क का समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमाने में आज जैसे प्रेस डॉक आदि शीघ्र प्रसिद्धि के साधन नहीं थे, जिनसे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्ष में ही दुनिया के इस छोर से उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समय का साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारों की मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धि में कम से कम १५-२० वर्ष का समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचना के आधार पर हम निम्न आचार्यों का समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भट्टहरि ६०० से ६५० तक	प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक
कुमारिल ६०० से ६८० तक	कर्णकगोमि ६१० से ७५० तक
धर्मकीर्ति ६२० से ६१० तक	शान्तरक्षित ७०५ से ७६२ तक
धर्मोत्तर ६५० से ७२० तक	अकलङ्क ७२० से ७८० तक

तात्पर्य यह कि— भट्टहरि की अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्यपदीय के श्लोकों का खंडन करने वाला कुमारिल का मीमांसारलोक-वार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिल के मीमांसारलोकवार्तिक की समालोचना जिस धर्मकीर्तिकृत बृहत्काय प्रमाण-वार्तिक में है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिक पर प्रज्ञाकरगुप्त की अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालंकार का उल्लेख करने वाली कर्णकगोमि की विशाल प्रमाणवार्तिकरूपोपज्ञवृत्ति-टीका की रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थों की आलोचना करने वाले अकलङ्क का समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलङ्क चरित के '७०० विक्रमार्कशताब्द' वाले उल्लेख को हमें इन्हीं प्रमाणों के प्रकाश में देखना है। यदि १६ वीं सदी के अकलङ्क चरित की वी हुई शास्त्रार्थ की तिथि ठीक है तो वह विक्रमसंवत् की न होकर शक संवत् की होनी चाहिए। शकसंवत् का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशताब्द' शब्द से पाया जाता है। अकलङ्क का यह समय मानने से प्रभाचन्द्र के कथाकोश का उन्हें शुभतुंग (कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद) का मन्त्रिपुत्र वतखाना, मल्लिषेणप्रशस्ति का साहसतुंग (दन्तिदुर्गादि०, राज्य सन् ७४५-७५८) की समा में उपस्थित होना आदि घटनाएँ युक्तिसंगत समयवाली सिद्ध हो जाती हैं। सोलहवीं सदी के अकलङ्कचरित की अपेक्षा हमें १४ वीं सदी के कथाकोश तथा १२ वीं सदी की मल्लिषेणप्रशस्ति को अप्रस्थान देना ही होगा, जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।

२. ग्रन्थ

[बाह्यस्वरूपपरिचय]

§ १. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता-

प्रस्तुत ग्रन्थत्रय के कर्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्क-देव की यह शैली है कि—वे अपने ग्रन्थों में कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नाम का प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्र के विशेषणरूप से हुआ है तो कहीं ग्रन्थ के विशेषणरूप से और कहीं किसी लक्ष्य के लक्षणभूत शब्दों में विशेषणरूप से।

लघीयल्लय के प्रमाणनयप्रवेश के अन्त में आए हुए 'कृतिरियं सकलवादिचक्र-चक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य' इस पुष्पिकावाक्य से, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' पद से, तथा कारिका नं० ७८ में कथित 'भगवदकलङ्कानाम्' पद से ही लघीयल्लय की अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय-टीका (पृ० ६६ B) में उद्धृत "तदुक्तम् लघीयल्लये-प्रमाणफलयोः " इस वाक्य से, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा (पृ० ६६) एवं अष्टसहस्री (पृ० १३४) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत लघीयल्लय की तीसरी कारिका से, तथा तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक (पृ० २३६) में 'अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः' करके उद्धृत लघीयल्लय की १० वीं कारिका से लघीयल्लय की अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलय-गिरि आवरणकर्णिक की टीका (पृ० ३७० B.) में 'तथा चाहाकलङ्क' कहकर लघीयल्लय की ३० वीं कारिका उद्धृत करके लघीयल्लय की अकलङ्ककर्तृकता का अनुमो-दन करते हैं।

न्यायविनिश्चय कारिका नं० ३८६ में प्रयुक्त 'विसन्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो' पद से, तथा कारिका नं० ४८० में 'आमव्यादकलङ्कमङ्गलफलम्' पद के प्रयोग से केवल न्यायविनिश्चय की अकलङ्ककर्तृकता धोतित ही नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चय-विवरणकार वादिराजसूरि के उल्लेखों से तथा आचार्य अनन्तवीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २०८ B.) में, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आप्तपरीक्षा (पृ० ४६) में 'तदुक्तम-कलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१ वीं कारिका से इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्मभूषण ने तो न्यायदीपिका (पृ० ८) में 'तदुक्त भगवद्विरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर न्यायविनिश्चय की तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका अस्-न्दिग्ध अनुमोदन किया है।

वनाकर वाकी को गद्य भाग में लिखते हैं। अतः विषय की दृष्टि से गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थ की अखण्डता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक की वृत्ति भी कुर्क्षु इसी प्रकार की है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थ की पूर्ति तथा स्पष्टता के लिए बहुत कुछ लिखी गया है। अकलङ्क के प्रमाणसंग्रह का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—
अकलङ्क के गद्यभाग को हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्ति में मात्र मूलकारिका का व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयस्त्रय की विवृति या प्रमाणसंग्रह के गद्यभाग में व्याख्यानात्मक अंश नहीं के ही बराबर है। हाँ, कारिकोक्त पदों को आधार बनाकर उसी विषय का शेष वक्तव्य गद्यरूप में उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभाचन्द्र ने इसको विवृति माना है और वे कारिका का व्याख्यान करते जब गद्य भाग का व्याख्यान करते हैं तब 'विवृति विवृण्वाह' लिखते हैं। विवृति शब्द का प्रयोग हमारे विचार से खालिस टीका या वृत्ति के अर्थ में न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्य के अर्थ में है। १

लघीयस्त्रयमें चर्चित विषय सक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथमपरि० में—सम्यग्ज्ञान की प्रमाणाता, प्रत्यक्ष परोक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष के साव्यवहारिक और मुख्य रूप से दो भेद, साव्यवहारिक के इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्ष का समर्थन, साव्यवहारिक के अवग्रहादिरूप से भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके वहादिरूप भेद, भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञान की प्रमाणाता में उत्तरोत्तर ज्ञानों की फलरूपता आदि विषयों की चरचा है।

द्वितीयपरि० में—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में क्रमयौगपद्यरूपसे अर्थक्रियाकारित्व का अभाव, निस्र मानने पर विक्रिया तथा अविक्रिया का अविरोध आदि प्रमाण के विषय से सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरि० में—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोध का शब्दयोजना से पूर्व अवस्था में मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्था में श्रुतव्यपदेश, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा असम्भव होने से व्याप्तिग्राही तर्क का प्रामाण्य, अनुमान का लक्षण, जलचन्द्र के दृष्टान्त से कारण हेतु का समर्थन, कृतिकोदय आदि पूर्वचर हेतु का समर्थन, अदृश्यानुपलब्धि से भी परचैतन्य आदि का अभावज्ञान, नैयायिकामिमत उपमान का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान के वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदों का निरूपण, बौद्ध मत में स्वभावादि हेतुओं के प्रयोग के कठिनता, अनुमानानुमेयव्यवहार की वास्तविकता एवं विकल्पबुद्धि की प्रमाणाता आदि परोक्षज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों की चरचा है।

चतुर्थपरि० में—किसी भी ज्ञान में ऐकान्तिक प्रमाणाता या अप्रमाणाता का निषेध करके प्रमाणाभास का स्वरूप, सविकल्पज्ञान में प्रत्यक्षाभासता का अभाव, अविसंवाद

‘प्रमाणनयप्रवेश’ एक अखण्ड प्रकरण नहीं था, वे उसे दो स्वतन्त्र प्रकरण मानते थे । इसका आधार यह है कि—सिद्धिविनिरचय टीका (पृ० ५७२ B.) में शब्दनयादि का लक्षण करके वे लिखते हैं कि “ एतेषामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि ”— इनके उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरण से जानना चाहिए । यहाँ नयप्रवेश को स्वतन्त्र प्रकरण रूप में उल्लेख करने से अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्य की दृष्टि में प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे । और यह बहुत कुछ संभव है कि उनसे ही प्रवचनप्रवेश को मिलाकर इनकी ‘लघीयस्य’ संज्ञा दी हो । उस समय प्रवेशक और लघु ग्रन्थो को प्रकरण शब्द से कहने की परम्परा थी । जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्याय-विन्दुप्रकरण आदि । अनन्तवीर्य के इस लघीयस्य संज्ञाकरण के बाद तो इनकी प्रमाण-नयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयस्य के तीन प्रवेशो के रूप में ही रही ग्रन्थ के नाम के रूप में नहीं ।

अस्तु, लघीयस्य नाम का इतिहास जान लेने के बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थ के रूप में ही वर्णन करेंगे; क्योंकि आज तक निर्विवाद रूप से यह एक ही ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत चला आ रहा है । इस ग्रन्थ में तीन प्रवेश हैं—१ प्रमाण प्रवेश, २ नय प्रवेश, ३ निक्षेप प्रवेश । प्रमाण प्रवेश के चार परिच्छेद हैं—१ प्रसङ्ग परिच्छेद, २ विषय परिच्छेद, ३ परोक्ष परिच्छेद, ४ आगम परिच्छेद । इन चार परिच्छेदों के साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेश को मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृति की प्रति में पाए जाते हैं । लघीयस्य के व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्र ने प्रवचनप्रवेश के भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदों पर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है । प्रवचनप्रवेश में जहाँ तक प्रमाण और नय का वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द्र ने छठवें परिच्छेद, तथा निक्षेप के वर्णन को स्वतन्त्र सातवें परिच्छेद माना है ।

लघीयस्य में कुल ७८ कारिकाएँ हैं । मुद्रित लघीयस्य में ७७ ही कारिकाएँ हैं । उसमें ‘लक्षणं क्षणिकान्ते’ (का० ३५) कारिका नहीं है । नयप्रवेश के अन्त में ‘मोहेनैव परोऽपि’ इत्यादि पद्य भी विवृति की प्रति में लिखा हुआ मिलता है । पर इस पद्य का प्रभाचन्द्र तथा अमयनन्दि ने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थ के साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए । प्रथम परि० में ६॥, द्वि० परि० में ३, तृ० परि० में १२, चतु० परि० में ७, पंचम परि० में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं ।

मूल लघीयस्य के साथ ही स्वयं अकलंकदेव की संक्षिप्त विवृति भी इसी संस्करण में मुद्रित है । यह विवृति कारिकाओं का व्याख्यानरूप न होकर उसमें सूचित विषयो की पूरक है । अकलंकदेव ने इसे मूल रखकों के साथ ही साथ लिखा है । मात्सर्य होता है कि—अकलंक देव जिस पदार्थ को कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंश की कारिका

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वर्णन है। यदि धर्मकीर्ति का प्रमाणविनिश्चय के अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि—प्रस्तावविभाजन तथा नामकरण की कल्पना में उसी ने कार्य किया है। यह भी संभव है कि—प्रमाणविनिश्चय को ही बादिदेवसूरि ने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावों में निम्न-विषयों का विवेचन है—

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्ताव में—प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्बन्ध-सूचन, चक्षुरादिबुद्धियों का व्यवसायात्मकत्व, विकल्प के अभिलाषवत्त्व आदि लक्षणों का खंडन, ज्ञान को परोक्ष मानने का निराकरण, ज्ञान के स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदना-द्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थ का निराकरण, अवयवों से भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुणपर्याय का स्वरूप, सामान्य का स्वरूप, अर्थ के उत्पादादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खंडन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, बौद्ध-कल्पित स्वसंवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, साक्ष्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्ताव में—अनुमान का लक्षण, प्रत्यक्ष की तरह अनुमान की बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभास के लक्षण, बौद्धादिमतों में साध्यप्रयोग की असम्भवा, शब्द का अर्थवाचकत्व, शब्दसंकेतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवाद का निराकरण, गुणगुणि भेद का निराकरण, साधन-साधनाभास के लक्षण, प्रमेयत्व हेतु की अनैकान्तसाधकता, सत्त्वहेतु की परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खंडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्क की प्रमाण्याता, अनुपलम्भहेतु का समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वामासों का विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, ज्येतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वाद का लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्ताव में—प्रवचन का स्वरूप, सुगत के आसत्त्व का निरास, सुगत के कर्णवाचक तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्नज्ञान तथा इक्षणिकादिविधा के दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्यभावना की निरर्थकता, मोक्ष का स्वरूप, सप्तमंगीनिरूपण, स्याद्वाद में दिए जाने वाले सशयादि दोषों का परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य, प्रमाण का फल आदि विषयों का विवेचन है।

लघीयखण्ड की तरह न्यायविनिश्चय पर भी स्वयं अकलङ्ककृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० १२० B.) के 'वृत्तिमध्यवर्तिवात्'

और विसवाद से प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृतविषयों में श्रुत की प्रमाणाता, हेतुवाद और आतोक्तरूप से द्विविध श्रुत की अविसेवादि होने से प्रमाणाता, शब्दों के विवक्षावाचित्व का खण्डन कर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाण के स्वरूप, सख्या, विषय और फल का निरूपण कर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पंचमपरि० में—नय दुर्नय के लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप से मूलभेद, सत्त्वरूप से समस्त वस्तुओं के ग्रहण का समग्रहनयत्व, ब्राह्मवाद का समग्रहामासत्व, बौद्ध-मिमत एकान्तप्रणिकता का निरास, गुण गुणी, धर्म धर्मों की गौरव मुख्य विवक्षा में नैगम-नय की प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादि के एकान्त भेद का नैगमामासत्व, प्रामाणिक भेद का व्यवहारनयत्व, कारुणिक भेद का व्यवहारामासत्व, कालकारकादि के भेद से अर्थभेद निरूपण की शब्दनयता, पर्यायभेद से अर्थभेदक कथनका समभिरुद्धनयत्व, क्रियाभेद से अर्थभेद प्ररूपण का एवमृतनयत्व, सामग्रीभेद से अभिन्नवस्तु में भी पट्टकारकी का समभ-आदि समस्त नयपरिवार का विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६ प्रवचन प्रवेश में—प्रमाण, नय, और निक्षेप के कथन की प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोक की ज्ञानकारणता का खंडन, अन्धकार को ज्ञान का विषय होने से आवरणरूपता का अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदव्यवसाय का प्रामाण्य में अप्रयोजकत्व, श्रुत के सकलादेश विकलादेश रूप से दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य की विकलादेशरता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्य की सकलादेशरता, शब्द की विवक्षा से भिन्न वास्तविक अर्थ की वाचकता, नैगमादि सात नयों में से आदि के नैगमादि चार नयों का अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयों का शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपों के लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थ का निरूपण रूप निक्षेप का फल, इत्यादि प्रवचन के अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीर्ति का एक प्रमाणाविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नाम का अनुकरण है। नाम की पसन्दगी में आन्तरिक विषय का निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों का विवेचन किया है। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रस्ताव रखे हैं—१ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अतः समझ है कि—अकलंक के लिए विषय की पसन्दगी में तथा प्रस्ताव के विभाजन में न्यायावतार प्रेरक हो, और इसीलिए उन्होंने न्यायावतार के 'न्याय' के साथ प्रमाणाविनिश्चय के 'विनिश्चय' का मेल बैठकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चय के तीन परिच्छेदों में क्रमशः प्रत्यक्ष,

नुपत्तिरूप हेतुलक्षण का समर्थन, हेतु के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेदों का विवेचन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन आदि हेतुसम्बन्धी विचार है।

पंचम प्रस्ताव में—१०॥ कारिकाएँ हैं। इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासों का निरूपण, सर्वथा एकान्त में सत्त्वहेतु की विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतु की विरुद्धता, विरुद्धाभ्यमिचारी का विरुद्ध में अन्तर्भाव, अज्ञात हेतु का अकिञ्चित्कार में अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन है।

षष्ठ प्रस्ताव में—१२॥ कारिकाएँ हैं। इनमें वाद का लक्षण, जयपराजय व्यवस्था का स्वरूप, जाति का लक्षण, दध्युष्टत्वादिके अमेदप्रसंग का जात्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्व-समर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करने में सत्त्वहेतु का सिद्धसेनादि के मत से असिद्धत्वादिनिरूपण आदि वादविषयक कथन है। अन्त में—धर्मकीर्ति आदि ने अपने ग्रन्थों में प्रतिवादियों के प्रति जिन जाड्य आदि अपगण्डों का प्रयोग किया है उनका वहुत सुन्दर मुंहतोड़ उत्तर दिया है। लिखा है कि—शून्यवाद, संबृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसञ्चय को प्रत्यक्ष का विषय मानना, अपोहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड़ है। प्रतिज्ञा को असाधन कहना, अद्वयानुपलब्धि को अगमक कहना आदि ही अहीकता—निर्लज्जता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के सिवाय सब ज्ञानों को आन्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुता के द्योतक हैं। परलोकन मानना, शास्त्रन मानना, तप दान देवता आदि से इकार करना ही अलौकिकता है। अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदि में शब्द-वेद को ही प्रमाण मानना, किसी चेतन को उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है। संस्कृत आदि शब्दों में साधुता असाधुता का विचार तथा उनके प्रयोग मात्र से पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-आभीखजन का लक्षण है।

सप्तम प्रस्ताव में—१० कारिकाएँ हैं। इनमें प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता में किए जाने वाले सन्देह का निराकरण, अपौरुषेयत्व का खंडन, तत्त्वज्ञानचारित्र की मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयों का विवेचन है।

अष्टम प्रस्ताव में—१३ कारिकाएँ हैं। इनमें सप्तमंगी का निरूपण तथा नैगमादिनयों का कथन है।

नवम प्रस्ताव में—२ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रमाण नय और निक्षेप का उपसंहार है।

§ ३. रचनाशैली—

अकलङ्क के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—१ टीका ग्रन्थ, २ स्वतंत्र प्रकरण। टीका ग्रन्थों में राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं। स्वतंत्र ग्रन्थों में लघीयल्लयसमिवृत्ति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसंग्रह ये चार ग्रन्थ निश्चित रूप से अकलंककर्तृक हैं। परम्परागत प्रसिद्धि की दृष्टि से स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूल्हिका, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्तसंग्रह आदि हैं, जिनके कर्त्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलंक हैं।

आदि वाक्यों से तथा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १२० A.) में न्यायविनिश्चय के नाम से उद्धृत "नचैतद्दहिरेव" आदि गद्यभाग से पता चलता है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० १६१ B.) में 'तथा च सूक्तं चूर्णी देवस्य वचनम्' कहकर "समारोपव्यवच्छेदाद्" रलोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ समभव है कि इसी विवृतिरूप गद्यभाग का ही विवरणकार ने चूर्णि शब्द से उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराज ने न्यायविनिश्चय के केवल पद्यभाग का व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह-प० सुखलालजी की कल्पना है कि—'प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नाग के प्रमाणमसुचय तथा शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह का स्मरण दिलाता है।' यह कल्पना हृदय को लगती है। पर तत्त्वसंग्रह के पहिले भी प्रशस्तपादभाष्य का पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। समभव है कि संग्रहान्त नाम पर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणो-भुक्तियों का संग्रह ही है। इस ग्रन्थ की भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनता से समझने लायक है। अकलक के इन तीन ग्रन्थों में यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया है, क्योंकि इसके कई प्रस्तावों के अन्त में न्यायविनिश्चय की अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्य के लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़-शैली से ज्ञात होता है कि यह अकलकदेव की अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारों के लिखने का प्रयास किया है, इसीलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओं के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदों का विस्तृत विवेचन है; जब कि न्यायविनिश्चय में मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि—यह न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया होगा।

इसमें ६ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७ ३/४ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्ताव में—६ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रत्यक्ष का लक्षण, श्रुत का प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाण का फल, मुख्यप्रत्यक्ष का लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्ताव में—६ कारिकाएँ हैं। इनमें सृष्टि का प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञान की प्रामाण्यता, तर्क का लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भ से तर्क का उद्भव, कुतर्क का लक्षण, विवक्षा के बिना भी शब्दप्रयोग का संभव, परोक्ष पदार्थों में श्रुत से अविनाभावग्रहण आदि का वर्णन है। अर्थात् परोक्ष के भेद सृष्टि प्रत्यभिज्ञान और तर्क का निरूपण है।

तृतीय प्रस्ताव में—१० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमान के अवयव साध्य साधन का लक्षण, साध्याभास का लक्षण, सदसदेकान्त में साध्यप्रयोग की असम्भवा, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की साध्यता तथा उसमें दिए जानेवाले संगयादि आठ दोषों का परिहार आदि का वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्ताव में—११॥ कारिकाएँ हैं। इनमें त्रिरूप का खडन करके अन्यथा-

रही है। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति को देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूप से लिखने की परम्परा थी। लेखनशैली में परिहास का पुट भी कहीं कहीं बड़ी व्यंजना के साथ मिलता है, जैसे—न्यायविनिश्चय में धर्मकीर्ति के—“जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक हैं तब दही और जेंट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अतः दही को खानेवाला जेंट को क्यों नहीं खाता ?” इस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है कि—भाई, जैसे सुगत पूर्व भव में भृगु थे, तथा भृगु भी सुगत हुआ था, अतः सन्तानदृष्टि से एक होने पर भी आप भृगु की जगह सुगत को क्यों नहीं खाते और भृगु की वन्दना क्यों नहीं करते ? अतः जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होने से वन्धत्व और खाधत्व की व्यवस्था है उसी तरह दही और जेंट के शरीर में पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होने पर भी पर्याय की अपेक्षा भिन्नता है। यथा—

“सुगतोऽपि भृगो जातः भृगोऽपि सुगतस्तथा । तथापि सुगतो वन्द्यो भृगुः खाद्यो यथेव्यते ॥
तथा वस्तुवलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः । चोदितो दधि खादेति किमुद्ग्रमभिधावति ॥”

[न्यायनि० ३।३७३-७४]

अकलंक के प्रकरणों का सूक्ष्मता से अनुसंधान करने पर मालूम होता है कि—अकलंकदेव की सीधी चोट बौद्धों के ऊपर है। इतरदर्शन तो प्रसंग से ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचना में बौद्धदर्शन का सहारा भी लिया गया है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से तो अनेकों पूर्वैषक्ष शब्दशः लेकर समालोचित हुए हैं। धर्मकीर्ति के साथ ही साथ उनके शिष्य एव टीकाकार ब्रह्माकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलंक के द्वारा युक्तिजालों में लपेटे गए हैं। जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादी के ऊपर पूरा पूरा प्रहार किया गया है। कुमारिल की सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियों प्रबलप्रमाणों से खंडित की गई हैं। जैननिरूपण में समन्तभद्र, पूज्यपाद का प्रभाव होने पर भी न्यायविनिश्चय में सिद्ध-सेन दिवाकर के न्यायावतार तथा लघीयज्ञय के नयनिरूपण में सन्मतितर्क के नयकाण्ड तथा मङ्गलवादि के नयचक्र का भी प्रभाव है। उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अमरदेव, शान्तिसूरि, वादिराज, वादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशोविजय आदि सभी आचार्यों ने अकलंक के द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखा का विस्तार किया तथा उनके वान्यों को बड़ी श्रद्धा से उद्धृत कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्था में अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि' आचार्य ने दिखाई है। शान्तिसूरि ने जैनतर्कवार्तिक में अकलङ्क द्वारा प्रमाणसंग्रह में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिमित्तक त्रिविध श्रुत की जगह द्विविध-अनुमानज और शब्दज श्रुत माना है। मलयगिरि आचार्य ने सन्ध्यनय में स्यात्पद के प्रयोग का इस आधार पर समालोचन किया है कि स्यात् पद का प्रयोग करने से तो प्रमाण और नय में कोई भेद नहीं रहेगा। पर इसका उत्तर उ० यशोविजय ने शुरुतत्त्वविनिश्चय में दे दिया है कि—मात्र स्यात् पद

राजवार्तिक के सिवाय प्रायः सभी ग्रन्थ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते हैं। धर्मकीर्ति के हेतुविन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी करीब करीब इतने ही छोटे हैं। उस समय साक्षित पर अर्थबहुल, गभीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणों की रचना का ही युग था।

अकलंक जब आगमिक-विषय पर कलम उठाते हैं तब उनके लेखन की सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुण का प्रवाह पाठक को पढ़ने से ऊबने नहीं देता। राजवार्तिक की प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलंक तार्किक विषयो पर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलंक के प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित प्रकरणग्रन्थ अत्यन्त जटिल, गूढ एवं इतने साक्षित हैं कि कहीं कहीं उनका आधार लेकर टीकाकारों द्वारा किए गए अर्थ अकलंक के मनोगत थे या नहीं यह संदेह होने लगता है। अकलंक के प्रकरणों की यथार्थज्ञता का दावा करने वाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढता के विषय में बरबस कह उठते हैं कि—

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वथा । न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥”

अर्थात्—“अनन्तवीर्य भी अकलंक देव के पदों के व्यक्त अर्थ को नहीं जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।” ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंक के प्रकरणों के मर्मज्ञ, तलद्रष्टा समझे जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं वादिराज अनन्तवीर्य की अकलंकीय प्रकरणों की तलस्पर्शिता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—“मैंने त्रिलोक के यावत् पदार्थों को संक्षेपरूपसे वर्णन करनेवाली अकलंक की पद्धति को अनन्तवीर्य की उक्तियों का सैकड़ों बार अभ्यास करके समझ पाया है।” “अकलंक के गूढ प्रकरणों को यदि अनन्तवीर्य के बचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था ?” आदि।

सविष्टति लघीयस्त्रय पर प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध होने से तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होने से समझने में उतनी कठिनाई नहीं मालूम होती जितनी न्यायविनिश्चय में। प्रमाणसंग्रह में तो यह कठिनाई अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है। एक ही प्रकरण में अनेक चर्चाओं का समावेश हो जाने से तो यह जटिलता और भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ—न्यायविनिश्चय में भूतचैतन्यवाद का निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतों का गुण नहीं है, वहीं लगे हाथ गुण शब्द का व्याख्यान तथा वैशेषिक के गुणगुणभेद का खडन भी कर दिया है। समझनेवाला इससे विषय के वर्गीकरण में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। अकलंकदेव का षड्दर्शन का गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रों का अतुलमात्रनापूर्वक आत्मसात्करण ही उन के प्रकरणों की जटिलता में कारण मालूम होता है। वे यह सोचते हैं कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूक्ष्म और बहु पदार्थ ही नहीं किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह शब्दसंक्षिप्तता बड़े बड़े प्रकाण्डपण्डितों को अपनी बुद्धि को मापने का मापदण्ड बन

प्रमाणसम्बन्ध विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दों का प्रयोग करके प्रमाणसम्बन्ध का निषेध किया है। एक प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाणसम्बन्ध कहते हैं। बौद्ध पदार्थों को एकक्षणस्थायी मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ ज्ञान में कारण होता है। अतः जिस विवक्षित पदार्थ से कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियम से नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी अर्थ में दो ज्ञानों के प्रवृत्त होने का अन्वसर ही नहीं है। दूसरे, बौद्धों ने प्रमेय के दो भेद किए हैं—१ विशेष (स्वलक्षण), २ सामान्य (अन्यापोहरूप)। विशेष पदार्थ को विषय करने वाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्य को जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह विषयद्वैविध्य से प्रमाणद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होने से कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादा को नहीं ँँष सकता। इसलिए विजातीय प्रमाण की तो स्वनियत विषय से भिन्न प्रमेय में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तर के सम्बन्ध की बात, सो द्वितीय क्षण में जब वह पदार्थ रहता ही नहीं है तब सम्बन्ध की चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—‘जैन तो पदार्थ को एकान्तक्षणिक नहीं मानते और न विषयद्वैविध्य को ही। जैन की दृष्टि से तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणों का विषय होता है। तब अनधिगतार्थग्राहि पद का जैनोक्त प्रमाणलक्षण में क्या उपयोग हो सकता है?’ अकलंकदेव ने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है। अमुक ज्ञान के द्वारा वस्तु के अमुक अंशों का निश्चय होने पर भी अगृहीत अंशों को जानने के लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है। इसी तरह जिन ज्ञात अंशों में संवाद हो जाने से निश्चय हो गया है, उन अंशों में भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करे पर जिन अंशों में असंवाद होने से अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेदक होने के कारण अनधिगतग्राहिरूप से प्रमाण ही हैं। प्रमाणसम्बन्ध के विषय में यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलंकदेव ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगतार्थग्राहि पद के प्रवेश करने के कारण अनिश्चितांश के निश्चय में या निश्चितांश में उपयोगविशेष होने पर प्रमाणसम्बन्ध माना है, जब कि नैयायिक ने अपने प्रमाणलक्षण में ऐसा कोई पद नहीं रखा, अतः उसकी दृष्टि से वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जाँय तो अवश्य ही प्रमाण की प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष होया न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिक को प्रत्येक अवस्था में प्रमाणसम्बन्ध वीकृत है।

अकलंकदेव ने बौद्धमत में प्रमाणसम्बन्ध की असंभवता के कारण ‘अनुमान की अप्रवृत्ति’ रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आप के यहाँ यह नियम है कि प्रत्यक्ष के

के प्रयोग से प्रमाण और नय में भेदाभाव नहीं हो सकता । नयान्तरसापेक्ष नय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयों को प्रमाण मानना होगा । इस तरह उपाध्यायजी ने अकलंक के मत का ही समर्थन किया है ।



आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचय में अकलंकदेव ने प्रस्तुत तीनो ग्रन्थों में जिन विषयों पर संक्षेप या विस्तार से जो भी लिखा है, उन विषयों का सामान्य परिचय तथा अकलंकदेव के वक्तव्य का सार दिया गया है । इससे योग्यभूमिकावाले जैनन्याय के ग्रन्थासियों का अकलंक के ग्रन्थों में प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्याय के रसिक अध्यापकों को जैनन्याय से सम्बन्ध रखने वाले दर्शनान्तरीय विषयों की अनेको महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेंगी । इसमें प्रसंगतः जिन अन्य आचार्यों के मतों की चर्चा आई है उनके अवतरण देखने के लिए उस विषय के टिप्पणों को ध्यान से देखना चाहिए । इस परिचय को ग्रंथशः नहीं लिखकर तीनो ग्रन्थों के मुख्य २ विषयों का सफलन करके लिखा है । जिससे पाठकों को विशेष सुविधा रहेगी । यह परिचय मुख्यतया से प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तमंगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है ।

§ १. प्रमाणनिरूपण—

प्रमाणसामान्यविचार—समन्तभद्र और सिद्धसेन ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समय के प्रचलित लक्षणों से जैनलक्षण को व्यावृत्त कराते थे । साधारणतया 'प्रमाकरण प्रमाणम्' यह लक्षण सर्वमान्य था । विवाद था तो इस विषय में कि वह करण कौन हो ? न्यायभाष्य में करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों का स्पष्टतया निर्देश है । यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करण के स्थान में सारूप्य या योग्यता को रखते हैं । समन्तभद्रादि ने करण के स्थान में स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञान को प्रमाण माना जो स्व और पर उभय का अवभासन करने वाला हो । अकलंकदेव ने इस लक्षण में अविंसवादि और अनधिगतार्थप्राहि इन दो नए पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान में व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है । अविंसवादि तथा अज्ञातार्थ-प्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्ति के प्रमाण के लक्षण से आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से । इनकी लक्षणसंघटना के अनुसार स्व और पर का व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविंसवादि-सशयादि समारोप का निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा ।

ज्ञान का सद्भाव ही असिद्ध है। अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने से परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान नहीं हो सकेगा।

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद निराकरण—यदि प्रथमज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञान से माना जाय और इसी तरह अस्वसंवेदी तृतीयादिज्ञान से द्वितीयादिज्ञानों का प्रत्यक्ष; तब अनवस्था नाम का दूषण ज्ञान के सद्भाव सिद्ध करने में बाधक होगा, क्योंकि जब तक आगे आगे के ज्ञान अपने स्वरूप का निश्चय नहीं करेंगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानों को नहीं जान सकेंगे। और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थ का ज्ञान असंभव हो जायगा। इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा। एक ज्ञान के जानने में ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानों का प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञान की विषयान्तर में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि अप्रत्यक्षज्ञान से अर्थबोध माना जाय; तब तो हम लोग ईश्वरज्ञान के द्वारा भी समस्त पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ बन जायेंगे, क्योंकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा अर्थों को इसी कारण से नहीं जान सकते थे कि वह हमारे स्वयं अप्रत्यक्ष है।

प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन—यदि ज्ञान प्रकृति का विकार होने से अचेतन है तथा वह पुरुष के सचेतन द्वारा अनुभूत होता है; तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञान का क्या प्रयोजन ? क्योंकि उसी ज्ञानस्वरूपसञ्चेतक पुरुषानुभव के द्वारा अर्थ का भी परिज्ञान हो जायगा। यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नहीं है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञान की सत्ता किससे सिद्ध की जायगी ? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुष का धर्म भी कैसे हो सकती है ? अतः ज्ञान परिणामी पुरुष का ही धर्म है और वह स्वार्थसंवेदक होता है। इसी तरह यदि अर्थसञ्चेतना स्वार्थसंवेदक है; तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुष के मानने का भी क्या प्रयोजन ? यदि वह अस्वसंवेदक है; तब पूर्वज्ञान तथा पुरुष की सिद्धि किससे होगी ?

साकारज्ञानवाद निरास—साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियों को ये दूषण देते हैं कि—'यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थ के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है; तब प्रतिकर्मव्यवस्था—घटज्ञान का विषय घट ही है पट नहीं—कैसे होगी ? तथा विषयप्रतिनियम न होने से सब अर्थ एकज्ञान के या सब ज्ञानों के विषय हो जायेंगे। विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। इनमें यही भेद है कि विषयज्ञान जहाँ केवल विषय के आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थकारज्ञान दोनों के आकार को धारण करता है। विषय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ज्ञान को साकार मानना आवश्यक है।' अकलकदेव ने इनका समाधान करके ज्ञान को निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि—विषयप्रतिनियम के लिए ज्ञान की अपनी शक्ति ही नियामक है। जिस ज्ञान में जिस प्रकार की जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकार की अर्थव्यवस्था होगी।

द्वारा वस्तु के समस्त गुणों का दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वांशतया गृहीत वस्तु में कोई भी अनधिगत अंश नहीं बचा, जिसके ग्रहण के लिए अनुमान को प्रमाण माना जाय। अनुमान के विषयभूत अन्यापोहरूप सामान्य में विपरीतारोप की संगमना नहीं है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अकलकौत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने अनधिगतार्थ की जगह कुमारिल के अपूर्वार्थ पद को स्थान दिया। पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अमयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अनधिगत या अपूर्वार्थ किसी भी पद को अपने लक्षणों में नहीं रखा।

ज्ञान का स्व-परसंवेदन विचार—ज्ञान के स्वरूपसंवेदन के विषय में निम्न वाद हैं—१ मीमांसक का परोक्षज्ञानवाद, २ नैयायिक का ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ३ सांख्य का प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञान का पुरुष द्वारा संचेतनवाद, ४ बौद्ध का साकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद, ५ जैन का निराकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद। अकलंकदेव ने इतर वादों की समालोचना इस प्रकार की है—

परोक्षज्ञानवादनिरास—यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने स्वरूप को न जान सके, तब उस परोक्षज्ञान के द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकेगा; क्योंकि आत्मान्तर के ज्ञान से हमारे ज्ञान में यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वयं प्रत्यक्ष का विषय है, उसे हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तर के ज्ञान को हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करते। यही कारण है कि आत्मान्तर के ज्ञान के द्वारा हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। जब ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं तब उसकी सिद्धि अनुमान से भी कैसे होगी? क्योंकि अस्वसंवेदित अर्थप्रकाश-रूप लिंग से अज्ञात धर्मि-ज्ञान का अविनाभाव ही गृहीत नहीं है। अर्थप्रकाश को स्वसंवेदित मानने पर तो ज्ञान की कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योंकि स्वार्थसंवेदी अर्थप्रकाश से स्व और अर्थ उभय का परिच्छेद हो सकता है। इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञान का अनुमान नहीं करा सकते; क्योंकि एक तो इनके साथ ज्ञान का अविनाभाव असिद्ध है, दूसरे इनके होने पर भी कभी कभी ज्ञान नहीं होता अतः ये व्यभिचारी भी हैं। यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं; तब उनसे हमें अनुग्रह या परिताप नहीं हो सकेगा। अपने सुखादि को अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्मा के सुख से व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्मा के सुखादि का हम उसकी प्रसाद-विधादादि चेष्टाओं से अनुमान तो कर सकते हैं पर उनसे अनुग्रहादि तो हमें नहीं होता। ज्ञान को परोक्ष मानने पर आत्मान्तर की बुद्धि का अनुमान करना भी कठिन हो जायगा। परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओं से किया जाता है। यदि हमारा ज्ञान हमें ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञान का व्यापारादि के साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मा में तो ग्रहण ही नहीं कर सकेंगे, अन्य आत्मा में तो अभी तक

मिकपरम्परा में स्पष्टरूपसे परोक्ष हैं। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरो में इन्द्रिया-न्द्रियजज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेव के पहिले आ० सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों का कथन किया है, पर प्रमाणों की व्यावर्तिक संख्या श्रीमी तक अनिश्चितसी ही रही है। अकलंकदेव ने सूत्रकारकी परम्परा की रक्षा करते हुए लिखा है कि—मति, सृष्टि, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजना से पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजना के अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जाँय। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञान में अन्तर्भूत मति—इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष को लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होने के कारण तथा वैश्याश का सद्भाव होने से सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हो।

इस वक्तव्य का यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्ष के दो भेद—१ साव्यवहारिक, २ सुख्य। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद— १ इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष—अन्नग्रह, ईहा, अत्राय और धारणादिज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—शब्दयोजना से पहिले की अवस्थावाले सृष्टि, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलंकदेव ने प्रमाण के भेद किए जो निर्विवाद रूप से उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा माने गए। हाँ, इसमें जो सृष्टि, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान को शब्दयोजना के पहिले अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सर्वांश में अर्थात् शब्दयोजना के पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओं ने परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने लघीयल्लय की 'ज्ञानमाध' कारिका का यह अर्थ किया है कि—'मति, सृष्टि, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजना के पहिले तथा शब्दयोजना के बाद दोनों अवस्थाओं में श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष है।'

यद्यपि जिनभद्रगणिकामाश्रमण ने अपने विशेषावश्यकभाष्य में प्रत्यक्ष के दो भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष को सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होंने सृष्टि आदि ज्ञानों के विषय में कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रियप्रत्यक्ष को सव्यवहारप्रत्यक्ष मान लेने से लोकप्रसिद्धि का निर्वाह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धि का समन्वय भी हो गया और सूत्रकार का अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष—सिद्धसेनदिवाकर ने प्रत्यक्ष का—'अपरोक्ष रूप से अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने की परम्परा बौद्धों में स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में अकलंक के द्वारा विशद पद के साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परा में प्रसिद्ध—इन्द्रिय और पदार्थ के योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्ष के बाद उत्पन्न होने वाले,

इस ख शक्ति को न मानकर ज्ञान को साकार मानने पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'घटज्ञान घट के ही आकार क्यों हुआ पट के आकार क्यों नहीं हुआ ?' तद्बुद्धि से तो आकारनियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस तरह घटज्ञान घट से उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थों से भी तो उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकार को भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषय के आकार को यदि एकदेश से ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान साश हो जायगा। यदि सर्वदेश से; तो ज्ञान अर्थ की तरह जड़ हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थों के जाननेवाले सृष्टि, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थों के आकार हो सकते हैं ? हाँ, शक्तिप्रतिनियम मानने से अतीतादि पदार्थों का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। ज्ञान का अमुक अर्थ को विषय करना ही अन्य पदार्थ से व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञान को निराकार मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञान में मूर्त अर्थ का प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिक को ज्ञान के साकार होने का 'ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है।' यह अर्थ इष्ट था या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धों ने उसका खंडन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खंडन में है।

इस तरह अकलंक ने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राहि, अविसेवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस लक्षण के अनधिगतार्थग्राहिव विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकों ने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राहिव की परम्परा मायिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्र ने स्वनिर्णय को भी प्रमाण के व्यावर्तक लक्षण में नहीं रखा; क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्य का धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञान का। अकलंकदेव ने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादि की प्रमाणात्ता का व्यवच्छेद प्रतिक्रिया में अव्यवहित करण न होने के कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक सशय और विपर्यय का विसेवादी होने से तथा निर्विकल्पज्ञान का संव्यवहारानुपयोगी होने के कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पद से सुष्ठु चैतन्य के समान निर्विकल्पक-दर्शन भी प्रमाणकोटि से बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाण के भेद-तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' इस सूत्र को लक्ष्य में रखकर ही अकलंक ने प्रमाण के दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनसे 'प्रमाणे इति संग्रहः' पद देकर उस भेद के आधार-भूत सूत्र की सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में मति (इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष), सृष्टि, सद्भा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) इन ज्ञानों को मति से अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञान का परोक्षत्व भी वहाँ स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आग-

का योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ततः सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), ततः अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), ततः ईहा (विशेष जिज्ञासा), ततः अवाय (विशेष निरचय), अन्त में धारणा (सस्कार) ।

सामान्यावलोकन से धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्पुपयोगरूप माने जाय या पृथक् पृथक् उपयोगरूप, दोनों अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मा की सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मैं देखने वाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मैं धारणा करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । इसी दृष्टि से अकलङ्कदेव ने दर्शन की अवग्रहरूप परिणति, अवग्रह की ईहारूप, ईहा की अवायरूप तथा अवाय की धारणारूप परिणति स्वीकार की है । अन्वित आत्मदृष्टिसे अमेद होने पर भी इन ज्ञानों में पर्याय की दृष्टिसे तो भेद है ही ।

ईहा और धारणा की ज्ञानात्मकता—वैशेषिक ईहा को प्रयत्न नाम का पृथक् गुण तथा धारणा को भावनासस्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं । अकलङ्कदेव ने इन्हे एक चैतन्यात्मक उपयोग की अवस्था होने के कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र गुणरूप नहीं माना है ।

अवग्रहादि का परस्पर प्रमाण-फलभाव—ज्ञान के साधकतम अश को प्रमाण तथा प्रमित्यश को फल कहते हैं । प्रकृत ज्ञानों में अवग्रह ईहा के प्रति साधकतम होने से प्रमाण है, ईहा प्रमारूप होने से उसका फल है । इसी तरह ईहा की प्रमायता में अवाय फल है तथा अवाय को प्रमाण मानने पर धारणा फलरूप होती है । तात्पर्य यह कि—पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होने से प्रमाण है तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होने से फलरूप है । प्रमाणफलभाव का ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनो में भी पाया जाता है ।

मुख्य प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना होने वाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थों को विषय करने वाले, अक्रम ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं । वह सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है । सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थों को विषय करने के कारण विकलप्रत्यक्ष हैं ।

सर्वज्ञत्व विचार—प्राचीनकाल में भारतवर्ष की परम्परा के अनुसार सर्वज्ञता का सम्बन्ध भी मोक्ष के ही साथ था । मुमुक्षुओं में विचारणीय विषय तो यह था कि—मोक्ष के मार्ग का किसने साक्षात्कार किया है ? इसी मोक्षमार्ग को धर्म शब्दसे कहते हैं । अतः 'धर्म का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं ?' इस विषय में विवाद था । एक पक्ष का, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि—धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तु को हम लोग प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते, उसमें तो वेद का ही निर्बाध अधिकार है । धर्म की परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्म में चोदना-वेद

तथा सत्तात्मक महासामान्य का आलोचन करने वाले अनाकार दर्शन के समान है। अकलंकदेव की दृष्टि में जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटि से ही वहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इसी बात की सूचना के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष के लक्षण में साकारपद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्ष का निराकरण कर निश्चयात्मक विशद ज्ञान को ही प्रत्यक्षकोटि में रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पों को भी संव्यवहार से प्रमाण मान लेते हैं। इसका मूल यह है कि-प्रत्यक्ष के विषयभूत दृश्य-स्वलक्षण में विकल्प के विषयभूत विकल्प्य-सामान्य का आरोपरूप एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करने पर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है। अतः विकल्पज्ञान संव्यवहार से विशद है। इसका निराकरण करने के लिए अकलंकदेव ने 'अल्लसा' पद का उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान संव्यवहार से नहीं किन्तु अंजसा-परमार्थरूपसे विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानों से अधिक विशेषप्रतिभास का नाम वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक-अधिकता है।

— अकलंकदेव ने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणों का निराकरण इस प्रकार किया है—
बौद्ध—जिसमें शब्दसंलग्न की योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पकज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं सविकल्पज्ञान को नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा यद्यपि अर्थ में रहने वाले क्षणिकत्वादि समी धर्मों का अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशों में 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान के द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशों में यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा। अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पों का उत्पादक होने से तथा अर्थ-स्वलक्षणा से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है; क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षणा से उत्पन्न नहीं होता। सर्वप्रथम अर्थ से निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक में असाधारण क्षणिक परमाणुओं का प्रतिभास होता है। उस निर्विकल्पक अवस्था में कोई भी विकल्प अनुभव में नहीं आता। विकल्पज्ञान कल्पितसामान्य को विषय करने के कारण तथा निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत अर्थ को ग्रहण करने के कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाण का अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहार में साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञान में ही है तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय ? निर्विकल्पक में प्रमाणात्त खाने को आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्प के द्वारा गृहीत नीलादंश को विषय करने

तरह सर्वज्ञता के लिए भी यत्न करे। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहे तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधन के साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञता को वे शक्तिरूप से सभी वीतरागो में मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तु को अनायास ही जान सकते हैं।

योग तथा वैशेषिक के सिद्धान्त में यह सर्वज्ञता अग्निमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागो के लिए अवश्य प्राप्तन्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किको ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावञ्ज्ञेयो के प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थ में सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुग के पहिले 'जे एग जाणइ से सव्वं जाणइ'—जो एक आत्मा को जानता है वह सर्व पदार्थों को जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञता के मुख्य साधक नहीं है, पाए जाते हैं; पर तर्कयुग में इनका वैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्यों ने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतु से सिद्ध किया है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जब दोष और आवरण का समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थ का साक्षात्कार करेगा। बौद्धो की तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थ में धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विभाजन कर उनमें गौण-मुख्य-भाव नहीं बताया गया है। सभी जैनतार्किको ने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों के पूर्णपरिज्ञान अर्थ में सर्वज्ञता का समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण-सर्वज्ञता के गर्भ में ही निहित मान ली गई है।

अकलंकदेव ने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्ष के समर्थन के साथ ही साथ वर्मकीर्ति के उन विचारो का खूब समालोचन किया है जिनमें बुद्ध को करुणावान्, शास्ता, तापि, तथा चातुरार्थसत्य का उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञाभाव के विशिष्ट समर्थक कुमारिल की युक्तियों का खडन किया है। वे लिखते हैं कि—आत्मा में सर्वपदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में मल-ज्ञानावरण से आच्छत होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों को जानने में क्या बाधा है? यदि अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्भिहो की ग्रहण आदि भविष्यद्दशाओ का जो अनागत होने से अतीन्द्रिय है, उपदेश कैसे होगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही भाविराज्यलाभादि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भाविपदार्थों में संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकादिविधा अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष खण्डन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादि अवस्थाओं में ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानने में क्या बाधा है ? सुषुप्तावस्थाओं में अनुभवसिद्ध ज्ञान का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता । यदि उक्त अवस्थाओं में ज्ञान का अभाव हो तो उस समय योगियों को चतुःसत्यविषयक भावनाओं का भी विच्छेद मानना पड़ेगा ।

बौद्धसम्मत विकल्प के लक्षण का निरास—बौद्ध 'अमिलापवती प्रतीतिः कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्ग के योग्य हो उस ज्ञान को कल्पना या विकल्पज्ञान कहते हैं । अकलंकदेव ने उनके इस लक्षण का खण्डन करते हुए लिखा है कि—यदि शब्द के द्वारा कहे जाने लायक ज्ञान का नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रय के कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दांशों के स्मरणात्मक विकल्प के लिए तद्वाचक अन्य शब्दों का प्रयोग मानना होगा, उन अन्यशब्दों के स्मरण के लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे दूसरे शब्दों की कल्पना करने से अनवस्था नाम का दूषण होगा । अतः जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधक के अभाव में निर्विकल्पक भी अस्तिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वय के अभाव में सकल प्रमेय का भी साधक प्रमाण न होने से अभाव ही प्राप्त होगा । यदि शब्द तथा शब्दांशों का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोग के बिना ही हो जाय, तब तो विकल्प का अमिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा । और जिस तरह शब्द तथा शब्दांशों का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्द के प्रयोग के बिना ही हो जाता है । उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोग की योग्यता के बिना ही हो जायेंगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियों शब्दप्रयोग के बिना ही नीलपीतादि पदार्थों का निश्चय करने के कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायेंगी । अतः विकल्प का अमिलापवत्त्व लक्षण दूषित है । विकल्प का निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व ।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्तियों को प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं । अकलंक देव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्तियों तो तैमिरिक रोगी को होने वाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादि ज्ञानों में भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं हैं ।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । इसे भी अकलंकदेव ने सर्वज्ञ के ज्ञान में अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थों को विषय करने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान प्रतिनियतशक्तिवाली इन्द्रियों से तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है । अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है ।

सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकार का है—१ अवग्रह, २ ईहा, ३ अवाय, ४ धारणा । प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति का साधारण क्रम यह है कि—सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थ

प्र०—‘सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थों का यथार्थज्ञान एवं अभ्यास से होगी तथा आगम सर्वज्ञ के द्वारा कहा जायगा’ इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक दूसरे के आश्रित होने से असिद्ध है ।

उ०—सर्वज्ञ आगम का कारण है । प्रकृत सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम के अर्थ के आचरण से उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है । इस तरह वीजाकुर की तरह सर्वज्ञ और आगम की परंपरा अनादि मानी जाती है । अनादिपरम्परा में इतरेतराश्रय दोष का विचार अन्यवहार्य है ।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोष से दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकाल में भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टा की संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यतकाल में ही ! क्योंकि पुरुषजाति की शक्तियों तीनों कालों में प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी असुक मर्यादा नहीं लँघ सकती ।

उ०—यदि पुरुषातिशय को हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता । अन्यथा आजकल कोई वेद का पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकाल में कैमिलि को भी उसका यथार्थज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये । बुद्धि में तारतम्य होने से उसके प्रकर्ष की संभावना तो है ही । जैसे मलिन सुवर्ण अग्नि के ताप से क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास से आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है ।

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्मा के राग तथा दुःखी के दुःख का साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दुःखी हो जायगा ।

उ०—दुःख या राग को जाननेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता । राग तो आत्मा का स्वयं तद्रूप से परिग्रामन करने पर होता है । क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मदिरा के रस का ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? राग के कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञ से अत्यन्त उच्छिन्न हो गए हैं, अतः वे राग या दुःख को जाननेमात्रसे रागी या दुःखी नहीं हो सकते ।

प्र०—जब सर्वज्ञ के साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाण नहीं मिलते, तो उसकी सत्ता सविध ही कहना चाहिए ।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकों का परिहार भी किया जा चुका है तब संदेह क्यों हो ? सर्वज्ञ के अभाव का साधन तो सर्वज्ञ हुए बिना किया ही नहीं जा सकता । जब हम त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत्पुरुषों का असर्वज्ञरूप में दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है । पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा ।

धर्मकीर्ति ने बुद्ध को करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्व का उपदेष्टा कहा है । अकलंक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मों के आधारभूत आत्मा को ही नहीं मानते तब किस पर

को ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञता में वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने के कारण उन्हें पुरुष में अनीन्द्रियार्थविषयक ज्ञान का अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषों में राग द्वेष अज्ञान आदि दोषों की शंका होने से अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेद को पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्व की मान्यता से ही पुरुष में सर्वज्ञता का अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का निषेध हुआ। कुमारिल इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं कि—सर्वज्ञत्व के निषेध से हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्व के निषेध से है। धर्म के सिवाय यदि कोई पुरुष ससार के समस्त अर्थों को जानना चाहता है, खुशी से जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्म का ज्ञान वेद के द्वारा ही होगा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। इस तरह धर्म को वेद के द्वारा तथा धर्मातिरिक्त अन्य पदार्थों को यथासंभव अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटल में सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धों का है। वे बुद्ध को धर्म-चतुरार्यसत्य का साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्ध ने अपने निरासन्न शुद्धज्ञान के द्वारा दुःख, समुदय-दुःख के कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग-मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्म का प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्म के विषय में बुद्ध ही प्रमाण है। वे करुणा करके कथायज्जाला से झुलसे हुए ससारिजीवों के उद्धार की भाषना से उपदेश देते हैं। इस मत के समर्थक धर्मकीर्ति ने लिखा है कि—हम 'ससार के समस्त पदार्थों का कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बात के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि—उसने इष्टतत्त्व-धर्म को जाना है कि नहीं? मोक्षमार्ग में अनुपयोगी संसार के कीड़े मकोड़ों आदि की सख्या के परिज्ञान का भला मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञता का सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञता के समर्थकों से कहते हैं कि—माई, मीमांसकों के सामने सर्वज्ञता—त्रिकाष-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञता में है कि धर्म के विषय में धर्म के साक्षात्कर्ता को प्रमाण माना जाय या वेद को? उस धर्ममार्ग के साक्षात्कार के लिए धर्मकीर्ति ने आत्मा-ज्ञानप्रवाह से दोषों का अत्यन्तोच्छेद माना और उसके सावन नैरान्द्यभावना आदि बताए हैं। तात्पर्य यह कि—जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में वेद का ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है; वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म-मोक्षमार्ग का साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का जोरो से समर्थन किया है।

धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त ने सुगत को धर्मज्ञ के साथ ही साथ सर्वज्ञ-त्रिकाशवर्ती यावत् पदार्थों का ज्ञाता भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि—सुगत की तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्था में रागादिनिर्मुक्ति की

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य वैसदृश्य प्रतियोगि तथा दूरत्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनों के द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्व को विषय करने के कारण प्रमाण है। अविसेवादित्व भी प्रत्यभिज्ञान में पाया जाता है जो प्रमाणाता का खास प्रयोजक है।

तर्क—प्रत्यक्ष—साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ—साध्याभाव-साधनाभावज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेप में अविनाभावरूप व्याप्ति को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोक में अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में कहींभी कमीभी नहीं हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता। अतः अगृहीतग्राही तथा अविसेवादक तर्क को प्रमाणभूत मानना ही चाहिये। सन्निहितपदार्थ को विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभाव को नहीं जान सकता। मले ही वह एक अमुकस्थान में साध्यसाधन के सम्बन्ध को जान सके, पर अविचारक होने से उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचार में सामर्थ्य ही नहीं है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहण के बाद ही उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत अनुमान स्वयं अपनी व्याप्ति के ग्रहण करने का प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आने के कारण नहीं कर सकता; क्योंकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्ति का ग्रहण असंभव है। प्रकृत अनुमान की व्याप्ति किसी दूसरे अनुमान के द्वारा ग्रहण करने पर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है।

जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभाव की सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है। जैसे विवक्षा से वचन का अविनाभाव बतलाना, क्योंकि विवक्षा के अभाव में भी सुष्ठुतादि अवस्था में वचनप्रयोग देखा जाता है। शास्त्रविवक्षा रहने पर भी मन्दबुद्धियों के शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नहीं देखे जाते।

अनुमान—अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। नैयायिक अनुमिति के कारण को अनुमान कहते हैं। उनके मत से परामर्शज्ञान अनुमान-रूप होता है। 'धूम अग्नि से व्याप्त है तथा वह धूम पर्वत में है' इस एकज्ञान को परामर्शज्ञान कहते हैं। बौद्ध त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय के ज्ञान को अनुमान मानते हैं।

साधन का स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार—साध्य के साथ जिसकी अन्यथानुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं। अविनाभाव (विना-साध्य के अभाव में अ-नहीं भाव-होना) साध्य के अभाव में साधन के न होने को कहते हैं।

उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है। इस तरह साधक प्रमाणों को बताकर उन्होंने जो एक खास हेतु का प्रयोग किया है, वह है—‘सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्व’ अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्ता में कोई वाधक प्रमाण नहीं मिले। जैसे ‘मैं सुखी हूँ’ यहाँ सुख का साधक प्रमाण यही है कि—मेरे सुखी होने में कोई वाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई भी वाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्वाण सत्ता होनी चाहिए। इस हेतु के समर्थनार्थ उन्होंने विरोधियों के द्वारा कल्पित वाधकों का निराकरण इस प्रकार किया है—

प्र०—‘अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गली में घूमने वाला साधारण मनुष्य’ यह अनुमान वाधक है।

उ०—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व का कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। ज्ञान की वढती में वचनो का हास नहीं होता।

प्र०—वक्तृत्व विवक्षा से सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञ में वचनो की समावना ही कैसे है ? शब्दोच्चारण की इच्छा तो मोह की पर्याय है।

उ०—विवक्षा के साथ वक्तृत्व का कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्र का व्याख्यान नहीं कर सकते। सुपुत्रादि अवस्थाओं में वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है। अतः वचनप्रवृत्ति में चैतन्य तथा इन्द्रियो की पट्टा कारण है। लेकिन उनका सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचन विवक्षाहेतुक भान भी लिए जायें पर सत्य और हितकारक वचन की प्रवृत्ति कराने वाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है ? इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं रखता। अतः इन व्यभिचारी हेतुओं से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा ‘जैमिनि को यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है एव पुरुष है’ इस अनुमान से जैमिनि की वेदार्थज्ञता का भी निषेध भलीमति किया जा सकता है।

प्र०—आजकल हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होने से उसका अभाव ही मानना चाहिए।

उ०—पूर्वोक्त अनुमानों से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलम्भ आपको है, या ससार के समस्त जीवों को ? आपको तो इस समय हमारे चित्त में आने वाले विचारों की भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। ‘सबको सर्वज्ञता अनुपलम्भ है’ यह बात तो सबके ज्ञानों का ज्ञान होने पर ही सिद्ध हो सकती है। और यदि किसी पुरुष को समस्त प्राणियों के ज्ञान का ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा। यदि समस्तजीवों के ज्ञान का ज्ञान नहीं हो सके; तब तो ‘सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है’ यह बात असिद्ध ही रह जायगी।

सहचर हेतु—चन्द्रमा के इस भाग को देखकर उसके उस भाग का अनुमान, तराजू के एक पलड़े को नीचा देख कर दूसरे पलड़े के ऊँचे होने का अनुमान, रस चक्कर रूप का अनुमान, तथा सास्त्रा देखकर गौ का अनुमान देखा जाता है। यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं; क्योंकि इनका अपने साध्योके साथ तादात्म्य और तद्बुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होने से ये कार्य आदि हेतुओं में अन्तर्भूत नहीं हैं। हाँ, अविनाभाव मात्र होने से ये हेतु गमक होते हैं।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि मानते हैं। दृश्य से उनका तात्पर्य ऐसी वस्तु से है कि—जो वस्तु सूक्ष्म अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धि के समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्मादि पदार्थों में हम लोगों के प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होने पर भी उनका अभाव तो नहीं होता। प्रमाण से प्रमेय का सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाण की अप्रवृत्ति से प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अतः विप्रकृष्ट पदार्थों में अनुपलब्धि संशयहेतु होने से अभाव की साधिका नहीं हो सकती।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्व का अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना चाहिए किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिए। इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाण का विषय होकर यदि उसी प्रमाण से उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। देखो—मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय परचैतन्य का अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ परचैतन्य में प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदि के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अतः उन्हीं वचनादि के अभावसे चैतन्य का अभाव सिद्ध होना चाहिए। अदृश्यानुपलब्धि यदि संशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्मा की सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमान के विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमान से उपलब्धि न कर सकें तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थों को हम किसी भी प्रमाण से नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धि से नहीं कर सकेंगे। तात्पर्य यह कि—जिस वस्तु को हम जिन जिन प्रमाणों से जानते हैं उस वस्तु का उन उन प्रमाणों की निवृत्ति से अभाव सिद्ध होगा।

अकलङ्क कृत हेतु के भेद—अकलंकदेव ने सद्भाव साधक ६ उपलब्धियों का वर्णन किया है—

- १ स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होने से।
- २ स्वभावकार्योपलब्धि— आत्मा थी, स्मरण होने से।
- ३ स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होने से।

करुणा की जायगी तथा कौन करुणा करेगा ? कौन उसका अनुष्ठान करेगा ? ज्ञानक्षय तो परस्पर भिन्न है, अतः भावना किसी अन्यज्ञानक्षण को होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षण को । दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दुःखादि के अनुभव करनेवाले आत्मा को स्वीकार किया जाय । इस तरह जीव जिसे ससार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्ध से दुःख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वों को माने बिना तत्त्वसंख्या की पूर्णता नहीं हो सकती । दुःख को जैन लोग बन्ध तथा समुदय को आश्रय शब्द से कहते हैं । निरोध को मोक्ष तथा मार्ग को संवर और निर्जरा शब्द से कहते हैं । अतः चार आर्यसत्य के साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों को मानना ही चाहिये । जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों के अनादिकालीन सम्बन्ध से ही दुःख आदि की सृष्टि होती है । बुद्ध ने हिंसा का भी उपदेश दिया है अतः मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहीं थे । इत्यादि । सद् आत्मा को हेय कहना, निरोध को जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणों का उपदेश देना तथा असत् को प्राप्ति के लिये यत्न करना ये सब बातें उनकी असर्वज्ञता का दिग्दर्शन करने के लिए पर्याप्त हैं । अकल्क के द्वारा बुद्ध के प्रति किए गए अकरुणावचन आदि आक्षेपों के लिए उम ममय की माम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योंकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदि ने जनों के ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं ।

परोक्ष—अकल्कदेव ने तत्त्वार्थमूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानों में मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानों को नामयोजना के पहिले साव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होने पर उर्हा ज्ञानों को श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुत को अस्पष्ट होने से परोक्ष कहा है । अर्थात् परोक्षज्ञान के स्मृति, मंजा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगम ये पाँच मेदं ड्रुए । अकल्कदेव ने राजवाचिक में अनुमान आदि ज्ञानों को स्वप्रतिपत्तिकाल में (नामयोजना से पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकाल में अक्षरश्रुत कहा है । लघीयक्षय में मति (इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष) को नामयोजना के पहिले मतिज्ञान एवं साव्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्द-योजना के बाद उसे ही श्रुत कहना उनके समन्वय करने के उन्कट यत्न की ओर ध्यान खींचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीयक्षय वनाते समय वे अपनी योजना को दृढ़ नहीं कर सके थे, क्योंकि उनमें लघीयक्षय में मति स्मृति आदि को अवस्थाविशेष में मतिज्ञान लिखने पर भी न्यायविनिश्चय में स्मरणादि ज्ञानों के ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्व का विधान किया है ।

स्मृति—स्मरण को कोई बादी गृहीतग्राही होने से तथा कोई अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण अप्रमाण कहते आए हैं । पर अकल्कदेव कहते हैं कि—यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविस्वादी होने से प्रमाण ही होना चाहिये । वह अविस्वादी पल्लभज्ञान का जनक भी है । स्मृति समारोप का व्यवच्छेद करने वाली है, अतः उसे प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए ।

तरह 'अद्वैतवादी के प्रमाण है, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं हो सकेगा।' इस स्थल में जब इस अनुमान के पहिले अद्वैतवादियों के यहाँ प्रमाण नामक धर्मी की सचा ही सिद्ध नहीं है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है ? पर उक्त हेतुओं की स्वसाध्य के साथ अन्यथाऽनुपपत्ति (अन्यथा-साध्य के अभाव में-विपक्ष में अनुपपत्ति-असत्त्व) देखी जाती है, अतः वे सङ्केत हैं।

धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि ने शकटोदयादि का अनुमान कराने वाले कृतिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओं में काल या आकाश को धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटाने की युक्ति का उपयोग किया है। अकलंकदेव ने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि-यदि काल आदि को धर्मी बनाकर कृतिकोदय में पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्ष की अपेक्षा से महानसगतधूमहेतु से समुद्र में भी अग्नि सिद्ध करने में हेतु अपक्षधर्म नहीं होगा।

सपक्षसत्त्व को अनावश्यक बताते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि-पक्ष में साध्य और साधन की व्याप्तिरूप अन्तर्व्याप्ति के रहने पर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है। पक्ष से बाहिर-सपक्ष में व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्ति से कोई लाभ नहीं। क्योंकि अन्तर्व्याप्ति के असिद्ध रहने पर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है। जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्ति के ग्रहण करने पर भी कुछ खास लाभ नहीं है। अतः बहिर्व्याप्ति का प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है। इस तरह अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का व्यावर्त्तिक रूप मानते हुए अकलंकदेव ने स्पष्ट लिखा है कि-जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता मानने से क्या लाभ ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नहीं आ सकती। 'अन्यथानुपपन्नत्वं' यह कारिका तत्त्वसमग्रकार के उल्लेखानुसार पात्रस्वामि की मालूम होती है। यही कारिका अकलंक ने न्यायविनिश्चय के त्रिलक्षण-खण्डनप्रकरण में लिखी है।

हेत्वाभास-नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक एक रूप के अभाव में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास मानते हैं। बौद्ध ने हेतु को त्रिरूप माना है, अतः उनके मत से पक्षधर्मत्व के अभाव से असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्व के अभाव से विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्व के अभाव से अनैकान्तिक हेत्वाभास, इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। अकलंकदेव ने जब अन्यथानुपपन्नत्व को ही हेतु का एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मत से अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में एक ही हेत्वाभास माना जायगा, जिसे उन्होंने खयं लिखा है कि-वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। अन्यथानुपपत्ति का अभाव कई प्रकार से होता है अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर के भेद से चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से उत्पन्न होनेवाले तर्क नाम के प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधन को सत्साधन कहते हैं। वे सामान्य से अविनाभाव को ही साधन का स्वरूप मानते हैं। त्रिरूप तो अविनाभाव के परिचायक मात्र हैं। वे तादात्म्य और तद्गुत्पत्ति इन दो सम्बन्धों से अविनाभाव का ग्रहण मानते हैं। उनके मत से हेतु के तीन भेद हैं—१ स्वभावहेतु, २ कार्यहेतु, ३ अनुपलब्धिहेतु। स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेवसाधक। स्वभावहेतु में तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतु में तद्गुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतु में यथासम्भव दोनों सम्बन्ध अविनाभाव के प्रयोजक होते हैं।

अकलकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहाँ तादात्म्य और तद्गुत्पत्ति सम्बन्ध से हेतु में गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव तादात्म्य तथा तद्गुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्य के साथ तादात्म्य या तद्गुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविनाभाव के कारण वे नियत साध्य का ज्ञान कराते हैं। जैसे कृतिकोदय से भविष्यत् शकटोदय का अनुमान। यहा कृतिकोदय का शकटोदय के साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तद्गुत्पत्ति ही। हेतुओं के तीन भेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि के सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी स्वनियतसाध्य का अनुमान कराते हैं।

कारणहेतु—वृक्ष से छाया का ज्ञान, चन्द्रमा से जल में पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्ब का अवाधित अनुमान होता है। यहाँ वृक्ष या चन्द्र न तो छाया या जलप्रतिबिम्बित चन्द्र के कार्य हैं और न स्वभाव ही। हाँ, निमित्तकारण अवश्य हैं। अतः कारणलिंग से भी कार्य का अनुमान मानना चाहिये। जिस कारण की सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमें अन्य कारणों की विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योपादक होता है।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्र का उदय देखकर एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय का अनुमान देखा जाता है। अब विचार कीजिए कि—कृतिका का उदय जिससे रोहिणी के उदय का अविनाभावी अनुमान होता है, किस हेतु में शामिल किया जाय ? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदय में कालभेद होने से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं होगा। तथा एक दूसरे के प्रति कार्यकारण-भाव नहीं है अतः कार्य या कारणहेतु में उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिए। इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयों का अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओं से होता है।

उत्तरचर हेतु—कृतिका का उदय देखकर एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका यह अनुमान होता है। यह उत्तरचर हेतु पूर्वोक्त किसी हेतु में अन्तर्भूत नहीं होता।

हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्य से हेत्वाभासों की अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होने पर उनका भार नहीं था। यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दि ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि—इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का विचार हेत्वाभास के लक्षणकाल में ही करना चाहिए। शास्त्रार्थ के समय तो इसका कार्य पक्षदोष से ही किया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्द ने भी सामान्य से एक हेत्वाभास कह कर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक को उसीका रूपान्तर माना है। उनसे भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के ऊपर भार नहीं दिया। वादिदेवसूरि आदि उत्तरकालीन आचार्यों ने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं।

साध्य—आ० दिग्नाग ने पक्ष के लक्षण में ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए हैं। धर्मकीर्ति ईप्सित की जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध के स्थान में प्रत्याक्षाद्यनिराकृत शब्द का प्रयोग करते हैं। अकलङ्कदेव ने अपने साध्य के लक्षण में शक्य (अबाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्द के अर्थ से ही फलित होता है। साध्य का अर्थ है—सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध। शक्य और अभिप्रेत विशेषण बौद्धाचार्यों के द्वारा किए गए साध्य के लक्षण से आए हैं। साध्य का यह लक्षण निर्विवादरूप से माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा बाधित को साध्याभास कहा है।

दृष्टान्त—जहाँ साध्य और साधन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है उस प्रदेश का नाम दृष्टान्त है। साध्यविकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास का लक्षण करने पर भी अकलङ्कदेव ने दृष्टान्त को अनुमान का अवयव स्वीकार नहीं किया। उनसे लिखा है कि—सभी अनुमानों में दृष्टान्त होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्त के बिना भी साध्य की सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्ध के मत से समस्त पदार्थों को क्षणिकत्व सिद्ध करने में सत्त्व हेतु के प्रयोग में कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमान का नियत अवयव नहीं है। इसीलिए उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्यों ने प्रतिज्ञा और हेतु इन दो को ही अनुमान का अवयव माना है। हाँ, मन्दबुद्धि शिष्यों की दृष्टि से दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते हैं।

धर्मी—बौद्ध अनुमान का विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्नाग ने कहा है कि—समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्याय से चलता है, किसी धर्मी की वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलङ्कदेव कहते हैं कि—जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूप को विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुमूल अर्थ को ही विषय करता है। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तु को स्फुट तथा विशेषाकार रूप से ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार

४ सहचरोपलब्धि—आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीर में उष्णता विशेष) पाया जाने से।

५ सहचरकार्योपलब्धि—कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होने से।

६ सहचरकारणोपलब्धि—आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीर के प्रमाण होने से।

असम्बन्धहारसाधन के लिए ६ अनुपलब्धियाँ बताई हैं—

१ स्वभावानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होने से।

२ कार्यानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता।

३ कारणानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता।

४ स्वभावसहचरानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीर में आकारविशेष) नहीं पाया जाता।

५ सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेष की अनुपलब्धि होने से।

६ सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता। सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है।

सम्बन्धहार के निषेध के लिए ३ उपलब्धियाँ बताई हैं—

१ स्वभावविरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होने से।

२ कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसवादी होने से। (!)

३ कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्ति को परीक्षा का फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभावैकान्त का ग्रहण किया है।

इस तरह सद्भावसाधक ६ उपलब्धियाँ तथा अभावसाधक ६ अनुपलब्धियों को कण्टोक कहकर इनके और अन्य अनुपलब्धियों के भेदप्रभेदों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है। साथ ही यह भी बताया है कि—धर्मकीर्ति के कथनानुसार अनुपलब्धियों केवल अभाव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती हैं। इसी संकेत के अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरि ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों को उभय-साधक मानकर उनके अनेकों भेदप्रभेद किए हैं।

त्रैरूप्य निरास—बौद्ध हेतु के तीन रूप मानता है। प्रत्येक सत्त्व हेतु में निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्हेतु नहीं हो सकता। १ पक्ष-धर्मत्व—हेतु का पक्ष में रहना। २ सपक्षसत्त्व—हेतु का समस्त सपक्षों में या कुछ सपक्षों में रहना। ३ विपक्षासत्त्व—हेतु का विपक्ष में विलकुल नहीं पाया जाना। अकलकदेव इनमें से तीसरे विपक्षासत्त्व रूप को ही सद्हेतुत्व का नियामक मानते हैं। उनकी दृष्टि से हेतु का पक्ष में रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नहीं है। वे लिखते हैं कि—‘शक-टोदय होगा, कृतिकोदय होने से’ ‘भरणी का उदय हो चुका, कृतिका का उदय होने से’ इन अनुमानों में कृतिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणि में नहीं पाया जाता। इसी

अतः वे वाद को ही एक मात्र कथा रूप से स्वीकार करते हैं। उनसे वाद का संक्षेप में 'समर्थवचन को वाद कहते हैं' यह लक्षण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियों का मध्यस्थों के सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचन को वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्प को एक मान लेने पर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्द का प्रयोग करते हैं तो कहीं जल्प शब्द का। वितण्डा को जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

जयपराजयव्यवस्था—नैयायिक ने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञा की हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिषद न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादि का क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायें, अधिक अवयव कहे जायें, पुनरुक्त हो, प्रतिवादी वादीकेद्वारा कहे गए पक्ष का अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादी के द्वारा दिए गए दूषण को अर्धस्वीकार कर खंडन करे, निग्रहार्ह के लिए निग्रहस्थान उद्गावन न कर सके, अनिग्रहार्ह को निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासों का प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्य से नैयायिकों ने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापित का प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध का उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनों के ही विशेष प्रकार है।

धर्मकीर्ति ने इनका खंडन करते हुए लिखा है कि—जयपराजयव्यवस्था को इस तरह गुटाले में नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादी का मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदे का पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसा की दृष्टि से उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्गावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादी का कर्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादी का कार्य है कि वह यथार्थ दोषों का उद्गावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधन के अंग नहीं है ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनाङ्गवचन होने से पराजय होना चाहिए। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषों का उद्गावन न कर सके या जो दोष नहीं है उनका उद्गावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करने पर भी धर्मकीर्ति फिर उसी षष्ठे में पढ़ गए। उन्होने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्गावन के विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्त में से केवल एक दृष्टान्त से ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तों का प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधन के अंग नहीं है, उनका कथन असाध-

१ असिद्ध—सर्वथाव्यात्—सर्वथा पक्ष में न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्य से अविनाभाव न हो । जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से ।

२ विरुद्ध—अन्यथाभावात्—साध्याभाव में पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होने से । सत्त्वहेतु सर्वथाक्षणिकत्व के विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्व में पाया जाता है ।

३ अनैकान्तिक—विपक्ष में भी पाया जाने वाला । जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त वक्तृत्वादिहेतु । यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

४ अकिञ्चित्कर—सिद्ध साध्य में प्रयुक्त हेतु । अन्यथानुपपत्ति से रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सब को भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए ।

दिग्नागाचार्य ने विरुद्धान्वयमिचारी नाम का भी एक हेत्वाभास माना है । परस्पर विरोधी दो हेतुओं का एक धर्मी में प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धान्वयमिचारी हो जाता है । यह संशयहेतु होने से हेत्वाभास है । वर्गकीर्ति ने इसे हेत्वाभास नहीं माना है । वे लिखते हैं कि—प्रमाणसिद्धत्रैरूप्यवाले हेतु के प्रयोग होने पर विरोधी हेतु को अबसर ही नहीं मिल सकता । अतः इसकी आगमाश्रितहेतु के विषय में प्रवृत्ति मानकर आचार्य के वचन की संगति लगा लेनी चाहिए, क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषय में प्रवृत्ति करता है । शास्त्रकार एक ही वस्तु को परस्पर विरोधी रूप से कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओं में ही यह संभव हो सकता है । अकलंकदेव ने इस हेत्वाभास का विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है । जो हेतु विरुद्ध का अन्यमिचारी-विपक्ष में भी रहने वाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमा में आयगा ।

अर्चटकृत हेतुविन्दुविवरण में एक षड्लक्षण हेतु माननेवाले मत का कथन है । पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अवाधितविषयत्व, असत्यतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं । इनमें ज्ञातत्व नाम के रूप का निर्देश होने से इस वादी के मत से 'अज्ञात' नाम का भी हेत्वाभास फलित होता है । अकलंकदेव ने इस 'अज्ञात' हेत्वाभास का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है । नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासों में कालात्ययापदिष्ट का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में, तथा प्रकरणसम का जो दिग्नाग के विरुद्धान्वयमिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव समझना चाहिए । इस तरह अकलंकदेव ने सामान्य रूप से एक हेत्वाभास कह कर भी विशेषरूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासों का कथन किया है ।

अकलंकदेव का अभिप्राय अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने के विषय में सुदृढ़ नहीं मालूम होता । क्योंकि वे लिखते हैं कि—सामान्य से एक असिद्ध हेत्वाभास है । वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध के भेद से अनेक प्रकार का है । ये विरुद्धादि अकिञ्चित्कर के विस्तार हैं । फिर लिखते हैं कि—अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण

सकता है। एक प्रत्यक्ष से तो उभय का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष अर्थ को विषय नहीं करता तथा चालुषादिप्रत्यक्ष शब्द को विषय नहीं करते। स्मृति तो निर्विषय एव गृहीतग्राही होने से प्रमाणा ही नहीं है। इसलिए शब्द अर्थ का वाचक न होकर विवक्षा का सूचन करता है। शब्द का वाच्य अर्थ न होकर कल्पित-बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहरूप सामान्य है। इस लिए शब्द से होनेवाले ज्ञान में सत्यार्थता का कोई नियम नहीं है।

अकलंकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते हैं कि—पदार्थ में कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते हैं। सदृश धर्मों की अपेक्षा से शब्द का अर्थ में संकेत होता है। जिस शब्द में संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नहीं पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्द से अर्थबोध होने में क्या बाधा है? एक घटशब्द का एक घट अर्थ में संकेत ग्रहण करने के बाद तत्सदृश यावद् घटों में तत्सदृश यावद् घट-शब्दों की प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्य में संकेत नहीं होता; क्योंकि केवल सामान्य में संकेत ग्रहण करने से विशेष में प्रवृत्ति रूप फल नहीं हो सकेगा। न केवल विशेष में; अनन्त विशेषों में संकेत ग्रहण की शक्ति अस्मदादि पाश्च जनों में नहीं है। अतः सामान्य-विशेषात्मक-सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्ति में संकेत ग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहण के अनन्तर शब्दार्थ का स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थ को जान कर भी प्रमाणा है उसी तरह स्मृति भी प्रमाणा ही है। प्रत्यक्षबुद्धि में अर्थ कारण है; अतः वह एक क्षण पहिले रहता है ज्ञानकाल में नहीं। ज्ञानकाल में तो वह क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है। जब अविस्वादाप्रयुक्त प्रमाणाता स्मृति में है ही, तब शब्द सुनकर स्मृति के द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृति के द्वारा तद्वाचक शब्द का स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता ही है। यह अवश्य है कि—सामान्य-विशेषात्मक अर्थ को विषय करने पर भी अक्षज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्ष को विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुष का ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्ती का स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदप्रयुक्त नहीं हैं, किंतु आवरणक्षयोप-शमादिसामग्रीप्रयुक्त है। जिस प्रकार अग्निनाभावसम्बन्ध से अर्थ का बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविस्वादी होने से प्रमाणा है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्ध से अर्थ का ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाणा होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थ में प्रमाणा न हो; तब बौद्ध स्वयं शब्दों से अदृष्ट नदी, देश, पर्वतादि का अविसेवादि ज्ञान कैसे करते हैं? यदि कोई एकाध शब्द अर्थ की गैरमोज्जुद्गी में प्रयुक्त होने से व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतने से सभी शब्दों को व्यभिचारी या अप्रमाणा नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं कहीं अन्त देखे जाने पर भी अज्ञान या अव्यभिचारि विशेषणों से युक्त होकर प्रमाणा हैं उसी तरह आन्त शब्द को बाह्यार्थ में प्रमाणा मानना चाहिए। यदि हेतुषादरूप शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो; तो

रूप से। पर इतने मात्र से एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तु को विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता। जिस विकल्पज्ञान से आप धर्मवर्षिभाव की कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पक से तो सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि निर्विकल्पक-निश्चयशून्यज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। विकल्पान्तर से सिद्धि मानने में अनवस्था दूषण आता है। अतः विकल्प को स्व और अर्थ दोनों ही अशो में प्रमाण मानना चाहिए। जब विकल्प अर्थाश में प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए वर्षि आदि भी सत्य एवं परमार्थ सिद्ध होंगे। यदि धर्मी ही मिथ्या है; तब तो उसमें रहने वाले साध्य-साधन भी मिथ्या एवं कल्पित ठहरेगे। इस तरह परम्परा से भी अनुमान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः धर्मी को प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्पसिद्ध नहीं। अकलकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने इसी आशय से परीक्षामुखसूत्र में वर्षि के तीन भेद किए हैं—१ प्रमाणसिद्ध, २ विकल्पसिद्ध, ३ उभयसिद्ध।

अनुमान के भेद—न्यायसूत्र में अनुमान के तीन भेद किए हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। साध्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के दो भेद पाए जाते हैं—एक वीत और दूसरा अवीत। वीत अनुमान के दो भेद—१ पूर्ववत्, २ सामान्यतोदृष्ट। साध्य के इन भेदों की परम्परा वस्तुतः प्राचीन है। वैशेषिक ने अनुमान के कार्यलिंगज, कारण-लिंगज, सयोगिलिंगज, विरोधिलिंगज और सपवायिलिंगज, इस तरह पाँच भेद किए हैं। अकलकदेव तो सामान्यरूप से एक ही अन्यथानुपपत्तिलिंगज अनुमान मानते हैं। वे इन अपूर्ण भेदों की परिगणना को महत्त्व नहीं देते।

वाद—नैयायिक कथा के तीन भेद मानते हैं—१ वाद, २ जल्प, ३ वितण्डा। वीतरागकथा का नाम वाद है तथा विजिगीषुकथा का नाम जल्प और वितण्डा है। पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनों कथाओं में ग्रहण किए ही जाते हैं। हाँ, इतना अन्तर है कि—वाद में स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्क के द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डा में छेड़, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरो से भी किए जा सकते हैं। नैयायिक ने छेड़ादि के प्रयोग को असदुत्तर माना है और साधारण अवस्था में उनके प्रयोग का निषेध भी किया है। वाद का प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। जल्प और वितण्डा का प्रयोजन है तत्त्वसरक्षण, जो छलजातिरूप असदुत्तरो से भी किया जा सकता है। जैसे खेत की रक्षा के लिए काटो की बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसरक्षण के लिए काटो के समान छेड़ादि के प्रयोग का अवलम्बन अमुक अवस्था में ठीक है। आ० धर्मकीर्ति ने अपने वादन्याय में छेड़ादि के प्रयोग को बिलकुल अन्याय्य बताया है। उसी तरह अकलकदेव अहिंसा की दृष्टि से किसी भी हालत में छेड़ादि रूप असदुत्तर के प्रयोग को उचित नहीं समझते। छेड़ादि को अन्याय्य मान लेने से जल्प और वाद में कोई भेद ही नहीं रह जाता।

आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जँयँगे । शब्द की उपादानभूत शब्दवर्गाणाँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रसन्न से उपलब्धि नहीं हो सकती । इसी तरह शब्द की उत्तर-पर्याय भी सूक्ष्म होने से अनुपलब्ध रहती है । क्रम से उच्चरित शब्दों में ही पद, वाक्य आदि सञ्जाएँ होती हैं । यद्यपि शब्द सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं पर उनमें से जो शब्द श्रोत्र के साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्र के द्वारा सुने जाते हैं, अन्य नहीं । श्रोत्र को प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेव ने बौद्ध के 'श्रोत्र को भी चक्षुरिन्द्रिय की तरह अप्राप्यकारी मानने के' सिद्धान्त का खण्डन किया है । इसतरह शब्द तात्वादि के संयोग से उत्पन्न होता है और वह श्रावणामध्यस्वभाव है । इसीमें इच्छानुसार संकेत करने से अर्थबोध होता है ।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं । उनका कहना है कि धर्म में वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं । चूँकि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थों के ज्ञान की संभावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादि का प्रतिपादक वेद किसी पुरुष की कृति नहीं हो सकता । आज तक उसके कर्त्ता का स्मरण भी तो नहीं है । यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था । अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है । अकलंकदेव ने श्रुत को परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थों के जानने में क्या बाधा है ? यदि ज्ञान में अतिशय असम्भव ही हो; तो जैमिनि आदि को वेदार्थ का पूर्ण परिज्ञान कैसे संभव होगा ? सर्वत्र प्रमाणात्ता कारणगुणो के ही आधीन देखी जाती है । शब्द में प्रमाणात्ता का लानेवाला वक्ता का गुण है । यदि वेद अपौरुषेय है; तब तो उसकी प्रमाणात्ता ही सन्दिग्ध रहेगी । जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है; तब वेद का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? परम्परा तो मिथ्यार्थ की भी चल सकती है । यदि समस्तार्थज्ञान में शंका की जाती है; तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रलक्षादि प्रमाणों में कैसे विश्वास किया जा सकता है ? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थ का स्वतः विवरण करे, तब तो वेद के अंगभूत आहुवेद आदि के परिज्ञानार्थ मनुष्यों का पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा । अतः सामग्री के गुण-दोष से ही प्रमाणात्ता और अप्रमाणात्ता का सम्बन्ध मानना चाहिए । शब्द की प्रमाणात्ता के लिए वक्ता का सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अक्षर हो सकता है । जब वेद का कोई अतीन्द्रियार्थद्वय नियामक नहीं है, तब उसके अर्थ में अन्ध-परम्परा ही हुई । आज तक अनादि काल वीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यों नहीं हुआ ? अनादि मानने से या कर्त्ता का स्मरण न होने से ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि लोक में बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्ता का आज तक किसी को स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते । इसलिये वेद के अर्थ में यथार्थता का नियामक अती-

नाहू है। यह सब लिखकर अन्त में उनमें यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण जयलाभ के लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव आसावनाङ्गवचन तथा श्रदोपोद्गावन के मझड़े को भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थ का विषय हो जाता है। अतः स्वपक्षसिद्धि से ही जय-व्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नहीं। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभास का उद्गावन करता है तो फिर उसे खतन्त्र रूप से पक्षसिद्धि की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वादी के हेतु को विरुद्ध कहने में प्रतिवादी का पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ, असिद्ध आदि हेत्वाभासों के उद्गावन करने पर प्रतिवादी को अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थ के नियमों के अनुसार चलने पर भी जय का भागी नहीं हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरो को जाति कहते हैं। जैसे वर्मकीर्ति का अनेकान्त के रहस्य को न समझकर यह कहना कि—“यदि सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टि से तो दही और जैतू भी एक हो गया। अतः दही खानेवाला जैतू को भी क्यों नहीं खाता ?” साधर्म्यादिसम जातियों को अकलंकदेव कोई खास महात्त्व नहीं देने और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। आ० दिग्नाग की तरह अकलंकदेवने भी असदुत्तरो को अनन्त कहकर जातियों की २४ संख्या भी अपूर्ण मूर्चित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादों के अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थों में प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमें प्रमाणता होने से शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगम की प्रमाणाता का प्रयोजक आप्तोक्तत्व नाम का गुण होता है।

शब्द का अर्थवाचकत्व—बौद्ध शब्द का वाच्य अर्थ नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्द की प्रवृत्ति संकेत से होती है। म्वलक्षण क्षणक्षर्या तथा अनन्त है। जब अनन्त स्वलक्षणों का ग्रहण भी संभव नहीं है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा ? ग्रहण करने पर भी व्यवहार काल तक उसका अनुवृत्ति न होने से व्यवहार कैसे होगा ? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं, पर वे अर्थ विद्यमान तो नहीं हैं। अतः शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धि का प्रतिभास इन्द्रियबुद्धि की तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धि में यदि अर्थ कारण नहीं है तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जो ज्ञान में कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञान में कारण हो; तो फिर कोई भी शब्द विसवादी या अप्रमाण नहीं होगा, तथा अतीतानागत अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति ही रुक जायगी। संकेत भी शब्द और अर्थ उभय का ज्ञान होने पर ही हो

का गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरता का प्रयोजक नहीं हो सकता। संभव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमान में अन्तर्भाव होगा। यदि अविनाभावप्रयुक्त नहीं है; तब तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता। ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आतोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाण में अन्तर्भूत होगा। यदि आत्ममूलत्व सन्दिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता। अभाव नामका प्रमाण यथा-संभव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणों में अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणों का अन्तर्भाव होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते हैं।

प्रमाणाभास—अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है, अतः विसंवादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा। यहाँ अकलङ्कदेव की एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है। वे किसी ज्ञान को सर्वथा विसंवादि नहीं कहते। वे कहते हैं कि—जो ज्ञान जिस अंश में अविसंवादि हो वह उस अंश में प्रमाण तथा विसंवादि-अंश में अप्रमाण होगा। हम किसी भी ज्ञान को एकान्त से प्रमाणाभास नहीं कह सकते। जैसे तिमिररोगी का द्विचन्द्रज्ञान चन्द्राश में अविसंवादी है तथा द्वित्वसंख्या में विसंवादी है, अतः इसे चन्द्राश में प्रत्यक्ष तथा द्वित्वाश में प्रत्याक्षाभास कहना चाहिए। इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभास की सर्कीर्ण स्थिति रहने पर भी जहाँ अविसंवाद की प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसंवाद के प्रकर्ष में प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए। जैसे कस्तूरी में रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्ध की प्रकर्षता होनेके कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है।

ज्ञान के कारणों का विचार—बौद्ध के मत से चार प्रत्ययों से चित्त और चैतन्य की उत्पत्ति होती है—१ समनन्तरप्रत्यय, २ अधिपतिप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय, ४ सहकारि-प्रत्यय। ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होना है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपति-प्रत्यय होती हैं, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होते हैं। इस तरह बौद्ध की दृष्टि से ज्ञान के प्रति अर्थ तथा आलोक दोनों ही कारण हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—'नाकारण विषयः' अर्थात् जो ज्ञान का कारण नहीं होगा वह ज्ञान का विषय भी नहीं होगा। नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ज्ञान में कारण मानते हैं अतः उनके मत से सन्निकर्ष-घटकतया अर्थ भी ज्ञान का कारण है ही।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है'। वह यह नहीं जानता कि 'मैं इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ'। यदि ज्ञान यह जानने लगे कि 'मैं इस अर्थ से पैदा हुआ हूँ'; तब तो विवाद को स्थान ही नहीं रहता। जब उत्पन्न ज्ञान अर्थ के परिच्छेद में व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणों की सूचना स्वयं ही करता है, क्योंकि यदि ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थ को जान ही

साधन और साधनाभास की व्यवस्था कैसे होगी ? इसी तरह आस के वचन के द्वारा अर्थबोध न हो तो आस और अनास की व्यवस्था कैसे की जायगी ? यदि पुरुषो के अभिप्रायो मे विचित्रता होने के कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जायें, तो सुगत की सर्वज्ञता या सर्वशास्त्रता मे कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? वहाँ भी अभिप्रायवैचित्र्य की शका उठ सकती है । यदि अर्थव्यभिचार देखा जाने के कारण शब्द अर्थ मे प्रमाण नहीं है; तो विवक्षा का भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्द की विवक्षा मे अन्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । इस तरह तो शिशुपात्वं हेतु वृक्षात्रिसंवादा होने पर कहीं कहीं शिशुपा की लता की समावना से, अग्नि इन्धन से पैदा होती है पर कहीं मणि आदि से उत्पन्न होने के कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जायेंगे । अतः जैसे यहा सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारण का उल्लंघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता । अतः अतिसवादि श्रुत को अर्थ में प्रमाण मानना चाहिये । शब्द का विवक्षा के साथ कोई अविनाभाव नहीं है; क्योंकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवाञ्छित अर्थ को भी कहते हैं तथा कहीं वाञ्छित को भी नहीं कहते । यदि शब्द विवक्षामात्र के वाचक हो तो शब्दो मे सत्यत्व और मिथ्यात्व की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि दोनो ही प्रकार के शब्द अपनी अपनी विवक्षा का अनुमान कराते हैं । शब्द मे सत्यत्वव्यवस्था अर्थप्राप्ति के कारण होती है । विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्द का प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुप्रमादि अवस्था में इच्छा के न रहने पर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है । अतः शब्दो मे सत्यासत्यत्वव्यवस्था के लिए उन्हें अर्थ का वाचक मानना ही होगा ।

श्रुत के भेद—श्रुतके तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक । प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेश की सहायता लेकर प्रत्यक्ष से होनेवाला । अनुमाननिमित्तक—परोपदेश के बिना केवल अनुमान से होनेवाला । आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेश से होनेवाला । जैनतर्कवार्तिककार ने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकल्क के इस मत की समालोचना की है ।

शब्द का स्वरूप—शब्द पुद्गल की पर्याय है । वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप । शब्द सीमासको की तरह नित्य नहीं हो सकता । शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओ से एक जगह उसकी अभिव्यक्ति होने पर सभी जगह सभी वर्णों की अभिव्यक्ति होने से कोलाहल मच जायगा । संकेत के लिए भी शब्द को नित्य मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि अनित्य होने पर भी सदृशशब्द मे संकेत होकर व्यवहार हो सकता है । 'स एवाय शब्दः' यह प्रत्यभिज्ञान शब्द के नित्य होने के कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्द मे एकत्वव्यवसाय करने के कारण होता है । अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान आन्त है । यदि इस तरह आन्त प्रत्यभिज्ञान से वस्तुओ मे एकत्व सिद्ध हो; तो विजली

को भी विषय करना चाहिये । तदाकारता से विषयप्रतिनियम मानने पर एक अर्थ का ज्ञान करने पर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थों का परिज्ञान होना चाहिए । तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हो; तो घटज्ञान से उत्पन्न द्वितीय घटज्ञान को, जिसमें पूर्वज्ञान का आकार है तथा जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादान-भूत पूर्वज्ञान को जानना चाहिये । पर बौद्धों के सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकम्'—ज्ञान ज्ञान का नियामक नहीं होता । तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्प का उत्पन्न होना) से भी वस्तु का प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्लशख में होनेवाले पीताकारज्ञान से उत्पन्न द्वितीयज्ञान में तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं है । अतः अपने अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञान में परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव—विषय-विषयिभाव होता है । जैसे दीपक अपने तैलादि कारणों से प्रज्वलित होकर मिट्टी आदि से उत्पन्न होनेवाले घटादि को प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणों से उत्पन्न ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न अर्थ को जानेगा । जैसे 'देवदत्त काठ को छेदता है' यहाँ अपने अपने कारणों से उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठ में कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणों से समुत्पन्न ज्ञेय और ज्ञान में ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है । जैसे खदान से निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाय आदि कारणों से तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एवं स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्मा का ज्ञान अपनी विशुद्धि के अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी ज्योपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है । अतः अर्थ को ज्ञान में कारण नहीं माना जा सकता ।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञान का विषय आलोक होता है, अतः वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता । जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान का कारण नहीं होता जैसे अन्धकार । आलोक का ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से भी वह ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता । यदि आलोक ज्ञान का कारण हो तो उसके अभाव में ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर अन्धकार का ज्ञान आलोक के अभाव में ही होता है । नक्तञ्चर-रात्रिचारी उल्लू आदि को आलोक के अभाव में ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भाव में नहीं । 'आलोक के अभाव में अन्धकार की तरह अन्य पदार्थ क्यों नहीं दिखते' इस शका का उत्तर यह है कि—अन्धकार अन्य पदार्थों का निरोध करनेवाला है, अतः आलोक के अभाव में निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नहीं । जैसे एक महाघट के नीचे दो चार छोटे घट रखे हों, तो महाघट के दिखने पर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नहीं दिखते । अन्धकार ज्ञान का विषय है अतः वह ज्ञान का आवरण भी नहीं माना जा सकता । ज्ञान का आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है । इसीके ज्योपशम की तरतमता से ज्ञान के विकास में तारतम्य होता है । अतः आलोक के साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होने से आलोक भी ज्ञान का

न्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए । कर्त्ता का अस्मरणरूप हेतु जीर्ण खंडहर कुआ आदि चीजों से, जिनके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है । अतः सर्वज्ञप्रतिपादित आगम को ही अतीन्द्रियधर्म आदि में भी प्रमाण मानना चाहिए । सर्वज्ञ के माने बिना वेद की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती, क्योंकि अपौरुषेय वेद का व्याख्याता यदि रागी, द्वेषी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता । व्याख्यामेद होने पर अन्तिम निर्णय तो धर्मादि के साक्षात्कर्त्ता का ही माना जा सकता है ।

परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य से साध्य के साधन को—संज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान कहते हैं । जैसे किसी नागरिक ने यह सुना कि 'गौ के सदृश गवय होता है' । वह जगल में गया । वहाँ गवय को देखकर उसमें गोसादृश्य का ज्ञान करके गवयसंज्ञा का सम्बन्ध जोड़ता है और गवयशब्द का व्यवहार करता है । इसी संज्ञा-सञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं । अकल्कदेव इस ज्ञान का यथासंभव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं कि—यदि प्रसिद्धार्थ का सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत है तब तो वह लिंगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होने-वाला ज्ञान अनुमान कहलायगा । यदि अविनाभाव निर्णीत नहीं है, तो दर्शन और स्मरण-पूर्वक सादृश्यात्मक सकलन होने के कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भूत होगा । सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत होने पर भी यदि इस ज्ञान को स्वतन्त्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे, तो भैंस को देखकर 'यह गवय नहीं है' या 'यह गौ से बिलक्षण है' इस वैलक्षण्यज्ञान को किस प्रमाणरूप मानोगे ? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्द को सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थ को देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञान को किस नाम से पुकारोगे ? इसी तरह 'यह इससे पूर्व में है, यह इससे पश्चिम में है,' 'यह छोटा है, यह बड़ा है,' 'यह दूर है, यह पास है,' 'यह ऊँचा है, यह नीचा है,' 'ये दो हैं, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमान से पृथक् प्रमाण मानने होंगे; क्योंकि उक्त ज्ञानों में प्रसिद्धार्थसादृश्य की तो गन्ध भी नहीं है । अतः जिनमें दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी सकलनरूप ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिये, भले ही वह सकलन सादृश्य वसुदैन्य या एकत्वादि किसी भी विषयक क्यों न हो । उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फल के उत्पादक होने से अप्रमाण तो कहे ही नहीं जा सकते ।

मीमांसक जिस साधन का साध्य के साथ अविनायाव पहिले किसी सपक्ष में गृहीत नहीं है उस साधन से तत्काल में ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं । इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान किया जाता है । अकल्कदेव ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया है; क्योंकि अविनाभावी एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान अनुमान तथा अर्थापत्ति दोनों में समान है । सपक्ष में व्याप्ति

द्रव्य एक अखंड तत्त्व है। वह संयुक्त या रासायनिक मिश्रण से तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करने के लिए देश, देशांश तथा गुण, गुणांश की कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्य को ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक एक धर्म के द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मों को गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिकों की तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। द्रव्य के सहभावी अंश गुण कहलाते हैं, तथा क्रम से होने वाले परिणामन पर्याय कहलाते हैं। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्व की दृष्टि से वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणामन की अपेक्षा से अनित्य है। नित्य का तात्पर्य इतना ही है कि—वस्तु प्रतिक्षण परिणामन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्व को नहीं छोड़ सकती। कितना भी विलक्षण परिणामन क्यों न हो जीव कमी भी पुद्गरूप नहीं हो सकता। इस असांकर्य का नियामक ही द्रव्यांश है। साध्य के अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुष की तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नहीं है और न बौद्ध की तरह सर्वथा अनित्यता ही; जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

ध्रौव्य और सन्तान—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि—जिस प्रकार जैन एक द्रव्यांश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणामन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्याय के रूप में न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश विलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षों में दिए जाने वाले दोष ऐसी वस्तु में अँगूठे। कश्चिच्चादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण पर्यायों के परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अंश ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंश से तादात्म्य रखने के कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही होंगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकड़ना होगा—या तो वस्तु विलकुल नित्य मानी जाय या विलकुल परिवर्तनशील—चेतन भी अचेतनरूपसे परिणामन करने वाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओं के मध्य का ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न विलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्व की सीमा को छोड़कर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उसकी सीधे शब्दों में यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण में परिणामन करने पर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणामन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्व का ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्ध के द्वारा माने गए सन्तान का भी यही कार्य है कि—वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही कार्य-कारणभाव बनाता है ज्ञानान्तर से नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तान के कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्याय का ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षण का

नहीं सकेगा, क्योंकि अर्थकाल में तो ज्ञान अनुत्पन्न है तथा ज्ञानकाल में अर्थ विनष्ट हो चुका है। यदि ज्ञान अपने कारणों को जाने; तो उसे इन्द्रियादिक को भी जानना चाहिए। ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से भी उनमें कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता। संशयज्ञान अर्थ के अभाव में भी हो जाता है। संशयज्ञानस्थल में स्थाणु-पुरुषरूप दो अर्थ तो विद्यमान नहीं हैं। अर्थ या तो स्थाणुरूप होगा या पुरुषरूप। व्यभिचार-अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है। जब मिथ्याज्ञान में इन्द्रियगत-तिमिरादि, विषयगत-आशुभ्रमणादि, बाह्य-नौका में यात्रा करना आदि तथा आत्मगत-वातपित्तादिजन्य क्षोभ आदि दोष कारण होते हैं; तब तो अर्थ की हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है। मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियों की दुष्टता से होता है; तो सत्यज्ञान में भी इन्द्रियगत निर्दोषता ही कारण होगी। अतः इन्द्रिय और मन को ही ज्ञान में कारण मानना चाहिए। अर्थ तो ज्ञान का विषय ही हो सकता है, कारण नहीं।

अन्य कारणों से उत्पन्न बुद्धि के द्वारा सन्निकर्ष का निश्चय होता है, सन्निकर्ष से बुद्धि का निश्चय तो नहीं देखा जाता। सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थ के साथ ज्ञान का कार्य-कारणभाव तब निश्चित हो सकेगा; जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञान के विषय हो। पर आत्मा, मन और इन्द्रियों तो अतीन्द्रिय हैं, अतः पदार्थ के साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञान की उत्पत्ति में कारण कैसे माना जाय ? ज्ञान अर्थ को तो जानता है, पर अर्थ में रहनेवाली स्व-कारणता को नहीं जानता। ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थों को जो ज्ञानकाल में अविद्यमान हैं, जानता है; तब तो अर्थ की ज्ञान के प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है। देखो-कामसादि रोगवाले को शुकगन्ध में अविद्यमान पीलेपन का ज्ञान होता है। मरणोन्मुख व्यक्ति को अर्थ के रहने पर भी ज्ञान नहीं होता या विपरीतज्ञान होता है।

क्षयिक अर्थ तो ज्ञान के प्रति कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि जब वह क्षयिक होने से कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय ? अर्थ के होने पर उसके काल में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तथा अर्थ के अभाव में ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे माना जाय ? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नहीं सकते। यह कहना भी ठीक नहीं है कि-“यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर चुकने के कारण ब्राह्म होता है। पदार्थ में यही ब्राह्मता है कि-वह ज्ञान को उत्पन्न कर उसमें अपना आकार अर्पण करे।” क्योंकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकता। मूर्त दर्पणादि में ही मूर्त मुख्यादि का प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त में मूर्त का नहीं। यदि पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान में विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदि से भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घट की तरह इन्द्रिय आदि

कैसे हो सकते हैं ? एक स्वभाव से तो एक ही कार्य हो सकेगा । कारण में नाना शक्तियों माने बिना कार्यों में नानात्व नहीं आ सकता । इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनो वस्तुओ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती । अर्थक्रिया तो उभयात्मक—नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही संभव है । क्षणिक में अन्वित रूप नहीं है तथा नित्य में उत्पाद और व्यय नहीं हैं । उभयात्मक वस्तु में ही क्रम, यौगपथ तथा अनेक शक्तियों संभव हैं ।

अर्थनिरूपण के प्रसंग में अकलंक ने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूप-अर्थवाद, अवयव से भिन्न अवयववाद, अन्यापोहात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्य-वाद, प्रसङ्ग से भूतचैतन्यवाद आदि का समालोचन किया है । जिसका सार यह है—

विभ्रमवाद निरास—स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम हैं । जिस प्रकार स्वप्न में या जादू के खेल में अथवा मृगतृष्णा में अनेको पदार्थ सत्स्वरूप से प्रतिभासित तो होते हैं, पर उनकी वहाँ कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र प्रतिभास ही प्रतिभास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानो के विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमार्थिक सत्ता नहीं रखते । अनादिकालीन विकल्पवासना के विचित्र परिपाक से ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते हैं । वस्तुतः वे सब विभ्रमरूप ही हैं । इनके मत से किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जितना ब्राह्म-ब्राह्मकाकार है वह सब भ्रान्त है । इसका खंडन करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि—‘स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप हैं’ इस वाक्य का अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य ? यदि उक्त वाक्य का अर्थ विभ्रम—मिथ्या है; तब तो सभी अर्थों की सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी । यदि उक्त वाक्य का अर्थ सत्य है; तो समस्त वस्तुएँ विभ्रमात्मक कहाँ हुईं ? कम से कम उक्त वाक्य का अर्थ तो स्वरूप सत् हुआ । इसी तरह अन्य वस्तुएँ भी स्वरूप सत् सिद्ध होंगी ।

संवेदनाद्वैतवाद निरास—ज्ञानाद्वैतवादी मात्र ज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थ की नहीं । ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासना के कारण अनेकाकार अर्थरूप से प्रतिभासित होता है । जैसे इन्द्रजाल गन्धर्वनगर आदि में अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञान से भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमार्थिकी नहीं । इसी अभिन्नज्ञान में प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अतः यह ब्राह्म-ब्राह्मकरूप से प्रतिभासित होता है ।

इसकी समालोचना करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—तथोक्त अद्वयज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है, या परतः ? यदि स्वतः प्रतिभासित हो; तब तो विवाद ही नहीं होना चाहिए । आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्म का भी स्वतः प्रतिभास ही तो कहते हैं । परतः प्रतिभास तो पर के बिना नहीं हो सकता । पर को स्वीकार करने पर द्वैतप्रसंग होगा । इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थों में इतता मोटा भेद है कि उसमें छियों तथा दोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढजन भी भ्रान्त नहीं हो सकते । वे बाह्यसत्य पदार्थों को

कारण नहीं हो सकता । अर्थात्कारणताविषयक अकलंक के इन विचारों का उत्तर-कालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों ने प्रायः उन्हींकी ही शब्दों में अनुसरण किया है ।

प्रमाण का फल—महास्तपादभाष्य तथा न्यायभाष्यादि में हान, उपादान एव उपेक्षाबुद्धि को प्रमाण का फल कहा है । समन्तमद्म पूज्यपाद आदि ने अज्ञाननिवृत्ति का भी प्रमाण के अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है । अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्ति के विधिपरकरूप-तत्त्वनिर्णय का तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि के साथ ही परनिःश्रेयस का भी प्रमाण के फलरूपसे कथन करते हैं । केवलज्ञान वीतराग योगियो के होता है अतः उनमें रागद्वेष-जन्य हानोपादान का संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है । इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है, शेष परम्परा से ।

§ २. प्रमेयनिरूपण—

प्रमाण का विषय—यद्यपि अकलंकदेव ने प्रमाण के विषय का निरूपण करते समय लघीयलक्ष्य में द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ को ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चय में उन्होंने द्रव्य-पर्याय के साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए हैं । वस्तु में दो प्रकार का अस्तित्व है—१ स्वरूपास्तित्व, २ सादृश्यास्तित्व । एक द्रव्य की पर्यायो को दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य से असङ्कीर्ण रखने वाला स्वरूपास्तित्व है । जैसे एक शाबलेय गौ की हरएक अवस्था में 'शाबलेय शाबलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शाबलेयत्व । इससे एक शाबलेय गौव्यक्ति की पर्यायें अन्य सजातीय शाबलेयादि गौव्यक्तियो से तथा विजातीय अश्वादिव्यक्तियो से अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं । इसी को जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं । मालूम तो ऐसा होता है कि बौद्धों ने सन्तानशब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में किया है । इसी स्वरूपास्तित्व को विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है । अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थों में अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है । जैसे भिन्न भिन्न गौव्यक्तियों में 'गौ गौ' इस अनुगतव्यवहार को करानेवाला साधारण गोल्व । इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं । गौवादि जातियों सद्दृशपरिग्राम रूप ही हैं, नित्य एक तथा निरंश नहीं हैं । एक द्रव्य की पूर्वोत्तर पर्यायो में व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेष के निमित्त से होता है । भिन्न सत्ता रखने वाले दो द्रव्यों में विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष (द्रव्यगतभेद) से होता है । इस तरह दो प्रकार के सामान्य तथा दो प्रकार के विशेष से युक्त वस्तु प्रमाण का विषय होती है । ऐसी ही वस्तु सत् है । सत् का लक्षण है—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना । सत् को ही द्रव्य कहते हैं । उत्पाद और व्यय पर्याय की दृष्टि से हैं जब कि ध्रौव्य गुण की दृष्टि से । अतः द्रव्य का गुण-पर्यायवत्त्व लक्षण भी किया गया है ।

भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओं में परस्पर स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञान के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ की सत्ता मानना ही चाहिए; क्योंकि संसार के समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थों से चलते हैं, केवल ज्ञानमात्र से नहीं।

परमाणुसंचयवाद निरास—सौत्रान्तिक ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थ को स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओं का पुंज ही अत्यन्त आसन्न होने के कारण स्थूलरूप से मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूर से एक स्थूलरूप में प्रतिभासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और वह अपने परमाणुत्व को छोड़कर स्कन्ध अवस्था में नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकेगा? अतीन्द्रिय वस्तुओं का समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

भिन्नअवयवविवाद निरास—नैयायिक अवयवी को अवयवों से भिन्न मानकर भी उसकी अवयवों में समवायसम्बन्ध से वृत्ति मानते हैं। वे अवयवी को निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवों से भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं होता। 'वृक्ष में शाखाएँ हैं' यह प्रतिभास तो होता है पर 'शाखाओं में वृक्ष है' यह एक निराली ही कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक एक छुटाक वजन वाले चार अवयवों से बने हुए स्कन्ध में अवयवों के चार छुटाक वजन के अतिरिक्त कुछ अवयवी का भी वजन ध्याना चाहिए। अवयव तथा अवयवी का रूप भी पृथक् पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवी के एक देश को रँगने पर पूरा अवयवी रंगा जाना चाहिए। उसके एक देश में क्रिया होने पर समस्त अवयवी में क्रिया होना चाहिए। उसके एक देश का आवरण होने पर पूरे अवयवी को आवृत हो जाना चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मों का अभ्यास होने से उसमें एकत्व नहीं रह सकता। अतः अवयवों से सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसलिए प्रतीति के अनुसार अवयवों से कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाचा, उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। गुण सहभावी तथा पर्यायै क्रमभावो होते हैं। जैसे भेदज्ञान से वस्तु के उत्पाद और व्यय की प्रतीति होती है उसी तरह अभेदज्ञान से स्थिति भी प्रतिभासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीधी, टेढ़ी, उत्फला, विफला आदि अवस्थाओं में अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायों में द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होने से वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मों का अभ्यास होने से अनेक है। वस्तु असुक स्थूल अंश से प्रत्यक्ष होने पर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायों की अपेक्षा से अप्रत्यक्ष रहती है। वस्तु के धौव्य अंश के

और सजातीय चेतनान्तरक्षण का नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य या सन्तान के कार्य या उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूप-निरूपण में। बौद्ध उस सन्तान को काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उस द्रव्यांश को पर्याय क्षण की तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारी नित्य अर्थ में तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तान को समझाने के लिए बौद्धों ने यह दृष्टान्त दिया है कि—बैसे दस आदमी एक लाइन में खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुत्पूत वस्तु नहीं है, उसी तरह क्रमिक पर्यायों में कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्त की स्थिति से द्रव्य की स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषों में पंक्ति नाम की कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्ति का व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्य की क्रमिक पर्यायों दूसरे द्रव्य की पर्यायों से किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंश के माने बिना असंक्रान्त नहीं रह सकती। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्ति से निकलकर दूसरी पंक्ति में शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहने पर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य की पर्याय से संक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्य में भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांश मात्र पंक्ति एवं सेना आदि की तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षण की तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक—उत्पाद-व्यय-प्रौढ्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है—१ क्रम से, २ योगपद्यरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रम से ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व के अभाव में वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होने से सभी कार्यों को युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्यों में भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्यों में भेद कारण के भेद से होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेद का यहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षण में उत्पन्न हो जायेंगे, तब दूसरे क्षण में नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयोग-पद्य से अर्थक्रिया का विरोध होने से नित्य असत् है।

अकल्पकदेव कहते हैं कि—यदि नित्य में अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिक में भी तो उसके बनने की गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक ही ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस काल में है वह उसी देश तथा काल में नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूप में नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंदा होने से उसमें एक साथ अनेकस्वभाव तो रहेंगे ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य

वृत्ति होने के कारण रूपज्ञानजनकरूप से समान व्यवहार में कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्पर में अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियों भी अमनुष्यव्यावृत्ति के कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकती है। इसी तरह अतन्कार्य-कारणव्यावृत्ति से अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियों मनुष्य के कारणों से उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्य के कार्यों को करती है, अतः उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्य के बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्य के माने बिना अपोह का नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शाबलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्ति से, तब क्या कारण है कि अगो-व्यावृत्ति शाबलेय और बाहुलेय में ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार कराती है अश्व में नहीं ? अतः यह मानना होगा कि शाबलेय गौ बाहुलेय गौ से उतनी भिन्न नहीं है जितनी अश्व से, अर्थात् शाबलेय और बाहुलेय में कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्व में नहीं पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम ही समान व्यवहार का नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रसन्न से ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसी से समान है तथा किसी से विलक्षण। बुद्धि समानधर्मों की अपेक्षा से अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मों की अपेक्षा से विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निषेधात्मक नहीं। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणों में सादृश्य के कारण ही एकत्व का मान मानते हैं, शुक्तिका और चौंड़ी में सादृश्य के कारण ही अमोत्पत्ति स्वीकार करते हैं; तब अनुगत व्यवहार के लिए अतद्या-वृत्ति जैसी निषेधमुखी कल्पना से क्या लाभ ? क्योंकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पड़ता है। बुद्धि में अमेद का प्रतिबिम्ब वस्तुगत सदृश धर्म के माने बिना यथार्थता नहीं पा सकता। अतः सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलंकदेव ने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्यों में विलक्षण व्यवहार का प्रयोजक विशेष, और एक द्रव्य की दो पर्यायों में भेद व्यवहार करनेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदों का उपादान करने प्रमाण के विषयभूत पदार्थ की सम्पूर्णता का प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निरास—चार्वाक का सिद्धान्त है कि—जीव कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व नहीं है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अमुक प्रमाण में विलक्षण रासायनिक मिश्रण से ही उन्हीं पृथिव्यादि में चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञान-शक्तिविशिष्ट भूत-शरीर में जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदो, महुआ आदि में जलादि का मिश्रण होने से मदिरा तैयार हो जाती है उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रण से बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नहीं है। उस मिश्रण में से अमुक तत्वों की कमी होने पर जीवनीशक्ति के नष्ट होने पर मृत्यु हो जाती है। अतः

प्राप्तकर अपनी आर्कोक्षार्ण शान्तकर सन्तोष का अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थों से कोई अर्थक्रिया या सन्तोषानुभव नहीं होता । वे तो प्रतिभासकाल में ही असत् मालूम होते हैं । अद्वयज्ञानवादियों को प्रतिभास की सामग्री—प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा ? अद्वयज्ञान में अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदि की व्यवस्था न होने से तद्ग्राही ज्ञानों में प्रमाणात्ता या अप्र-माणात्ता भी निश्चित नहीं की जा सकेगी । पर्वतादि बाह्य पदार्थों को विकल्पवासनाप्रसूत कहने से उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे समव हो सकते हैं ? यदि विपादि पदार्थ बाह्यसत् नहीं हैं केवल ज्ञानरूप ही हैं; तब उनके खाने से मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं ? विप के ज्ञानमात्र से तो मृत्यु नहीं देखी जाती । प्रतिपाद्यरूप आत्मा-न्तर की सत्ता माने बिना शाब्दोपदेश आदि का क्या उपयोग होगा ? जब परप्रतिपत्ति के उपायभूत वचन ही नहीं हैं; तब परप्रतिपादन कैसे संभव है ? इसी तरह ब्राह्म-ग्राहक-भाव, वाध्य-वाधकभाव आदि अद्वैत के वाधक हैं । अद्वयसिद्धि के लिए साध्य-साधनभाव तो आप को मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोपलम्भनियम आदि हेतुओं से अद्वयसिद्धि कैसे करोगे ? सहोपलम्भनियम—अर्थ और ज्ञान दोनो एक साथ उपलब्ध होते हैं अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न है, जैसे द्विचन्द्रज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं । यह अनुमान भी संवेदनाद्वैत की सिद्धि करने में असमर्थ है । यतः सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध है—‘शिष्य के साथ गुरु आया’ इस प्रयोग में सहोपलम्भनियम भेद होने पर ही देखा गया है । ज्ञान अन्तरंग में चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देश में जडरूप से देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्भनियम असिद्ध है । बाह्यसत् एकचन्द्र के स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता । सहोपलम्भ-नियम का भेद के साथ कोई विरोध नहीं होने के कारण वह अनैकान्तिक भी है ।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थ के अस्तित्व में निम्न वाधक उपस्थित करते हैं कि—एक परमाणु अन्यपरमाणुओं से एकदेश से संयोग करेगा, या सर्वात्मना ? एकदेश से मयोग मानने पर छह परमाणुओं से संयोग करनेवाले परमाणु के छह देश हो जायेंगे । सर्वात्मना संयोग मानने पर परमाणुओं का पियड एकपरमाणुरूप हो जायगा । इसी तरह अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से रहेगा, या सर्वात्मना ? एकदेश से रहने पर अवयवी के उतने ही देश मानने होंगे जितने कि अवयव है । सर्वात्मना प्रत्येक अवयव में रहने पर जितने अवयव है उतने ही अवयवी हो जायेंगे । अवयवी यदि निरश हैं, तो रक्ताक, चलाचल, आदि विरुद्धधर्मों का अध्यास होने से उसमें भेद हो जायगा । इत्यादि ।

अकल्कदेव ने इनका समाधान संक्षेप में यह किया है कि—जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और सविदाकार से तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवों में कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध से रहने पर भी एक ही रहेगा । अवयवों से सर्वथा

आता है। चक्षुरादि इन्द्रियो की शक्ति नष्ट हो जाने पर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अतः जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति भूतोका गुण या पर्याय नहीं हो सकती, वह तो आत्मा की ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुप्तादि अवस्थाओं में भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं होता। अकलकदेव ने 'सुषुप्तादौ बुद्धः' इस पद का उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदि के 'सुषुप्तावस्था में ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्त का खंडन किया है। यह आत्मा प्राणादि को धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता है। जीव स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। वही रागादि-भावों से कर्मबन्धन करता है तथा बीतरागपरिणामों से कर्मबन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न बटवीज की तरह अणुरूप ही; किन्तु अपने उपात्त-शरीर के परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्ध के कारण प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने से छोटे बड़े शरीर के परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसंग में गुण और गुणी के सर्वथा भेद का खपडन करते हुए लिखा है कि—अर्थ अनेक धर्मात्मक है। उसका अखण्डरूप से ग्रहण करना कदाचित् संभव भी है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूप-धर्म से ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्म को गुण कहते हैं। गुण द्रव्य का ही परिणामन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। चूँकि गुण पदार्थ के धर्म हैं अतः ये स्वयं निर्गुण—गुणशून्य होते हैं। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न; तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं' इसका नियामक कौन होगा ? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञान का आत्मा से ही कथञ्चित्-दात्म्य है अतः वह आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं। वैशेषिक के मत में 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नहीं हो सकेगे; क्योंकि गन्ध, रूप तथा सख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्य की सख्या का एकार्थसमवाय सम्बन्ध के कारण रूपादि में उपचार करके 'एक गन्ध' इस प्रयोग का निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्य में रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणों के आश्रयभूत द्रव्य में तो एकत्वसख्या है बहुत्व-सख्या नहीं। अतः गुण को स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्य का ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मों की अपेक्षा से धर्म होने पर भी अपने में रहने-वाले अन्य धर्मों की अपेक्षा से धर्मों भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत वट की अपेक्षा से यद्यपि धर्म है पर अपने में पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा धर्मों है। अतः जैन सिद्धान्त में धर्म-धर्मिभाव के अनियत होने के कारण 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग बड़ी आसानी से बन जाते हैं। इति।

कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी प्रौढ्याश के मानने पर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूप से उत्तरपर्याय में अन्वित होगी उसी रूप से उसमे उपादानता का निरचय होता है। यद्यपि शब्दादि का उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नहीं है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादान का तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्य का अनुमान कराती है; क्योंकि उपादान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा मध्यक्षण यदि आगे कोई कार्य न करेगा; तो वह अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में अवस्तु ही हो जायगा। अतः द्रव्यपर्यायामक वस्तु ही प्रमाण का विषय हो सकती है।

सामान्य—नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो स्वतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्म में समवायसम्बन्ध से रहता है। मीमांसक ऐसे ही सामान्य का व्यक्ति से तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्य को वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्ग्राह्यवृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणामन को सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्ति की तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलकटैव ने सामान्य का स्वरूप वर्णन करते हुए इतरमतों की आलोचना इस प्रकार की है—

नित्य-सामान्यनिरास—नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्ति में खडशः रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्ति में प्रकट होता है; उसी समय उसे सर्वत्र-न्यक्ति के अन्तराल में भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्तरूप से स्वरूपभेद होने पर अनित्यत्व एव साशत्व का प्रसंग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ता के समवाय के बिना भी स्वतः-सत् है उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वतः-सत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अतः द्रव्यादि के स्वरूप से अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास—बौद्ध सामान्य को अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मत से कोई भी एक वस्तु अनेक आधारों में वृत्ति ही नहीं रख सकती, अतः अनेक आधारों में वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहार के लिए माना जाता है। उनका कहना है कि—हमलोगो को परस्पर विभिन्न वस्तुओं के देखने के बाद जो बुद्धि में अमेद का भान होता है, उसी बुद्धि में प्रतिविम्बित अमेद का नाम सामान्य है। वह बुद्धि-प्रतिविम्बित अमेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है, किन्तु अतद्ग्राह्यवृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियों में अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चन्दु, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्पर में अत्यन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजननव्या-

कोमलभावनाओं के स्रोत को ही बन्द किए देता है। अतः इन दोनों के मध्य का ही मार्ग सर्वसाधारण को व्यवहार्य हो सकता है। आन्तरिक शुद्धि के लिए ही बाह्य उग्रतपस्या का उपयोग होना चाहिए, जिससे बाह्यतप ही हमारा साध्य न बन जाय। दयालु बुद्ध इस मध्यममार्ग द्वारा अपने आचार को मृदु बनाते हैं और बोधिलाम कर जगत् में मृदु-अहिंसा का सन्देश फैलाते हैं। तात्पर्य यह कि-बुद्ध ने अपने आचार की मृदुता के के समाधान के लिए 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग किया। इस तत्त्व का उपयोग बुद्ध ने आखिर तक आचार के ही क्षेत्र तक सीमित रखा, उसे विचार के क्षेत्र में दाखिल करने का प्रयत्न नहीं हुआ। जब बोधिलाम करने के बाद संघरचना का प्रश्न आया, शिष्यपरिवार दीक्षित होने लगा तथा उपदेशपरम्परा चालू हुई, तब भी बुद्ध ने किसी आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ का तात्त्विक विवेचन नहीं किया; किन्तु अपने द्वारा अनुभूत दुःखनिवृत्ति के मार्ग का ही उपदेश दिया। जब कोई शिष्य उनसे आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के विषय में प्रश्न करता था तो वे स्पष्ट कह देते थे कि—“आवुस ! तुम इन आत्मा आदि को जानकर क्या करोगे ? इनके जानने से कोई फायदा नहीं है। तुम्हें तो दुःख से छूटना है, अतः दुःख, समुदय-दुःख के कारण, निरोध-दुःखःनिवृत्ति और मार्ग-दुःखनिवृत्ति का उपाय इन चार आर्यसत्यो को जानना चाहिए तथा आचरण कर बोधिलाम करना चाहिए।” उन्हीं बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्ग की तरह बैठेठाले अनन्त कल्पना-जाल रच के दर्शनशास्त्र बनाने के बजाय अहिंसा की आंशिक साधना ही श्रेयस्कर मालूम होती थी। यही कारण है कि-वे दर्शनशास्त्रीय आत्मादि पदार्थों के तत्त्वविवेचन के भगड़े को निरुपयोगी समझ कर उसमें नहीं पड़े। और उन्होंने अपनी मध्यम-प्रतिपदा का उपयोग उस समय के प्रचलितवादों के समन्वय में नहीं किया। उस समय आत्मादि पदार्थोंके विषय में अनेको वाद प्रचलित थे। कोई उसे कूटस्थ नित्य मानता था तो कोई उसे भूतविकारमात्र, कोई व्यापक कहता था तो कोई अणुरूप। पर बुद्ध इन सब वादों के खंडन-मडन से कोई सरोकार ही न रखते थे, वे तो केवल अहिंसा की साधना की ही रट लगाए हुए थे।

पर जब कोई शिष्य अपने आचरण तथा संघ के नियमों में मृदुता लाने के लिए उनके सामने अपनी कठिनाइयों पेश करता था कि—“भन्ते ! आजकाल वर्षाकाल है, एक संचाटक-चीवर रखने से तो वह पानी में भीग जाता है, और उससे शीत की बाधा होती है। अतः दो चीवर रखने की अनुज्ञा दी जाय। हमें बाहिर स्नान करते हुए लोक-स्नाज का अनुभव होता है, अतः जन्ताघर (स्नानगृह) बनाने की अनुज्ञा दी जाय इत्यादि” तब बुद्ध का मातृहृदय अपने प्यारे बच्चों की कठिनाइयों सुनकर तुरन्त पसीच जाता था। वे यहाँ अपनी 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग करते हैं और उनकी कठिनाइयों हल करने के लिए उन्हें अनुज्ञा दे देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि-

जीव गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नहीं है । उसकी शरीर के साथ ही साथ क्या शरीर के पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्यु के बाद भी पढा रहता है । “जलबुद्बुदवज्जीवाः, मदशक्तिवद्विज्ञानम्”—जल के बुद्बुदों की तरह जीव तथा महुआ आदि में मादकशक्ति की तरह ज्ञान उन्मत्त होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं ।

अकलकदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो ससार और मोक्ष किसे होगा ? शरीरवस्था को प्राप्त पृथिव्या-दि भूत तो इस लोक में ही भस्मीभूत हो जाने हैं, परलोक तक कौन जायगा ? परलोक का अभाव तो नहीं किया जा सकता. क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होने से अपने पूर्वमव की तथ्यस्थिति का आखोदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं । यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायो में पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्याय का समस्त वृत्तान्त सुनाते हैं । जन्म लेते ही नवजातशिशु को माँ के दूध पीने की अभिलाषा होती है । यह अभिलाषा पूर्वानुभाव के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थ की सुखसाधनता का स्मरण करके होती है । अतः पूर्वानुभव का स्थान परलोक मानना चाहिये । “गर्भ में माँ के द्वारा उपशुक्त भोजनादि से बने हुए अमुक विलक्षण रसविशेष के ग्रहण करने से नवजातशिशु को जन्म लेते ही दुग्धपान की ओर प्रवृत्ति होती है” यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भ में रसविशेष के ग्रहण करने से ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भ में एक साथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेष को ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रों में परस्पर प्रत्यभिज्ञान एवं अभिलाषा होनी चाहिए, एक के द्वारा अनुभूत वस्तु का दूसरे को स्मरण होना चाहिए । प्रत्येक पृथिवी आदि भूत में तो चैतन्यशक्ति का आविर्भाव नहीं देखा जाता अतः समस्तभूतों के अमुक मिश्रण में ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पड़ती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के मानने में ही क्या बाधा है ? ज्ञान प्राणयुक्त शरीर का भी धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अन्वकार में शरीर का प्रत्यक्ष न होने पर भी ‘अहं ज्ञानवान्’ इस प्रकार से ज्ञान का अन्तःमनसप्रत्यक्ष होता है । यदि ज्ञानरूपसे शरीर का ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीर का धर्म माना जाता । दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रों से हमारे शरीर का ज्ञान कर लेता है पर शरीर के रूपादि की तरह वह हमारे ज्ञान का ज्ञान नहीं कर सकता । शरीर में विकार होने पर भी बुद्धि में विकार नहीं देखा जाता, शरीर की पुष्टि या कमजोरी में ज्ञान की पुष्टि या कमजोरी नहीं देखी जाती, शरीर के अतिशय बलवान् होने के साथ ही साथ बुद्धिबल बढ़ता हुआ नहीं देखा जाता, इत्यादि कारणों से यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीर का गुण नहीं है । ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियों के भी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों की अनुपयुक्त दशा में मन से ही ‘मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ’ यह मानस प्रत्यक्ष अनुभव में

न करके उस पर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसा को ही उचेजन दिया। इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृति के बीच एक ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई जिसने केवल दर्शनिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी दोनों को मदा के लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया। इसके फलस्वरूप प्राणों की बाजी लगाकर अनेकों शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवन में इस कालकूट ने प्रवेशकर अनेकों राजवंशों का सत्त्वानाश किया। उत्तरकाल में बौद्धाचार्यों ने मन्त्र-तन्त्रों की साधना इसी हिंसा-के उचेजन के लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वाला से भारतवर्ष में बौद्धों का अस्तित्व खाक में मिल गया। यदि मध्यमा प्रतिपद् ने इस दार्शनिक क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणों से दर्शनशास्त्र का कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्ष का मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरो में लिखा जाने लायक होता।

जैनदृष्टि—भग० महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उग्र तपस्या से कैवल्य प्राप्त किया। ये इतने दृढतपस्वी तथा कष्टसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हे बुद्ध की तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्या में मृदुता लाने के लिए मध्यममार्ग के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं हुई। इनकी साधना कायिक अहिंसा के सूक्ष्म-पालन के साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा की पूर्णता की दिशा में थी। भग० महावीर पितृचेतक व्यक्ति थे, अतः इनका आचार के नियमों में अत्यन्त दृढ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था। पर सध में तो पंचमेव व्यक्ति दीक्षित होते थे। समी तो उग्रमार्ग के द्वारा साधना करने में समर्थ नहीं हो सकते थे अतः इन्होंने अपनी अनेकान्तदृष्टि से आचार के दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसध का निर्माण किया। और प्रत्येक कक्षा के योग्य आचार के नियम स्थिर कर उनके पालन कराने में ढिलाई नहीं की। भग० महावीर की अनेकान्तदृष्टि ने इस तरह आचार के क्षेत्र में सुदृढ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया।

अनेकान्तदृष्टि का आधार—भग० महावीर ने बुद्ध की तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूपनिरूपण में मौन धारण नहीं किया; किन्तु उस समय के प्रचलित वादों का समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी, अनित्य भी, आदि। यह अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन उनकी मानसी अहिंसा का प्रतिफल है। अन्यथा वे बुद्ध की तरह इस चर्चा को अनुपयोगी कह सकते थे। कायिक अहिंसा के लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा के लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूप से उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारों का अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्थिति के आधार पर समीकरण न होगा तब तक हृदय में उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारों के प्रयोजकों के प्रति

§ ३. नयनिरूपण—

जैनदृष्टि का आधार और स्थान—भारतीय सस्कृति मुख्यतः दो भागों में बाँटी जा सकती है—एक वैदिक सस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिले में खड़ी हुई श्रमणसस्कृति । वैदिकसंस्कृति के आधारभूत वेद को प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा तथा औपनिषद् आदि दर्शन हैं । श्रमणसस्कृति के शिलाधार वेदकी प्रमाणात्ता का विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं । वैदिकदर्शन तथा वैदिकसस्कृति के प्र-प्रतिष्ठान में विचारों की प्रधानता है । श्रमणसस्कृति एवमवैदिक दर्शनो की उद्भूति आचारशोधन के प्रामुख्य से हुई है । सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन भी सबने माना ही है । वैदिक सस्कृति तथा वैदिकदर्शनो की प्राणप्रतिष्ठा, संवर्द्धन एव प्रौढीकरण में बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्ग ने पुरतैनी प्रयत्न किया है जो आजतक न्यूनाधिक रूप में चालू है । यही कारण है कि वैदिकदर्शन का कोषागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पृशिता, भावभ्राष्टिता एव पराकाष्ठा को प्राप्त कल्पनाओं का कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है । परम्परागत-बुद्धिजीवित्व-शाली ब्राह्मणवर्ग ने अपनी सारी शक्ति कल्पनाजाल का विकास करके वेदप्रामाण्य के समर्थन में लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डो के द्वारा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त के जीवन के प्रत्येकक्षण को इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिले में खड़ी होनेवाली बौद्ध और जैनसस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डों से अशतः पराभूत हो गई ।

श्रमणसस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर धर्म के नाम पर होने वाले अजामेध, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्ड का तात्त्विक एव क्रियात्मक विरोध करने के लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता भी पाई । श्रमणसस्कृति का आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है । अहिंसा का वास्तविक रूप तो सच्चमुच आचारगत ही है । अहिंसा का विचार तो वैदिकदर्शनों ने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादो के साथ । श्रमणसस्कृति अहिंसा का सक्रिय रूप थी । इस अहिंसा की साधना तथा पूर्णता के लिए ही इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग हुआ, जब कि वैदिक सस्कृति में तत्त्वज्ञान साध्यरूपमें रहा है ।

बौद्धदृष्टि—बुद्ध अहिंसा की साधना के लिए प्रारम्भ में कुछ वर्ष तक कठोर तपस्या करते हैं । जब उनका भावुक चित्त तपस्या की उग्रता से ऊब जाता है, तब वे विचार करते हैं कि—इतनी दीर्घतपस्या के बाद भी मुझे बोधिलाम क्यों नहीं हुआ ? यहीं उनकी तीक्ष्णदृष्टि 'मध्यम प्रतिपदा' को पकड़ लेती है । वे निश्चय करते हैं कि—यदि एक ओर वैदिकी हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीर के पोषण का बोलवाला है तो इस ओर भी अव्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायकेशके द्वारा होनेवाला शरीर का शोषण हृदय की

उत्तरकालीन आचार्यों ने खूब लिखा। उन्होंने उदारता पूर्वक यहाँ तक लिखा है कि— 'समस्त मिथैकान्तो का समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डो के समुदाय अनेकान्त की जय हो।' यद्यपि पातञ्जलदर्शन, मास्कर्रीयवेदान्त, भाद्र आदि दर्शनो में भी इस समन्वयदृष्टि का उपयोग हुआ है; पर स्याद्वाद के ऊपर ही सख्याबद्ध शास्त्रो की रचना जैनाचार्यों ने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने यद्यपि भग० महावीर की उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टि के अनुसार ही शास्त्ररचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्ष-खडन में बदल गया। यद्यपि यह अवरयक था कि—प्रत्येक एकान्त में दोष दिखाकर अनेकान्त की सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि भग० महावीर की वह मानस अहिंसा ठीक-शत-प्रतिशत उसीरूपमें तो नहीं ही रही।

विचार विकास की चरमरेखा—भारतीय दर्शनशास्त्रो में अनेकान्त दृष्टि के आधार से वस्तु के स्वरूप के प्ररूपक जैनदर्शन को हम विचारविकास की चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखा ने मेरा तात्पर्य यह है कि—दो विरुद्ध वादों में तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओ का विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी हल-समाधान न हो जाय। जब अनेकान्तदृष्टि उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब ऋग्वेद किस बात का और शुष्क तर्कजाल किस लिए ? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक विवाद बराबर बढ़ता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादो का स्रोत अपने आप सूख जायगा।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश—इसलिए हम अनेकान्त दृष्टि को न्यायाधीश के पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। यह दृष्टि न्यायाधीश की तरह उभयपक्ष को समुचितरूप से समझकर भी अपक्षपातिनी है। यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुद्दई मुद्दाहलो का फैसला करनेवाली है। यह हो सकता है कि—कदाचित् इस दृष्टि के उचित उपयोग न होने से किसी फैसले में अपील को अबसर मिल सके। पर इसके समुचित उपयोग से होने-वाले फैसले में अपील की कोई गुंजाइश नहीं रहती। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-कुआ वे भाई हैं। रामचन्द्र देवदत्त का पिता है तथा यज्ञदत्त का मामा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनो ही बड़े बुद्धिशाली लडके हैं। देवदत्त जब रामचन्द्र को पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्त से लड़ता है और कहता है कि—रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यों कहता है ? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्त से कहता है कि—बाह ! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नहीं कह सकते। दोनो शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं। यज्ञदत्त कहता है कि—देखो, रामचन्द्र मामा है, क्योंकि वे हमारी माँ के भाई है, हमारे बड़ेभाई भी उसे मामा ही तो कहते है आदि। देवदत्त कहता है—बाह ! रामचन्द्र तो पिता है, क्योंकि उसके भाई हमारे चाचा होते है, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि। इतना ही नहीं, दोनो में इसके फलस्वरूप हायापाई हो जाती है। एक दूसरे का कट्टर शत्रु बन जाता है।

बुद्ध की मध्यमप्रतिपदा केवल आचार की समाधानी के लिए उपयुक्त होती थी, वह आचार का व्यवहार्य से व्यवहार्य मार्ग ढूँढ़ती थी। उसने विचार के अपरिमित क्षेत्र में अपना कार्य बहुत कम किया।

जब बुद्ध ने स्वयं 'मध्यमप्रतिपदा' को विचार के क्षेत्रों में दाखिल नहीं किया तब उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों से तो इसकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। बुद्ध के उपदेशों में आए हुए क्षणिक, निरात्मक, विभ्रम, परमाणुपुञ्ज, विज्ञान, शून्य आदि एक एक शब्द को लेकर उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों ने अनन्त कल्पनाजाल से क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विभ्रमवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, आदि धादो को जन्म देकर दर्शनक्षेत्र में बड़ा भारी तूफान मचा दिया। यह तूफान मामूली नहीं था, इससे वैदिक दर्शनो की चिरकालीन परम्परा भी कॉप उठी थी। बुद्ध ने तो मार-काम विजय के लिए, विषय-कषायों को शान्तकर चित्त शोधन के लिए जगत् को जलबुद्बुद् की तरह क्षणिक-विनाशशील कहा था। निरात्मक शब्द का प्रयोग तो इसलिए था कि—'यह जगत् आत्मस्वरूप से भिन्न है, नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नहीं है जिसमें राग किया जाय, जगत् में आत्मा का हितकारक कुछ नहीं है' आदि समझकर जगत् से विरक्ति हो। ससार को स्वप्न की तरह विभ्रम एवं शून्य भी इसीलिए कहा था कि—उससे चित्त को हटाकर चित्त को विशुद्ध किया जाय। ऋषि आदि राग के साधन पदार्थों को एक, नित्य, स्थूल, अमुक संस्थानवाली, वस्तु समझकर उसके मुख आदि अवयवों का दर्शन-स्पर्शनकर रागद्वेषादि की अमरवेल फलती है। यदि उन्हें स्थूल अवयवों न समझकर परमाणुओं का पुञ्ज ही समझा जायगा तो जैसे मिट्टी के ढेले में हमें राग नहीं होता उसी तरह ऋषि आदि से विरक्त होने में चित्त को मदद मिलेगी। इन्हीं पवित्र मुसुक्षुभावनाओं को सुभावित करने के लिए करुणामय बुद्ध के हृदयप्राप्ती उपदेश होते थे। उत्तरकाल में इन मुसुक्षुभावनाओं का लक्ष्य यद्यपि वही रहा पर समर्पण का ढँग बदला। उसमें परपक्ष का जोरो से खंडन शुरू हुआ तथा बुद्धिकल्पित विकल्पजालों से बहुविध पन्थों और ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन बुद्धि-वाग्वैभवशाली आचार्यों ने बुद्ध की उस मध्यमप्रतिपदा का इस नए क्षेत्र में जरा भी उपयोग नहीं किया। मध्यमप्रतिपदा शब्द का अपने ढँग से शाब्दिक आदर तो किया पर उसके प्राणभूत समन्वय के तत्त्व का झुड़ी तरह कचूर निकाल डाला। विज्ञान-वादियों ने मध्यमप्रतिपदा को विज्ञानस्वरूप कहा तो विभ्रमवादियों ने उसे विभ्रमरूप। शून्यवादियों ने तो मध्यमप्रतिपदा को शून्यता का पर्यायवाची ही लिख दिया है—

“मध्यमा प्रतिपत्तं सैव सर्वधर्मनिरात्मता। भूतकोटिश्च सैवेय तथता सर्वशून्यता ॥”

—अर्थात् सर्वशून्यता को ही सर्वधर्मनैरात्म्य तथा मध्यमा प्रतिपत्तं कहते हैं। यहाँ वास्तविक तथा तथ्यरूप है।

इन अहिंसा के पुजारियों ने मध्यमप्रतिपदा के द्वारा वैदिक संस्कृति का समन्वय

कता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोक में विचरण करनेवाले नहीं थे। उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचार का सुलभ रास्ता निकाल कर जगत् को शान्ति का सहज सन्देश देना था। उन्हें मस्तिष्क के शुष्क कल्पनात्मक व्यापाम की अपेक्षा हृदय से निकली हुई व्यवहार्य अहिंसा की छोटी सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि— बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरण से विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनन्तकल्पना जाल से ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि—बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनो का पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्र में तो केवल कल्पनाओं से ही निर्वाह नहीं हो सकता था; वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शन की ज्ञान कहते हैं, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीर की यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुल्यसत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकान्तदृष्टि के आधार से बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थनद्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकों ने अशतः परपक्ष का खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। इसी दृष्टि के विविध प्रकार से उपयोग के लिए सप्तमंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीर ने अपनी अहिंसा की पूर्णसाधना के लिए अनेकान्तदृष्टि का अविर्भाव करके जगत् को वह ध्रुवबीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसार को पूर्ण सुख-शान्ति का लाभ करा सकता है।

नय—जब भग० महावीर ने मानस अहिंसा की पूर्णता के लिए अनेकान्तदृष्टि का सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए कुछ तफसीली बातें सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टि से प्रचलित वादों का उचित समीकरण हो ? इस अनेकान्तदृष्टि की कामयाबी के लिए किए गए मोटे मोटे नियमों का नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—१ ज्ञानाश्रयी, २ अर्थाश्रयी, ३ शब्दाश्रयी। कोई व्यक्ति ज्ञान की सीमा में ही अपने विचारों को दौड़ाता है उसे अर्थ की स्थिति की कोई परवाह ही नहीं रहती। ऐसे मनसूबा बाँधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्ली की तरह विचारों की धुन में ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारों को ज्ञान ही ज्ञान—कल्पनाक्षेत्र में ही दौड़ाते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं। अर्थ में एकओर एक, नित्य और व्यापारूपसे चरम अमेद की कल्पना की

राग-द्वेष का भाव जाग्रत हुए विना न रहेगा । इस मानस अहिंसा के विना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमंडनरूप ही है । यह तो और भी कठिन है कि—'किसी वस्तु के विषय में दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हो, और उनका अपने अपने ढंग से समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धि के लिए वादविवाद भी करते हो, फिर भी वे एक दूसरे के प्रति समता-भाव-मानस अहिंसा रख सकें।' मग० महावीर ने इसी मानसशुद्धि के लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तु के एक एक अंश को ग्रहण करके भी पूर्णता का अभिमान करने के कारण विरुद्धरूप से भासमान अनेक दृष्टियों का समन्वय करनेवाली, विचारो का वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टि को सामने रखा । जिससे एक वादी इतर-वादीयों की दृष्टि का तत्त्व समझ कर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारों के प्रति सहिष्णुता का परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्त से वस्तु के पूर्णस्वरूप तक पहुँचने की दिशा में प्रयत्न करे । समाज-रचना या सघनिर्माण में तो इस तत्त्व की खास आवश्यकता थी । सघ में तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारो के विचित्र विचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे । उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टि के विना कर सकना असम्भव कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्त की स्थिरता संभव ही नहीं थी । ऊपरी एकीकरण से तो कमी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेको सघ छिन्न-मिल हुए भी ।

अनेकान्तदृष्टि के मूल में यह तत्त्व है कि—वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्त-धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है । वचन उसके पूर्ण स्वरूप की ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूप से कह नहीं सकते । लिहाजा एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने अपने दृष्टिकोणो से देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं । इस लिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक एक अंश को ग्रहण करके भी अपने में पूर्णता का अभिमान करनेवाली दृष्टियो में ही । जब हम एक अंश को जाननेवाली अपनी दृष्टि में पूर्णता का अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अंश को जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे टकराएगी । यदि अनेकान्तदृष्टि से हमें यह मालूम हो जाय कि—ये सब दृष्टियों वस्तु के एक एक धर्मों को ग्रहण करनेवाली हैं, इनमें पूर्णता का अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टि को, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा । इसी को आचार्यों ने शास्त्रीय शब्दों में कहा है कि—'एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं हैं, किन्तु बुद्धिगत है । अतः बुद्धि के शुद्ध होते ही एकान्त का नामोनिशान भी नहीं रहेगा।' इसी समन्वयात्मक दृष्टि से होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है । यह अनेकान्त-आहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है । जो दृष्टि वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करके भी इतरधर्म-आहिणी दृष्टियो का प्रतिचेप नहीं करके उन्हे उचित स्थान दे वह नय कहलाती है । इस तरह मानस अहिंसा के कार्य-कारणभूत अनेकान्त-दृष्टि के निर्वाह एवं विस्तार के लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तमगी आदि विविध रूपों में

कि एक-अभेद अंश की मुख्यता होने पर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय। यही सापेक्ष-भाव नय का प्राण है। इस सापेक्षता के अभाव में नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है। “सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः” यह स्पष्ट ही कहा है।

इस संक्षिप्त कथन में यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो दो प्रकार की दृष्टियों ही मुख्यरूप से कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियों का आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना अभेद या भेद दो ही रूप से की जा सकती है। उस कल्पना का प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी न्यो न हो। इन दो मूल आधारों को द्रव्यनय और पर्यायनय नाम से व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूप से अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिक नय है। इन्हे मूलनय कहते हैं, क्योंकि समस्त विचारों का मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादि नय तो इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हीं के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय संकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थ के अभेद अंश को विषय करता है या भेद अंश को। इसीलिये अभेदसंकल्पी नैगम का संग्रहनय में तथा भेदसंकल्पी नैगम का व्यवहारनय में अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय को खतन्त्र नय नहीं माना है। इनके मत से संग्रहादि कुछ ही नय हैं।

अकलंकदेव ने नैगमनय को अर्थनय मानकर श्रुतसूत्र पर्यन्त चार नयों का अर्थ-नयरूप से तथा शब्द आदि तीन नयों का शब्दनयरूप से विभाग किया है। नय तथा दुर्नय का निम्न लक्षण समझना चाहिए—भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाण का विषय होता है। उसके किसी एक धर्म को मुख्य तथा इतरधर्मों को गौणरूपसे विषय करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मों को गौण नहीं करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि—प्रमाण में अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नय में एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मों के प्रति उपेक्षा-गौणता रहती है, जब कि दुर्नय इतरधर्मों का ऐकान्तिक निरास कर देता है।

नैगम-नैगमाभास—यद्यपि अकलंकदेव ने राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नैगमनय का ‘सङ्कल्पमात्रग्राही’ यह ज्ञानाश्रितव्यवहार का समन्वय करनेवाला लक्षण किया है, पर लघीयज्ञय में वे नैगमनय को अर्थ की परिधि में लाकर उसका यह लक्षण करते हैं—“गुण-गुणी या धर्म-धर्मों में किसी एक को गौण तथा दूसरे को मुख्यता से ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीव के स्वरूपनिरूपण में ज्ञानादिगुण गौण होते हैं तथा ज्ञानादिगुणों के वर्णन में जीव।” गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा

अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पास के कमरे से अपने होनहार लड़को की कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिपटुता से प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-मारपीट से खिन्न हो जाता है। वह उन दोनों की गलती समझ जाता है और उन्हें बुलाकर धीरे से समझाता है—वेदा देवदत्त, यह ठीक है कि मे तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नहीं हूँ, इसका मामा भी तो हूँ। इसी तरह यज्ञदत्त को समझाता है कि—वेदा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्त का पिता भी तो हूँ। यह सुनते ही दोनों भाइयों की दृष्टि खुल जाती है। वे झगड़ना छोड़कर आपस में बढ़े हेतुमेल से रहने लगते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि—एक एक धर्म के समर्थन में वस्त्वश को लेकर घर्षाई गईं दलीलों तब तक बराबर चालू रहेगी और एक दूसरे का खडन ही नहीं किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष—हिंसा की परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्त-दृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी। इसके बाद तो मस्तिष्क के व्यायामस्वरूप दलीलों का दलदल अपने आप सूख जायगा।

प्रत्येक पक्ष के वकीलों द्वारा अपने पक्षसमर्थन के लिए सङ्कलित दलीलों की फाइल की तरह न्यायाधीश का फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मता के साथ ही साथ निष्पक्षपातित्वा अवश्य ही रहती है। उसी तरह एकान्तके समर्थन में प्रयुक्त दलीलों के भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनो की तरह जैनदर्शन में कल्पनाओं का चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही अधिक हो; पर उसकी वस्तुसर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एवं अहिंसाधारता में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकाल में मध्यकालीन आचार्यों द्वारा अशतः परपक्ष-खडन में पडने के कारण उम मध्यस्थता का उसरूप में निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत रही, और उसीके श्रेयःप्रकाश में उन्होंने परपक्ष को भी नय-दृष्टि से उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीश के फैसले के उपक्रम में उभयपक्षीय वकीलोंकी दलीलों के बलाबल की जाँच में एक दूसरे की दलीलों का यथासमव उपयोग होकर अन्त में उनके निःसार भाग की समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फैसला होता है। उसी तरह जैनदर्शन में एक एकान्त के खण्डनार्थ या उसके बलाबल की जाँच के लिए द्वितीय एकान्तवादी की दलीलों का पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्त में उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फैसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनो के समन्वयात्मक फैसले की ये मिसलों ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

वात यह है कि—मग० महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नहीं थे किन्तु सन्त थे। उन्हे वाद की अपेक्षा कार्य-सदाचरण अविक पसन्द था, और जब तक हवाई वातो से कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसा के संवर्द्धन, परिपोषण के लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनी की आवश्य-

जो ज्ञानस्वरूप नहीं है वह ज्ञान के समवाय से भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञान-के समवाय से 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वयं 'ज्ञ' बन जायगा; क्योंकि समवाय आत्मा में ज्ञान का सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वयं ज्ञान और आत्मा से सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नहीं करा सकता। अतः यह मानना ही चाहिये कि—ज्ञानपर्यायवाली वस्तु ही ज्ञान के सम्बन्ध को पा सकती है। अतः वैशेषिक का गुण आदि का गुणी आदि से निरपेक्ष—सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह साख्य का ज्ञान सुखादि को आत्मा से भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसी में आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष में ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्य की दृष्टि से दृश्य है तथा अपने कारखरूप-अव्यक्तस्वरूप से अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्य से बुद्धि को भिन्न समझकर उसे पुरुष से भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुष का धर्म हो सकता है; तो ज्ञान को भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृति की तरह पुरुष भी ज्ञानादिरूप से दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य है, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणासिद्ध नहीं है, क्योंकि पर्यायदृष्टि से उनमें अनित्यता रहने पर भी चैतन्यसामान्य की अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिक का गुण-गुण्यादि में सर्वथा भेद मानना तथा साख्य का पुरुष से बुद्ध्यादि का भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमें अभेद अश का निराकरण ही हो गया है।

संग्रह-संग्रहाभास—समस्त पदार्थों को अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय संग्रह-नय है। यह परसंग्रह तथा अपरसंग्रह के भेद से दो प्रकार का है। परसंग्रह में सत् रूप से समस्त पदार्थों का संग्रह किया जाता है, तथा अपरसंग्रह में द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्यों का, गुणरूपसे समस्त गुणों का, गोत्वरूपसे समस्त गौणों का आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते करते ऋजुसूत्र नय के विषयभूत एक वर्तमान काठिन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपरसंग्रह की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अपरसंग्रह और व्यवहारनय का क्षेत्र तो समान है पर दृष्टि में भेद है। जब अपरसंग्रह में तद्रूप अभेदाश के द्वारा संग्रह की दृष्टि है तब व्यवहारनय में भेद की ही प्रबानता है। परसंग्रहनय की दृष्टि में सद्रूप से सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नहीं है। जीव अजीव आदि सभी सद्रूप से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारों में व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त है, जीव अजीव आदि सब उसी के भेद

जा सकती है, तो दूसरीओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टिसे अन्तिम भेद की कल्पना । तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है । पहिली प्रकार की कोटि में सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करने वाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्याय के ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं । तीसरी कोटि में पदार्थ को नानारूप से व्यवहार में लाने-वाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं । तीसरे प्रकार के व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दों के बाल की खाल खींचने में ही मजा आता है । ये लोग एक अर्थ की हर एक हालत में विभिन्न शब्द के प्रयोग को मानते हैं । इनका तात्पर्य है कि—भिन्नकालवाचक, भिन्न कारको में निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थ को नहीं कह सकते । शब्दभेद से अर्थ भेद होना ही चाहिए । उपर्युक्त ज्ञान, अर्थ और शब्द का आश्रय लेकर होनेवाले विचारों के समन्वय के लिए किए गए स्थूल मूल नियमों को नय कहते हैं ।

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का सकल्प-विचारमात्र को ग्रहण करनेवाले नैगमनय में समावेश हुआ । अर्थाश्रित अभेदव्यवहार का, जो “आत्मैवेद सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्” आदि उपनिषद्वाक्यों से प्रकट होता है, सग्रहनय में अन्तर्भाव किया गया । इसके आगे तथा एकपरमाणु की वर्तमानकालीन एक अर्थपर्याय से पहिले होनेवाले यावद् मध्यवर्ती भेदों का जिनमें न्याय वैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनय में समावेश किया । अर्थ की आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनय में शामिल हुई । यहाँ तक अर्थ को सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं । अब शब्दशास्त्रियों का नम्बर आया । काल, कारक, सख्या तथा धातुके साथ लगने वाले भिन्न भिन्न उपसर्ग आदि की दृष्टि से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेद से अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टि का शब्दनय में समावेश हुआ । एक ही साधन में निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं । इन पर्यायवाची शब्दों से भी अर्थभेद माननेवाली समभिरूढनय की दृष्टि है । एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रिया में परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए । इसकी दृष्टि से सभी शब्द क्रिया से निष्पन्न हैं । गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिभवनरूप क्रिया से, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रिया से, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रिया से, नाम-वाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी ‘देवने इसको दिया’ इस क्रिया से निष्पन्न हुए हैं । इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूप से होनेवाले यावद्व्यवहारों का समन्वय इन नयों में किया गया है । पर यह समन्वय एक खास शर्त पर हुआ है । वह शर्त यह है कि—कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टि का निराकरण नहीं कर सकेगी । इतना हो सकता है

का संग्रह करनेवाला संग्रहणय है। इस नय की दृष्टि से कह सकते हैं कि—विश्व एक है, अद्वैत है; क्योंकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि—इस नय में शुद्ध सन्मात्र विषय होने पर भी भेद का निराकरण नहीं है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्व को विषय करता है पर वह भेद का निराकरण करने के कारण सप्रहाभास है। नय सापेक्ष—प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष—परपक्ष का निराकरण करनेवाला होता है।

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहणय के द्वारा गृहीत अर्थ में विधिपूर्वक अविश्ववादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहार नय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, वस्तुस्थिति की अपेक्षा न करनेवाली भेद-कल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूप से चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनों प्रकारों से हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययप्रौढ्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाण से अविरोधी होने के कारण तथा लोकव्यवहार में अविश्ववादी होने से प्रमाण हैं, एवं पूर्वापर के अविरोधी होने से ये सब्यवहार के विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनार्थ व्यवहाराभास है; जैसे सौत्रान्तिक का जब या चेतन सभी पदार्थों को क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचार का क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना। तथा माध्यमिक का सर्वेश्वर्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहार में विसन्नादक होते हैं। जो भेदव्यवहार अमेद की अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनय की परिधि में आयागा, तथा जो अमेद का निराकरण करेगा वह दुर्व्यवहार—व्यवहाराभास कहलायागा।

ऋजुसूत्र-तदाभास—ऋजुसूत्र नय पदार्थ की एक क्षणरूप शुद्ध वर्तमानकालवर्ती अर्थपर्याय को विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टि में अमेद कोई वास्तविक नहीं है। चित्र-ज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानों का समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक दूसरे से विलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्याय से भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगों को मालूम नहीं होता। जैसे परस्पर में विभिन्न भी वृक्ष दूर से सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते हैं, ठीक इसी तरह अमेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नय की दृष्टि में एक या नित्य कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि भेद और अमेद का परस्पर में विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेद को मुख्यरूप से विषय करता है पर वह अमेद का प्रतिपक्ष नहीं करता। यदि अमेद का प्रतिपक्ष कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्व की तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेद का प्रतिभास होने से वस्तु में भेद की व्यवस्था है उसी तरह जब अमेद का भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अमेद दोनों ही सापेक्ष हैं। एक का लोप करने से दूसरे का लोप होना अवश्यम्भावी है।

सामान्य-विशेष में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योंकि—गुण गुणी से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणों की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेष में भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदि से विलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हो; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होने के कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवों से सर्वथा पृथक् है; तो उसकी अपने अवयवों में वृत्ति-सम्बन्ध मानने में अनेको दूषण आते हैं। यथा—अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में यदि पूर्णरूप से रहता है, तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होंगे। यदि एकदेश से रहेगा; तो जितने अवयव हैं अवयवी के उतने ही देश मानना होगा, उन देशों में भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देश से' इत्यादि विकल्प होने से अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्य का अपनी व्यक्तियों से सर्वथा भेद मानने पर, सत्तासम्बन्ध से पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियों को सत् माना जाय, या असत्? यदि वे असत् हैं; तो उनमें सत्तासम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविषाणादि में तो नहीं रहती। यदि वे सत् हैं, तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादि में सत्तासम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादि में भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् हैं उनमें किसी अन्य सत्ता के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह द्रव्य, गुण, कर्म को भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत् में अतिरिक्त सत्ता का समवाय मानना तो विलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोवादि जातियों को शाबले-यादि व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न मानने में अनेको दूषण आते हैं। यथा—जब एक गौ उत्पन्न हुई; तब उसमें गोत्व कहीं से आयगा? उत्पन्न होने के पहिले गोत्व उस देश में तो नहीं रह सकता; क्योंकि गोत्वसामान्य गोविशेष में ही रहता है गोशून्य देश में नहीं। निष्क्रिय होने से गोत्व अन्य देश से आ नहीं सकता। यदि अन्य देश से आवे भी, तो पूर्वपिण्ड को एकदेश से छोड़ेगा या विलकुल ही छोड़ देगा? निरंश होने के कारण एकदेश से पूर्वपिण्ड को छोड़ना युक्तिसंगत नहीं है। यदि गोत्व पूर्णरूप से पूर्व गोपिण्ड को छोड़कर नूतन गौ में आता है, तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमें गोव्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि गोत्व-सामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियों की तरह अरवादिव्यक्तियों में भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवी के सम्बन्ध में एक बड़ी विचित्र बात यह है कि—संसार तो यह मानता है कि पट में तन्तु, वृक्ष में शाखा तथा गौ में सींग रहते हैं, पर 'तन्तुओं में पट, शाखाओं में वृक्ष तथा सींग में गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अतः गुण आदि का गुणी आदि से कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है। कथञ्चित्तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि—गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नहीं है।

क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समय में नहीं। समभिरूढ नय उस समय क्रिया हो या न हो, पर अतीत अनागत क्रिया या उस क्रिया की योग्यता होने के कारण तच्छब्द का प्रयोग मान लेता है। पर एवम्भूत नय क्रिया की मौजूदगी में ही तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। इस नय की दृष्टि से जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करने की अवस्था में कारक नहीं कहा जा सकता। क्रियामेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न मानना एवम्भूताभास है।

इन नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होने से सत् असत् दोनों को विषय करता या इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रह नय उससे सूक्ष्म एवं अल्प-विषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रह नय से सद्भिरोपग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकाखर्वती सद्भिरोपग्राही व्यवहारनय से वर्तमानकालीन सद्भिरोप-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दमेद होने पर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्र से कालादिमेद से शब्द-मेद मानकर भिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायमेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाले शब्दनय से पर्यायवाची शब्दों के मेद से अर्थमेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियामेद से अर्थमेद नहीं माननेवाले सम-भिरूढ से क्रियामेद होने पर अर्थमेदग्राही एवम्भूत परमसूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक होता है।

§ ४. निक्षेपनिरूपण-

निक्षेप-अखण्ड एव अनिर्वचनीय वस्तु को व्यवहार में लाने के लिए उसमें मेद कल्पना करने को निक्षेप कहते हैं। व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूप से तीन प्रकार का होता है। शब्दात्मक व्यवहार के लिए ही वस्तु का देवदत्त आदि नाम रखा जाता है। अतः शब्दव्यवहार के निर्वाह के लिए नाम निक्षेप की सार्थकता है। ज्ञानात्मक-व्यवहार के लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहार के लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक है। शब्द का प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तों की अपेक्षा से होता है। जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तों की अपेक्षा न करके इच्छानुसार संज्ञा रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी बालक की गजराज संज्ञा मात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्व-जाति, गज के गुण, गजकी क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्र में स्थापना करना सद्भाव या तदा-कार स्थापना कहलाती है। तथा भिन्न आकारवाली वस्तु में स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरंज के मुहरों में घोड़े आदि की स्थापना। भविष्यत्कालीन राजपर्याय की योग्यता के कारण या बीती हुई राजपर्याय का निमित्त लेकर वर्तमान में किसी को राजा कहना द्रव्य निक्षेप है। तत्पर्यायप्राप्त वस्तु में तत्-व्यवहार को भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजा को ही राजा कहना।

है। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्य को विना जाने भेदों को नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्र से बाहिर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादि में प्रवृत्ति करे या बाह्य नीलादि अचेतन पदार्थों में, वह सद्रूप से अभेदाश को विषय करता ही है। सप्रहनय की इस अभेददृष्टि से सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्ध की भेद दृष्टि है। जिसमें अभेद को कल्पनात्मक कहकर वस्तु में कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टि के कारण ही बौद्ध अवयवी, रथूल, नित्य आदि अभेददृष्टि के विषयभूत पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानते। निस्वार्थ कालिक-अभेद के आधार पर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलाश दैशिक-अभेद के आधार से माने जाते जाते हैं; जब एक वस्तु अनेक अवयवों में कथञ्चिदादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलता में भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि-बौद्ध सर्वथा भेदात्मक खलङ्गण का जैसा वर्णन करते हैं वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञान का विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारों में युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्य को अपनी क्रम से होनेवाली पर्यायों में व्याप्त होने में क्या बाधा है? इसी अनादिनिधन द्रव्य की अपेक्षा से वस्तुओं में अभेदाश की प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थ में कार्य-कारणभाव सिद्ध न होने के कारण अर्थक्रिया की तो बात ही नहीं करनी चाहिये। 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह नियम तो पदार्थ को एकक्षणस्थायी माननेवालों के मत में स्वप्न की ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थ के सत्ताक्षण में ही यदि कार्य की सत्ता स्वीकार की जाय; तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जायेंगे और इस तरह वे कार्य-कारणभाव को असंभव बना देंगे। यदि कारणभूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणमँगवाद कहाँ रहा? क्योंकि कारणक्षण की सत्ता कम से कम दो क्षण मानना पड़ी। इस तरह कार्यकारणभाव के अभाव से जब क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया ही नहीं बनती तब उसकी सत्ता की आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नहीं होता तब प्रमाण का विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमत में कारण अपने देश में रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्य को व्यवस्थितरूप से उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न निष्प पदार्थ भी अपने समय में रहकर कार्य को कार्यकाल में ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेद को असत् क्यों माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारों में, गुणी गुणों में तथा अवयवी अपने अवयवों में व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायों को भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टि से पर्यायों में कोई भेद नहीं है। इसी तरह सन्मात्र की दृष्टि से समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टि से पदार्थों

प्रथम भंग में खद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भंग में परद्रव्य क्षेत्र काल भाव से नास्तित्व की विवक्षा होती है। यदि वस्तु में खद्रव्यादि की अपेक्षा से अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि पर का नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु सांकर्य हो जायगा; क्योंकि घट में पटका नास्तित्व न रहने के कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मालूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करने से मालूम हो जाता है कि ये दोनों एक दूसरे से फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योंकि इनकी प्रवृत्ति की अपेक्षाएँ भिन्न भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तु को कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तु के सभी धर्मों का या विवक्षित दो धर्मों का युगपत् प्रधान भाव से कथन कर सके। अतः कहने की अशक्ति होने के कारण वस्तु अवक्तव्य है। वस्तुतः पदार्थ स्वरूप से ही अनिर्वचनीय है और पदार्थ की उसी स्वरूपनिष्ठ अनिर्वच्यता का द्योतन यह अवक्तव्य नाम का तीसरा भंग करता है। सकेत के बल पर ऐसे किसी शब्द की कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मों का भी एकरससे कथन कर सकता हो। अतः यह भङ्ग वस्तु के मौलिक वचनानीत पूर्णरूप का द्योतन करता है।

चौथा अस्ति-नास्ति भग-दोनों धर्मों की क्रम से विवक्षा होने पर बनता है। क्रम से यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये। अर्थात् प्रथम समय में अस्ति की विवक्षा तथा दूसरे समय में नास्ति की विवक्षा हो और दोनों समयों की विवक्षा को मोटी दृष्टि से देखने पर इस तृतीय भंग का उदय होता है। और यह क्रम से अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

पंचवें अस्ति-अवक्तव्य भग-अस्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनों समय की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति-अवक्तव्य भग माना जाता है। यह क्रम से अस्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

छठवें नास्ति-अवक्तव्य भग-नास्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में। अर्थात् प्रथम समय में नास्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनों समयों की विवक्षाओं पर व्यापकदृष्टि रखने पर नास्ति-अवक्तव्य भग की प्रवृत्ति होती है। यह क्रम से नास्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

सातवें अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभग-अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा, दूसरे समय में नास्तित्व की विवक्षा से अस्तिनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा तीनों समयों की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति नास्ति-

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा सख्या के भेद से शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थों को ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्राय से अतीत अनागत एव वर्तमान-कालीन क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधन में प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेद से प्रयोग में आनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक् पृथक् है। इसकी दृष्टि से भिन्नकालीन, भिन्न-कारकनिष्पन्न, भिन्नलिङ्गक एव भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेद से अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्तना-परिणामन करनेवाला तथा स्वतः परिणामनशील द्रव्यों के परिणामन में सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष्य द्रव्य और शक्ति को कारक नहीं कहते, किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्य को कारक कहते हैं। लिंग चिह्न को कहते हैं। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादि की उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनों सामर्थ्य न हो वह नपुंसक कहा जाता है। कालादि के ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थ में ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्री के मिलने पर षट्कारकरूप से परिणामन कर सकती है। कालादिभेद से एक द्रव्य की नाना पर्याये हो सकती हैं। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तु में ऐसा परिणामन नहीं हो सकता; क्योंकि—सर्वथा नित्य में उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिक में स्थायि नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होने से विभिन्न कारकों में निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग आदि की व्यवस्था भी एकान्त पक्ष में नहीं हो सकती। इस तरह कालादि के भेद से अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दों का प्रयोग मानना है। कालादि भेद से शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढ—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक संख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अर्थ में भेद मानता है। इस नय के अभिप्राय से एक लिंगवाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की विभिन्नता होने से विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त शासन-क्रिया, इन्द्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पूर्वारण्य-क्रिया है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओं के वाचक हैं। शब्दनय में एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नय में विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होने से एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दों की दृष्टि से अर्थ में भेद नहीं मानना समभिरूढाभास है।

एवम्भूतनय—क्रिया के भेद से भी अर्थभेद माननेवाला एवम्भूतनय है। यह नय क्रियाकाल में ही तत्क्रियानिमित्तक शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-

विकलादेश—नय एक धर्म का मुख्यतया कथन करता है। जैसे 'ज्ञो जीवः' कहने से जीव के ज्ञानगुण का मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूप से उसीके गर्भ में प्रतिभासित होंगे। एक धर्म का मुख्यतया बोध कराने के कारण ही यह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता जाता है। नय में भी स्यात् पद का प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि—शेषधर्मों की गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव का अखण्डभावसे बोध कराता है, अतः यह सकलादेशवाक्य है। 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यतया कथन होता है अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेश में धर्मिवाचक शब्दके साथ एवकार का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मिवाचक शब्द के साथ।

अकलकदेव ने राजवार्तिक में दोनो वाक्यों का 'स्यादस्त्येव जीवः' यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि—जहाँ अस्ति शब्द के द्वारा सारी वस्तु समग्रभाव से पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्ति के द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एव शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनो वाक्यों में यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेश में सभी धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेश में एक ही धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि—'जब सकलादेश का प्रत्येक भग समग्र वस्तु का ग्रहण करता है तब सकलादेश के सातों भगों में परस्पर भेद क्या हुआ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि सभी धर्मों में पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भग में अस्तित्व धर्म के द्वारा तथा स्यान्नास्ति भग में नास्तित्व धर्म के द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि—जहाँ अस्ति शब्द का प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोग ही की मुख्यता है धर्म की नहीं। शेषधर्मों की गौणता का तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलकदेव ने सातों ही भगों को सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भगों को एकधर्मवाली वस्तु को ग्रहण करने के कारण विकलादेश तथा शेष भगों को अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करने के कारण सकलादेश कहते हैं।

मलयगिरि आचार्य की दृष्टि से सब ही नय मिथ्यारूप है। इनका कहना है कि—यदि नयवाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्द के द्वारा सूचित अनन्तधर्मों के ग्राहक हो जाने के कारण प्रमाणरूप ही हो जायेंगे। अतः प्रमाणवाक्य में ही स्याच्छब्द का प्रयोग उनके मत से ठीक है नय वाक्य में नहीं। इसी आशय से उन्होंने अकलक के मत की समालोचना की है। उपा० यशोविजयजी ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि—मात्र स्यात् पद के प्रयोगसे ही नयवाक्य में प्रमाणाता नहीं

अप्रस्तुत अर्थका निराकरण, प्रस्तुत अर्थ का प्ररूपण एवं संशयविनाशन के लिए निक्षेप की सार्थकता है। अभ्युत्पन्न श्रोता की अपेक्षा अप्रस्तुत का निराकरण करने के लिए, व्युत्पन्न की अपेक्षा यदि वह संशयित है तो संशयविनाश के लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थ के प्ररूपण के लिए निक्षेप की सार्थकता है।

§ ५. सप्तमङ्गीनिरूपण-

सप्तमङ्गी-प्रश्न के अनुसार वस्तु में प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेध की कल्पना को सप्तमङ्गी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तमङ्गी में मूल भग तो तीन ही हैं, बाकी भंग संयोगज है। आगम ग्रन्थों में 'सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अन्नत्त्वा' रूप से तीन ही भगो का निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में हमें सात भगो के दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टि का उद्देश परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय करना है। वस्तुतः विरोध तो दो में ही होता है जैसे निस्त्व का अनित्यत्व से, भेद का अभेद से इत्यादि। अतः पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मों के समन्वय करने की ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तु में रह सकते हैं अतः वस्तु अनेकान्तात्मक एव अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तु की वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तु का अखण्ड-आत्मरूप शब्दों का विषय नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तु के पूर्ण वर्णन करने में असमर्थ होने पर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इससमय भी वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की सीमा तक नहीं पहुँच पाता। लिहाजा कोशिश करने पर भी अन्त में उसे अवक्तव्य कहता है। शब्द में वस्तुतः इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह समग्रवस्तु का पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्व का उपनिषदों में 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करने वाला अपनी तथा शब्द की असामर्थ्य पर खीज उठता है और अन्त में बरबस कह उठता है कि- 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसके वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति वचन तथा मन भी नहीं कर सकते अतः वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थिति के अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भंग हो सकते हैं। आगे के भंग तो वस्तुतः कोई स्वतन्त्र भंग नहीं है। कार्मिक भगजाल की तरह द्विसंयोगीरूप से तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भग का 'व्याविर्भाव इध्या तथा सप्तमभग का त्रिसंयोगी के रूप में। तीन मूल भगो के अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते हैं। कहीं कहीं अवक्तव्य भग का नवर तीसरा है और कहीं उभय भंग का। वस्तुतः अवक्तव्य मूल भग है। अतः उसीका नवर तीसरा होना चाहिये।

खडन करते हुए 'तदाह' करके समन्तभद्र की 'घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोत्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति' इन तीन कारिकाओं के बीच में कुमारिल की "न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना दुःखम् । स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तस्माद्भस्तु त्रयात्मकम् ॥" यह कारिका भी उद्धृत की है । इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारों का प्रहार भेदाभेदात्मक अंश में साख्य के साथ ही साथ जैन और जैमिनि पर समानरूप से होता था । उनका जैन के नाम से कुमारिल की कारिका को उद्धृत करना तथा समन्तभद्र की कारिका के ऊपर जैन के साथ जैमिनि का भी प्रयोग करना इस बात को स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टि में जैन और जैमिनि में भेदाभेदात्मक माननेवालों के रूप से भेद नहीं था । तत्त्व-संग्रहकार ने तो 'विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है ।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थ में एक साथ नहीं देखे गए हैं । शाकरभाष्य में विरोध और संशय इन दो दूषणों का स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रह में साकार्य दूषण भी दिया गया है । बाकी प्रमाणवार्तिक आदि में मुख्यरूप से विरोध दूषण ही दिया गया है । वस्तुतः समस्त दूषणों का मूल आधार तो विरोध ही है । हाँ, स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७३८) में नैयायिक की एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है—

“संशयविरोधवैयधिकरणसकरमथोमयं दोषः । अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः ॥”

इस कारिका में एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं । आठ दूषणों का परिहार भी सर्वप्रथम अकलङ्क ने ही किया है । उन्होंने लिखा है कि—जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रंगों को युगपत् धारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मों को धारण कर सकती है । इसी मेचकरत्न के दृष्टान्त से संशयादि दोषों का परिहार भी किया है । सामान्य-विशेष का दृष्टान्त भी इसी प्रसंग में दिया है—जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यरूप होकर भी जलादि से व्यावर्तक होने के कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपों को धारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं । प्रमाणसिद्ध वस्तु में विरोधादि दोषों को कोई स्थान ही नहीं है । जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेष में चलात्मक तथा अवयवविशेष की दृष्टि से अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरंग का तथा दूसरे देश में अन्य रंग का, एकदेशेन ठँका हुआ तथा अन्यदेश से अनाहत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देश से अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है । इति ।

स्याद्वाद महाविद्यालय काशी
दि० श्रावण शुक्ल ५, नागपंचमी
वोरनि० सं० २४६५. }

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.

अवक्तव्य भंग की सृष्टि होती है। यह क्रम से अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि—प्रत्येक भंग में अपने धर्म की मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मों की गौणता। इसी मुख्य-गौणभाव के सूचनार्थ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षा से वस्तु इस रूप है। इससे दूसरे धर्मों का निषेध नहीं किया जाता। प्रत्येक भंग की स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षता का सूचक 'स्यात्' शब्द होता है। सापेक्षता के इस सिद्धान्त को नहीं समझने वाले के लिए प्रत्येक भंग के साथ स्यात् शब्द के प्रयोग-का नियम है; क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोग किए बिना उन्हें सन्देह हो सकता है। पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोग का नियम नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोग के ही वे स्याच्छब्द के सापेक्षत्व अर्थ को बुद्धिगत कर सकते हैं। अथवा स्पष्टता के लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए। जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदों में से किसी एक का प्रयोग करने से दूसरे का मतलब निकल आता है, पर स्पष्टता के लिए दोनों का प्रयोग किया जाता है। संसार में समझदारों की अपेक्षा कमसमझ या नासमझों की संख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अतः सर्वत्र स्यात् शब्द का प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन भंग परमत की अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैतवादियों का सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्य में वचन की प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धों का अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है; क्योंकि शब्द के द्वारा मात्र अन्य का अपोह करने से किसी विधिरूप वस्तु का बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिक के स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य-विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य—शब्द के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों को स्वतन्त्र मानने से उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती और न वंसी हालत में कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन भंगों का प्रयोग दो दृष्टियों से होता है—१ सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्द से भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रनायरूप होती है। २ विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्द से कहते हैं। एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ को ग्रहण करता है, जैसे 'जीवः' कहने से ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्तत्व-असंख्यातप्रदेशित आदि साधारणासाधारण-वर्मशाली जीव का समग्र भाव से ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी वर्म एकरूप से गृहीत होने हैं अतः यहाँ गौण-मुख्यविभवा अन्तर्लीन हो जाती है।

विज्ञान-गुण-अवयवविदूषान्तेन द्रव्यस्य		मगलाचरणम्, प्रमाणनयनिकोपनिस्त-	
क्रमाक्रमवर्तिपर्यायव्युत्पत्तिसाधनम्	१२ २९.	पणप्रतिज्ञा च	१८
सग्रहं सम्नात्र विषयीकरोति	१३ ४.	प्रमाणस्य स्वरूपम्	१८
ब्रह्मवाद सग्रहाभास	१३ ५	न्यासम्य स्वरूपम्	१८.
नैगमस्य लक्षणम्	१३ १०	नयम्य स्वरूपम्	१८
नैगमाभासस्य लक्षणम्	१३ ११	अचेननम्य न प्रामाण्यम्	१८
गुणगुण्यादीना न भेदैकान्त.	१३ १४	ज्ञानस्य नार्थजन्यता अपि तु	
सत्तातद्वता भेदैकान्तनिरास	१३ १९.	इन्द्रियानिन्द्रियजन्यम्	१८
भिन्नसत्तासमवायात् न सबसतो		ज्ञान स्वस्य अर्थकार्यता न वेत्ति	१८
सद्व्यवहार	१३ २१	अन्वयभ्यनिकेकाभावात् नाद्य कारणम्	१८
प्रामाण्य व्यवहारात्	१४. १.	अर्थस्य कारणत्वे सहायाद्यनुत्पत्तिप्रसंग	१८
शुद्धमशुद्धं द्रव्य पर्याय वा व्यवस्थानयता		अन इन्द्रियमनयो कारणम् अर्थो विषय	१९
प्रमाण भूयम्	१४ ३	सन्निकर्षोऽपि न प्रमाणम्	१९
साध्याभिमततत्त्वस्वरूपस्य नैगमाभासता	१४ ७	आलोकस्य न कारणता परिच्छेद्यत्वात्	१९
गुणाना परम रूपमित्यादिकारिकाया		आलोकामावेऽपि समीपज्ञान भवति	१९
क्षणनम्	१४ ९	नाचरण तिभिरादि परिच्छेद्यत्वात्	१९
स्वयमज्ञस्य न-ज्ञानसमवायात् अत्वम्	१४ १२	अयोपशमतारतम्येन ज्ञानस्य अभिभ्यक्ति	१९
व्यवहारनयस्य स्वरूपम्	१४ १७.	'नाकारण विषय' इत्यस्य निरास	१९
व्यवहाराभासस्य स्वरूपम्	१४ १८.	नार्थादय कारण विज्ञानस्य	२०
व्यवहार अर्थभिधानप्रत्ययात्मक	१४ १९	तज्जन्म-ताद्रूप-तद्वधवसितीना न	
अविसर्वादस्य लक्षणम्	१४ २१	प्रामाण्यहेतुता	२०
ऋजुसूत्रनयस्य स्वरूपम्	१४ २८.	नार्थजन्य ज्ञानम्	२०
सापेक्षस्य नयत्वम् निरपेक्षस्य दुर्नयत्वम्	१५. ३	नार्थसात्त्व्यभूज्ज्ञानम्	२०.
शब्दनयस्य लक्षणम्	१५. ७.	ज्ञान स्वहेतुत्वमेव परिच्छेदात्मकम्	२०
अभिरूढनयस्य स्वरूपम्	१५ ८	व्यवसायात्मक ज्ञानमेव आत्मार्य-	
द्वयभूतनयस्य लक्षणम्	१५ ८.	ग्राहकत्वात् प्रमाणम्	२०
कालकारकालिगभेदादर्धभेद	१५ १०	निरविकल्पस्य न प्रामाण्य नापि	
एवमभूतस्य लक्षणम्	१५ ११	विकल्पजनकता	२०
कुर्वत एव कारकत्वम्	१५ ११	प्रत्यक्षपरोक्षतया द्विधा प्रमाणम्	२१
विज्ञानस्य अनागतविषयत्वम्	१७ १४	प्रादेशिकप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१
स्मृते प्रामाण्यप्रदर्शनम्	१५ १८	अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१.
प्रतिभासभेदोऽपि एकार्थविषयत्वमविच्छेदम्	१५ २५	अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१.
अक्षज्ञानवत् शब्दाध्यज्ञानमपि अविषयवादि	१६ ३	सुनिश्चितासमवद्वाचकप्रमाणत्वात्	
अस्पष्टमपि शब्दज्ञानानुमानवत् प्रमाणम्	१६ ४	अतीन्द्रियप्रत्यक्षसिद्धि	२१
एकान्ते कालस्य वर्तनालक्षणत्वासायव	१६ १५	श्रुत परोक्ष प्रमाणम्	२१
एकान्ते पदकारक्यसमव	१६ १७	अर्थापत्त्यादीना परोक्षेऽन्तर्भाव	२१
स्त्रीपुनपुसकशब्दाना व्युत्पत्ति	१६ १८	श्रुतस्य स्याद्वाद-नयसन्नितौ द्वौ उपयोगौ	२१
इन्द्रशक्रपुरन्दरशब्दाना व्युत्पत्ति	१६. २०	सकलादेश स्याद्वाद	२१
एकस्यापि अनेकसामग्रीसन्निपातात्		विकलादेशो नय	२१
षट्कारकौकल्पना	१६ २६.	स्याद्वादस्य निरूपणम्	२१
नयदुर्नययोर्लक्षणम्	१७. २.	स्याद्वादस्य प्रमाणत्वम्	२१.
प्रमाणस्य लक्षणम्	१७ ३.	साकल्यमनन्तधर्मोत्पत्तौ	२१
सर्कस्य प्रामाण्यप्रदर्शनम्	१७ ७	वैकल्पमेकान्त	२१.
स्मरणप्रत्यभिज्ञानुमानादीना प्रामाण्य-		नय सम्यगेकान्तरूप	२१.
प्रदर्शनम्	१७. ९	'स्याज्जीव एव' इत्यत्र अनेकान्तविषय	२१.
अन्तिममगलम्	१७. १२	स्याच्छब्द	२१.
		'स्यादस्यैव जीव' इत्यत्र एकान्त-	
		विषय स्याच्छब्द	२१.
		अप्रयुक्तोऽपि स्यात्कारः अर्थादेव प्रतीयते	२१.

इति प्रमाणनयप्रवेशः ।

आ सकती, क्योंकि प्रमाण में तो अनन्तधर्मों का मुख्यतया ग्रहण होता है जब कि सुनय में स्याच्छब्द-सूचित वाक्की धर्म गौण रहते हैं आदि। अतः समन्तमद्र सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि—सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

संज्ञयादि दूषण—अनेकाल्मक वस्तु में सशयादि दूषणों के शिकार जैन ही नहीं बने किन्तु इतर लोग भी हुए हैं। जैन की तरह पातञ्जलमहाभाष्य में वस्तु को उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्य में परिणाम का लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि—‘अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः’ अर्थात् स्थिर द्रव्य की एक अवस्था का नाश होना तथा दूसरी का उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्य में ‘सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य’ प्रयोग करके अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता भी द्योतित की है। मद्भक्तुमारिल ने मीमांसारलोकवार्तिक में अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकता का इतर-दूषणों का परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होने समन्तमद्र की “घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिव्ययम्” (आसमी० का० ५.९) जैसी—
“वर्धमानकमगेन रुचकः क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिरचाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्भस्तु त्रयात्मकम् ।” इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्ट-रूप से वस्तु के त्रयात्मकत्व का समर्थन किया है। भास्कराचार्य ने भास्करभाष्य में ब्रह्म से अवस्थाओं का भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तार से किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, वर्मवर्मि आदि में कथञ्चित् भेदाभेद का समर्थन करते हैं। साध्य के मत से प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूप से परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्य में ‘त्रैलोक्य व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति त्रिनाशप्रतिषेधात्’ लिखकर वस्तु की नित्या-नित्यात्मकता द्योतित की है। इस सक्षिप्त यादी से इतना ध्यान में आजाता है कि जैन की तरह कुमारिलादि मीमांसक तथा साध्य भेदाभेदवादी एव नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालों में हम सबसे प्राचीन वादरायण आचार्य को कह सकते हैं। उन्होने ब्रह्मसूत्र में ‘नैकस्मिन्नसमवात्’—एक में अनेकता असमव है—लिखकर सामान्यरूप से एकानेकवादियों का खंडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों में धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में साध्य के भेदाभेद में विरोध उद्भावन करके ‘एतेनैव यदहीकाः’ आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्ति का मुख्य आक्षेप साध्य के ऊपर है तथा उन्हीं दोषों का उपसंहार जैनका खंडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकता का खंडन करते हैं वहाँ ‘एतेन जैनजैमिनीयैः यदुक्तम्’ आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनि के ऊपर एक ही साथ प्रहार करते हैं। एक स्थान पर तो ‘तदुक्त जैनजैमिनीयैः’ लिखकर समन्तमद्र की आसमीभासा का ‘सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे’ यह कारिकाश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बर का

आत्मा तत्कालेऽविद्यमानोऽपि तद्वस्तु प्रत्येतुल्यम्	४५. ४१	अवयवावयविनोः समवायवृत्तेः संज्ञनम् 'दूषे वाक्षा' इति प्रतीतिवलात् तयोस्ता- वात्ममेव न समवायः	४३ १०३. ४४. १०४.
प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिवर्षनादपि असदर्थज्ञानसम्भव	३५ ४४	परमाण्वतिरिक्त-अवयवविस्वीकारे गौरवा- विन्यादादयोऽनेके दोषा	४४ १०५
भ्रान्तौ स्वप्ने वा सत एव केष-कामिन्यादे प्रतिभास इति शकाया निरास	३६. ४६	केवलम् भेदकल्पनयैव अवयव-अवयवि- इत्यादिभेदव्यवहारो न तु वस्तुत	४४ ११०.
स्वप्ने भ्रन्त शरीरव्यतिरया कामिन्यादे सत्त्वं न बहिरवस्थिततया इति प्रज्ञाकरा- शकाया निरास	३६. ४७.	द्रव्यस्य लक्षणम्	४४ १११
अद्वयवादनिरास	३६ ५०.	गुणपर्याययोर्लक्षणम्	४४ १११.
विभ्रमवादनिरास	३६. ५१.	गुणपर्याययो भेददर्शनम्	४५ ११२.
संविद्धैतवादनिरास	३७ ५६	द्रव्यस्य लक्षण व्युत्पत्तिवच	४५ ११३.
असदर्थविषयत्वेऽपि सर्वज्ञानाना यत्रार्थीक्रिया- प्राप्त्या परितोप तदेव तत्त्वसिद्धिनिबन्धन यथा मणिप्रभायाम मणिज्ञानम् इत्याशकानिरास	३८ ६१	भेदज्ञानात् प्राशुभावात्पर्यायो. भभेद- ज्ञानाच्च स्थिते. सिद्धि	४५. ११४
स्वाशामात्रावलम्बित्वे विकल्पाना न ततो व्यवहारसिद्धि	३८ ६४.	सतो लक्षणम्	४५ ११५
विचारसाफल्यमिच्छद्भिः विकल्प अर्थ- क्रियाकारिबहिरर्थविषयकोऽभ्युगन्तव्यः	३८ ६५.	नूवोत्तरपर्याययो तादात्म्यम्	४५ ११६.
सन्नानान्तरविकल्पस्य बहिरर्थविषयत्वमन्त- रेण न तत्सिद्धि	३८. ६५.	सकल वस्तु प्रत्यक्षत एव उत्पादादित्र- यात्मकप्रतीयते	४५ ११६
बहि सदेव विष मरणप्रयोजक न तु विषज्ञानम्	३९ ६९	सर्ववृष्टान्तोनापि त्रयात्मकत्वम्	४५ ११७
वितथाकारविज्ञापितमात्रवादनिरास. संवेदानाद्वैतप्राक्रियया ब्रह्माद्वैतसिद्धि- प्रसञ्जनम्	४०. ७५	सामान्यविशेषयो. स्वल्पम्	४५. ११८.
विज्ञानवादनिरासः	४० ७८.	सहस्रमविवाचित्वगुणै एक स्वलक्षणम्	४५. ११८
सन्नानान्तरविकल्पस्य बहिरर्थविषयत्व- प्राशयनम्	४१ ८२	परिणामस्य लक्षणम्	४६ १२१.
सहोपलम्भनियमादर्थज्ञानयोरभेदस्य निराकरणम्	४१ ८३	वस्तुन परिणामलक्षणत्व एकात्मिका- त्मकत्वञ्च	४६. १२१.
कल्पिताद्वैतौन साध्यसिद्धि अतो हेतु बहिर्विषयकोऽभ्युपेय	४१ ८४.	एकत्र अनेकधर्मसद्भावे न कौपि विरोधः	४६. १२२.
रक्तारकतादिविरुद्धधर्मप्रसञ्जनेन वीदस्य अवयविनिरासाशका	४१ ८७	अन्वयव्यतिरेकयोर्लक्षणम्	४६. १२४.
तदाशकापरिहारपरस्पर बहिरर्थसिद्धि विभ्रमज्ञानदृष्टान्तोने अनेकान्तासिद्धिमुपहसतो बीदस्य परिहारः	४२. ८८	प्रत्यक्षेतराभ्यामेव भेदाभेदप्रकल्पनम्	४६. १२४
विभ्रमादिवादपरिहार-अनेकतात्मकार्य- मिद्धयोः संहार	४२. ९०.	उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थनम्	४६. १२४
विभ्रमज्ञानवादनिरासः	४२. ९१.	भिन्नाभिन्नात्मकत्वसमर्थनम्	४६ १२६
वासनाभेदात् बहिरर्थाभेदकल्पनानिरास	४२. ९६.	प्रत्यक्षपरिणामत्वसमर्थनम्	४७ १२८.
सन्निवेशादिभिर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वं साधयन्त नैयायिक प्रतिक्षिपता बोधाना तद्दृष्ट्या- न्तेनैव बाह्यार्थसिद्धिप्रवर्धनम्	४३. ९८	सन्नानसमुदायादयोऽपि क्रमाक्रमानेका- न्त एव सुषट्वा	४७ १२९
परमाण्वरूपं बहिरर्थं मन्यमानाना सौभा- न्तिकाना प्रतिकोष.	४३. १०२.	प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणप्रत्यक्षाभ्यामति- रिक्तत्वप्रदर्शनम्	४७ १२९
अवयवव्यतिरिक्तावयवविवादिना योगाना प्रतिकोष.	४३. १०२.	शब्दादावपि प्रत्यभिज्ञान सुषट्म्	४७ १३१.
		शब्दादावदृष्ट्यापि उपादान सिद्धयति व्यावृत्तिर्भेदात् भेदकल्पनाया निरास.	४७ १३२. ४७ १३३. ४८ १३५
		बोधाना विपरीतकल्पनाया निवर्धनम् न प्रत्यक्षत अत्यासन्नाससुषट्परमाणूना प्रतिभास.	४८ १३६. ४८ १४०
		अत द्रव्यपर्याययोर्न अत्यन्ताभेदभेदी न निराससामान्यस्य अनेकत्र समवाया- विसम्बन्धात् वृत्ति	४८. १४१
		विजातीयव्यावृत्त्यात्मकतामान्यस्य निरास.	४८. १४३. ४९ १४४.
		विभिन्ना सामान्यविशेषादयो न सन्ति अत उभयात्मक तत्त्वम्	४९. १४५
		न स्थूलादिक समुत्पा कल्प्यम्	४९ १४७.
		निरसो वस्तुनि सर्वात्मतया ग्रहणप्रसंग	४९. १४७.

अकलंकयन्त्रयस्य विषयानुक्रमः ।

§ १. लघीयत्रयस्य विषयानुक्रमः

मगलश्लोक	१ ३.
कष्टकशुद्धि	१ ६.
प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	१. १२
मुख्यसव्यवहारतया द्विधा विभाग	१. १२.
परोक्षस्य लक्षणम्	१. १३.
सन्निकृपदिरजानस्य प्रामाण्य निरस्य	
ज्ञानस्यैव प्रामाण्यसमर्पणम्	१. १४.
वैशद्यवैशद्ययोरलक्षणम्	२. ६
साव्यवहारिकस्य लक्षणम्	२. ८.
मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	२ ८.
मुख्यप्रत्यक्षस्य सिद्धि	२ ९
मुख्यप्रत्यक्षाधिपयकसंशयस्य निरसनम्	२. १३
भवग्रहस्य लक्षणम्	३. १९, २१.
ईहाया. लक्षणम्	२. २०, २५.
भवायास्य लक्षणम्	२. २०, २६.
विषयस्य स्वरूपम्	२. २१.
द्रव्येन्द्रियस्य लक्षणम्	२. २२.
भावेन्द्रियस्य स्वरूपम्	२. २२.
लघ्वीन्द्रियस्य लक्षणम्	२. २३.
उपयोगस्य लक्षणम्	२ २३
सम्पन्नदर्शनमेव भवग्रहरूपतया परिणमति	२. २४.
धारणाया लक्षणम्	२. २८, ३ १.
ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम्	३ १.
नृत्वादिस्मरणे अष्टचत्वारिंशद्विभाग	३ ५.
पूर्वपूर्वस्य प्रमाणन्वमूत्तरोत्तरस्य फलत्वम्	३ ६
प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तावात्म्यम-	
भिन्नविषयत्वञ्च	३ १८.
अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वम्	३ २३.
नित्यक्षणिकपक्षयोः क्रमाक्रमाभ्याम् अर्थ-	
क्रियानिरसनम्	४. ३.
अभेदपक्षेऽपि विक्रियाविक्रिययोः न विरोधः	६. ९
चित्रज्ञानादिबुद्ध्यान्तेन तत्त्वस्य उत्पादव्यय-	
श्रीव्यात्मकत्व द्रव्यपर्यायात्मकत्वञ्च	४. १४.
परोक्षस्य स्मृत्यादिरूपेण विभागः	४. २३.
प्रत्यक्षादिना व्यतिरग्रहणासम्भवात्	
सद्ग्रहणी सर्वं प्रमाणम्	५. ६
अनुमानस्य लक्षणम्	५ १४.
अनुमानस्य फल हानादिबुद्धयः	५. १५.
कार्यस्वभावातिरिक्तस्य छायादे कारणभूतस्य	
छायादे. अतिरिक्तहेतुत्वसमर्पणम्	५. १७.
जलचन्द्रादीना कार्यस्वभावातिरिक्तहेतुत्वम्	५ २०

पूर्वोत्तरचरहेत्वो समर्पणम्	५ २३.
भद्रस्यानुपलब्धेरपि गमकत्वम्	६. ५.
स्थूलस्यैकस्यैव दर्शने न तु क्षणभगादे.	६ १०.
निरक्षतत्त्वसाधक प्रत्यक्ष स्वभावहेतुः	
कार्यहेतुत्व न सम्भवति	६. १७.
विकल्पदुद्धिर्न स्वत सिद्धपथि नापि परत.	६ २६.
उपमानस्य प्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भाव-	
उपमानस्य पृथक् प्रमाणत्वे सापेक्षिकस्य	७. ६.
प्रतियोगिकस्य च प्रत्यभिज्ञानस्य	
पृथक् प्रमाणत्वप्रसंगः स्यात्	७. १४.
तैमिरादिके द्विचन्द्राविज्ञान कषाञ्चिदेव	
प्रमाणाभास न सर्वथा	८ ८
सन्निकल्पकज्ञानमपि प्रत्यक्षात्मकमेव	८. १६.
निविकल्पकमेव प्रत्यक्षात्मम्	८. २०.
विषादेतरविकल्पयोर्न विषयनेदेकान्तः	८ २१.
कल्पना अपि प्रतिसंविदितोत्पात्ति-	
व्ययात्मका एव	९ १.
अत प्रत्यक्षपरोक्षयो. व्यवहारप-	
विषयादात् प्रामाण्यम्	९. ७.
श्रुतज्ञानं हीनान्तरादिबहिर्बन्धु प्रमाण	
न वक्त्रभिप्रायमात्रे	९. १२
नवचिद्धपथिचारात्न श्रुतज्ञानस्य	
अप्रमाणतकान्त	९ १९.
आप्तोक्तिहेतुबादयो. बहिरर्थोक्तिहेतुचये	
सत्येतरव्यवस्थाभाव	९ २८.
चिन्ताभिप्रायतया वाचोर्ज्यव्यभिचारित्वे	
अग्निशिखापादावपि व्यभिचार स्यात्	१०. ७
नयतुर्नययोरलक्षणम्	१०. २३
ज्ञातुरभिप्रायस्य नयत्वम्	१० २६
द्रव्याधिकपर्यायाधिकतया विभाग.	१०. २६.
द्रव्याधिकस्य व्युत्पत्ति.	११. १.
जीवाजीवाद्यः सदन्तर्लीना	११. ५
सग्रहस्य शुद्धद्रव्यविषयत्वम्	११. १०
प्रत्यक्षस्य बहिर्पक्षश्च सद्द्रव्यग्राहकता	११. १८.
एकक्षणिकज्ञानदुष्टान्तेन द्रव्यस्य सदसदा-	
त्मकत्वप्रसाधनम्	११. २४.
कथञ्चित् क्षणिक एव अर्थक्रिया	१२. ५.
क्षणभगे न कार्यकारणभावसिद्धिः	१२. ६.
अक्षणिकेऽपि अर्थक्रिया न सिद्धा	१२. २३.
क्षणिकत्वलक्षणदुष्टान्तेन अक्षणिक-	
स्यापि कार्यकारिताप्रसाधनम्	१२. २४.

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाब्. काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माब्. काश्च पक्षिसूचका विज्ञेयाः ।

गुणगुणिनीः वास्तवस्वैकत्वस्याभावे पृथक्त्वमप्युपचरितं स्यात्	६१. २३४.	अनेकान्तात्मनि तु सत्त्व प्रतीतिसिद्धम् निरक्षरमाणुरूपस्य अवयविरूपस्य वा	७०. २९७.
ज्ञानस्य जीवच्छरीरभवेत्त्वमपि न सम्भवति	६२. २३५.	अर्थस्य न प्रमाणात्ः प्रतीतिः	७०. २९८.
देहज्ञानयोः गुणगुणिभावान्तरास भवस्य लक्षणम्	६२. २३७.	यद्यपि अनेकान्तात्माऽर्थं समर्थः तथापि अपेक्षातः सहकारिकारणापेक्षा भवति	७०. २९९.
कायो न चैतन्यस्य कारणमात्रम् नापि कायः परिणामिकारणम्	६२. २४१.	परिणामाभावे कारणादुत्पत्तिदुर्घटा अन्यानपेक्षात्वे हेतुः न विनाशप्रसाध-	७०. ३०१.
ससारवैचित्र्यं कर्मवैचित्र्यात् इन्द्रियाणां सह प्रत्येकं वा न	६२. २४२.	कमपि तु परिणामप्रसाधकम्	७०. ३०२.
चैतन्यकारणता	६२. २४८.	मेदाभेदात्मनोऽर्थस्य स्वस्वरूपतया - प्रमाणात्ः लोकतत्त्व प्रतीतिः	७१. ३०३.
जातिस्मरणादिहेतुभ्यः पृथगात्मसिद्धिः 'धर्मगतस्वविशेषादभिलाषादयम्' इति	६३. २४९.	सत्त्व हेतुः न क्षणिकत्वादिप्रसाधकम् अन्यथानुपपत्तिविरहात्	७१. ३०४.
भूतस्य निरास	६४. २५१.	स्थूलाद्याकारो नारोपितः किन्तु वास्तव- 'क्षणकः क्षणिकात्मानः स्पष्टावसासिनः'	७१. ३०५.
रामादिदर्शनादपि पृथगात्मसद्भाव बुद्धेः पुरुषधर्मत्वे चार्थकिण उद्भाविताना दोषाणां परिहारः	६४. २५४.	इति बौद्धमतस्मोपहासः	७१. ३१०.
बौद्धमतज्ञानप्रवाहस्य आत्मत्वनिरास बौद्धमते कार्यकारणप्रवाहात्मक.	६५. २५७.	विकल्पबुद्धौ यत्प्रतिभाति स्थूलादिरूप तत्रैव वस्तुस्वरूपम्	७२. ३११.
ज्ञानसन्तान एव न सम्भवति ग्रन्थयिद्धव्याभावे सन्तानकल्पनाप्य-	६५. २६२.	ज्ञानस्य स्वपरिनिर्णयात्मकत्वेऽपि न प्रतिज्ञापरिणामादेः साकर्म्यं	७२. ३१३.
समाख्या एव	६६. २६४.	अप्रत्यक्षाणामपि क्षणपरिणामाधीना प्रमाणान्तरेण प्रतिभासः	७२. ३१४.
कार्यकारणयोः सर्वथा भेदनिरासः	६६. २६७.	ज्ञानं स्वरूपवत् परमपि प्रकाशयति	७३. ३१५.
साधनस्य लक्षणम्	६६. २६९.	चित्रज्ञानस्यापि क्षणिकस्य अप्रतिभासनात्	७३. ३१७.
साधनाभासस्य लक्षणम्	६६. २७०.	जीव भनाकृतः सन् सर्वार्थग्राही भवति जीवे न सद्ब्रह्मपरिणारोप्यते अत्यभिज्ञानम्	७३. ३१९.
चलाचलादिविद्वेषभाष्यासप्तभवाद्ने- कान्तात्मक तत्त्वम्	६७. २७१.	अपि तु एकत्वात्	७३. ३२०.
सप्तभाष्यादपि न चलादिप्रपदेशसंभव- अनेकान्तात्मकतत्त्वाभावे सकल-	६७. २७२.	नैक्यस्यैव न पुरस्सरम् अन्यथानुपपत्ति- रूपस्यैकलक्षणस्य उपसहारः	७४. ३२३.
व्यवहाराराधभावः	६७. २७३.	अनुमानान् हेतुसम्बन्धप्रतिपत्तिः	७४. ३२५.
अचेतनस्यापि स्कन्धात्मन एव सप्रदेशस्य दर्शनम् न निरर्थक्यं	६७. २७६.	अनलघूमाधोः वास्तव एव कार्यकारण- भावः	७४. ३२६.
चित्रज्ञानदृष्टान्तेन स्कन्धस्य सिद्धिः स्कन्धापेक्षया एकत्वेऽपि भागानां	६८. २७९.	अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षानुपलम्बाम्या प्रतीयते	७४. ३२७.
दर्शनादर्शनीस्थितिनं विद्वदां	६८. २८०.	व्याप्यव्यापकभावादिसम्बन्धावपातिः तर्कस्थिप्रमाणात्	७४. ३२८.
स्कन्धस्य तादात्म्यमेव सम्बन्ध- स्कन्ध-रूपादिगुणानामभेद एव	६८. २८३.	तर्कस्य प्रामाण्यसमर्थनम्	७४. ३३०.
न तु रूपादिभ्यो भिन्न इति	६८. २८५.	तर्कस्य श्रुतज्ञानोत्पत्तिः	७४. ३३१.
स्कन्धस्यैकत्वेऽपि एकेन्द्रियेण तद्ग्रहणे नेन्द्रियान्तरस्य वैफल्यम्	६९. २८७.	श्रुतज्ञानस्य बहुभेदत्वसमर्थनम् अनुपलम्ब्यहेतोः समर्थनम्	७५. ३३२.
प्रमेयत्वं हेतुः अनेकान्तात्मकवस्तुसत्त्व- साधन एव साधुः	६९. २८८.	दृश्यानुपलम्बस्य अन्यथानुपपत्तिबलादेव गमकत्वम्	७५. ३३६.
अभावोऽपि प्रमेयम्	६९. २८९.	अनुपलब्धेः प्रपच	७५. ३३७.
भावान्तरभेद अभावः न तु तुच्छरूपः अनिदृष्टान्तेन भावस्यैव अभावात्म-	६९. २९१.	तादात्म्यतद्भूत्वस्य भावेऽपि तुलाना- मरसाधीना हेतुत्वसमर्थनम्	७५. ३३८.
कत्वप्रदर्शनम्	६९. २९२.	'पात्रकेसरिस्वामिनापि हेतोः नैविध्यनियमः प्रतिपिद्धः' इति प्रदर्शनम्	७६. ३४०.
प्रमेयत्वस्य गमकत्वे अविनाभाव एव निवन्धनम्	६९. २९४.	पूर्वचरहेतोः समर्थनम्	७६. ३४१.
सत्त्वं हेतुः परिणामप्रसाधकम्	७०. २९६.	हेत्वाभासविवेचनम्	७६. ३४२.
संभूतिसिद्धमपि सत्त्वं क्षणिके न संभवति	७०. २९६.	सत्त्वाद्यो न क्षणिके नित्ये वा गमका अपि तु परिणामे एव	७६. ३४४.

विधिनिषेधानुवादातिदेशादिधान्येषु स्वाहाद् विना न प्रस्तुतार्थसिद्धिः.	२२. ५.
वर्णपदवाक्यानामर्थवाचकत्वम्	२२ १०.
शब्दस्य षडन्वयप्रियायवाचित्वनिरास	२२ १५
अभिप्रेतव्यभिचारित्त्वमपि शब्दस्य	२२ १६
नैगमादयो नया. श्रुतभेदा.	२२ २४
नया द्रव्यपर्यायमूला	२२ २५.
नहि मतिभेदानया.	२२. २८
नापि मनोमतिभेदा नया	२३ १
मूलनयी द्रव्यपर्यायाधिकी	२३ २
द्रव्यमेकान्वयात्मकम्	२३. २.
तदतत्परिणामित्वादेकत्वम्	२३ ३
सदृशपरिणामात्मकत्वादन्वयि	२३ ३.
पर्याय पृथक्त्व व्यतिरेकत्व	२३. ८.
पृथक्त्वस्य स्वरूपम्	२३ ८
व्यतिरेकस्य स्वरूपम्	२३ ९.
व्यवहार-निवृत्तयपर्याययो स्वरूपम्	२३ १०
न नैगमस्य प्रमाणता	२३ १८
नैगमस्य स्वरूपम्	२३ २१.
नैगमानासस्य स्वरूपम्	२३. २१, २४.
धर्मधर्मिणो गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे	२३ २६
सप्रहादी एकाविवक्षा	२३. २६
सप्रह्वनयस्य स्वरूपम्	२४ १, ३.
ब्रह्मवाद- सप्रहाभास.	२४ २, ३
व्यवहारनय-तदाभासयो स्वरूपम्	२४. ६.
ऋजुसुख-तदाभासयो स्वरूपम्	२४ १५
नैगमादयश्चत्वारोऽर्थनया.	२४. २३.
शब्दादयस्त्रयोऽर्थनया	२४ २४.
शब्दनयस्य स्वरूपम्	२४ २५.
शक्तिरदनयस्य स्वरूपम्	२४. २६

शकटोदयादीना भविष्यद्विषयकत्वनिर्णयेन 'दुद्धेरकारण विषय.' इत्यस्य निरास	२५ १
शब्दज्ञान विवक्षाव्यतिरिक्तार्थप्राप्ति	२५ ५
कालस्य लक्षणम्	२५ ६
कारकस्य लक्षणम्	२५ ७.
लिंगस्य लक्षणम्	२५. ७
पर्यायभेदादप्यर्थभेद.	२५. ८
क्रियाभेदादर्थभेदः	२५ ८
वर्णपदवाक्यव्याप्तादक शास्त्रमवितथम्	२५ ११.
निरपेक्षत्व-सापेक्षत्वयोर्लक्षणम्	२५. १४
श्रुतार्थमधिगम्य नये. परीक्ष्य निकोपे. न्यस्य अनुयोगी अनुयुज्य सम्यग्दर्शनादित्रय प्राप्य भोक्षप्राप्तिः	२५ १८
श्रुतमनादि सादि च	२५ २६
प्रमाणस्य स्वरूपम्	२५. २६
नयस्य स्वरूपम्	२५ २६
न्यासस्य स्वरूपम्	२५ २९.
नामस्थापनाद्व्यभावरूपेण चतुर्धा निकोप	२५ २९.
नामनिकोपस्य लक्षण तदनेकत्वञ्च	२६. १
स्थापनाया लक्षणम्	२६ २.
द्रव्यनिकोपस्य लक्षणम्	२६ ३.
भावनिकोपस्य लक्षणम्	२६. ३.
निकोपस्य फलम्	२६. ४.
मौलसुखस्य स्वरूपम् तत्प्राप्त्युपायाश्च	२६. ७
नैयायिकादिकल्पितमोक्षस्य निरास	२६ १०
धारीदारिकं न ज्ञानावरणादिरूपम्	२६ ११
शास्त्राध्ययनस्य फलम्	२६. १४.
जिनैश्वर्यपदप्राप्त्युपाय.	२६ २२

इति प्रवचनप्रवेश ।

§ २. न्यायविनिश्चयस्य विषयानुक्रमः

मगलश्लोक	२९ १
न्यायविनिश्चयकरणप्रतिज्ञा	२९ २.
प्रत्यक्षलक्षणम्	२९ ३
इन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	२९. ४
एकस्मिन् विषये समक्षेतरमम्बलव	३० ५
न धर्मिणापवत्त्व विकल्पस्य लक्षणम्	३० ७
चक्षुःपदिवद्विद्विना व्यवसायात्पकत्वम्	३०. ८
अर्थज्ञाने सत एव नीलादिस्पूलरूपस्य प्रतिभासः	३०. ९, १०
परोक्षज्ञानवादनिरास.	३१ ११
ज्ञानस्य स्वसंवेदनसिद्धि	३१ १३.
सुखादय स्वसंवेद्या	३१ १५.
विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादयो लिंगा न अम्बसंविदितज्ञानस्यानुनापका	३१. १७

अनिह्यदार्थपरिच्छेदान्न ज्ञानस्य सिद्धिः	३१ १८
ज्ञानान्तरेवेद्यज्ञानवादनिरास.	३२. १९
अनेतनज्ञानवादनिरास	३२ २५.
प्रतिविम्बवादनिग्रहणम्	३२. २६.
साकारज्ञानवादनिरास	३३. २८.
अतीतस्य न आकारार्पकता	३३ ३२
अत स्वहेतोरिव बुद्धे प्रकाशानियमो न प्रतिविम्बत	३३ ३३
आत्मा सत्यासत्यज्ञानाभ्या वह्निरर्थमेव यथार्थतरतया अदलोक्ते	३४ ३७
विषयज्ञानतज्ज्ञानविवेकोऽपि शक्तिनियमादेव	३४ ३८.
अर्थज्ञानस्मृती अर्थस्मरणे ज्योतिर्मनस्का- रादिभि अतिप्रमगस्य परिह्वार	३४ ३९
परिच्छेदशक्तिनियमादेव विषयप्रति- नियमो नाकारादिधारितया	३४ ३९.

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाका. पृष्ठमूचका सूक्ष्माकाश्च श्लोकमस्यासूचका ज्ञेया ।

आश्विनवन्धसमधप्रकारः	८९. ४४२.	ज्योतिर्ज्ञानाद्युपदेशकत्वादपि	
तत्त्वज्ञानात् कर्मसवरनिर्णयप्रकारः	८९. ४४३.	सर्वज्ञत्वसिद्धिः	९२. ४६६.
दोषाया स्वरूपम्	८९. ४४५.	शास्त्रप्रणयन तद्विषयानुपदेशाणिगान-	
नैरात्म्यभावनाती न किञ्चित्फलम्	८९. ४४५.	नन्वव्यतिरेकाविसर्वादित्त्वविशेषण-	
नैरात्म्यभावनाया न भागित्व न च		विशिष्टमेव सर्वज्ञत्वप्रसाधकम्	९२. ४६७.
तत्र मीश्यादिसंभावना	८९. ४४६.	न सुगतादीना शास्त्रप्रणेतृत्वम्	९२. ४६८.
जैनमते तु सम्यग्दर्शनादिव्यु प्रभोदादे'		शास्त्रमपि सर्वज्ञपूर्वकतया	
संभवात्	८९. ४४७.	प्रमाण न अपीक्ष्येयम्	९२. ४६८.
सुगतस्य न कश्चादित्तभयः	८९. ४४८.	प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणविभागः	९२. ४६९.
जैनमते मोक्षस्य स्वरूपम्	८९. ४४९.	स्मरणप्राप्ताभ्युपदेशनम्	९२. ४७०.
एकान्तनित्यत्वेऽपि न मोक्षस्य संभावना	८९. ४५०.	तर्कस्य प्रामाण्यसमर्थनम्	९२. ४७१.
सप्तभगिस्वरूपनिरूपणम्	९०. ४५१.	नैयायिकपरिकल्पितोपमानस्य लक्षणम्	९२. ४७२.
सप्तभगाना क्रमनिरूपणम्	९०. ४५२.	यद्युपमानस्य पृथक् प्रामाण्यं तदा	
स्यात्प्रयोजनसाफल्यप्रदर्शनम्	९०. ४५३.	अनेकथा प्रमाणानि स्युः	९३. ४७२.
प्रतीतिार्थस्यापि स्यात्प्रयोजनः		स्मरणादिक श्रुतज्ञानेऽन्तर्भूतम्	९३. ४७३.
लोकव्यवहारानुसारेण कर्तव्यः	९०. ४५४.	सम्प्रदायाविच्छेदाद्योगस्य प्रामाण्यम्	९३. ४७४.
स्यात्कारार्थं मन्वसतीनु प्रति-		मतिज्ञानादीना प्रत्यक्षपरोक्षतया	
स्यात्प्रयोजनः सफल एव	९०. ४५६.	प्रविभागः	९३. ४७४.
स्याद्वादे सहायादिदोषप्रसंगपरिहार-	९१. ४५८.	मतिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्व लोकव्यवहारोपेक्षया	९३. ४७४.
जैनाय एव प्रमाणम्	९१. ४६०.	स्याद्वाक्यं प्रमाणम्	९३. ४७५.
सर्वज्ञत्वादिगुणाभावे न		प्रमाणस्य साक्षात्स्मरणया च	
भागमप्राप्त्याय संभावना	९१. ४६२.	फलनिरूपणम्	९३. ४७६.
गुणाधीनमेव प्रवचनस्य प्रामाण्यम्	९१. ४६३.	नयाना विवरण नयचक्रवर्त्ये द्रष्टव्यम्	९३. ४७७.
प्रवचनस्य प्रामाण्ये सर्वज्ञत्वसिद्धिः	९१. ४६४.	प्रवचनस्य प्रयोजनप्रदर्शनम्	९३. ४७८.
ज्ञ स्वभावस्यात्मनो ज्ञानवरणपरिहारे		केवलज्ञानार्थमेव स्याद्वाक्य उपास्य इति	
सार्थक्यं संतुल्यते	९१. ४६६.	केवलज्ञानस्वरूपनिरूपणम्	९४. ४७९.
		शासनाराधनाया. फलनिरूपणम्	९४. ४८०.

३. प्रमाणासंग्रहस्य विषयानुक्रमः

महालाचरणम्	९७. १.	प्रत्यक्षानुपलम्भतः तर्कसमुद्भूतिः	१००. ५.
प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणाना संग्रहः	९७. ४.	प्रत्यक्षानुमानाभ्या न व्युत्पत्तिग्रह	१००. ९.
प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	९७. ५.	उत्पत्तिमत्ता न नित्य निमित्तम्	१००. १७.
प्रत्यक्षस्य त्रिधा विभागः	९७. ५.	व्यवयिनो वृत्तिविकल्पादिदोष-	
श्रुतस्य प्रत्यक्षानुमानाद्यनिमित्तकतया		प्रदर्शनम्	१००. २६.
त्रैविध्यम्	९७. ६.	श्रुतस्य लक्षणम्	१०१. ३.
अर्थानुकारिणो ज्ञानस्य न प्रामाण्यम्	९७. ९.	विश्वकामो वाचोवृत्तिस्वीकार कुतर्क	१०१. ४.
चक्षुरादिज्ञानस्य सामान्यविशेषात्म-		विज्ञानगुणदोषाभ्या वाचवृत्ति	
कार्यविषयत्वम्	९७. १८.	गुणदोषवर्ती भवति	१०१. ७.
ज्ञान सदर्थनियतम्	९८. ९.	शरीरस्यैव न गुणदोषकारणम्	१०१. ९.
प्रमाणस्य तत्त्वार्थनिर्णय. फलम्	९८. ९.	दोषावरणमोरपि न वाचोवृत्ता	१०१. १०.
भतीन्द्रियज्ञानाभावे न प्रवचनस्य		परोक्षेऽपि अत्रिनामाचसिद्धि	१०१. १६.
प्रमाणता	९८. २५.	तर्कस्य प्रामाण्यप्रसाधनम्	१०१. १९.
मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	९९. ११.	'नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्त मानम्'	
अर्थसंबन्धात् स्मृति प्रमाणम्	९९. १५.	इत्यस्य अक्षयम्	१०१. २४.
प्रत्यभिज्ञापि प्रमाणम्	९९. २०.	साध्यस्य लक्षणम्	१०२. १.
तर्कस्य लक्षणम्	१००. ५.	साध्याभासस्य लक्षणम्	१०२. २.

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाका. पुष्टसख्यावोधका. सूक्ष्माकाश्च पक्षितस्यसूचका विज्ञेया ।

विषयानुक्रमः

वस्तु दृश्येतरात्मकम्, अत 'दृष्टस्य भावस्य दृष्ट सक्रमो गुण' इति धर्मकीर्तिमतस्य प्रतिकीर्षे	४९	१४९
'कल्पनापोढं प्रक्षमम्' इति लक्षणस्य निरासः	४९	१५०.
अनेकान्तात्मनो वस्तुन उपसंहार वैधौषिकादिकल्पितस्य नित्यसर्वगत- निरक्षसामान्यस्य निरास	४९.	१५०.
सामान्यविशेषात्मकवस्तुन उपसंहार बौद्धपरिकल्पितनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य निरास	५०.	१५१.
विकल्पजननादपि न निर्विकल्पस्य प्रामाण्यम्	५०.	१५३
बौद्धपरिकल्पितमानसप्रत्यक्षस्य निरास शान्त भद्रकल्पितमानसप्रत्यक्षलक्षणस्य निरास	५०.	१५३
अनेकमनसा क्रमाक्रमोत्पत्तौ प्रति- सन्ध्यभावप्रदर्शनम्	५१	१५५
धर्मोत्तरकल्पितमानसप्रत्यक्षलक्षणस्य प्रतिकीर्षे	५१	१५६
स्वसवेदनप्रत्यक्षानि उकारणम् योगिप्रत्यक्षस्य खण्डनम् सात्यकल्पितश्रोत्रादिवृत्तिरूप- प्रत्यक्षस्य निरासः	५१	१५७
नैयायिककल्पितसन्निकर्षात्मिक- प्रत्यक्षस्य निरास	५१	१५८
नैयायिकस्य काश्चित् विरुद्धेष्ट्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणम् बौद्धमते तत्तत्रोपदेशस्य संभावनेव नास्ति	५१	१५९.

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।

अनुमानस्य लक्षणम्	५२.	१७०
प्रत्यक्षवदनुमानमपि बहिः सदर्थविषयम् साध्यस्य लक्षणम्	५२.	१७१.
साध्याभासस्य लक्षणम्	५३	१७२.
सत्तापाथने असिद्धादिदोषत्रयस्य परिहार भाववर्गत्वे असिद्धत्वस्य परिहार	५३	१७३.
अपक्षधर्मोऽपि हेतु	५३	१७३.
सौत्रान्तिकं प्रति सत्तासाधनम् अद्वयस्यापि सत्ता सिद्धयति	५३	१७४.
अस्पष्टावभासित्वेऽपि प्रमाणमनुमान प्रत्यक्षवत्	५३	१७५.
अनुमानमपि स्वलक्षणविषयमेव वस्तुञ्चैव प्रतिबन्धपरिज्ञानात् अनुमा- नस्य साफल्यम्	५४.	१७६.
सत्तासामान्यस्य विशेषात् कथञ्चिद्- भेदाभेदो	५४.	१७६.
सामान्यस्य कथञ्चित्सम्बन्धासम्बन्धौ नैयायिककल्पिते सामान्ये दोषप्रदर्शनम्	५४.	१७७.

सदृशपरिणामलक्षणसामान्यादेव अनुगतप्रत्ययादिक सम्बन्त्	५५
सर्वथा भेदाभेदपक्षयोः नानेकोपायिसम्भव उपाधितद्वतो कथञ्चिद्भेदाभेदो	५५
निरक्षवस्तुवादे मकलग्रहणप्रसंगः	५५
विशेषाणाभानन्त्यात् न तत्र सम्बन्धग्रहण- सम्भवो यतोऽनुमानम्	५५
सौगतस्य अन्यापोहात्मकसामान्येऽपि न सम्बन्धग्रह	५५
अपोहे दोषप्रदर्शनम्	५५
वासनाजन्यविकल्पतोऽपि न अपोहप्रति- पत्ति संभाव्या	५५
सदृशासदृशात्मकं सन्	५५
सदृशपरिणामात्मके सामान्य एव सकेतग्रहात् शब्दव्यवहार	५६.
वस्तुन. सदृशासदृशात्मकत्वममर्थनम् सादृश्याभावे विभ्रमज्ञानस्याहेतु- क्त्वापत्ति	५६
वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वस्योपसंहारः	५६.
अभेदगब्धेन सदृशपरिणाम एव गृह्यते गब्धस्य अर्थासिक्तित्वे सर्वं शाब्द ज्ञान प्रमाण स्यात्	५७
विवक्षाधाकत्वै गब्धस्य सत्यासत्य- विभागाभावः	५७
अप एव सकेतो न ज्ञानाकारेण स्वमतेन सकेतप्रवृत्तिप्रकारः	५८
भेद-सामान्य-तद्वस्तु न सकेतः	५८
एकत्व-सादृश्यनिबन्धनः सकेतः सकेतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारः	५८
मेचकादिवत् एकत्रापि अनेकधर्म- सदृशावे न विरोधः	५८
सामान्याभावोऽपि सदृशपरिणामात् तन्निमित्तकः व्यवहारः सुषुप्तः	५९
सदृशपरिणामस्यानेकत्वैः सकेतवशा- देकरूपतया व्यवहारः	५९
द्विधा प्रत्यभिज्ञा, एकत्वनिबन्धना सादृश्यनिबन्धना च	५९
प्रचानास्तित्वसाधने हेत्वभाव एव सुसुप्तावस्थायामपि उपयोगात्मक एव आत्मा विद्यते	५९.
आत्मेव कर्मणा कर्ता तत्कलस्य च भोक्ता संसारी मुक्तवच	६०.
भूतचैतन्यवादिनिरासः	६०.
जैननये गुणव्यवहारप्रकारः	६०.
गुणगुणिनाः भेदाभेदात्मकत्वम् न शरीरगुणः चैतन्यम्	६०
वैधौषिकनिरूपितस्य पृथक्-गुणपदार्थस्य निरासः	६१.
आकारभेदादपि न गुणिनः पृथग्गुणाः	६१

११६

अकलङ्कग्रन्थत्रयस्य

सप्तमगीस्वरूपम्
शब्दार्थयोर्नित्य. सम्बन्ध
सख्याकालकारकलिगतः शब्देषु भेद.
आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्य
नयचक्रतो ज्ञेयम्

१२२ १६.
१२४ ७.
१२४ २०
१२५ २७

नैयमादिनयसप्तकस्य स्वरूपम्
प्रमाणनयनिकोपाणा स्वरूपम्
ज्ञान प्रमाण न शब्दादि
कपिलादिसिद्धान्तो नय

१२६
१२७ २
१२७. ४
१२७ १७



अन्वयस्य लक्षणम्	७६ ३४६.
क्षणिकत्वसाधनाय प्रयुक्ता. सत्त्व-कृत- कृत्वादयो हेतवो विरुद्धा.	७६. ३४८.
सर्वज्ञाभावसाधने वचनादयोर्जैकान्तिकाः	७६. ३४९.
त्रैलोक्याद्गमकत्वे तु वचनादीना सङ्केतुता स्यात्	७७ ३४९.
व्यापकविरुद्धोपलब्ध्यादिनापि तद्वाधा भ्रतो वचनादयोऽन्यथानुपपत्तिवैकल्यादेव भ्रमकाः	७७. ३५३
विवक्षामन्तरेणापि वचनप्रवृत्तिः भवति विज्ञानहेतुकमेव वचन न विवक्षाहेतुकम् सत्यामपि विवक्षया सत्यहितवचन- विवक्षा निर्दोषैव	७७ ३५४. ७७ ३५६.
सर्वज्ञवक्तृकवचनाना यथार्थतैव पुरुषत्वादीनामपि सर्वज्ञत्वेन न विरोध, अतस्तेऽपि सर्वज्ञाभावसाधने भ्रनैकान्तिका एव	७७. ३५६. ७८. ३५७
सद्यारिण्या तु ज्ञानावरणवशान्न सर्वप्रकाशसामर्थ्यम्	७८. ३६१
परदुःखपरिहानेऽपि न सर्वज्ञस्य दुःखित्वम्	७८ ३६४
अभिद्वहेत्वाभासविवेचनम्	७८ ३६५
विरुद्धासिद्धसन्निवृत्ताकिञ्चित्कारादिभेद- बहुधा असिद्धहेत्वामास	७९. ३६५
क्षणिकत्वसाधने सत्त्वाधिक्यसिद्धम्	७९. ३६७
शब्दस्य भेदाभेदात्मकत्वसमर्थनम्	७९ ३६८
पुद्गलपरमाणूना परिणामभूत- शब्द.	७९ ३६९
भौतिकचित्करहेत्वाभासविचार दूषणाभास (जाति) लक्षणम्	७९ ३७०. ७९ ३७१
धमकीतिसमुद्भासितदध्युप्यादेरेकत्व- प्रसङ्गस्य दूषणाभासता	७९ ३७२
भ्रतो भेदाभेदात्मनि न कश्चिद्दोष साधर्म्यादिसमजातीनामकथने कारणम्	८० ३७३ ८० ३७६.
ज्येतरव्यवस्थानिश्चाराः	८० ३७७
धमकीतिकल्पितनिग्रहस्थानस्य खण्डनम्	८०. ३७९
दृष्टान्ताभासस्य विवेचनम्	८०. ३८०
दृष्टान्त विनापि साध्यसिद्धितो न तदनुद्भावन निग्रहस्थानम्	८०. ३८१
वादस्य लक्षणम्	८१. ३८३
निग्रहस्य स्वरूपम्	८१ ३८३
वादस्य लक्षणम्	८१ ३८४.
शास्त्रान्तर न नि श्रेयसनिवन्धन किन्तु जैनशास्त्रमेव	८१. ३८६.
इति द्वितीय अनुमानप्रस्तावः ।	
प्रवचनस्य स्वरूपम्	८१. ३८७
पुरुषासिधये यदि सद्यः कथं सुगतः सर्वज्ञत्वेनेष्टः ?	८२ ३८८.
सुगतावयः सदोपा एव	८२. ३९३.

सुगतस्य कृपापि न सभाव्या	८२. ३९३.
मिथ्याभावनातो न तत्त्वज्ञानसमुत्पत्तिः	८२. ३९४.
अनादिवासनापि न सभाव्या	८२ ३९५
आत्मदर्शनस्य सुधट्वान्न नैरात्म्यं साधु सुगतस्य कथयता स्थितिरपि न सभाव्या	८३. ३९६. ८३. ३९७.
वास्तविकसन्तानस्य मोक्षकथने आत्मन एव न नामान्तरेण कथितः स्यात्	८३ ३९८.
वेदोऽपि न मोक्षप्रतिपादकः	८३. ४००.
सार्वज्यज्ञाने सशयैकान्त भ्रसादौ चञ्चले कथमाववासाः ?	८३ ४०१.
आगम पीक्षये एव	८४. ४०५.
सर्वज्ञाभावसाधने स्व-सर्वाणुपलम्बी असिद्धानैकान्तिकी	८४. ४०६.
विप्रकृतार्थप्राप्ति ज्ञानमपि स्पष्ट भवति सत्यस्वप्नेक्षणिकादिज्ञानवत्	८४. ४०७.
आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि आवरणकर्म- वशात् सर्वे सर्वदर्शिन-	८४. ४०८.
आवरणविगमे तु सर्वार्थसाक्षात्कारिता भवत्येव	८४. ४१०.
निरावरणस्य केवलिनो न पुनः कर्मबन्ध. सर्वज्ञानस्य आगमपूर्वकत्वेऽपि नाम्योऽन्यथा	८४. ४११. ८५. ४१२.
ज्योतिर्ग्रहादिमातीना फलोपदेशकत्वादपि सर्वसाक्षात्कारित्वसिद्धिः	८५ ४१४.
अनुमेयत्वात् हेतोरपि सर्वज्ञसिद्धिः	८५ ४१५
न ग्रहादित्कलोपदेश- तत्साक्षात्कारि- त्वमन्तरेण केवल वेदात् सभाव्यः	८५ ४१६
अनादिसम्प्रादायैव वेदस्य यथार्थत्वनिर्णये अन्वपरम्भरा, म्लेच्छादिव्यवहारास्य च यथार्थत्वप्रसंगः	८५. ४१७.
वेदस्य अनादित्वे दोषप्रदर्शनम्	८६ ४१८
शब्दमात्रस्य नित्यत्वे दोषप्रदर्शनम्	८६ ४२२.
पुद्गलोपादानकत्वेऽपि शब्दस्य सूक्ष्मत्वान्न तदुपादानोपलब्धिव.	८६. ४२५
स एवाय शब्द इति प्रत्यभिज्ञान सादृश्यात् न त्वेकत्वात्	८६. ४२५
वर्णनस्य परार्थत्वादपि न नित्य शब्द.	८७. ४२८
शब्दस्य प्रामाण्यं न नित्यत्वात् किन्तु तदर्थवेदित्पुरुषपूर्वकत्वात्	८७ ४२९.
सकेतो हि व्यवहारानुसारेण बहुधा शब्दस्य न स्वतः सर्वार्थयोग्यता	८७. ४३०. ८७ ४३१.
सकेतानुसारेणैव अर्थप्रत्यायकत्व शब्दस्य सौगतमते न वर्णपदवाक्यव्यपदेशसम्ब. जैनमते तु परिणामी शब्द- श्रोत्रगीचर	८८. ४३२. ८८. ४३४
शब्दस्य अपीक्षयेत्येव दोषप्रदर्शनम्	८८ ४३६
पीक्षयेऽपि शब्द- सम्बन्धानाङ्कुणित एव सत्यार्थप्रतिपादक.	८८. ४३६.
सत्यस्य स्वरूपम्	८८ ४३७
मोक्षमार्गविषयभूताना जीवादिदत्त्वाना स्वरूपनिरूपणम्	८८. ४३८.



सदसदेकान्तयो न साध्यत्वम्	१०२. ५.	सर्वथा नित्ये सत्त्व हेतुविरुद्ध	१०७. २१.
नाघनस्य लक्षणम्	१०२ ९	विरुद्धस्य लक्षणम्	१०७. २३.
नित्यसर्वगतत्वभावसामान्यस्य न साध्यत्वम्	१०२. २०.	कौटस्थ्ये विक्रियाविरोधः	१०८. ४.
एकस्य चलाचलादिविरुद्धधर्माभ्या- सादनेकान्तात्मकता	१०२ २५.	अचलात्मनि प्राणादीना मत्त्व विरुद्धम्	१०८ १९.
सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि ससयादिदोषपरिहार-	१०३ ४	अचलात्मनि सन्निवेशादि विरुद्धम्	१०८. २३.
अभावस्य प्रमेयत्वं भावस्य च अप्रमेयत्व नास्ति	१०३ १९	अचलात्मनि चक्षुरादीना सत्त्वं विरुद्धम्	१०८. २७.
'एक चित्रम्' इति धमकीर्त्तं.		अचलात्मनि शब्दादीना सत्त्व विरुद्धम्	१०८. ३०.
प्राक्षेपस्य परिहारः	१०३. २८.	अचलात्मनि सुखादीना सत्त्वं विरुद्धम्	१०९. १.
सति अविनाभावे त्रैक्य निरर्थकम्	१०४ ३	सहोपलम्भनियम- विरुद्ध-	१०९. ३.
कृतिकोदयादिहेतूना त्रैक्याभावेऽपि गमकत्वम्	१०४ ५.	कर्तुरस्मरणादय. सन्निष्वा-	१०९. ६
कृतिकोदयादियु न कालादीना धर्मित्वम्	१०४ ५	अनैकान्तिकमेवा विविच्यतसन्निष्वावय.	१०९. ६
सात्मक जीवच्छरीर प्राणादिमत्त्वादित्य स्यापि गमकत्वम्	१०४. ६	वक्तृत्वादिति हेतु- अनैकान्तिक.	१०९. १३.
विद्यो साध्ये उपलब्धयः	१०४ १६	असिद्धहेत्वाभासस्वरूपणम्	१०९. २१
स्वभावोपलब्धिः	१०४. १९.	सहोपलम्भस्य लक्षणम्	१०९. २५.
स्वभावकार्यापलब्धिः	१०४. २१.	स्वसर्वोपलम्भयो. अनैकान्तिका- सिद्धत्वम्	११०. ३.
स्वभावकारणोपलब्धिः	१०४ २३	अकिञ्चित्करहेत्वाभासस्वरूपणम्	११०. ६.
सहचरोपलब्धिः	१०४. २५.	अज्ञातस्य हेत्वाभासस्य निदर्शनम्	११०. ९.
सहचरकार्योपलब्धिः	१०४ २६	सर्वथा नित्यैर्धर्मिक्याऽभावसमर्थनम्	११०. १८.
सहचरकारणोपलब्धिः	१०४ २८	विरुद्धाव्यभिचारिणो विरुद्धेऽन्तर्भाव वादस्य लक्षणम्	१११. ५.
असद्वयवहाराय अनुपलब्धयः.	१०५. १	संपदुष्टान्तोन भावस्य परिणामित्व- प्रमाणम्	११२ ११.
स्वभावानुपलब्धिः.	१०५. २	उत्पादादिप्रयात्मकत्वसमर्थनम्	११२ १५.
कार्यानुपलब्धिः	१०५ ४	उत्पादादियु विनाशादिमर्थनम्	११३ ५.
कारणानुपलब्धिः	१०५ ५	जन्पराजयव्यवस्था	११३. ६
स्वभावसहचरानुपलब्धिः	१०५. ८.	जातैर्लक्षणम्	११३ २२.
सहचरकार्यानुपलब्धिः	१०५. ९	अचलात्मनि सत्त्वादय. सिद्धसेन-देवनन्दि- कान्तिकात्मका	११३. २१.
सहचरकारणानुपलब्धिः	१०५ ११	स्वपरटपेण भावाभावात्मनत्वम्	११४. ६.
सद्बुद्धिनिषेधाय विरुद्धोपलब्धयः.	१०५ १६.	शून्यादीना जाड्यपहेतुत्वम्	११४ २२
स्वभावविरुद्धोपलब्धि-	१०५ १७	प्रतिज्ञाऽनाधनवादीनामह्लाकनिवन्ध- नत्वम्	११४. २६.
कार्यविरुद्धोपलब्धिः	१०५ १९.	निष्कन्धप्रत्यक्षणादिकस्य पशुत्वहेतुता	११४. २६
कारणविरुद्धोपलब्धिः	१०५ २०	प्रेम्भवावादीना विलोने श्लोकीकता	११४ २८
व्याप्यसिद्धि. व्यापकसाधिनी	१०५ २०	तामसहेतुत्वस्य आत्मविशेषस्य	११५ ३
व्यापकानुपलब्धि. व्याप्याभाव- प्रसाधिका	१०५. २५	प्राकृतहेतुत्वम् मस्कृतपदमाद्युत्पत्तिविचारस्य प्रवचनस्य लक्षणम्	११५ ३
स्वभावविरुद्धव्याप्योपलब्धयोः		पुरुषानिगयोऽज्ञेयचेत् नय तत्र मन्वेह	११६. १८.
व्यापकानुपलब्ध्यावन्तर्भाव	१०५ २७	श्रीपौरुषेय धास्य निरर्थकम्	११७ २.
स्वभावविरुद्धकार्यानुपलब्धयो कार्यानुपलम्भेऽन्तर्भाव	१०५ १८.	मलिनधर्मान् प्रज्ञानम्	११८. १६.
अन्तर्भावित्या हि गमकत्व न बहिर्दर्शना- दर्शनाभ्याम्	१०६ ५	श्रीत्र नाप्राप्यन्त्याः	११८ १६.
सर्वत्र न दृष्टान्तस्यावश्यकता	१०६ १०	तत्त्वज्ञानचारित्रयो मांसहेतुता	११९. १०
सर्वथा विभक्तवादी न युक्तः	१०६. १५.	चेतनस्य कर्मवन्दमिद्धि.	११९. २०.
अप्रत्यक्षोऽपि आत्मा मिद्धयति	१०७ ११.	दोषप्रभञ्ज मना.	११९. २८.
सहचरहेतो समर्थनम्	१०७ १५	मोहादियन्धन्वाद्ज्ञानादावः	१२०. २.
		पुद्गलद्रव्यमपि व्यावृत्तानुगमात्मकम्	१२१. १८.
		शरीरादिस्य चैनस्य पृथक्	१२१. २६.

श्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । § १) “नहि तत्त्वज्ञानमित्येव थयार्थनिर्यायसा-
धनम्” इत्यपरः; तेनापि तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्येत
वस्तुबलायाततदर्थान्तरस्यापि परम्परया तत्कारणतोपपत्तेः । तत्राऽज्ञानस्य प्रमाणता
अन्यत्रोपचारात् । ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ॥३॥

5 [§ ४. के पुनर्बुद्धेर्वैशद्यावैशद्ये यदुपेतत्वेन प्रत्यक्षेतरयोर्मेद. स्यादिति चेदुच्यते—]

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ ४ ॥

तत्र सांख्यवहारिकम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् ।
तदस्ति मुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञान-
10 रहितसकलपुरुषपरिपत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः । तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिद-
नुपलब्धेः स्वपुष्पवत् । नवै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्ववद्भृ-
त्वादेः रथ्यापुरुषवत् । पुरुपातिशयसम्भवे अतीन्द्रियार्थदर्शी किञ्च स्यात् ?
अत्राऽनुपलम्भप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाभावे कृतः प्रमाणयेत् अभेदात् ? साधक-
घाघकप्रमाणाभावात् तत्र संशीतिः इत्यनेन प्रत्युक्ता; वाधकस्यैवाऽसम्भवात् ।
15 सर्वत्र बौधकाभावेतराभ्यां भावाभावव्यवहारसिद्धिः, तत्संशयादेव सन्देहः । तत्
एवानुभवप्रामाण्यव्यवस्थापनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ४ ॥

[§ ५. ननु च इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य वर्त्तमानमात्रपर्यवसितत्वेन हेयोपादेयाऽवि-
षयत्वात् कथं संब्यवहारनियुक्तत्वमित्यारेकायामाह—]

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः ।

4 अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः ॥५॥

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः । विषयस्तावत् द्रव्यपर्या-
यात्मार्थः विषयिणो द्रव्य-भावेन्द्रियस्य । द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम् । लब्धुप-
योगौ भावेन्द्रियम् ! * अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः । उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः । †
अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम् । तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविक-
1; ल्पशुचरपरिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः । पुनः अवग्रहीतविशेषाकाङ्क्षणत् ईहा ।
तथेहितविशेषनिर्णयोऽवायः । कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषाऽद्भेदः ॥५॥

[§ ६. अवायानन्तरं धारणामुक्त्वा चतुर्विधमतिज्ञानमुपसहरन् कारिकार्थमाह—]

धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम् ।

१ कारिकेयं ज० प्रती नास्ति । २ तत्रा- ज० । ३ त्रयकभावे- ज० । ४ एतदन्तर्गत
पाठो नाम्नि ज० । ४ अवग्रहगृहीत- ई० ।

श्रीमद्भद्राकलङ्कदेवविरचितम्
[अकलंकग्रन्थत्रयम्]

—
स्वोपज्ञविवृतिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥

क्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः ; द्रव्यपर्यायात्म-
नोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात् । न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न संभवति; अपितु—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।

क्रमाक्रमान्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥८॥

- 5 'अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्' अङ्गीकृत्य स्वपक्षे पुनरर्थक्रियां स्वयमेव निरा-
कुर्वन् कथमनुमत्तः ? स्वभूतिमात्रमर्थक्रियां विपक्षेऽपि कथं निरस्येत्, मिथ्याव्य-
वहारं वा ? संवित्तेरभेदेऽपि विषयाकारस्यैव विषयसाधनत्वं नाकारान्तरस्य । ततः—

[§ ९. तस्माद् विषयाकारस्य विषयसाधनत्वात्—]

नाभेदेऽपि विरुद्धयेत् विक्रिया विक्रियैव वा ।

- 10 परमार्थैकत्वेऽपि मिथ्याव्यवहारभेदात् ज्ञानस्यानेकार्थक्रियाकारिणः प्रति-
भासाः परमार्थासंवेदिनः तत्त्वं भेदाभेदात्मकं साधयन्ति ।

[§ १०. एवं तावद् सौत्रान्तिकमतमनेकान्तान्तरीयकं प्रदर्श्य साम्प्रतं योगाचारमतं
तन्मान्तरीयकं प्रदर्शयन्नाह—]

मिथ्येतरात्मकं हृद्याहृद्यभेदेतरात्मकम् ॥९॥

- 15 चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।

चित्रनिर्मासिनः तत्त्वमविभागविज्ञानस्य दृश्यं यदि क्रमेणापि सदसदात्मकं
विवर्त्तत ततः सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकम् उत्पादव्ययध्रौव्यशुक्लं वस्तुतत्त्वमन्तर्बहिश्च
प्रमेयम् । एकान्तस्यानुपलब्धेः तदनेकान्तात्माऽर्थः इति ॥११॥

इति श्रीभट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? तृतीयस्कन्धे) परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमने-

- 20 कान्तनयेन द्रव्यव्यवस्थापन नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।



[§ ११. अथेदानीं परोक्षप्रमाणप्ररूपणायाह—]

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा (षा) भिनिबोधिकम् ॥१०॥

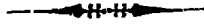
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

१ 'अविक्रियैव वा' इत्यपि पाठ न्यायकु० । २-गहान- न्यायकु० । ३ इति न्यायकुमुदचन्द्रे (?)
प्रमेयत्वकमप्रतिपादकः द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः । ई० । ४-बोधकम् ई० । -बोधनम् नु० लवी० ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

स्वोपज्ञविद्वतिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥



प्रमाणप्रवेशे प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।



[§ १. तत्र शास्त्रस्यादौ शब्दकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्नि-
ष्टदेवताविशेष नमस्करोति—]

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥

[§ २. सप्रमाणादिलक्षणवर्मनि कण्टकशुद्धयं निराकुर्वन्नाह—]

सन्नानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
नत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम् ।
सत्त्वार्थव्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः ,
स्यान्नित्यत्ववदेव नत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२॥

[§ ३. स्वमते प्रमाणादिलक्षणप्ररूपणार्थमिदमुपक्रमते ... अक्षुण्णसकलशास्त्रार्थ-]
सङ्ग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह—]

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥३॥

सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् । नैवै 'ज्ञानम्' इत्येव
प्रमाणम् अतिप्रसङ्गान्, संव्यवहारानुपयोगिनः संशयवैपर्यासकारणस्य अकि-

[§ १६. अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका नान्या संशयहेतुत्वात्' इति नियम निराकुर्वन्माह—]

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।

तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः ॥१५॥

- 5 अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचिन्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च; तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः परमार्थसतः क्षणमङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अमेदलक्षणस्यैव स्यात् ॥१५॥

[§ १७ ननु चामेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणमङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कानुपनोदार्थमाह—]

- 10 वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणमङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥१६॥

- स्फूर्त्यैकस्यै दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेर्विज्ञानाऽनंश-
तत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेरविभागज्ञानतत्त्वस्य वा ज्ञानुचित्त्वव्युत्पन्नत्वम् ।
15 तथैवाऽप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्त्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ॥१६॥

[§ १८. एवं परस्य अनुपलब्धि निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतु निराकुर्वन्माह—]

अनंशं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्त्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

- साक्षात्त्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसम्भवः स्वभा-
20 वधिप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्य-
क्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः, तदङ्गीकरणं
प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वं चानुपब्धेः कृतकत्वाद-
नित्यत्वं सिद्ध्येन्नान्यथा ॥१७॥

- [§ १९. यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धाया तत्कल्पितोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात्, न च
25 तत्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति—]

धीर्विकल्पाविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि; निश्चयस्यापि कस्यचित्

स्मृतिहेतुधरणा संस्कार इति यावत् । ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुभयं तदुपयोगविशेषात् ।

[§ ७. इदानीं स्वसंविदामपि ब्रह्मादिभेदमवग्रहादिकम् अवग्रहादीनाञ्च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वे फलत्रमुत्तरोत्तरस्य दर्शयन्नाह—]

ब्रह्माद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्स्वसंविदाम् ॥६॥

5

पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरात्तरम् ।

परमार्थैकसंविचेवैधवेदकाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायां क्षणभङ्गादेरपि प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत । ततः किम् ? गृहीतग्रहणात् संवृत्तिवत्तदनुमानं प्रमाणं न स्यात् । तदनयोः समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् संवृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं स्यात् । सर्वस्यैव निर्विकल्पकज्ञानस्य समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षिणः प्रामाण्यं न स्यात् ततः संव्यवहाराभावात् । अर्थक्रियार्थी हि प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेपते । रूपादिक्षणक्षयादिस्फुटप्रतिभासाविशेषात् खण्डशः प्रामाण्यं यदपेक्षं तदेव फलं युक्तम् । तच्चतैस्तत्कृतो न भवति, भावे वा निर्णीतिः अखण्डशः कृतो न भवेत् ? बहुबहुविधप्रानिस्तृताऽनुकृष्टवेतरविकल्पानामवग्रहादेः स्वभावभेदान्न विरैद्व्यते । प्रतिभासभेदेपि स्वभावभेदाभावकल्पनायां क्रमवृत्तिधर्माणामपि तथा भावात् कृतः क्रमः सुखदुःखादिभेदो वा परमार्थतः प्रतिष्ठापयेत् सहप्रतिभासवत् ? तदयमेकमनेकाकारं क्षणिकज्ञानं कृतश्चित्प्रत्यासत्तेः प्रतिभासभेदानामुपयन् क्रमवर्तिनामपि तथैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हति हर्षविषादादीनाम्, अतोऽनेकान्तसिद्धिः । प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् ॥६॥

इति भट्टकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्ये) प्रमाणप्रवेशः (शे) प्रथम. परिच्छेदः ॥ 2⁰



प्रमाणाप्रवेशे द्वितीयः प्रमेयपरिच्छेदः ।



[§ ८. समीचीनञ्च विषयः प्रमाणस्य यादृशो भवति तं दर्शयन् प्रकृतमर्थञ्चोपसंहरन्नाह—]

तद्द्रव्यपर्यायात्मार्यो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥७॥

भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिरनेकान्तात् । नान्तर्वहिर्वा स्वस्त-

१ 'प्रमाण' नास्ति ई० । २-तस्तत्ततो इत्यपि पाठ न्यायकु० । ३ विरहयेत् ज० । ४ क्रमभावेऽपि न्यायकु० । ५ इति प्रत्यक्षप्रतिपादक प्रथम. परिच्छेद. सम्पूर्णे. । ई० । ६ ज०, ई० प्रत्यो सन्धिवाक्येषु क्वचित् न्यायकुमुदचन्द्रस्य न्यायकुमुदचन्द्रोदयस्य वोल्लेख लघायस्त्रयव्याख्याभूतस्य प्रभाचन्द्रकृतन्यायकुमुदचन्द्रस्य भूमादेव जात । -सम्पा० ।

चिरनुमानात् प्रमाणान्तरं नवेति किञ्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् । तत्स-
मञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्सङ्ख्यानवस्थानात् ॥२१॥

इति श्रीमद्भद्राकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयकथे) परपरिकल्पितानु-
मानादिःशण्डने स्वमतपूर्णीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापने तृतीयः परिच्छेदः ॥



5

प्रमाणप्रवेशे चतुर्थः आगमपरिच्छेदः ।



[§ २३. अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभास न सर्वथेति
प्रदर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित्स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥२१॥

10

तैमिराद्युपसृष्टवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणम् यथा तत्सङ्ख्यादौ विसम्बा-
दकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तन्न चणत्वात् । नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति
तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरदृष्टिः
कृतस्य करणायोगात् ? तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः । तदस्य विसंवादोप्य-
वस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानाम् अविसम्वादकत्वात् ॥२२॥

15

[§ २४. साम्प्रतं कल्पनापदेन यत्परेण तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह—]

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशादार्यावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥२३॥

20

सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं
स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम् ।
प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवाऽस्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्य-
क्षामम् । न विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरार्थप्रत्यक्षाणाम्
एकार्थवियपतोपपत्तेः ॥२३॥

[§ २५. न हीमाः कल्पना अप्तिसविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनु-
पलक्षिताः स्युरिति । तद्दूषयन्नाह—]

† एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति ई० । † इति न्यायकुमुदचन्द्रे (?) परोक्षप्रमाणसख्यास्वरूपप्रति-
पावकः तृतीयोऽन्तर्गतः परिच्छेदः ॥४॥ ई० । २-हारव्यु- ई० ।

अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्य-
यमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः । प्राक्
शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ॥१०॥

[§ १२. ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाम्युपगमोऽनुपपन्नः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो
वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्का निराकुर्वन्नाह—]

5

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ॥११॥

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।

नहि प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे दंशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं
नार्थान्तरस्य' इतीर्यतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारक-
त्वात् । नाप्यनुमानान्तरम् ; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना
क्याप्तैरसिद्धौ कश्चित् किञ्चिदनुमानं नाम । § २) 'तत्राप्यचमनुमानव्यतिरिक्तं प्रमा-
णम्' इत्ययुक्तम् ; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ॥११॥

10

[§ १३. कीदृश तदनुमानमित्याह—]

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥१२॥

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिवुद्ध्यः ।

15'

नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण, ताभ्यां
विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । नचात्र विसं-
वादोऽस्ति ॥१२॥

[§ १४. अत्रैवायं दृष्टान्तान्तरमाह—]

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा ॥१३॥

20

नहि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ॥१३॥

[§ १५. अपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति—]

भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।

श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥१४॥

तदेतद्भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसङ्ख्यां प्रमाणसङ्ख्याञ्च प्रति- 25
रुणद्धि ॥१४॥

१ न प्रत्य- न्यायकु० । २-तियतो ज० । ३-नुमान- ई० । ४ व्याप्तिर- ज० ।
५-पत्तिर्कणं न्यायकु० । -पत्तिवित- ज० ।

नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वे' अर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्यभि-
चारैकान्तसम्भवात् । वाचोऽभिप्रायविसंवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयो-
आप्तेतरव्यवस्थां कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् § ३) "वक्तु-
रभिप्रेत तु वाचः सूचयन्त्यविशेषेण नार्थतत्त्वमपि" इति कथमविद्वलः ? ॥२८॥

5 [§ ३० अत्राह सौगतः-वक्तुरभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यं नास्ति, माभूत्, किञ्च
प्रमाणद्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात् इत्याशङ्क्याह-]

पुंसश्चित्राभिसन्धेच्छेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

कार्यं दृष्टं विजातीयात् शक्यं कारणभेदि किम् ॥२९॥

श्रुतेर्बहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रायानुविधा-
यिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेत् ; उक्तमत्र 'तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि
10 परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादेः' इति । अपि च वृक्षोऽयं शिक्षापात्वात् अधिरत्र धूमादिति
वा कथमाश्वासः क्वचिन्नताचूतादेरुपलब्धेः शिक्षापायाः स्वयमवृक्षत्वव्यविरोधात् ?
काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अज्ञानजन्मनः तदर्थान्तरजन्मनश्च साकल्येन
अग्निस्वभावाविरोधे पुनः 'अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः ?
15 यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् धूमादग्निरत्र इत्याश्वासः । कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या
परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः क्वचिदविसम्बादस्य
अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ॥२९॥

इति श्रीमद्भाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे (? लघीयलक्ष्ये) परोक्तागमखण्डने
खप्रणीतागमस्थापने चतुर्थः परिच्छेदः ॥

20 एवमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टय प्रमाणप्रवेश परिच्छेद समाप्त । न्यायकु० ।



२. द्वितीयो नयप्रवेशः ।



[§ ३१. अथ प्रमाण परीक्ष्येदानीं नयपरीक्षार्थमुपक्रमते-]

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये तेऽपेक्षानपेक्षान्तराभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥३०॥

25 द्रव्यपर्यायात्मकसुत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तुतत्त्वम्, तत्रैव कथ-
ञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । स द्रव्यार्थिकः, पर्याया-

१ सर्वान् ज० । २ कार्यदृष्टं ई० । ३ प्रमाणप्रवेश (वा.) प्रथम परिच्छेद. समाप्त । ई० ।
४ एते मू० लघी० ।

स्वत एवाऽनिश्चयात् । निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतः तत्संबन्धव्यवहार-
सिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदमिलापसंसर्गयोग्यायोग्यविनिर्भासैकज्ञानं प्रति-
पत्तव्यं स्वरूपवत् ॥१८॥

[§ २०. एव परं प्रति तर्कादिक प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तर-
त्वनियम विधुरयन्नाह—]

5

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥

प्रसिद्धार्थसाधर्म्यमन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव, ततः प्रतिपत्तिर-
न्यथा न युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे वृक्षोऽयमिति
ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् गवयोऽयमिति यथा गवयदर्शिनः, प्रसिद्धार्थसाध- 10
र्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्ति-
वत् । प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षुं तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम् ? हानो-
पादानोपेक्षाप्रतिपत्तिर्फलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ॥१९॥

[§ २१ तथा अपरमपि परस्य अनिष्ट प्रमाण दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥२०॥

15

आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन प्रमाणम-
प्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव । यथा एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामघानकमे-
तन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः । कश्चायं निश्चयः
संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः सङ्ख्यादिप्रतिपत्ति- 20
साधनमिति ? ॥२०॥

[§ २२. एतदेव दर्शयन्नाह—]

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशुः नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥२१॥

दृष्टेष्वर्थेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानम् अधरोत्तरादिज्ञानं 25
द्वित्वादिसङ्ख्याज्ञानम् अन्यच्च प्रमाणम्, अविसम्बादकत्वात् उपमानवत् । अर्थाप-

१ युज्येत ज० । २ 'तिर्यक्षु' नास्ति ई० । ३-संप्रमाणं ई० । ४-क ये तत्राल-ई० । ५ संज्ञा-
सम्प्रति- ज० । ६-रव्य-ई० । ७ अल्पमहत्त्वादि-ई० ।

[§ ३६. एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिवेधावभिधाय साम्प्रतमर्थक्रियाकारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह—]

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्यार्थक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥३५॥

- 5 सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित्क्षणिके अर्थ-
क्रियां साधयेत्, अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तेत । नच क्षणिकानामनिश्चया-
त्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् विकृष्टार्था-
न्तरवत् । 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यम् इतरत् कारणम्' इति लक्षणं
क्षणमङ्गे न सम्भवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः; अन्यथा क्षणमङ्गमङ्ग-
10 प्रसङ्गात् ॥३५॥

[§ ३७. ननु यस्मिन्निति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे
कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोषु दृष्टमानासु गतः दुग्धासु आगत इति ।
समसमयभावित्वे चानयोः कार्यकारणभावविरोधात् सन्धेतरगोविषाणवत् इत्यारेकपनोदर्थमाह—]

कार्योत्पत्तिर्दिरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

- 15 युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियासम्भवसाधनम् ॥३६॥

- नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते, यतः तदर्थक्रिया अक्षणिकत्वे विरु-
द्धेत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव
भावानुपङ्गात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव
वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽसिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं
20 कारणशक्तेः ? ॥३६॥

[§ ३८. कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत् एव कारणादेव उदयोपगमात्, कथमन्यथा
जाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकमित्याशङ्क्याह—]

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्वाप्नोति वा सकृत् ।

तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद्वाप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

- 25 यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिदेशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्करव्यतिक-
रव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि
तत्कारणस्वभावभेदः । तथैकमक्षणिकं कारणं यद्यदोत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति
तत्करणैकस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण कारणसामर्थ्यात् तदात्मक-
मेकमेव इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अव-

१ कारिकेय मुद्रितलघीयज्ञेय नास्ति । २ लक्षणमङ्गे ज० । ३ कार्यस्योत्प- ई० । ४ कार-
णसिद्धेः ई० । ५ कारण- ई० ।

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरस्तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥२४॥

सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभि-
धानम्; सर्वथा तत्सादृश्यानिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत् ।
कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेरन् ? ॥२४॥

5

[§ २६. तत. स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—]

अक्षधीः स्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽऽभिनिबोधिकैः ।
व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥२५॥

प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञोहातुमानादिभिः अविंसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्,
अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानतदाभासव्यवस्था ॥२५॥

10

[§ २७. ननु श्रुतज्ञान प्रमाणमेव न भवति तत्कथ तथ्यवस्था इत्याशङ्क्याह—]

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥२६॥

श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम् । कथमन्यथा द्वीपदेशनदीपर्व-
तादिकमदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारेकम-
विसंवादं च ॥२६॥

15

[§ २८. ननु चार्थमावेऽपि श्रुते प्राय. प्रवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदप्यसौ प्रमाणमिल्या-
शङ्क्याह—]

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥२७॥

20

नहि इन्द्रियज्ञानम् अत्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणम् अति-
प्रसङ्गात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोष ? यथा कृतिकादेः शकटादिज्ञानं
स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैवादृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम् । नहि
दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । क्वचिद् व्यभिचारे साकन्ध्येनाऽनाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाच
कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसम्भवात् ? तथाऽनिच्छतः श्रुतिकल्पना-
दुष्टादेः उच्चारणात् ॥२७॥

25

[§ २९. किञ्च—]

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये ।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ? ॥२८॥

१ 'च' नास्ति ई०, ज० । २-र्थभि- ज० । ३-वातमवि-ई० । ४-वत- ई० ।

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात्तत्त्वतस्तयोः ।

मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥४१॥

शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं व्यस्तं समस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यं च व्यवहारेणैव, स च सङ्गहे
5 भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सः प्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ?
मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम् ; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात्,
अन्यथा स्वमान्तरवत् तद्विसंवादाच्च किञ्चित्प्रमाणम् । नैगमेऽपि चैलं गुणप्र-
वृत्तं नित्यं चैतन्यमिति व्यवहाराऽसिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि
§ ४) “गुणानां परम रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

10

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायै(ये)व सुदृच्छकम् ॥”

इति प्रमाणमस्ति । समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्तेत भृङ्गे गौः शाखायां
बृहः इति लोकव्यवहारमतिवर्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये
कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् ।
नवै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वभावारहितः सीऽस्ति, वर्तेत
15 वा समवायान्तराभावात् ? तदनवस्थानुपह्णात् ॥४१॥

[§ ४२. इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह—]

व्यवहाराविसवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रेण शून्यमितीदृशः ॥४२॥

प्रत्यक्षस्याऽपि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्यया-
20 त्मकः । कथम् ? उत्पादविगमप्रौढ्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चैतन्य-
स्वभावः इति श्रुतेः । प्रमाणान्तरार्वाधानं पूर्वीपराऽविरोधश्चाऽविसंवादः । तदपेक्षोऽयं
नयः । ततोऽन्यथा दुर्नयः ! कथम् ? बहिरपि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थं सदङ्गीकृत्य,
तत्प्रतिषेधेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वमिति प्रत्यवस्थाप्य, तदतिवृक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष-
माणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपच्च कचिद्व्यवतिष्ठेत
25 स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिनिरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरलं
शेषप्रलापेन ॥४२॥

[§ ४४. इदानीं ऋजुमूत्रनयं सामासं दर्शयितुमाह—]

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।

चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥४३॥

१ 'पर्याय' नास्ति ई० । २ 'वा' नास्ति ज० । ३ बल ई० । ४ 'सोस्ति' नास्ति ई० । ५-प्रश-
म० लघी० । ६-भाषणे ज० । ७ पूर्वविरविरोधश्च विसंवादः ई० । ८ 'कोच' नास्ति ई० ।

र्थिकश्च । द्रवति द्रोष्यति अर्दुद्रवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्योऽस्ति यस्य सो द्रव्या-
र्थिकः । सोऽभेदाश्रयः ॥३०॥

[§ ३२. ननु सकलभावाना देशकालाकारैरत्यन्तभेदात् नामभेदो नाम, अतः कथमसौ
अभेदाश्रयः स्यादित्यारेकापनोदार्थमाह—]

जीवाजीवप्रभेदा यदन्नलीनास्तदस्ति सत् ।

5

एकं यथा खनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

यथैव ज्ञानस्य आत्मनिभा (निर्भा) सभेदा नैकत्वं वाधन्ते जीवस्य अजीवस्य
वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः, तथैव सत्त्वस्य भेदा जीवाजीवाद्यः । तदेवम्—

[§ ३३ तस्मिन् सत्त्वे एवमुक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति—]

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति सद्ब्रह्मस्तदभेदनः ।

10

भेदानां नाऽसदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

सर्वभेकं सदविशेषादिति सद्ब्रह्मः । सतां च स्वभावानां भावैकत्वावाधनात् ।
नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं सद्रूपं द्रव्यमन-
वबुद्ध्य भेदं गृह्णानि नाम ॥३२॥

[§ ३४ अत्राह सौगन्—यदुक्तम्—‘यथा ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्व वाधन्ते’ इति; 15
तदुक्तम्, निर्गोक्तज्ञानोपगमात् । पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह—निस्तरङ्ग पुरुषमात्र तत्त्वं
जीवाजीवप्रभेद. पुनरुपलब्ध, ततो ‘जीवस्याऽर्जावस्य वा’ इत्याद्यप्युक्तमिलाशङ्क्याह—]

प्रत्यक्षं बहिरन्नश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।

द्रव्यं स्वलक्षणं तंसेद्भेदात्सामान्यलक्षणम् ॥३३॥

स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं स्वलक्षणं 20
विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ॥३३॥

[§ ३५. ननु प्रतिक्रमविलक्षणज्ञानादिक्रमव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासमवाक्य
‘द्रव्यं शसेत्’ इत्याद्युक्तं गोमेत २ इत्याशङ्क्याह—]

सदमन्स्वार्थनिर्भासैः सह क्रमविवर्तिभिः ।

हृदयाहृदयैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥३४॥

25

यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथैकं द्रव्यं
सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः हृदयैरहृदयैश्च अनादिनिधनमवगन्तव्यम् ।
बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसद्क्रमव्यवस्थायामेक-
स्थूलनिर्भासविरोधात् ॥३४॥

[§ ४७. ननु यद्यर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात्तर्हि सर्वमेव शब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात् ।
प्रयोगः—विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् प्रकृतज्ञानवदित्याशङ्क्याह—]

अर्क्षंशब्दार्थविज्ञानमविसंवादात् समम् ।

अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥४६॥

5 तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणैव्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं
तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् ।
विबक्ष्याव्यतिरेकेण वागर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानवत्, सम्बन्धनिष्पा-
भावात् । वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ॥४६॥

10 [§ ४८. ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणामावतोऽभावात् सतामप्यभेदात्, अन्यतः काल-
भेदात्तद्भेदे अनवस्था स्यात् । अर्थभेदात्तद्भेदे अन्योन्याश्रयः । ततोऽयुक्तमुक्तं 'कालकारक'
इत्यादि ; इत्याशङ्क्याह—]

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्यनिष्ठितम् ॥४७॥

नहि एकान्ते वर्तनालक्षणं कालस्य सम्भवति । भूतमविष्यद्दर्शमानप्रभेदो यतः
15 सात्तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वेति कारकलक्षणम् ; शक्तिशक्ति-
मतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धाऽसिद्धिः, अनवस्थानुषङ्गात् । तदव्यतिरेकैकान्ते
'शक्तिः शक्तिमतः' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तत्र एकान्ते पदकारकी व्यवतिष्ठत ।
कुतः पुनः स्त्यायात्यस्यां गर्भः इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान् इति पुमान्,
तदुभयात्यये नर्पुंसकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानाम् अन्यतमस्यापि लिङ्गव्यवस्था ?
20 तथैकस्यार्थस्य इन्दनादिन्द्रः, शकनान् शक्रः, पुरं दारयतीति पुरन्दरः इति
पर्यायभेदात् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न सम्भवत्येव, व्यतिरेकेतैरैकान्तैर्योः
तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोस्तत्र असम्भवो विज्ञेयः । तदनेकान्तसिद्धिः
विधिप्रतिषेधाभ्यां तदर्थमिधानात् । नाभावैकान्तः कुतः, तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भ-
वोपालम्भः साक्षादनुभवोत्त ? ॥४७॥

25 [§ ४९. यत्तच्चानेकान्तेन तदुपालम्भामात्रः अतः—]

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

षड्कारकी प्रकल्प्येत तथा कालादिभेदतः ॥४८॥

१ एकात् शब्दार्थ- ई० । २-लक्षण व्य-ई० । ३ तत्तथेति ज० । ४ प्रत्यापयति ई० ।
५-निविचतम् ज० । ६ वेति ई० । ७ शक्तिश- ई० । ८-मयाभावे तपु-ई० । ९-तन्मोः ज० ।
१० पर्वकान्तः ज० । ११ प्रकल्पेत् ज० ।

यवान् व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात् तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेद-
कर्त्वात्तेषां स्वभावानामिति । एवम्—

[§ ३९. तत्र परसङ्ग्रह प्रदर्शयितुमाह—]

सङ्ग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

ब्रह्मवाद्स्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

5

नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद्यदात्मकं तत्तदेव यथा स्वनि-
र्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात्सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति मङ्ग्रहः तत्रा-
धान्यान्न तु भेदप्रतिज्ञेपात् । स्वपर्यायभेदानपक्षया तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवाद्भवत् ॥३८॥

[§ ४०. अधुना नैगमत्तदाभासरूपणार्थमाह—]

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।

10

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इत्यन्ते ॥३९॥

स्वलक्षणभेदाभेदयोरन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः ।
यथा जीवस्वरूपनिरूपणार्थां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्प्ररूपणार्थां चान्मा । तद-
र्थान्तरतामिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रिया-
कारकाणां जातितद्गताश्च मियोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा वृत्तिविरोधात् । एकमनेकत्र
वर्चमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् ; तदेकमित्येवं न स्यात् । यदि पुनः एकदे-
शेन वच्येत ; तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रमङ्गनात् क्व किं वच्येत ? ॥३९॥

15

[§ ४१. एव गुणगुण्यादीना भेदकान्त निराकृत्य सत्तातद्गता त निराकर्तुमाह—]

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।

असदात्मन्मु नैपा स्यात् सर्वथाऽतिप्रमङ्गलः ॥४०॥

20

यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माणेष्वेव गन्तुं किं तत्र
मत्ताममवायेन ? स्वतः मतां तद्द्वयध्यात्, असतां चातिप्रसङ्गात् । तदेवमवान्तर-
जातिष्वपि योज्यम् । गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्ख्यम्, अन्यथा निष्क्रियस्य
अर्थोत्पित्सुदेशमव्याप्नुवतः अनंशम्य अनेकत्र कदाचिन्कवर्चनमप्युक्तम् । गुणगु-
ण्यादीनामन्योन्यात्मरूपेण न किञ्चिद्विरुद्धमित्यलं प्रमङ्गलं । गुणानां वृत्तिं च
सत्त्वरजस्तमसां सुखज्ञानादिकं चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमचलमित्येतदपि तादृगेव ;
तदर्थान्तरनाऽसिद्धेः, अतिप्रसङ्गार्थं तदभेदे विरोधाभावात् । गुणानां दृक्याह-
रयात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया ॥४०॥

25

[§ ४२. अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासता तयोर्दर्शयितुमाह—]

३. तृतीयः प्रवचनप्रवेशः ।



[§ ५२. अथ प्रमाणनयस्वरूप निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं प्रथम् निरूपयितुमुपक्रमते, तत्रानेकवा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्यमङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—]

5

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।

प्रमाणयननिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥५१॥

[§ ५३. तत्र प्रमाणादीना समासतो लक्षण प्रतिपादयन्नाह—]

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरूपायो न्यास इष्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥

10

ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टेन्द्रियार्थ-
वत् । विषमोऽयमन्यासः, असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम्;
अर्थस्य तदकारणत्वात्, तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्, अर्थस्य विषयत्वात् ।
नहि तत्परिच्छेदोऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ॥५२॥

[§ ५४. किञ्च अर्थस्य ज्ञान प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे

15

वा ? न तावदसिद्धे अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे कुतः तत्सिद्धिः ? तत एव ज्ञानात्, अन्यतो
वा ? न तावत्तत एव; यतः -]

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥५३॥

अर्थं परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव । नहि ततः

20

स्वभावलाभं प्रति व्याप्तिप्रमाणस्य तत्परिच्छिन्निः अनुत्पन्नत्वात् । उत्पन्नस्यापि
न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छि-
न्द्यात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ॥५३॥

[§ ५५. अन्वयव्यतिरेकौ अनुकरोति च ज्ञानमर्थस्येत्याशङ्क्याह—]

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थइचेत् कारणं विदः ।

25

संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यनाम् ? ॥५४॥

बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य । कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेका-
वनुकुर्वती व्यभिचारेभ्यम् ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमिराद्युत्पन्न-
नौयानसङ्गोमादिहेतुत्वे कर्ममर्थमर्थः पुञ्जातीति मृग्यम् ? सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्य-

यथा बहिः परमाणवः सन्निविष्टाः खवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव संवित्परमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साधयेत्, भेदस्य अभेदविरोधात्, क्वचिच्चानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपञ्चमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतरापायेऽर्थस्याऽनुपलब्धेः ॥४३॥

5

[§ ४५. अधुना शब्दसमभिरुद्धेन्पभूतानयान् कथयन्नाह—]

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।

अभिरुद्धस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

कालभेदात्तावदभूत् भवति भविष्यति इति, कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि, लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति, तथा पर्यायभेदात् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति, तथैतौ शब्दसमभिरुद्धौ । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात् ; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढम् ; विज्ञानस्य अनागतविषयन्वनिर्णयेन ॥४४॥

10

[§ ४६. ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राङ्गुर्नान्यम् अनिप्रसङ्गान् । सङ्केतश्च नानिषयी-
कृताना शब्दार्थाना युक्तो तन्निर्विषयताप्राप्ते । तद्विपर्ययकरणञ्च नाध्यक्षेण, शब्दाध्यक्षस्य अभिधेये, तदध्यक्षस्य च अभिधानेऽप्रवृत्तं । नापि स्थूला, तस्या निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याह—]

15

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।

प्रतिभासभिदैकाऽर्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत् ॥४५॥

क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षं तत्कारणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाशयोश्च अभावाऽविशेषात् । तदुत्पत्तिमारूप्ययोरसम्भवात्, व्यभिचाराच्च किं कस्य ज्ञान-
मित्युक्तम् । यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद्वेत्ति स्मृतिः कथञ्च संविद्यात् ? साक्षादतदुत्पत्तौ चैरताद्गुप्याच्च इति वैयात्यम् ; व्यवहितोत्पत्तावपि तद्गुणानुक्ततेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत् । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदाद्वाैकार्थत्वमनैकान्तिकम् ; दूरासन्नै-
कार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् । दूराक्षार्थज्ञानं आन्तेर-
प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य अष्टौ विंसंवदैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात् । तदयं शब्दार्थो स्मृत्या सङ्कलय्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात् । तदर्थाभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात् ॥४५॥

25

80

तम् ; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसम्भवात् । काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शृङ्गादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः, मृमूर्धाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ॥५७॥

5 [§ ५६. अत्रैव दूषणान्तरमाह—]

न तज्जन्म न तद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुनाम् ॥५८॥

नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् । न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाऽभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभू-
द्विज्ञानम् अमूर्च्छत्वात् । मूर्च्छा एव हि दर्पणादयः मूर्च्छामुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः,
10 नार्थमूर्च्छं मूर्च्छप्रतिबिम्बभूत्, अमूर्च्छं च ज्ञानं मूर्च्छिघर्माभावात् । नहि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति
तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो
न स्यात् । कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्ष-
णत्वेन ? ॥५८॥

15 [§ ६०. ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासम्भवे कथमर्थप्रादकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह—

स्वहेतुजनितोऽर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥६१॥

अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः
नाऽलक्षणात्मनोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततस्तदुत्पत्तिमन्तरेणापि प्राक्षयाहकभाव-
20 सिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ॥५९॥

[§ ६१. ननु सिद्धेपि स्वरूपतस्तद्भावे तत्फलं वक्तव्यम् । तच्च अधिगतिमात्रमित्येके,
स्वरूपस्यैवाधिगतिसन्ध्ये, अर्थस्यैवेत्यपरे । इत्याशङ्क्याह—]

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥६०॥

25 अनिर्णीतिफलस्यै नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अविशंवादकर्त्वं च
निर्णयार्थं तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रामाण्यमिति
व्यवस्थितम् । स्वतःऽध्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्, तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे
अमिलापरसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति

१-कारिणो ६० । २-संमूर्च्छ-ज० । ३-हेतुत्व ज० । ४-सम्भावात्कर्त्तु-६० । ५ मुख्यप्रा-
ज० । ६-स्याधिगमो-६० । ७-तोऽप्यव-६० ।

प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्पारकीसम्भवेऽपि र्थैर्कैः
स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो
दुर्नयः, तदपेक्षो नयः । स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्माथैर्ज्ञानं प्रमाणम् ।

[§ ५०. ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः । विकल्परच निर्विषय एव तत्त्वात्
प्रधानादिविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगमः स्यादित्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य ४
हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकच दर्शयन्वाह—]

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।

प्रामाण्ये चानुभायाः स्मरणमधिगतार्थोविसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयैः ॥४९॥

[§ ५१. तैश्च तेषां समधिगतौ सत्या यज्जात तदर्शयति—]

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-

स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।

तरुं शक्यपरीक्षणं सकलविज्ञैकान्तवादी ततः,

प्रेक्षवानेकलङ्कमेति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥५०॥

नयप्रवेशे पञ्चमः परिच्छेदः ।

इति प्रमाणनव (य) प्रवेशः समाप्तः ।

कृतिरिय सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो मद्वाकलङ्कदेवस्येति ।



[मोहेनैव परोऽपि कर्मभिरिह प्रेत्यामिबन्धः पुनः,

भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः ।

कस्माच्चित्रनपोमिरुद्यतमनाञ्चैत्यादिकं घन्दते,

किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिताः ॥]

१ धर्मकत्व-ज० । २-र्थं ज्ञा-ज० । ३-दान-ज० । ४-धार्मिक-मु० लघी० । ५-मानकल-
ङ्कवाति मु० लघी० । ६ एव प्रकान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चम नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेद ममान् ।
न्यायकु० । ७ इलोकोऽयं ई०, ज० प्रत्यो प्रमाणनयप्रवेशसमाप्त्यनन्तरमुपलभ्यते । ८ न्यायकुमु-
दचन्द्रकृता प्रभावद्वेष लघीयस्वयनात्पर्यवृत्तिकृता अभयवन्देण च अश्याप्त्यानत्वान्, अर्थदृष्ट्या
प्रकरणेन चासंगतत्वात् प्रसिद्ध एवेति भानि ।-सम्पा० ।

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते ।

विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥६३॥

कचित् स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्, अवधारणाभावे-
ऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यम्भावित्वात्, अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः ।

5 किं बहुना विधिनिषेधानुवादाऽतिदेशवाक्येषु, कारकेषु कर्त्रादिषु, स्वार्थादिषु,
प्रातिपदिकार्थेषु, साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः
इत्यावालप्रसिद्धम् ॥६३॥

[§ ६५. ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽ-
युक्तमुक्तं 'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह—]

10

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाच्छितान् ।

वाच्छितान्श्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥

स्वेच्छया तामतिक्रम्य चदतामेव युज्यते ।

वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विदं ॥६५॥

15

वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वमागमात् प्रतिपत्तव्यम् । वक्त्रभिप्रायाद्भि-

न्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । अयञ्च प्रसङ्गोऽ-
न्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे अभिप्रेतव्य-
भिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुपुत्रादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात्, अनिच्छतामपि अपशब्दा-
दिभाषणसद्भावात्, वाच्छितामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र
व्यभिचारात् कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इत्यलौकिकप्रतिमानम्; लोको हि अर्थस्या-
20 ऽऽप्यनासिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत् शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे, तत्र शब्दव्यवहार-
वाहुल्याभावात् । अर्वाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमाति-
ष्ठमानानां युक्तमभिप्रेतमात्रसूचित्वं शब्दानाम् ॥६४, ६५॥

[§ ६६. साम्प्रतं 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—]

श्रुतभेदाः नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।

25

द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयालुगम् ॥६६॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकं पृथक्त्वगः ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥६७॥

नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्र-

१-इतेऽपि मु० लघी० । २-निराकाराभ्युपगमस्यावश्य-ई० । ३-निति मु० लघी० ।
४-कुतोऽप्रतीयते ज० । ५-मन्दबुद्धि-ज० । ६-अर्थस्यानासि-ज० । ७-तत्र शब्दव्यवहारस्यतिम-
तिक्रम्य स्वेच्छ-ई० । ८-अर्वाधितमतिक्रम्य ज० । ९-रेकापु-मु० लघी० ।

भावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात्, ततः सुभाषितम्- § ५) "इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य द्रवी विषयः" इति ॥५४॥

[§ ५६ ननु चेन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव उत्पत्तेः तस्यैव तत्र सावकतनव्योपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् । इत्याशङ्कापनोदार्थमाह-]

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।

5

कार्यकारणयोश्चापि घुद्धिरध्यवसायिनी ॥५५॥

सन्निकर्षादयः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसायान्ते नच तैर्बुद्धिः, प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेपणम् ? आर्तमनइन्द्रियार्थानां कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुरवबोधः । कैथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् ? प्राग्बिज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवर्धुद्धयमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५५॥

[§ ५७. ननु यथालोक तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः कुतो न स्यादित्याशङ्काह-]

तमो निरोधि बीक्षन्ते तमसा नावृत्तं परम् ।

15

कुड्य, दिक् न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

नहि तमः चक्षुर्जानप्रतिषेधकम् ; तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाऽभावहेतुरिति चेत् ; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात् । अवाग्मागदर्शिनः परमागपरिच्छेदाऽभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात् तमोवत् । प्रत्यर्थभावरणाविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५६॥

[§ ५८. ननु चात्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गान् किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्कापनोदार्थमाह-]

मलविद्धमणिद्यस्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥५७॥

25

यथाँस्त्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । § ६) "नामनुक्तान्वयव्यतिरेक कारणं नाकारणं विषयः" इति बालिशगी-

१-क्या बु-ज० । २ आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणां ई० । ३ वाक्यभेदभास्ति ज० । ४-द्वयमना ज० । ५ ब्रूयु कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति मित्यासायि (?) ज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवर्धुद्धयमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयु ज० । ६ तत्कारणताया ई० । ७ विरोधि ज० । ८-ज्ञाने प्र-ज० । ९-नविरो-ई० । १०-त्वकर्म-ज० ।

सदभेदात्समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवासितः ॥६९॥

सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमो-
पायाभावात्, नापि तस्योपेयत्वं खरविषाणवत् ॥६९॥

5 [§ ६९. व्यवहारनयं दर्शयन्नाह—]

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणाता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥७०॥

प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इत्याहुभारं प्रसिद्धम् । अन्यथा
संशयविपर्यासस्वभङ्गानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पं प्रमाणं
10 व्यवहाराविसंवादात् । 'उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चै-
तन्यस्वभावः' इत्यादिश्रुतज्ञानेन पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसम्भवात् प्रामाण्यम्,
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रैशून्यवचसां व्य-
हारविरोधित्वात् दुर्णं (र्नं) यत्त्वम् ॥७०॥

[§ ७०. ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह—]

15 भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।

सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

बहिरणवः सञ्चिताः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं दर्शयन्ति यथा तद्वत् संवि-
त्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साध-
येत् भेदस्य अभेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्वमेव न स्यात् । सापेक्षो नयः,
20 निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपद्यत
एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापायेऽर्थस्थानुपपत्तेः ॥७१॥

[§ ७१. अथ सप्तनयेषु मध्ये केऽर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह—]

त्रत्त्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

25 कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत्, अभूत् भवति भविष्यति, करोति
क्रियते, देवदत्तो देवदत्तेति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्, इन्द्रः शक्रः पुरन्दर
इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः, कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्व-
स्याऽप्योगादिति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथञ्च न ?

मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपा-
यमनुपेयं ब्रुवाणः स्वस्यः ? ॥६०॥

[§ ६२. अमुना तद्देद दर्शयन्नाह—]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विषैवान्नान्यसंविदाम् ।

अन्तर्भावार्त्तं युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

5

इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्, अवग्रहे-
हावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽमिनिबोधात्मकम् ।
अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोचरमा-
त्मार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चिताऽसम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं परोक्षं
सकलप्रमाणप्रमेयेयचैवत्स्वरूपाभिधायि बाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थापत्त्यनु- 10
मानोपमानाद्रीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्त-
मिति नेहोच्यते ॥६१॥

[§ ६३. श्रुतस्य मेद दर्शयन्नाह—]

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ॥६२॥

15

अनेकान्तात्मकार्यकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाशं
काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैरसाधारणैः अमूर्त्त्वासङ्ख्यातप्रदेशत्वस्र-
ह्मत्त्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधा-
रणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथेतरे परिणामनो
योज्याः । ज्ञो जीवः सुखदुःखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्य- 20
मनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यमेकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः । तत्र 'जीवः' इत्युक्ते
जीवशब्दो योग्यतापेक्षाऽनादिसङ्केतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थप्रतिपादनः
न्यन्त्रेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् । ततः स्यात्पदप्रयोगात् सर्व-
थैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति स्वैष्टे-
सिद्धिः । नयोपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः 25
स्याच्छब्दः । 'स्यादस्त्वेव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ॥६२॥

[§ ६४. ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च प्रयुज्यते अन्यथैव तद्व्ययोग-
दर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह—]

१-सु ज० । २-पार्थे ज्ञा-ज० । ३-यत्तात्त्व- न्यायकु० । ४-कोज्जा-ई० । ५ स्वेच्छ-
विसि-ज० । ६-भते वैका- न्यायकु० ।

पेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽने-
कत्वादानेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना ।
अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् । तथोपयोगलक्षणो भावनि-
क्षेपः । अप्रस्तुतार्थाऽपाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । निक्षिप्ताः
5 पदार्थाः निर्देशादिभिः सदादिभिश्चानुयोगैः अनुयो (यु) ज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः
सर्वे पदार्थाः; तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्ग-
णास्थानानि । एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः
तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो वाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्तमतीन्द्रियं
10 सुखमृच्छत्यात्मा । नहि गुणादिविनाशात् जडैः, गुणगुणिविनाशात् शून्यैः,
भोग्यविरहात् तदभोक्ता; तथाधिगमाभावात् तद्वाधासम्भवाच्च । शरीरादिकं धर्मि
ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य, तत्सत्यपि ज्ञानोदयसम्भवात् ॥७६॥

[§ ७३. इदानीं शास्त्रकारः शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनं प्ररूपयन्नाह—]

भव्यः पञ्च गुरुन् तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
15 तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपञ्चशतः ।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनषलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम् ॥७७॥
प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्थीस्ततः परिनिष्ठितान-
सकृदवबुद्धेद्ब्रह्मोद्बोधो हतसंशयः ।
20 भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिष्यं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥७८॥

लक्षणसङ्ख्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुवादरूपे आगमे
गुरूपदेशपरम्परायथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपद-
प्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्सम्पत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण
25 परार्थसम्पत्तयेऽसौ चेष्टते ॥७८॥

इति भट्टकलङ्कराशाङ्कानुसृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः ॥७॥



नमोऽकलङ्कराय कृतीर्थनाशिने स्याद्वाद्मार्गप्रतिबोधहेतवे ।
निध्यान्वकारप्रतिषेधभानवे सम्यक्त्वसवत्वविकाशमत्तये ॥७॥



[समाप्तमिदं प्रकरणम् ।]

तिकार्थप्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताऽभिनिबोधोघात्मिकायाः
 कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयो द्रव्य-पर्यायार्थिकौ । द्रव्यमे-
 कान्वयात्मकम् । एकत्वं तदन्तपरिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्म-
 कत्वादन्वयि । पुरुषत्वादेः अपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकस-
 न्तानात्मनां तथाभावसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकादन्वयिनोरस्त्रलत्समानैकप्रत्ययवि- 5
 षयत्वमनुभिमीमहे । तथाहि-स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः ।
 पुरुषश्च समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीवः कर्म-
 निर्मुक्तः, व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्तवं व्यतिरेकश्च । पृथक्तवम् एकत्र
 द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरि-
 णामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः श्रुद्रस्य 10
 ज्ञानादयः प्रतिक्षणमात्मसात्कृताऽनन्भेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्
 पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वमाविर्भूताऽनाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्ध-
 परमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमत्त्वमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः मूर्च्छि-
 त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्च्छभेदप्रसङ्गात् । सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्तामित्युक्तप्रार्थ
 नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्क- 15
 र्वत् कथञ्चिदाहुर्षुः ? ततः तीर्थकवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्य-
 पर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भा-
 वात् । न नैगमस्य प्रमाणता तादात्म्यविवक्षाऽभावात् ॥६७॥

[§ ६७. एतदपि कुत इत्यत्राह—]

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरैकधर्मिणि ।

20

विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदाक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

‘जीवः सन्नमूर्च्छः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता दृष्टाऽसङ्घातप्रदेशो भोक्ता परिणामी
 नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः’ इति जीवस्वतन्त्रनिरूपणायां गुणीभूता सुखा-
 दयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभामः ।
 गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्वताञ्चेत्यादितादात्म्यम- 25
 विवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, सङ्ग्रहादा-
 वेकविवक्षेति भेदः ॥६८॥

[§ ६८. तत्र सप्रहस्वरूप सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह—]

१-मतिनिर्णयवि-६० । २-मेकत्वान्वया-त्याऽङ्क० । ३-यस्ते च प्र-न्यायवृ० । ४-मूर्च्छि-ज० ।
 ५-णाम ज० । ६-भूतावि-ज० । ७-नियमे ज० ।



तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येव प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागत-
निर्णयात् । कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः
श्च उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो
भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्यौदनः, त्रीहयस्तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्यनागत-
विषयाणामविसंवादिनामानन्त्यात् । ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थमाहि
सिद्धम् प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादकस्वामाभ्यात् विज्ञानवत् । वर्षानालक्षणः
कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्वान्प्रसवतदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्,
कथञ्चिद्दस्तुस्वभावभेदकं तथाप्रतीतेः । पर्यायोऽप्यर्थभेदकृत् । क्रियामेदात् एकोऽपि
शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात्तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवज्ञेव
इन्द्रः नान्यदा । ततः सिद्धः क्रियामेदः पाचकपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवा-
क्यानां व्युत्पादकं ज्ञात्वां वितथं परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकन-
यवत् । व्यावहारिकप्रकृत्यादिक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्म-
कादर्थोदपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तैत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन्नयो न
मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षत्वस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्ष-
त्वम्, तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम्, नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम् ।

[§ ७२. अथेदानीं शास्त्रविधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सर निक्षेपस्वरूप प्ररू-
पयन्नाह—]

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥७३॥

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।

विरचच्चार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पिणान् ॥७४॥

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्वां गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विष्टृद्धार्भिनिवेशानः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्मस्यं विमुक्तः सुखसृञ्छति ॥७६॥

श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वजी-
वादिपदार्थनिरूपणम् । तदर्थशपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः । ताभ्यामधिगमः
परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोप-
न्यासो न्यासः । सोऽवरतश्चतुर्था नामस्थापनाद्रव्यभावतः । तत्र निमित्तान्तरान-

१-पापत्वात् न्यायकृ० । २-प्रतिभागे-ज० । ३ तत्प्राप्त्युपा-न्यायकृ० । ४ एतावत्पर्यन्त
न्यायकृमुदचन्द्रकृता तात्पर्यवृत्तिकृता च पठपरिच्छेदन्पेण विभज्य परिच्छेदसमाप्ति कृता । विवृति-
प्रती तु नाय विभाग ।-सम्पा० । ५-निवगतै मू० लयी० । ६-निनिवेशत ज० । ७-रीक्षप्र-ज० ।

भावस्य निश्चयात् किं प्रमाणान्तरेण अपूर्वार्थाधिगमस्य तत्फलस्याभावात्, समारोपव्यवच्छेदस्य च निश्चिते समारोपाभावेनासंभवादिलत्रेदमाह—]

सदसज्ज्ञानसंवादविसंवादविवेकतः ।

सविकल्पाविनाभावी समक्षेतरसम्बन्धवः ॥५॥

- 5 [§ ६. नाप्यारोपव्यवच्छेदान्नापि वस्तुग्रहात्ततः, प्रामाण्यमनुमानस्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । एतदेवाह— 'एकत्र' इत्यादिना ।]

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।

अतद्धेतुफलापोहे कृतस्तत्र विपर्ययः ? ॥६॥

[§ ७. तत्र अभिलापवत्त्वं विकल्पलक्षणमित्येतदेवाह—]

- 10 **अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ।**

अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुष्यते ॥७॥

[§ ८. भवतु वा किमपि सामान्य तथापि शब्दस्मरणवच्छ्रुतादिबुद्धीनामपि व्यवसायात्मव (क) त्वमनिवार्यमेव, तदाह—]

पदार्थज्ञानभागानां पदसामान्यनामतः ।

- 15 **तथैव व्यवसायः स्याच्छ्रुतादिधियामपि ॥८॥**

[§ ९. तत्र विचारबलात् प्रत्यक्षस्य क्षणविषयत्वावगमः, खत एवेति चेन्न; तथैवासम्प्रतिपत्तेरेतदेवाह—]

आत्मनाऽनेकरूपेण बहिरर्थस्य तादृशः ।

विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यमाक् ॥९॥

- 20 [§ १०. ननु तदिदं भवता जात्यन्तरं यत्पुरोवर्तितया प्रतिभाति नीलादिस्थूलरूप तस्य च दूरविरलकेशादिविना (दिवद) विद्यमानस्यैव प्रतिभासनात् कथं तद्रूपो बहिरर्थः पारमार्थिको यतस्तद्विषयत्वं प्रत्यक्षस्येति चेदत्राह—]

अर्थज्ञानेऽसतोऽयुक्तः प्रतिभासोऽभिलापवत् ।

- 25 [§ ११. न केवलमवयविन एव तस्य तद्विषयत्वमपि तद् (तु) द्रव्यस्यापि अक्रमवत् क्रमेणापि परापरपर्यायाविश्वग्भावस्वभावस्य द्रव्यसंज्ञितस्य स्तम्भादेरविरोधादेतदेवाह—]

परमार्थैकतानत्वपरिणामाविघातिनः ॥१०॥

[§ १२. स्यान्मतम्—अवयवभ्यो भिन्न एवावयवी, पर्यायेभ्यश्च द्रव्यमर्थान्तरमेव, बहिरर्था अवयवा एव वा, निरवयविनो द्रव्या एव वा, पर्याया बहिरर्थाः, ततस्तस्यैव प्रत्यक्षात् प्रतिभासो न क्रमाक्रमानेकत्वभावस्येति । तत्राह—]

- 80 **प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिविध्यते ।**

श्रीमद्भद्रहाऽकलङ्कदेवविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

[न्यायविनिश्चयविवरणादुद्धृतः]

[§ २२. तदयं परोक्षज्ञानेलादेः सबग्रहः, तदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—]

एतेन येऽपि मन्वेरन्नप्रत्यक्षं धियोऽपरम् ।

संवेदनं न तेभ्योऽपि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥१९॥

[§ २३. ततो नाऽनात्मवेदनस्य ज्ञानस्य विषयप्रतिनियमो विवक्षितवदन्यत्रापि तस्य ५ प्रवृत्तिसंभवात् । तदेवाह—]

विमुखज्ञा न संवेदो विरुद्धो व्यक्तिरन्यतः ।

असञ्चारोऽनवस्थानमधिशोष्यविशेषणम् ॥२०॥

[§ २४. साम्प्रतं 'विमुख' इत्यादिकमेव व्याख्यातुकामो यौगञ्जानदूषण सौगतज्ञानेऽपि योजयन्निदमाह—]

10 निराकारेतरस्यैतत् प्रतिभासभिदा यदि ।

तत्राप्यनर्थसंचितौ अर्थज्ञानाविशेषतः ॥२१॥

[§ २५. इदानीमनवस्थानमेव संविद्धिषयं पूर्वोक्त व्यक्ति (क्ती) कुर्वन्नाह—]

ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेशितपरस्तथा ।

ज्ञानज्ञानलताऽशेषनभस्तलविसर्पिणी ॥२२॥

15 प्रसज्येत, अन्यथा तद्भूत्प्रथमं किल सृज्यते ? ।

गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्यचेतसः ॥२३॥

असिद्धिरितरेषाञ्च नदर्थस्याप्यसिद्धितः ।

असिद्धो व्यवहारोऽयमतः किं कथयाऽनया ? ॥२४॥ -

[§ २६. तदेवमवस्थापिते अर्थज्ञानस्यात्मवेदने सांख्यः प्राह—सत्यमर्थज्ञान प्रत्यक्षमिति 20 नात्र विवादः, किन्तु तत् परार्थमचेतनञ्च ...तत इदमुच्यते—अर्थज्ञानमचेतनं विषयत्वात् घटादिवदिति; तत्रेदमाह—]

प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ? ।

अथ नायं परिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ? ॥२५॥

[§ २७. अर्थविषयत्वञ्च यदि प्रतिबिम्बमन्तरेण प्रथमप्रत्यक्षेऽपि व्यर्थं तत्कल्पनम् । 25 प्रतिबिम्बेनेति चेत्; तदर्थकार्यत्वस्यापि न स्वतोऽवगमः । पूर्ववदन्यतः प्रत्यक्षादिति चेन्न; तस्याप्यर्थविषयत्व इत्याद्यनुबन्धादव्यवस्थिते । एतदेवाह—]

प्रत्यक्षं करणस्यार्थप्रतिबिम्बमसंविदः ।

[§ २८. न पुरुषस्यापि वस्तु तद्दुपरक्तं वा चित्तं संवेधं सम्बतीति, तदेवाह—]

अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमयुक्तमविकारिणः ॥२६॥

80 [§ २९. यथैव तर्हि स्वरूपं सवेदनरूपेण पश्यति तदाऽर्थमर्थरूपेण इत्यर्थरूपता

श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

१. प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।



[§ १ अतः सर्वत्र तद्गुणस्तवनमेव मङ्गलम्, तत एव तत्रयोजनभावान्नापरम् । किं पुनस्तदित्याह—]

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्त्तये ।

नमः श्रीवर्द्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥१॥

[§ २. अयं यदि भगवतो भव्याम्बुरुहभानुत्वं तत्तर्हि वाङ्मयखसापेक्षमेव नान्यथा । 5
न हि तत्सन्निधानादनुपदेशमेव भव्यानां तत्त्वज्ञानमिति सौगतवत्स्याद्वादिनामभिवेशोऽस्ति,
ततस्तद्वाङ्मयादेव तत्त्वज्ञानसिद्धे वाङ्मयमिदमपार्थक्यम् । नद्येकवाङ्मये (या) वसाव्ये तदश-
मुपयोगवत् । तत्रापि तदपरपरवाङ्मयोपयोगपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गादिति, तत्रेदमाह—]

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः । 10
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥

[§ ३. सम्यग्ज्ञानात्मकत्वमेव प्रमाणस्य व्यवस्थापयन्नाह—]

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥३॥ 15

[§ ४. करिष्यते हि 'सदसञ्ज्ञान' इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'परोक्षज्ञान' इत्यादिना
अग्निन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'लक्षणं समम्' इत्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य समर्थनयतममि (मत इ)
न्द्रियप्रत्यक्षादिभेदेन त्रिविधमेव तदिति भवत्येव निर्णयः । तत्र—]

हिताहिताग्निनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्भितम् ।

यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥४॥ 20

[§ ५. कश्चिदाह—यदि साकारं निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं तत एव निरवशेषोपाधिर्भवेत्

तैमिरिकज्ञानादावर्थ एव नास्ति तत्र कथम्.....इति सिद्धं तत्केशादेस्तादृष्यादेव प्रतिवेदनम्, ततस्तत्र विपर्यस्यत्येव भवदुक्तो न्यायः । तदेवाह—]

अनर्थाकारशङ्केषु झुटत्येष नयो यदि ।

[§ ३७. उत्तरमाह—]

5 सर्व समानमर्थात्मासंभाष्याकारडम्बरम् ॥३४॥
तद्भ्रान्तेराधिपत्येन सान्तरप्रनिभासवत् ।

[§ ३८- इदानीं 'प्रकाशनियमो हेतोः' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुरवसरप्राप्तमेव चोच-
मुत्थापयति—]

10 यथैवात्मायमाकारमभूतमवलम्बते ॥३५॥
तथैवात्मानमात्मा चेदभूतमवलम्बते ।

[§ ३९. तत्रोत्तरमाह—]

न स्वसंवेदनात्तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम् ॥३६॥

[§ ४०. तदेकयोगक्षेमत्वेन आत्माप्यनुपलभ एव स्वपरपरिच्छेदसमावावपि तस्य, इति
कथञ्च बाह्यप्रद्वेषम् ? तदेवाह—]

15 तस्य तमाहुराचार्या विद्यया विभ्रमैश्च यः ।
यथार्थमयथार्थं वा प्रसुरेषोऽवलोकते ॥३७॥

[§ ४१. ततो न ब्राह्ममेदान्नाप्याकारमेदात् संवित्तिमेदः शक्तिमेदादेव तदुपपत्तेः इत्यु-
पपन्नमुक्तम्—'विषय' इत्यादि ।]

20 विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन वेदितः ।
ब्राह्मभेदो न संवित्तिं भिनक्त्याकारमङ्गथपि ॥३८॥

[§ ४२. ततो विषयसङ्कलिततज्ज्ञानस्मरणस्य अन्यथैव भावाच्च ततो विषयाकारव्यव-
स्थापनं विज्ञानस्योपपन्नमिति चेदुच्यते—अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि । भ्रान्त्या सङ्कलन
ज्योतिर्भनस्कारेऽपि सा भवेत्—'तदिदमतिप्रसङ्गापादन'—परस्यानुत्पत्तिमापादयति न निराकार-
ज्ञानवादिनः, शक्तिप्रतिनियमादेव तेन तत्परिहारस्य अभिधानात् । तदेवाह—]

25 ' अर्थज्ञानस्मृतावर्थस्मृतौ नातिप्रसज्यते ।

[§ ४३. कथं पुनर्नातिप्रसज्यते यावता निराकारज्ञानस्य साधारणतया सर्वविषयत्वं
तत्स्मरणस्यैव च सर्वत्रैवानुभवविषये प्रवर्तनमापद्यत एवेति चेत् ; अत्र पूर्वोक्तमेव शक्तिनियममुत्त-
रीकुर्वन्नाह—]

80 सरूपमसरूपं वा यत्परिच्छेदशक्तिमत् ॥३९॥
तद्व्यनक्ति ततो नान्यत्,

[§ १३. विचारज्ञानं स्वपरप्रकाशमुरीकर्तव्यम्, अन्यथा स्वगतपरोक्षतायास्तेनाप्रति-
पत्तेरुक्तदोषापरिहारादेतदेव दर्शयितुमाह—]

परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् ॥११॥

[§ १४. तत्र सिद्धस्य तस्य [अर्थप्रकाशस्य] अन्यथानुपपत्तिपरिज्ञानम्, नाप्यसिद्ध-
स्यैव, नह्यप्रतिपत्तेरुक्ते तस्य पायकापेक्ष स्वप (सुप) रिज्ञानमन्यथानुपपन्नत्वम्, तदेवाह—] 5

अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति ।

[§ १५. ततो मिथ्यैवेद मतम्—'अव्यवसितैरपि व्यवसायैर्वाह्य व्यवसीयते' इति;
तदाह—]

मिथ्याविकल्पकस्यैतद् व्यक्तमात्मविडम्बनम् ॥१२॥

[§ १६. तदेव प्रासङ्गिक प्रतिपाद्य 'परोक्ष' इत्यादिकस्यैवार्थम् 'अध्यक्षम्' इत्यादिभिः 10
श्लोकैः सङ्ग्रहीतुकामः प्रथम परप्रसिद्धेनैव अर्थज्ञानानुमानेन अर्थज्ञानस्य स्वसवेदनविषयता
व्यवस्थापयन्नाह—]

अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।

नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥१३॥

[§ १७. पुनरप्युक्तस्यैवार्थस्य सोपपत्तिक सङ्ग्रहमाह—] 15

आन्तरा भोगजन्मानो नार्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः ।

न धियो नान्यथेत्येते विकल्पा विनिपातिताः ॥१४॥

- [§ १८. यस्मिन्नेतत्—'भामूत् सुखादीना प्रत्यक्षत्वम्' इति, तत्राह—]

सुखदुःखादिसंविक्तेरवित्तिर्न हर्षादयः ।

आनुमानिकभोगस्याप्यन्यभोगाविशेषतः ॥१५॥ 20

[§ १९. ततो न सुखादिबुद्धेः प्रत्यक्षत्व न्याय्यम् । इतश्च [न] तन्न्याय्यम् इत्याह—]

तावत्परत्र शब्दोऽयमनुमानुं कथं धियम् ।

यावदात्मनि तच्चेष्टासम्बन्धं न प्रपद्यते ? ॥१६॥

[§ २०. तत्र आत्मनि बोधज्ञानमनुमानात्, लिङ्गाभावाच्च; तदाह—]

विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः ।

अहेतुरात्मसंविक्तेरसिद्धेर्न्यभिचारतः ॥१७॥ 25

[§ २१. 'मनस्कारादि' इत्यत्र आदिशब्देन अनुक्तपरिग्रहः । अनुक्तश्च परिच्छिद्यो
विषयः, तत्परिच्छेदो वा स्यात्, सोप्यात्मसंविक्तेः मीमांसकज्ञानस्य अहेतुरगमकः इत्याह—]

असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।

सिद्धे तत्किमतो ज्ञेयं सैव किञ्चानुपाधिका ? ॥१८॥ 80

अभिन्नदेशकालानामन्येषामप्यगोचराः ।

विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः किं बहिः स्थिताः ? ॥४६॥

[§ ५३. ततो न बहिरर्थतया स्वप्रान्तिकस्य कामिन्यादेर्वा सचम्, बहिरवस्थितस्य ना-
नाप्रतिपत्तुसाधारणत्वप्रसङ्गात् । नाय दोषः, तस्य अन्तर्देहवृत्तित्वात् इति चेत्; इदमेवोल्लिख्य
५ (ल्लिख्य) परिहारयन्नाह—]

अन्तःशरीरवृत्तेश्चेददोषोऽयम् ; न; तादृशः ।

तत्रैव ग्रहणात् किं वा रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥४७॥

[§ ५४. तदिदमतिमुकुमारप्रज्ञगोचरमपि हेतुदोषम् अन्तरङ्गतमेवाहुलका [द] प्रति-
पथमानैरेव परैः प्रकृतमनुमानमुपदर्शितमित्यावेदयन्नाह—]

10 विप्लुताक्षा यथा वुद्धिर्विनथप्रतिभासिनी ।

तथा सर्वत्र किञ्चेनि जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥४८॥

[§ ५५. यत्पुनरेतत्—कामिन्यादिबुद्धिवत्तरङ्गचन्द्रादिवच्चेति निदर्शनम्; तत्रापि वितथ-
प्रतिभासित्वस्य च यतः प्रतिपत्तिः तस्य चेद्वितथप्रतिभासत्व कथञ्च व्यभिचारः ? वितथप्रति-
भासित्वे तु ततः कथं तत्सिद्धिर्विपर्ययवत् । अतो निदर्शनस्य साध्यैककल्या [त] मिथ्या [त्वमा]

15 वेदयन्नाह—]

प्रमाणमात्मसात्कृष्वन् प्रतीनिमनिलङ्घयेत् ।

वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥४९॥

[§ ५६. ग्राह्यादिसन्तानान्तरजीवान्तरभेदप्रतिभासस्तु विपरीतवासनाबन्धादविधाबलाद्वा
परिकल्पितः...तदेवाह—]

20 अद्वयं द्वयनिर्भासं सदा चेदवभासते ।

[§ ५७. तत्रोत्तरमाह—]

न स्वतो नापि परतो भेदपर्यनुयोगतः ॥५०॥

[§ ५८. तत्र अप्रापि विकल्पप्रतिसंस्कारवती वेला नाम काचिच्छक्यनिरूपणा, यतद्
(यतस्तद्) द्वैतस्य स्वतःप्रकाशनमुपकल्प्येत । तदाह—]

25 प्रतिसंस्कारवेषायां न संवेदनमन्यथा ।

[§ ५९. तत्र अद्वैतवादः श्रेयान् । विभ्रमवाद एवास्तु; इति चेन्न; तस्य 'विप्लुत'
इत्यादिना प्रतिक्षेपात् । तदेव व्याचक्षाणास्तप्रतिक्षेपमेव दर्शयति—]

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति नचापरम् ॥५१॥

अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ।

30 [§ ६०. बालादीनामपि तत्र विप्लवप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्, न चैवम्, अविह्ववपरिज्ञानस्य
तत्र तेषां भावादित्यसिद्धो हेतुः । अतश्च तद्वादिनां जडत्वमिति, ...तदाह—]

अर्थस्य साधिका, सवेदनरूपता सवेदनस्येति तदाकारतैव सर्वस्य साधिका नान्यः स्वभावो भेद-
कोऽपि ज्ञानस्यार्थेन षटयतीत्यत्राह—]

एतेन वित्तिसत्तायाः साम्यात्सर्वैकवेदनम् ।

प्रलपन्नः प्रनिक्षिप्ताः प्रतिबिम्बोदये समम् ॥२७॥

[§ ३०. पुनरपि साकारवाद दूषयन्नाह—]

5

सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम् ।

[§ ३१. इति नार्थं सारूप्येण यतः स एव तत्र तद्विशेष स्यात् । कस्तर्हि तद्वि-
शेष इति चेत्, अतदर्धपरावृत्तत्वमेव, तदेवाह—]

अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थहक् ॥२८॥

[§ ३२. तदयमर्थशक्तिनियमात् सवेदनस्याधिगमनियम. इत्येतदेवोत्तरार्थं विवृण्वन्नाह—] 10

अथेदमसरूपं किमतदर्थनिवृत्तितः ।

तदर्थवेदनं न स्यादसमानामपोहवत् ॥२९॥

अत्राक्षेपसमाधीनामभेदे नूनमाकुलम् ।

स्वचित्तमात्रगर्त्तावतारसोपानपोषणम् ॥३०॥

[§ ३३. स्यान्मतम्—‘सारूप्येऽपि’ इत्यादिना सारूप्यसामान्ययोः साधारणो दोषम 15
(षोऽन) न्वयः प्रतिपादित । ततश्च कथं सारूप्यवत् सामान्यस्यापि वस्तुत्वम्? मामृदिति चेन्न;
तस्य ‘सामान्यविशेषार्थत्ववेदनम्’ इत्यनेन प्रत्यक्षविषयत्वनिवेदनात् । अवस्तुन. प्रत्यक्षविषय-
त्वानुपपत्तेरिति । तत्राह—]

सामान्यमन्यथासिद्धं न विज्ञानार्थयोस्तथा ।

अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतो गतेः ॥३१॥

20

[§ ३४. भवतु तर्हि प्राग्भाविन एव विषयत्व तस्य हेतुत्वेन ज्ञाने प्रतिबन्धादिति चेन्न,
ज्ञानकाले तस्याभावात् । न हि असतस्तत्काले तद्विषयत्वम्, एव हि निर्विषयत्वमेव ज्ञानस्य
स्यात् । साकारवादिना तु नाय दोषः, साकारज्ञानहेतुतयैव तस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः तत्राह—]

अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम् ? ।

असतो ज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी ॥३२॥

25

[§ ३५. यदि निराकारैव व्यक्तिः, कथं ततः प्रकाशननियमो ‘नीलस्यैवाय प्रकाशो
न पीतादे.’ इत्येकरूप इति चेदत्राह—]

प्रकाशननियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिबिम्बतः ।

अन्तरेणापि ताद्रूप्यं ब्राह्मग्राहकयोः सतोः ॥३३॥

[§ ३६. भवतु नाम सत्यर्थं (यं) हेतोरेव तत्प्रकाशननियमो न ताद्रूप्यात् । यत्र तु 80

तत्र मणिप्राप्त्या परितोषदर्शनात्, न प्रदीपप्रभामणिज्ञानं विपर्ययात् । तद्वदत्रापिती चेन्न ; तत्रापि विभ्रमे तदनुपपत्तेः.....तदेवाह—]

परितुष्यति नामैकः प्रभयोः परिधावतोः ॥६०॥

मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ मणिरत्र दुरन्वयः ॥

5 [§ ६१. तदनेन साध्यसमत्व दृष्टान्तस्य दर्शितम् । परो दृष्टान्तसमर्थनमाह—]

सति भ्रान्तेरदोषश्चेत् ;

[§ ७०. तत्रोच्यते—]

तत्कुतो यदि वस्तु न ? ॥६१॥

कामं सति तदाकारे तद्भ्रान्तं साधु गम्यते ।

10 [§ ७१. तत्र सादृशं तत्त्वमित्युपपन्नम् । भवतु वास्तवमेवेति चेन्न ; तस्य मिथ्याज्ञाना-
दसिद्धेः, सर्वेषामपि तत एवामिमत्सिद्धिप्रसङ्गात् । तदाह—]

अयमेवं नवेत्येवमविचारितगोचराः ॥६२॥

जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः ।

तावता यदि किञ्चित् स्यात् सर्वेऽमी तत्त्वदर्शिनः ॥६३॥

15 [§ ७२. शून्य-निर्विकल्पवादिनोः विचारस्यैवासंभवात् । सतोऽपि तस्य स्वाशमात्रपर्य-
वसानात् तदाह—]

पर्वतादिविभागेषु स्वांशमात्रावलम्बिभिः ।

विकल्पैरुत्तरैर्वैसि तत्त्वमित्यतियुक्तिमतम् ॥६४॥

[§ ७३. ततो विचारसाफल्यमभ्युपगच्छता तावद् वक्तव्यं बहिर्यविषयत्व विकल्पानाम्,

20 अन्यथा उपहासास्पदत्वेन तत्साफल्यानुपपत्तेः । प्रकारान्तरेणापि तेषां तद्विषयत्व दर्शयन्नाह—]

सन्तानान्तरसद्भूतेश्चान्यथानुपपत्तितः ।

विकल्पोऽर्थक्रियाकारविषयत्वेन तत्परैः ॥६५॥

ज्ञायते,

[§ ७४. ननु यावदर्थान्तरस्यैव जलादेर्विकल्पवेद्यत्वमनुमानेन उच्यते, तावदनर्थान्तरस्य

25 कस्माच्च कथ्यते ? तदनुमानस्यापि भावात् ; तथाहि—जलादिस्तद्विकल्पादनर्थान्तरं तद्वेद्यत्वात्
तत्स्वरूपवत् इति चेन्न, सन्तानान्तरेण व्यभिचारात् । इदमेवाह—]

न पुनश्चित्तमात्रेऽप्येष नयः समः ।

[§ ७५. ननु सन्तानान्तरस्य विकल्पो न तावद्व्यत्यक्षम् ; परचेतसा साक्षादप्रतिभास-
नात् । अनुमानमिति चेन्न; लिङ्गाभावात् । व्याहारादेस्तु न लिङ्गत्व गाढमूर्च्छादौ तदभावेऽपि
30 भावात् । तद्विशेषस्य तत्त्वमित्यपि न युक्तम्, असिद्धे साध्ये तस्यैव दुरन्वोधत्वात् । सिद्धे

[§ ४४. भवतु नाम वर्तमानस्य तच्छक्तितो व्यक्तिः सति तत्र शक्तिसद्भावात् । अती-
तादेस्तु कथम् असति तदभावादिति मन्यमानश्चोदति—]

व्यक्तिश्चेदसतः कथम् ? ।

[§ ४५. तदिदमपि दर्शनबलेन तत्रापि शक्तिमवस्थापयन् परिहरति—]

आरादपि यथा चक्षुरचिन्त्या भावशक्तयः ॥४०॥

5

[§ ४६ चोद्यमाविष्कुर्वन्नाह—]

विषमोऽयमुपन्यासः तयोश्चेत्सदसत्त्वतः ।

[§ ४७. परिहरन्नाह—]

यदा यत्र यथा वस्तु तदा तत्र तथा नयेत् ॥४१॥

अतत्कालादिरप्यात्मा,

10

[§ ४८. विपक्षे दोषमाह—]

न चेन्न व्यतिष्ठते ।

व्यवहारविलोपो वा,

[§ ४९. नास्वेव देशादिभेदः प्रकृत्यादिरूपो व्यवहारो वा क्वचित्, तदाश्रयस्य
बहिर्भावस्यैवाऽभावात् । तत्प्रतिभासस्तु विपर्यासोपनीत एव । 'प्रतिभासः समसोऽपि वासना-16
बलनिर्मितः' इति वचनात् । तस्मादयमयथार्थमेव (र्थ एव) तदेवाह—]

मोहाच्चेदयथार्थता ॥४२॥

[§ ५०. तत्रोत्तरमाह—]

अत्यन्तमसदात्मानं सन्तं पश्यन् स किं पुनः ।

प्रस्फुटं विपरीतं वा न्यूनाधिकतयापि वा ॥४३॥

20

प्रदेशादिव्यवायेऽपि प्रतीयन् प्रतिरुद्धयते ? ।

[§ ५१. साम्प्रत 'विपरीतं वा प्रति (ती) यन्' इत्येतत् स्मरणपर्यायेणैव (णैव) प्रत्यभि-
ज्ञानादिना पर्यायेणापि दम (दर्श) यन्नाह—]

एतेन प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिर्गता ॥४४॥

प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदे प्रत्यग्रानवबोधतः ।

25

अविज्ञाततथाभावस्याभ्युपायविरोधतः ॥४५॥

[§ ५२. सान्मतम्—यदुक्तमसन्नेव केशादिः तैमिरिकस्य प्रतिभासते तद्भ्रान्तेराधिपत्येन-
ति; तदशुक्तम्; असतः प्रतिभासेऽतिप्रसङ्गात् व्योमकुसुमादेरपि तदापत्तेः, ततो वस्तुसन्नेव
तत्केशादिः स्वप्नविपर्ययचेति; तत्र, .. इच्छुयैव तद्भावनालक्षणया परितः कामिन्यादेरुपलम्भात्,
अतो न तस्य पारमाथिक बहिरर्थत्वमेतदेवाह—]

30

तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्षक्षममात्मसमात्मनोः ।

तथा हेतुसमुद्भूतमेकं किन्नोपगम्यते ? ॥७३॥

सर्वैकत्वप्रसङ्गादिदोषोऽप्येष समो न किम् ? ।

भेदाभेदव्यवस्थैवं प्रतीता लोकचक्षुषः ॥७४॥

5 [§ ८५. नहि विभ्रमाद्वस्तुपरिज्ञानमतिप्रसङ्गात्, इति चेदेतदेवाशङ्क्य परिहरन्नाह—]

विज्ञप्तिर्वितथाकारा यदि वस्तु न किञ्चन ।

भासते केवलं नो चेत् सिद्धान्तविषमग्रहः ॥७५॥

[§ ८६. भवतु तत एव निर्णय इति चेत्; ततोऽपि विभ्रमरूपात्तदयोगात्, अन्य-
तादृशादेव प्र [ति] सिद्धान्तादपि तद्विषयस्य तत्रप्रसङ्गात्तदेवाह—]

10 अनादिनिधनं तत्त्वमलमेकमलं परैः ।

सम्प्रीतिपरितापादिभेदात् तत्किं द्वयासंभकम् ? ॥७६॥

[§ ८७. एव पातनिकाया प्रतिविदाहन (विधान) माह—]

ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्तिस्तत्र किञ्चानुषज्यते ? ।

[§ ८८. तदेवमङ्गीकृत्य सम्प्रीत्यादिभेदे तस्य तत्रप्रत्यक्षीकत्वमपाकृतम् । इदानीं स
15 एवोपायात्तास्तीति निवेदयन्नाह—]

भेदो वा सम्मतः केन हेतुसाम्येऽपि ? भेदतः ॥७७॥

तेषामेव सुखादीनां नियमश्च निरन्वयः ।

[§ ८९. भवतु तर्हि विज्ञानवाद एव तस्य प्रत्यक्षवलादेवोपपत्तेः न ब्रह्मवादेो विपर्यया-
दिति चेदत्राह—]

20 प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं मूर्च्छितादौ कथन्न तत् ? ॥७८॥

[§ ९०. अपि च मूर्च्छितादौ ज्ञानभावे प्रबोधस्य कादाचित्कत्वेनाहेतुत्वायोगात् शरीरो-
पादानत्वप्रसङ्गात्तदाह—]

अज्ञानरूपहेतुस्तदहेतुत्वप्रसङ्गतः ।

प्रवाह एकः किञ्चेष्टः तदभावाविभावात् ? ॥७९॥

25 [§ ९१. यथेक आत्मा कथ प्रतिशरीरं जीवभेद .. इति चेत् सम्भवेत्, उपाधि-
कल्पितेभ्यस्तेभ्यः परमात्मनोऽन्यत्वात्, .. तद्विकारत्वाच्च, तस्यैव परमात्मनः खल्वेते विकाराः
स्यै (त्रै) वाह—]

अविप्रकृष्टदेशादिरनपेक्षितसाधनः ।

दीपयेत् किञ्च सन्तानः सन्तानान्तरमञ्जसा ? ॥८०॥

30 अन्यवेद्यविरोधात्; किमचिन्त्या योगिनां गतिः ।

आयातमन्यथाऽद्वैतमपि चेत्यमयुक्तिमत् ॥८१॥

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञाऽपराधिनी ॥५२॥

बभूवेति वयं तावद् बहु विस्मयमास्महे ।

तत्राद्यापि जनाः सक्ताः तमसो नाऽपरं परम् ॥५३॥

[§ ६१. अपि च यद्यपरिज्ञानं तद्विज्ञवस्य कथमवस्थानम् अविज्ञववत् ? परिज्ञानञ्च यद्यविज्ञव कथं तदेकान्तः ? सविज्ञव चेत्कथं तवस्तत्सिद्धिः विपर्ययवत् ? तदाह—] 5

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्धयति ।

[§ ६२. तदसिद्धौ दूषणान्तरमप्याह—]

कथमेवार्थं आकाङ्क्षानिबृत्तेरपि कस्यचित् ॥५४॥

व्यवहारो भवेज्जातिभूकलोहितपीतवत् ? ।

[§ ६३. तदनेन प्रतीत्यपलापादनवधेयवचनत्वं तेषामुपदर्शयति—] 10

अनर्थानेकसन्तानानस्थिरानविसंविदः ॥५५॥

अन्यानपि स्वयं प्राहुः प्रतीतेरपलापकाः ।

[§ ६४. भवतु तत्त्वं सविद्वैतमेवेति चेत्; दत्तमत्रोत्तरम्—'अद्वय द्वयनिर्मासम्' इत्यादिना । तदेव विस्तरपन्नाह—]

स्वतस्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ? ॥५६॥

मित्यस्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ? ।

[§ ६५. अतो विद्यत एव परस्यापि परतस्तत्प्रतिभासनमिन्द्रियपपन्न एव तदुपक्षेपः, तदेवाह—]

यतस्तत्त्वं पृथक् तत्र मतः कश्चिद् बुधः परः ॥५७॥

ततस्त्वं गतं केन कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः ? ।

[§ ६६. यदि निरस्य स्वतः परतश्च न प्रतिभासनं तदपि माभूत्, सर्वाभावस्यापि बौद्धैः सिद्धान्तीकरणादिति कश्चित् । निरंशेतरादिनित्येतरादिविकल्पनादिति पर । तत्राह—]

यथा सत्त्वं सतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ॥५८॥

तथाऽसत्त्वमतत्त्वं वा प्रमाऽसत्त्वसतत्त्वतः ।

[§ ६७. यदि तेषु सत्त्वस [त] त्वे तदा कथमसत्त्वासतत्त्वे ? ते चेत्; कथं सत्त्व- 25 सतत्त्वे इति ? तदेवाह—]

तदसत्त्वमतत्त्वं वा परसत्त्वसनत्त्वयोः ॥५९॥

न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा तदसत्त्वासनत्त्वयोः ।

[§ ६८. स्यान्मतम्—सावृत्तमपि विज्ञानमसत्त्वादिविषयमेव तत्त्वसिद्धिनिवन्धनं न सत्त्वादिविषयमिति तन्मिथ्यात्वाविशेषात् । मिथ्याज्ञानमपि मणिप्रभाभिज्ञाननं च तन्निवन्धनम्, 30

एतत्समानमन्यत्र भेदाः संविदसंविदोः ॥८८॥
 न विकल्पानपाकुयन्नैरन्तर्यानुबन्धिनः ।
 आहुरर्थबलायातमनर्थमविकल्पकाः ॥८९॥

[§ ९६. इदमेव अनेकान्तवादिनमुपहसत. सौगतस्य प्रत्युपहासं दर्शयन् व्याचष्टे—]

5 चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।
 चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः ॥९०॥

[§ १००. ततो न यथोक्तं वाह्यमसत्, नापि विभ्रममात्रम्, सकलविकल्पविकलं वा, तत्प्रतिषेधस्याभिहितत्वात् । नापि संवृतिमात्रं (त्रं) स्पष्टप्रतीतिविषयस्य तत्त्वानुपपत्तेः । तदाह—]

10 तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नाऽसत्संवृतिरेव वा ।
 अतश्चार्थबलायातमनेकात्मप्रशंसनम् ॥९१॥

[§ १०१. सुगतसन्निधानात्तद् (चित्रज्ञानं) अवगम्यत इति चेन्न; अद्वैतवादे सुगतस्यैवाभावात् । भावेऽप्युत्तरमाह—]

न ज्ञायते न जानाति न च किञ्चन भाषते ।
 बुद्धः शुद्धः प्रवक्तेति तत्किलैषां सुभाषितम् ॥९२॥
 15 [§ १०२. न च कार्याभावादसत्त्वं कार्येण सत्त्व्याप्तेरभावात् ... इति न कार्याभावात् तद्बुद्धय (तद्बुद्धय) स्यामावः, एतदेवाह—]

न जातं न भवत्येव न च किञ्चित्करोति सत् ।

[§ १०३. उत्तरमाह—]

तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते ? ॥९३॥

20 [§ १०४. ततो युक्तं विज्ञानवदर्थस्यापि प्रतीतिबलादवस्थापनम् । इदानीं चकन्यशेषं दर्शयित्वा परिहर्तुमाह—]

एकेन चरितार्थत्वात्तत्राविप्रतिपत्तितः ।

अलमर्थेन चेत् ;

[§ १०५. उत्तरमाह—]

25 नैवमतिरूढानुवादतः ॥९४॥

[§ १०६. ततः प्रतीतिबलाद्धिज्ञानस्य यदस्तित्वं तदर्थस्यापि, यच्च अर्थस्याऽपरमार्थत्वं विशददर्शनपथप्रस्थायित्वात्तन्मिरिककेशादिवत् तद् विज्ञानस्यापि स्यादविशेषात् । तदाह—]

कल्पना सदसत्त्वेन समा किन्तु गरीयसी ।

प्रतीतिप्रतिपक्षेण तत्रैका यदि नापरा ॥९५॥

तस्मिन् तद्बुद्धिरिति चेन्न ; परस्परश्रयात्—साध्यसिद्ध्या तद्विशेषस्य तत्सिद्ध्या च साध्यस्य
व्यवस्थापनात् । तदेवाह—]

अन्योन्यसंश्रयान्नो चेत्,

[§ ७६. समाधानान्तरामिधित्सया परं पृच्छन्नाह—]

तत्किमज्ञानमेव तत् ? ॥६६॥

5

[§ ७७. तत्रोत्तरमाह—]

अद्वयं परचित्ताधिपतिप्रत्ययमेव वा ।

वीक्षते किं तमेवायं विषमज्ञ इवान्यथा ॥६७॥

[§ ७८. तेषा [विकल्पानाम्] समारोपव्यवच्छेदेन फलवत्त्वात्तदेवाह—]

समारोपव्यवच्छेदः साध्यश्चेत् सविकल्पकैः ।

10

[§ ७९. अत्रोत्तरमाह—]

नैषा विकल्पना साम्याद्दोषाणामनिवृत्तितः ॥६८॥

[§ ८०. एव विकल्पानामर्थक्रियाकारविषयत्वव्यवस्थापनेन बहिरर्थमवस्थाय प्रकारा-
न्तरेणापि तमवस्थापयन्नाह—]

न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति ।

15

असंश्वेद् बहिरर्थात्मा प्रसिद्धोऽप्रतिषेधकः ॥६९॥

[§ ८१. ननु यथा तस्य [बहिरर्थस्य] न प्रतिषेधक तथा न साधकमपि । तत.साधक-
वाधकप्रमाणाभावात् सन्देह एव । न च सन्दिग्धस्य प्रसिद्धत्वमिति चेदत्राह—]

सन्देहलक्षणाभावात्, मोहश्चेद् व्यवसायकृत् ; ।

याधकासिद्धेः, स्पष्टाभात् कथमेष निश्चयः ? ॥७०॥

20

विपर्यासोऽपि किन्नेष्टः आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धितः ? ।

[§ ८२. वेद एव भ्रमस्तस्य चिदादौ नात्मनीति चेत्, विभ्रमेतररूपं तदेकं सवेदन
कथम् ? तथैव प्रतिभासाश्वेदेतदेवाह सौगत —]

अद्वयं द्वयनिर्भासमात्मन्यप्यवभासते ॥७१॥

[§ ८३. एव प्रक्रमानेकान्ते परेण निरूपिते सत्याह—]

25

इतरत्र विरोधः कः एक एव स्वहेतुतः ।

तथा चेत् स्वपरात्मानौ सदसन्नौ समद्भुते ? ॥७२॥

[§ ८४. तत्र विभ्रमेतराकारतया उभयाकारं सवेदनं यत् तदवस्थमेव (वष्टमेव)
क्रमानेकान्तव्यवस्थापनमिति चेदत्राह—]

[§ ११४. कुतः पुनः समवायाभावे 'शाखासु वृक्षः' इति प्रत्ययः ? इति चेदत्राह—]

अथ ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः ॥१०४॥

तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखाः वृक्षेऽपि लौकिकः ।

[§ ११५. इति नावधिभ्यः [परमाणुभ्यः] स्थूलमर्थान्तरम्, अर्थान्तरत्वे पुनरपि
5 तदाशङ्कापूर्वं दूषणमाह—]

तुलितद्रव्यसंयोगे स्थूलमर्थान्तरं यदि ॥१०५॥

तत्र रूपादिरन्यश्च साक्षैरीक्ष्येत सादरैः ।

[§ ११६. तत्रैव दूषणान्तरमाह—]

गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाश्च,

10 [§ ११७. अत्र परस्य परिहारमाह—]

आसूक्ष्मतः किल १०६॥

अतौल्यादर्थराशेस्तद्विशेषानवधारणम् ; ।

[§ ११८. तन्नातौल्याद् गुरुत्वादेस्तत्राप्यनवधारणम् । आहासिद्धत्वमप्यस्य हेतोः सम्प्रति
शास्त्रकृत्—]

15 ताद्भादिरक्तिकादीनां समितक्रमयोगिनाम् ॥१०७॥

कथमातिलकात्स्थूलप्रमाणानवधारणे ।

अल्पभेदाग्रहान्मानमणूनामनुषज्यते ॥१०८॥

अंशुपातानुमाहृष्टेरन्यथा तु प्रसज्यते ।

[§ ११९. अपि परमाणुपर्यन्तमध्यपातिनामवयवविशेषाणाम् अशक्येयत्तातोलनाना यद्य-
20 भावः पर्यन्तोऽप्यवयवी न भवेत्, तस्याप्यवयवाधारस्यैवान्युपगमात् । भावश्चेत्तत्राह—]

क्षीराद्यैरविजातीयैः प्रक्षिप्तैः क्रमशो घटः ॥१०९॥

तावद्भिरेव पूर्येत यावद्भिर्न विपर्ययैः ।

[§ १२०. साम्प्रत परमताक्षेपपुरस्सरं स्वमतमाह—]

नांशेष्वंशी न तेऽन्नान्ये वीक्ष्या न परमाणवः ॥११०॥

25 आलोक्यार्थान्तरं कुर्यादत्रापोद्धारकल्पनाम् ।

[§ १२१. तदेवं 'परोक्षज्ञानविषय' इत्यादिना आत्मवेदनम्, 'एतेन विचिसत्तायाः'
इत्यादिना चार्थवेदनं व्यवस्थापयता कारिकोपात्तमाल्पपदमर्थपद व्याख्यातम् । इदानीं तदुपात्त
द्रव्यपदं व्याख्यातुराह—]

गुणपर्ययवद् द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ॥१११॥

80 विज्ञानव्यक्तिशक्याद्या भेदाभेदौ रसादिवत् ।

[§ ६२. कथं पुनर्ब्रह्मिण्यस्य वस्तुसतः परिज्ञानम् ? न प्रतिभासात्, तस्याऽसत्त्वपि तस्मिन् विश्वभावस्याया भावात् । तद्विशेषादित्यपि न युक्तम्, अजादितत्त्वादेस्तद्विशेषस्य निराकरणादिति चेन्न; तद्वत् सन्तानान्तरस्यापरिज्ञानापत्तेः, प्रत्यक्षतस्तद्वेदनात्, तल्लिङ्गास्य च व्याहारादेरित्यपि तस्मिन् विश्ववदशाया भावात्तदाह-]

व्यवहारादिनिर्भासो विप्लुताक्षेऽपि भावनः । 5

अनाधिपत्यशून्यं तत् पारम्पर्येण चेत्; असत् ॥८२॥

अर्थेष्वपि प्रसङ्गश्चेत्यहेतुमपरे विदुः ।

[§ ६३. ततो भवत्येव नीलतज्ज्ञानयोरभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह-]

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्विद्वयोः ॥८३॥

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वयत्वतः । 10

[§ ६४. तदयं प्रतिपक्षमनपाकुर्वत एव कल्पिताद्वेतोः साध्यसिद्धिं तात्त्विकीमन्विच्छन् कथमिव प्रज्ञावन्तमात्मानं प्रेक्षाद्भयं. प्रकटीकुर्यात्, अपि च यदि केनापि निष्पूरद्धयेन विप्रलब्धो न भवेत्तदाह-]

साध्यसाधनसङ्कल्पस्त्वन्नो न निरूपितः ॥८४॥

परमार्थावताराय कुनश्चित्परिकल्पितः ।

15

अनपायीनि विद्वत्तामात्मन्याशांसमानकः ॥८५॥

केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकूपालुना ! ।

[§ ६५. स्यादेतदेव यदि परमाणवः प्रतीपरन्, न चैवम्; एकैकशः समुदायेन वा तत्प्रतिपक्षप्रतिवेदनात् । तदारब्धोऽवयवीति चेन्न; परमाणूनां निरपेक्षतया तदारम्भकत्वे पृथग्दशायामपि प्रसङ्गात् । संयोगसव्यपेक्षाणां तत्त्वे; संयोगो यथकदेशेन, अव्यवस्थापत्तिः । 20 तदाह-]

तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ॥८६॥

[§ ६६. तस्माच्चैकदेशेन तेषां संयोगः । सर्वात्मनेति चेदत्राह-]

नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यान्न च ते बुद्धिगोचराः ।

[§ ६७. पदादेरपि परपरिकल्पितस्याभावात्, अभावश्च तस्य परिस्फुटमनवभास- 25 नात्तदाह-]

न चैकमेकरागादौ समरागादिदोषतः ॥८७॥

स्वतः सिद्धेरयोगाच्च, तद्बुद्धेः सर्वथेति चेत्; ।

[§ ६८. साम्प्रत पूर्वपक्षसमाप्तिमितिशब्देन चेच्छब्देन च परामिप्राय द्योतयन्नाह- 'इति चेत्' इति । अत्रोत्तरमाह-]

30

तथायं क्षणभङ्गो न ज्ञानांशः सम्प्रतीयते ॥१२०॥
अर्थाकारविवेको न विज्ञानांशो यथा क्वचित् ।

[§ १३२. एवं स्थिते परिणामस्य निर्व्याकुलत्वात् तमेव वस्तुलक्षणमागमाविरोधेन कथ-
यन् तल्लक्षणं तत्त्वार्थसूत्रेण दर्शयति—]

5 'तद्भावः परिणामः' स्यात् सविकल्पस्य लक्षणम् ॥१२१॥

[§ १३३. तत्रैवानुमानमाह—]

तदेव वस्तु साकारमनाकारमपोद्धृतम् ।

[§ १३४. यत्पुनरिदमेकान्तव्या (निरा) करणाय व्यासस्य सूत्रम्—'नैकस्मिन्नासम्भ-
वात्' इति । अस्यार्थः नानेकान्तवादो युक्तः । कुत एतत् ? एकस्मिन् धर्मिणि सदसत्त्वनिव-
10 त्वानित्यत्वानैकत्वादीना विरुद्धधर्माणामसंभवादिति तत्राह—]

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् ॥१२२॥

[§ १३५. तत्रैकत्र भेदसंभवः तस्यैवैकस्याभावादिति, तत्राह—]

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ।

ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्येत्काको मयूरवत् ॥१२३॥

15 [§ १३६. कुतश्च स्वलक्षणस्यान्वयस्य वा प्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तौ तान्यामेव सर्वव्य-
वस्थितिप्रतिज्ञानुपपत्तेः । यथासंख्येन प्रत्यक्षादनुमानाच्चेति चेन्न; प्रत्यक्षस्य यथाकल्पन-
मप्रतिपत्तेः ...अनुमानस्य च यथा नाभिजल्पसम्पर्कयोग्याकारस्य प्रतिपत्तिः तथा निवेदितमेव ।
अप्रतिपत्तादपि तत एव तत्प्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

प्रामाण्यं नाऽगृहीतेऽर्थे प्रत्यक्षेतरगोचरौ ।

20 भेदाभेदौ प्रकल्प्येते कथमात्मविकल्पकैः ? ॥१२४॥

[§ १३७ . इति स्थितम्—सामान्यविशेषात्मकत्वं प्रत्यक्षविषयस्य । साम्प्रतमुक्तमेवा-
र्थमनुग्रहपरत्वाच्छिष्याणामनुस्मरणाय श्लोकानां विंशत्या सहगृह्य कथयन्नाह—]

उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसङ्ग्रहम् ।

सद्, भिन्नप्रतिभासेन स्याद्विभ्रं सविकल्पकम् ॥१२५॥

25 [§ १३८. यथेव भिन्नमेव तदस्तु नाभिन्नमित्यत्राह—]

अभिन्नप्रतिभासेन स्याद्विभ्रं स्वलक्षणम् ।

[§ १३९. कथ पुनः परस्परविरुद्धभेदाभेदधर्माधिष्ठानमेकं वदित्विति चेदाह—]

विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा ॥१२६॥

[§ १४०. एतदेव कुत इत्याह—]

[§ १०७. न चैवं केशादेरपि तज्ज्ञानासिद्धिः; तत्र खतः परतश्च असत्यत्वस्यैव निश्चयात्, तदाह—]

न हि केशादिनिर्भासो व्यवहारप्रसाधकः ।

[§ १०८. पर आह—वासनाभेदात् । तत्रोत्तरम्—सिद्धस्तत्र ।]

वासनाभेदाद्भेदोऽयम्; सिद्धस्तत्र न सिद्धयति ॥९६॥ 5

तन्मात्रभावो दृष्टान्ते सर्वत्रार्थोपकारतः ।

पारम्पर्येण साक्षाद्वा परापेक्षा; सहेतवः ॥९७॥

विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो व्यवहारादिधियो यथा ।

[§ १०९. यथैताः परापेक्षाः तथान्येऽपि दृष्टान्ता इत्येवं साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्य प्रतिपाद्य इदानीं तन्मात्रभावे साध्यसिद्धिभावेदयन्नाह—] 10

सन्निवेशादिभिर्दृष्टैर्गोपुराद्वालिकादिषु ॥९८॥

बुद्धिपूर्वैर्यथा तत्त्वं नेष्यते भूधरादिषु ।

तथा गोचरनिर्भासैर्दृष्टैरेव भयादिषु ॥९९॥

अवास्तवभावनाजन्यैरन्यत्रेत्यवगम्यताम् ।

अत्र मिथ्याविकल्पौघैरप्रतिष्ठानकैरलम् ॥१००॥ 15

[§ ११०. भवतु वदिर्यः स तु परमाणुरूप एव तस्यैव प्रत्यक्षज्ञानं परो विपर्ययादित्युपक्षिप्य प्रत्याचक्षाण आह—]

अत्यासन्नानसंसृष्टानणूनेवाक्षगोचरान् ।

अपरः प्राह; तत्रापि तुल्यमित्यनवस्थितिः ॥१०१॥

[§ १११. तदेव परमाणूनां प्रत्यक्षत्वं प्रत्याख्याय अवयविनस्तत्रत्याख्यानायां यौग- 20 मतमुपक्षिपति—]

तत्रापि तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु ।

अत्यक्षेषु द्रुमेष्वन्यदध्यक्षमपरे विदुः ॥१०२॥

[§ ११२. अत्र प्रतिविधानमाह—]

कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ? । 25

[§ ११३. ततः शाखाचलनमेव वृक्षस्यापि चलनमिति कथं शाखातादात्म्यं वृक्षस्य प्रतीतिसिद्धं न भवेत्, यस्तत्र अर्थान्तरसम्बन्धप्रतिज्ञा प्रतीतिप्रतिक्षिता हेतवश्च विरुद्धा न भवेयुः । तदेवाह—]

समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्त्रित्वाविसाधनैः ॥१०३॥

अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः । । 80

समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम् ।

[§ १४६. तदेवं वस्तुभूतादेव धर्मभेदात् व्यवहारोपपत्तौ यत्तदर्थं व्यावृत्तिभेदेन जाति-
भेदोपकल्पन तस्यायुक्तत्वं तत्कल्पनाकृताञ्च अस्थानमीरुत्व दर्शयन्नाह—]

5

अत्र दृष्टविपर्यस्तमयुक्तं परिकल्पितम् ॥१३६॥

मिथ्याभयानकग्रस्रैः मृगैरिव तपोवने ।

[§ १५०. मिथ्याभयानकत्वमेव तेषां दर्शयन्नाह—]

10

यस्यापि क्षणिकं ज्ञानं तस्यासन्नादिभेदतः ॥१३६॥

प्रतिभासमिदां घत्तेऽसकृत्सिद्धं स्वलक्षणम् ।

विलक्षणार्थविज्ञाने स्थूलमेकं स्वलक्षणम् ॥१३७॥

तथा ज्ञानं तथाकारमनाकारनिरीक्षणे ।

अन्यथाऽर्थार्थान्नस्तत्त्वं मिथ्याकारैकलक्षणम् ॥१३८॥

[§ १५१. सदादिरूपस्यैव तत्र दर्शनं न तद्विवेकस्येति चेदत्राह—]

विज्ञानप्रतिभासेऽर्थविवेकाप्रतिभासनात् ।

विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् व्यतिरेकेण चक्रकम् ॥१३९॥

15

[§ १५२. तत्र जीवति स्थूलज्ञाने निर्भागज्ञानसम्बो यतः परमाणुसिद्धिः, तदसिद्धौ
यदन्यत्प्राप्तं तदप्याह—]

प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणुवत् ।

अतदारम्भतया बुद्धेरर्थकारिविवेकवत् ॥१४०॥

[§ १५३. एवञ्च यज्जात परस्य तद्दर्शयन्नाह—]

20

अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम् ।

दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोः ॥१४१॥

सर्वथाऽर्थक्रियाऽयोगात्, तथा सुप्तप्रबुद्धयोः ।

अंशयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥१४२॥

[§ १५४. इदानीं तेन द्रव्यपर्यायादीनामन्योन्यात्मकत्वेन भावः इति परिणामलक्षणं
२६ सद्गृह्य दर्शयन्नाह—]

संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यदि वर्तते ।

अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा; परिणामिनः ॥१४३॥

[§ १५५. भवतु सामान्यं तत्तु विजातीयव्यावृत्तिरूपमेव ... इति चेदत्राह—]

१ एतदनन्तरम् 'अत एवाह—' इति कृत्वा 'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात्' इति कारि-
काशः पुनरप्यक्तः । परं विवरणकृताऽव्याख्यातत्वात् स विवरणकारेणैव अनुस्यूत इति प्रतिपाति ।

[§ १२२. किं गुणग्रहणेन पर्यायवद्भव्यमित्येवास्तु, गुणानामपि परिच्छिन्नायन (त)-
रूपतया पर्यायवन्तर्भावादिति चेदत्राह—]

सदापि सधिकल्पाख्यासाधनाय क्रमस्थितेः ॥११२॥

गुणपर्याययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्वयग्रहः ।

गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः ॥११३॥

5

अद्रवद् द्रवनि द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्यायम् ।

भेदज्ञानात् प्रनीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि ॥११४॥

अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ।

[§ १२३. ततः सर्वं सत् उत्पादादित्रयात्मकमेव नोत्पादाद्यन्यतमैकान्तात्मकं तदप्रति-
पत्तरेतदेवाह—]

10

सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, असनोऽगतेः ॥११५॥

[§ १२४. ननु ध्रौव्यं नाम दधिपर्यायस्य उत्तरतत्पर्यायिणैकत्वं तच्च तैर्न कुतो न करम-
पर्यायेणापि ? देशादिभेदस्य प्रकृतेऽप्यविशेषादिति चेदत्राह—]

तादात्म्यनियमो हेतु-फलसन्तानवद्भवेत् ।

[§ १२५. भवतु तदुभयमपि क्षणिकमेवेति चेदत्राह—]

15

भिन्नमन्तर्बहिः सर्वं युगपत्क्रमभावि, न ॥११६॥

प्रत्यक्षं न तु साकारं क्रमयुक्तमयुक्तिमतम् ।

[§ १२६. एतदेव लोकप्रसिद्धेनोदाहरणेन दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षप्रतिसंबेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥११७॥

[§ १२७. तदेव मूलकारिकानिर्दिष्टयोः द्रव्यपर्यायपदयो व्याख्यानं कृत्वा सामान्यवि- 20
शेषपदयोः तद्दर्शयति—]

समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यत्रयपेक्षया ।

[§ १२८. तदेव द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकत्वं भावस्य प्रपञ्चोक्तमुपसहस्य दर्शयन्नाह—]

स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ॥११८॥

समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्तिभिः ।

25

[§ १२९. सहविवर्तिमिरेकमित्येतदसहमानस्य मतमाशङ्कते—]

यदि शेषपरावृत्तरेकज्ञानमनेकतः ॥११९॥

[§ १३०. अत्रोत्तरमाह—]

अन्वर्थमन्यथाभासमनंशानां न राक्षयः ।

[§ १३१. सिद्धा तर्हि क्षणमङ्गल्यापि प्रत्यक्षे तद्वदप्रतिपत्तिरेतदेवाह—]

80

प्रत्याचष्टे, समानन्यायतया तत्प्रत्याख्यानादेव द्रव्यत्वादेरपरसामान्यस्यापि प्रत्याख्यानोपनीता-
(नीतत्वा) त्—]

नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिभिर्द्यदि ॥१५१॥

व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सच्चराचरम् ।

5 सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा ॥१५२॥

सर्वेऽर्थाः देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम् ।

सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गशरीरवत् ॥१५३॥

तत्र भावाः समाः केचिन्नापरे चरणादिषुत् ।

[§ १६६. साम्प्रतं प्रस्तुतप्रस्तावार्थविस्तारमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह—]

10 एकानेकमनेकान्तं विषमं च समं यथा ॥१५४॥

तथा प्रमाणतः सिद्धमन्यथाऽपरिणामतः ।

[§ १६७. ततो व्यवस्थितं व्यवसायात्मकं विशदं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्पार्थिवेदं प्रत्यक्षमिति । किमनेन तल्लक्षणेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमित्येवास्तु निर्दोषत्वात् ? इति चेदुच्यते—]

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम् ॥१५५॥

15 अविस्वादनियमादक्षगोचरचेतसाम् ।

[§ १६८. तथा विकल्पजननात् प्रत्यक्षप्रामाण्यं विकल्पस्यैव मुख्यतस्तदुपनिपातात् । विकल्पानामयथार्थत्वाच्चेति चेदग्राह—]

सर्वथा वितथार्थत्वं सर्वेषामभिलापिनाम् ॥१५६॥

ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ! ।

20 [§ १६९. इदानीं मानसमपि तत्प्रत्यक्ष प्रतिषेद्धुं कारिकापादत्रयेण परप्रसिद्धं तत्त्वरूपमुपदर्शयति—]

अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ॥१५७॥

प्रत्यक्षं मानसं चाह;

[§ १७०. तदिदानीं निराकुर्वन्नाह—]

25 भेदस्तत्र न लक्ष्यते ।

[§ १७१. शान्तमद्रसवाह—यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तत्प्राप्तेऽनो न लक्ष्यते, कार्यतो लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्कत्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं सन्तानमेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरज्ञानवत् । ततोऽन्यदेव अक्षज्ञानात् तत्कारणम्, तदेव च मानसं प्रत्यक्षमित्येतदेव दर्शयित्वा प्रत्याचिख्यासुराह—]

30 अन्तरेणेवमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ॥१५८॥

स्यादसम्भवतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठितम् ।
समानार्थपरावृत्तमसमानसमन्वितम् ॥१२७॥

[§ १४१. कुतः पुनस्तदित्यमित्याह—]

। प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः ।

[§ १४२. कथं पुनरेकमेव स्वलक्षणं तथा प्रत्यक्षं परोक्षश्चेति चेदत्राह—] 5

सुनिश्चितमनेकान्तमनिश्चितपरापरैः ॥१२८॥

[§ १४३. स्यान्मतम्—उपादानोपादेयलक्षणसन्तानादन्यत् क्रमाऽनेकान्तं परमाणु-
समुदायादवयवव्यादेश्वार्थान्तरमक्रमानेकान्तमपि द्विविधेचनमेवेति; तत्राह—]

सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेषतः ।

[§ १४४. उपादानमपि न प्रत्यभिज्ञानादन्यतः शक्यसमर्थनम् . ततः तत्समर्थना- 10
दपि अनेकान्तमेव सुनिश्चितमित्यावेदयन्नाह—]

प्रत्यभिज्ञाविशेषात्तदुपादानं प्रकल्पयेत् ॥१२९॥

अन्योन्यात्मपरावृत्तभेदाभेदावधारणात् ।

मिथ्याप्रत्यवमर्शेभ्यो विशिष्टात् परमार्थतः ॥१३०॥

[§ १४५. तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षम्, न तान्या मित्तमन्यत् प्रत्यभिज्ञानं यत- 15
स्तयोरवधारणमिति चेदत्राह—]

तथाप्रतीतिमुल्लंघ्य यथास्वं स्वयमस्थितेः ।

नानैकान्तग्रहप्रस्ता नान्योन्यमतिशोरते ॥१३१॥

[§ १४६. भवतु तत्र सुनिश्चितमनेकान्तं यत्र पूर्वबहुचरस्यापि दर्शनं प्रत्यभिज्ञानस्य
तन्निश्चयहेतोस्तत्र संभवात् । यत्र तु पूर्वस्यैव दर्शनं न परस्य तत्र कथं संभवात् (वः) नक्षप्र- 20
तिपक्षस्य पूर्वमिदेन अन्यथा वा प्रत्यभिज्ञानं संभवतीति चेदत्राह—]

शब्दादेरुपलब्धस्य विरुद्धपरिणामिनः ।

पश्चादनुपलम्भेऽपि युक्तोपादानवद्भवति ॥१३२॥

[§ १४७. युक्तमुपादानस्योपलब्धाच्चब्दादेरनुमानम् तस्य निरुपादानस्यायोगात् ।
नोपादेयस्य; कारणस्य कार्यवत्त्वनियमामावादिति चेदत्राह—] 25

तस्याऽदृष्टमुपादानमदृष्टस्य न तत्पुनः ।

अवश्यं सहकारीति विपर्यस्तमकारणम् ॥१३३॥

[§ १४८. निगमयन्नाह—]

तदेवं सकलाकारं तत्स्वभावैरपोद्भूतैः ।

निर्विकल्पं विकल्पेन नीतं तत्त्वानुसारिणा ॥१३४॥ 30

ओत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु ॥१६५॥

प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी ? ।

[§ १=१. साम्प्रतं नैयायिकस्य प्रत्यक्षलक्षणमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—]

तथाऽक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनम् ॥१६६॥

5

व्यवसायात्मसंवाद्यव्यपदेश्यं विरुद्धयति ।

[§ १=२. पुनरपि नैयायिकस्य विरुद्धं दर्शयति—]

नित्यः सर्वगतो ज्ञः सन् कस्यचित्समवायतः ॥१६७॥

ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य नेश्वरज्ञानसंग्रहः ।

[§ १=३. भवताऽपि कस्मादतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं नोच्यते ? इति चेदत्राह—]

10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ॥१६८॥

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥१६८३॥

[§ १=४. भवतु तर्हि तत्सुगतस्यैव तत्रैव तद्विज्ञस्य तत्त्वोपदेशस्य भावात् इति चेत् ; सत्यमिदं यदि तत्त्वोपदेश एव तत्र भवेत्, न चैवमत एवाह—]

15

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,

चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलमेति तत्त्वं प्रपेदे ।

न ज्ञाता तस्य तस्मिन्न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्,

इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥१६९३॥

इति न्यायविनिश्चये प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ॥



२. द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ।

20

[§ १=५. इदानीं परोक्षस्य तथानिरूपणमवसरप्राप्तमिति तत्रमेदमनुमानं निरूपयन्नाह—]

साधानात् साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये ॥१७०॥

विरोधात् कश्चिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ।

25

[§ १=६. प्रत्यक्षस्यापि न वस्तुतः स्वार्थपरिच्छेदः तत्काले तदर्थस्य कारणत्वेन व्यतिक्रमादपि तु तदाकारस्वरूपपरिच्छेदस्य तन्नारोपादौपचारिकवत् (कं तत्) तथाऽनुमानस्यापि

तत्परिच्छेदसाधने सिद्धसाधनमिति चेदत्राह—]

प्रत्यक्षं परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ॥१७१॥

सत्यं परिस्फुटं येन तथा प्रामाण्यमश्नुते ।

अतद्वेतुफलापोहमविकल्पोऽभिजल्पति ।

[§ १५६. साम्प्रतं तस्य वस्तुषु भावादीना वस्तुसामान्यसाधनत्वेन विरुद्धत्वमावेदयन्नाह—]

समानाकारशून्येषु सर्वथाऽनुपलम्भतः ॥१४४॥

तस्य वस्तुषुभावादिसाकारस्यैव साधनम् ।

न विशेषा न सामान्यं तान् वा शक्त्या कयाचन ॥१४५॥ 5

तद्विभक्तिं स्वभावोऽयं समानपरिणामिनाम् ।

[§ १५७. भिन्नमेव सामान्य विशेषेभ्यः तदाधेयञ्च, खण्डादिषु गोत्वमिति प्रतिपत्तेः तत्कथं ते तत्र विभक्तिश्च इति चेदत्राह—]

अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धम् उभयात्मकमङ्गसा ॥१४६॥

[§ १५८. ततः सावृत्तमेतत्, अस्थूलविन्यावृत्त्या स्थूलादेः संब्रूया कल्पनाविति 10 चेदत्राह—]

सन्निवेशादिवद्वस्तु सांघृतं किञ्च कल्प्यते ? ।

[§ १५९. निरंशार्थप्रवादे हि वस्तुनः सर्वथा प्रहात् । न काचिद्विभ्रमो नाम भवेदित्याह शाकल्यत—]

समग्रकरणादीनामन्यथा दर्शने सति ॥१४७॥

15

सर्वात्मनां निरंशत्वात् सर्वथा ग्रहणं भवेत् ।

[§ १६०. अत्र तु तस्य [चन्द्रस्य] एकत्वादिनेव वर्तुलत्वादिनाप्यग्रहणमेवेति चेदत्राह—]

नौयानादिषु विभ्रान्तो न न पश्यति बाह्यतः ॥१४८॥

[§ १६१. पर्यन्तमि असदेव पर्यतीति चेदाह—]

न च नास्ति स आकारः ज्ञानाकारेऽनुषङ्गतः ।

20

[§ १६२. तस्माद् दृश्येतराल्पत्वमनेकान्तावलम्बनम्, इदमेवाह—]

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य न दृष्टः सकलो शुणः ॥१४९॥

[§ १६३. तदेवं रूपसंस्थानात्मकत्ववद् दृश्येतराल्पत्ववच्च सामान्यविशेषाल्पके वस्तुनि व्यवस्थिते सति यत् परस्यापद्यते, तदाह—]

प्रत्यक्षं कल्पनापोहं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ।

25

[§ १६४. निगमयन्नाह—]

अध्यक्षलिङ्गनः सिद्धमनेकात्मकमस्तु सत् ॥१५०॥

सत्यालोकप्रतीतिः सन्तः सन्तु विभत्सराः ।

[§ १६५. साम्प्रतं सदृशपरिणामं सामान्यमनम्युपगच्छतो वैशेषिकादेः तद्व्यवहार एव न संभवति तत्परिकल्पितस्य सामान्यस्थानुपपत्तेरिति दर्शयितुं प्रथमं तावत् परसामान्यं सत्त्वमेव 30

[§ १६७. साम्प्रतं सौत्रान्तिकं प्रति सत्तासम्पन्नमाह—]

अक्षादेरप्यदृश्यस्य तत्कार्यव्यतिरेकतः ।

[§ १६८. एवमदृश्यस्यापि सत्ता प्रसाध्यते; तत्र परोक्तं दूषणं प्रत्याचक्षणं आह—]

एतेनातीन्द्रिये भावकार्यकारणतागतेः ॥१७९॥

6 तत्सत्ताव्यवहाराणां प्रत्याख्यानं निवारितम् ।

[§ १६९. इदानीम् 'अतीन्द्रिये भाव' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुराह—]

व्याधिभूतग्रहादीनां विप्रकर्षेऽपि गम्यते ॥१८०॥

कुतश्चित्सदसद्भावविरोधप्रभवं तथा ।

प्रामाण्यमविसंवादाद् भ्रान्तिरध्यवसायतः ॥१८१॥

10 प्रत्यक्षाभाप्रसङ्गश्चेत्तथानभिनिवेशतः ।

[§ २००. यपस्यध्रुवमासित्वादनुमानमवस्तुविषय प्रत्यक्षमपि कथञ्चित्ता भवेदित्याह—]

दूरदूरतरादिस्थैरेकं वस्तु समीक्ष्यते ॥१८२॥

नानाभं स्यात्तथा सत्यं न चेद्द्वस्त्वनुरोधि किम् ? ।

[§ २०१. इति सिद्धं तस्य स्पष्टज्ञानेनैकविषयत्वं मित्रप्रतिभासत्वेऽपि तदेकार्थत्वात्,

16 एतदेव दर्शयन्नाह—]

तस्मादनुमितेरर्थविषयत्वनिराकृतिः ॥१८३॥

प्रतिभासमिदायाः किमेकस्यानेकतो ग्रहात् ? ।

[§ २०२. सिद्धं तर्हि वस्तुष्वेव प्रतिबन्धपरिज्ञानमनुमानस्य च साफल्यमेतदेवाह—]

समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्तितः ॥१८४॥

20 तत्राशक्तिफलाभावौ न स्यातां लिङ्गलिङ्गिनोः ।

[§ २०३. भवतु तत्परिणाम एव सामान्यम्, तस्य तु व्यक्तिभ्यो भेद एवेति यौगाः

अभेद एवेति सांख्याः, तत्राह—]

न भेदोऽभेदरूपत्वात् नाऽभेदो भेदरूपतः ॥१८५॥

सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ।

25 [§ २०४. अभेदस्यैव सर्वभावेऽपि प्रतिपत्तेः इति कश्चित्; भेद एव भावानां तात्त्विकः

न कथञ्चिदप्यनुगमः... इत्यपरः; तत्रोत्तरमाह—]

संसर्गो नास्ति विश्लेषात्, विश्लेषोऽपि न केवलम् ॥१८६॥

संसर्गात् सर्वभावानां तथा संवित्तिर्भवत् ।

[§ २०५. कुतः पुनः समानपरिणाम एव सामान्यमभिमतम् [न] नैयायिकादिक-

80 लिपतमेवेत्याह—]

सन्तानान्तरवचेतः समनन्तरमेव किम् ? ।

शब्दकुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ॥१५९॥

यावन्तीन्द्रियचेतांसि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ।

[§ १७२. तत्र तावत्त्व मनसामुपपन्नम्, अथैकमेव सकलरूपादिविषयं तेभ्यो मन-
स्तदाह—]

5

अथैकं सर्वविषयमस्तु;

[§ १७३. अत्रोत्तरम्—]

किं वाऽक्षबुद्धिभिः ? ॥१६०॥

[§ १७४. साम्प्रतं मनसामक्रमोत्पत्ता उक्त प्रतिसन्ध्यभाव क्रमोत्पत्तावपि दर्शयन्नाह—]

क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुद्धयते ।

10

अध्यक्षादिविरोधः स्यात्तेषामनुभवात्मनः ॥१६१॥

[§ १७५. तत्र शान्तभद्रपक्षो ज्यायान् । धर्मोत्तरस्त्वाह—न प्रत्यक्षादिप्रसिद्धत्वात् मानसं
प्रत्यक्षमिष्यते यतोऽयं दोषः किन्तु आगमार्थानन्वात् । तत्र च परे दोषमुपादयन्ति—यदि मानस-
मपि किञ्चित् प्रत्यक्षं तर्हि नान्धो नाम कश्चित् लोचनविकलस्यापि तत्सम्भवात्; इति तत्परिहा-
राय तल्लक्षणप्रणयनम्—‘इन्द्रियज्ञानेन’ इत्यादि । न हीन्द्रियज्ञानमन्वस्य यत्सद्गुपादानस्य मानसप्र- 15
त्यक्षस्य तत्र भावाच्छब्दवहारो न भवेदिति, तत्रोत्तरमाह—]

वेदनादिवदिष्टं चेत्; कथञ्जातिप्रसज्यते ? ।

[§ १७६. यत्सुनरुक्तम्—विप्रतिपत्तिनिराकरणाय तल्लक्षणमुच्यते इति; तत्राह—]

प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः ॥१६२॥

लक्षणं तु न कर्त्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु ।

20

[§ १७७. साम्प्रतमविकल्पकमित्यादिना सामान्यतः प्रतिभितमपि स्वसवेदनप्रत्यक्ष
युक्त्यन्तरेण प्रतिक्षिपन्नाह—]

अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते ॥१६३॥

स्वापमूर्च्छार्थवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ? ।

[§ १७८. तदवस्थस्य ज्ञानमेव नास्ति, तद्भावे जाग्रत इव तत्त्वविरोधात्, ततः कथ- 25
मात्मवेदनं यतोऽयं प्रसङ्ग इति प्रश्नाकरो ब्रह्मवादी च ‘तत्रोत्तरं दर्शयति—]

विच्छेदे हि चतुःसत्यभावनादिविरुद्धयते ॥१६४॥

[§ १७९. तत्र निश्चयविकल संविचिमात्रमेव प्रत्यक्षम् । अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह—]

प्रायशो योगिविज्ञानभेतेन प्रतिवर्णितम् ।

[§ १८०. साम्प्रतं साध्यस्य प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्याचक्षाण आह—]

30

[§ २१४. ततस्तत्र [अपोहे] मेदामेदाम्यां दोषोपकल्पनं परमतानभिन्नानं पिष्टुणयति इति । तदेवाह—]

सामान्यं चेदपोहिनां बुद्ध्या सन्दर्श्यते तथा ॥१९४॥
अतद्धेतुफलापोहः;

5 [§ २१५. तत्रोत्तरमाह—]

न तथाऽप्रतिपत्तितः ।

[§ २१६. तत्प्रतिपत्तिः [अपोहप्रतिपत्तिः] तु वासनापरिपाकजन्मनो विकल्पादेव, तस्य चावस्तुविषयत्वाच्च ततस्तद्व्यवस्थापनमिति चेदत्राह—]

यन्न निश्चीयते रूपं जातुचित्तस्य दर्शनम् ॥१९५॥
10 यथा निश्चयनं तस्य दर्शनं तद्वशात् किल ।

[§ २१७. तत्रैकस्तापरिणामः सम्भवति यस्य दर्शनं यतो वा सामान्यप्रयोजनमुपकल्प्येत, तदेवाह—]

समानपरिणामश्चेदनेकत्र कथं हृदिः ? ॥१९६॥

[§ २१८. भवतु प्रतिविशेषं भिन्न एवेति चेत्, कथमिदानीमसौ सामान्यम् असाधारणत्वात्, विशेषवदसंभवाच्च विशेषाव्यतिरेकात् । व्यतिरेके सम्बन्धाभावात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः । तदाह—]

न चेद् विशेषाकारो वा कथं तद्व्यपदेशमाक् ? ।

[§ २१९. प्रतिविधानमाह—]

सदृशासदृशात्मानः सन्तो नियतवृत्तयः ॥१९७॥

20 [§ २२०. अतश्च ते सन्त इत्याह—]

तत्रैकमन्तरेणापि सङ्केताच्छब्दवृत्तयः ।

[§ २२१. यदि न शब्दस्य कालान्तरावस्थितिः किमिति तत्र समयः साध्यते व्यवहारानुपयोगादिति चेदत्रोत्तरम्—]

25 तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु ॥१९८॥
समयः तत्प्रकारेषु प्रवर्त्ततेति साध्यते ।
तज्जातीयमतः प्राहुर्ग्रन्थतः शब्दा निवेशिताः ॥१९९॥

[§ २२२. साम्प्रतमुक्ताप्यस्मरणार्थं 'सदृशासदृशात्मानः' इत्यादि व्याचक्षाण आह—]

नानैकत्र नचैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणम् ।

अतिप्रसङ्गतस्तत्त्वादन्यत्रापि समानतः ॥२००॥

80 [§ २२३. सर्वतः सर्वस्य व्यावृत्तत्वेन विलक्षणत्वात् कथं तत्परिणाम इत्यत्राह—]

[§ १८७. इदानीं साध्यं निरूपयन्नाह—]

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्,

[§ १८८. साध्याभासं निरूपयति—]

ततोऽपरम् ॥१७२॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।

5

[§ १८९. यद्यप्रसिद्धं साध्यं धर्मिणो विद्यमानमपि साध्यं भवेत् तत्रापि विप्रतिपत्तेः संभवात्तथाह—]

जातेर्विप्रतिपत्तीनां सत्ता साध्यानुषज्यते ॥१७३॥

[§ १९०. तत्रोत्तरमाह—]

तथेष्टत्वाददोषोऽयम्,

10

[§ १९१. पर इदानीमशक्यसाध्यतां तस्यां [सत्तायां] दर्शयन्नाह—]

हेतोर्दोषत्रयं यदि ।

[§ १९२. शास्त्रकारस्तु उभयाभावधर्मयोरनभ्युपगमं परिहारं मन्यमानः परिहारान्तरमनुक्त्वा भावधर्मस्य असिद्धत्वमेव परिहरन्नाह—]

आन्तेः पुरुषधर्मत्वाद्यथावस्तुबलागमम् ॥१७४॥

15

प्रपदे सर्वथा सर्वस्तुसत्तां प्रतिक्षिपन् ।

[§ १९३. ततः प्रतिष्ठापरिहारेण प्रतिक्षेपमेव ब्रुवता तास्विकमेव भावधर्मत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यं तथाह—]

भावनादभ्युपैतिस्म भावधर्ममवस्तुनि ॥१७५॥

[§ १९४. तदेव निरुपाधिकं सत्त्वं प्रसाध्य सोपाधिकं साधयन्नाह—]

20

असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽन्यथाऽनुपपत्तिमाह ।

हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥१७६॥

इष्टसिद्धिः परेषां वा तत्र वक्तुरकौशलम् ।

[§ १९५. ततः सत्येव मेदामेदात्मिका तदिष्टसिद्धिरिदमेवाह—]

अतीतानागतादीनामपि सत्तानुषङ्गवत् ॥१७७॥

25

अतश्च बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यते ।

[§ १९६. ततः प्रत्यक्षादर्थसाधनोपपत्तेः स्थितमेतत्—'अतश्च' इत्यादि । यदि चायं निर्बन्धो न ततस्तत्साधनमिति तथापि तदाह—]

तदभावेऽपि तद्वादस्यान्यथानुपपत्तितः ॥१७८॥

तेषामपि तद्वत्ते (त्वे) न कश्चिदपि अनृतवादी तीर्थकर इति प्रामाण्यमेव सर्वप्रधानानाम्, न च तदुपपन्नम्, ततः प्रधानेश्वरादिशब्दवत् अन्येऽपि अनृतार्था एवेति चेदत्राह—]

अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्यमनुमानं तदिष्यते ।

ततः संभाव्यते शब्दः सत्यार्थप्रत्ययान्वितः ॥२०७॥

5 [§ २३६. यस्यायं निर्दिष्टो विवक्षाजनमान. शब्दास्तामेव गमयेयुर्न बहिरर्थमिति । तत्राह—]

सत्यानृतार्थताऽभेदो विवक्षाऽव्यभिचारतः ।

[§ २३७. साम्प्रतं 'तत्रैकमसिन्धाय' इत्यादि प्रपञ्चेन श्लोकैर्व्याचिख्यासुः सङ्केत-
निबन्धनं प्रत्यभिज्ञानमेव तत्र स इति अयमिति स्मरणदर्शनरूपयोर्विरुद्धाकारयोरनुपपत्त्या निरा-
कुर्वन्तं प्रत्याह—]

10 सह शब्दार्थदृष्ट्यावप्यविकल्पयतः कथम् ॥२०८॥

समयस्तत्प्रमाणत्वे क्व प्रमाणे विभाव्यताम् ? ।

[§ २३८. किं पुनर्विकल्पेन, समुदायपरिज्ञानस्य प्रत्यक्षादेव भावादिति चेदत्राह—]

तदर्थदर्शनाभावात्,

[§ २३९. अर्थ एव सङ्केतो न ज्ञानाकारेषु इत्याह—]

15 मिथ्यार्थप्रतिभासिषु ॥२०९॥

ज्ञानाकारेषु सङ्केत इति केचित् प्रचक्षते ।

[§ २४०. क्व तर्हि सः ? इत्याह—]

वागर्थदृष्टिभागेषु गृहीतग्रहणेष्वपि ॥२१०॥

सत्याकारावबोधेषु सङ्केतमपरे विदुः ।

20 [§ २४१. भवतु तर्हि वागादिभेदेष्वेव समयः इति चेन्न; ...एतदेवाह—]

न भेदेषु न सामान्ये केवले न च तद्वति ॥२११॥

फलाभावादशक्तेश्च समयः सम्प्रवर्त्तते ।

[§ २४२. किञ्चिन्धनः पुन. सङ्केतोऽयमपरे विदुरिति चेदत्राह—]

स एवायं समश्चेति प्रत्ययस्तन्निबन्धनः ॥२१२॥

25 वितथोऽवितथश्चापि तत्रैकत्वनिबन्धनः ।

तथा तत्प्रतिषेधेऽपि वैलक्षण्यादिशब्दवत् ॥२१३॥

[§ २४३. साम्प्रतं सङ्केतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—]

तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये ।

सङ्केतेण कश्चित् कश्चिच्छब्दः सङ्केतमश्नुते ॥२१४॥

30 तथाऽनेकोऽपि तद्धर्मनात्त्वप्रतिपादने ।

तद्ब्रह्माभिव्यक्तिरैकाभ्यां मतं सामान्यदूषणम् ॥१८७॥

[§ २०६. कुत पुनः समानपरिणामे न सामान्यदूषणम् ? इति चेदत्राह—]

समानपरिणामे न तदेकस्यानुपायतः ।

[§ २०७. तत्र सामान्य नाम किञ्चित् । तद्वा (तदभा) वे कुतस्त्वत्प्रयोजन समान-
प्रत्ययादिकमिति चेन्न; समानपरिणामादेव तद्वाचात्तदाह—]

5

सहशात्मनि सम्बन्धग्रहे भूयस्तथाविधे ॥१८८॥

प्रत्यभिज्ञादिना सिद्धयेत् प्रायो लोकव्यवस्थितिः ।

[§ २०८. अपि च सदृशेतरवदेकानेकरूपयोरपि विरोधाविशेषात् कथमेकत्र अनेको-
पाधिसंभवे यतस्तैस्तद्धान् व्यपदिश्येत ? अर्थान्तरभूतैरेव न तैस्तद्द्वयपदिरयत् इति चेदत्राह—]

तच्चतोऽनुपकारेऽपि भेदे कथमुपाधयः ? ॥१८९॥

10

[§ २०९. अमेद एवेति चेदत्राह—]

तत्रैकत्वप्रसङ्गाच्चेदभेदे कथमुपाधयः ? ।

[§ २१०. कथं पुनर्भेदाभेदाभ्यामुपाधितद्भावनिराकरणम् जैनस्य, स्वयमपि तदभ्युपग-
मात्, इति चेदत्राह—]

नोपाधयो न तद्गन्तो भिन्नाऽभिन्ना अपि स्वयम् ॥१९०॥

15

जात्यन्तरे तथाभूते सर्वथा दर्शनादपि ।

[§ २११. परस्य तु मतम्—च (न) शब्दाल्लिङ्गाद्वा उपाधिमतः प्रतिपत्तिर्यतस्तस्य
निरवशेषोपाधिशवस्वितस्य एकत्वादेव शब्दादेरवगमात् तदन्तरस्य तत्र वैफल्य स्यात्, अपि तु
उपाधीनामेव, तत्र च एकत्वम (एकत्वम्) विषयेण अन्येषामनवगमान् तदन्तरवैयर्थ्यमिति ।
तत्राह—]

20

तद्व्यचोदिते शक्तेऽशक्ताः किं तदुपाधयः ? ॥१९१॥

चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाभ्यां समं तैस्तस्य लक्षणे ।

[§ २१२. भवतु विशेषेष्वेव तस्य तत्; इति चेन्न; तेषामानन्त्येन अर्वागदृशा तत्र (तद)
संभवात् इत्यभाव एवानुमानस्य । इदमेवाह—]

सम्बन्धो यत्र तत्सिद्धेरन्यतोऽप्रतिपत्तितः ॥१९२॥

25

अनुमानमलं किं तदेव देशादिभेदवत् ? ।

[§ २१३. साम्प्रतमुक्तन्यायेन सौगतमपि प्रतिक्षिपन्नाह—]

एतेन भेदिनां भेदसंबुद्धेः प्रतिपत्तितः ॥१९३॥

तत्रैकं कल्पयन् वार्यः समाना इति तद्ग्रहात् ।

[§ २५१. कथं पुनरुपयोगवत्त्वे तस्य सुष्ठुत्यादिः सत्त्वज्ञानस्वभावस्य तदसंभवादिति चेन्न; कर्मवशात्तस्यापि तदुपपत्तेः तदाह—]

कर्मणामपि कर्त्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ।

[§ २५२. परमपि तत्फलं दर्शयति—]

5 **संसरेत् परिणामात्तो मुच्यते वा ततः पुनः ॥२२३॥**

[§ २५३. नन्वात्मा कर्म तत्फलं संसारो मुक्तिरिति च सत्येव मेदे, नचापमस्ति तद-
वस्थानोपायामावात् । ततोऽद्वैतबोध एव परमार्थः तस्य स्वत एवाधिगमात् 'स्वरूपस्य स्वतो
गतिः' इति वचनादिति चेदत्राह—]

आत्मादिब्यतिरेकेण कोऽपरोऽध्यक्षतां ब्रजेत् ? ।

10 **नानाऽयं क्रमशो वृत्तेर्न चेदभिधास्यते ॥२२४॥**

[§ २५४. ततो युक्तं प्राणादिमत्त्वात् परिणामिन एवात्मनः साधनम् न कृतस्थस्य
नापि ज्ञानसन्तानस्य तत्र तस्य विरुद्धत्वात् । परिणामिन्यपि विरुद्ध एवाय शरीरोपवृद्धसादेव
चैतन्याद्बुत्पत्तेरिति चार्वाकः । तदेवाह—]

भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः ।

15 **कायश्चित्कारणम् ;**

[§ २५५. तत्रोत्तरमाह—]

सोऽपि कथं संसारमुक्तिभाक् ? ॥२२५॥

शक्तिभेदे तथा सिद्धिः; संज्ञा केन निवार्यते ? ।

यथा भूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः ॥२२६॥

20 **तथा भूताविशेषेऽपि भवद्भूतादिसंस्थितिः ।**

[§ २५६. तन्न तद्गुणस्यापि तेनाभिव्यक्तिः; नापि तत्कार्यस्य वर्द्धमानोत्तरत्वात् ।
कथमेवं गुणनिषेधे गुणवद्भव्यमित्युपपन्न भवतोऽपि इति चेन्न; परकीयतत्त्वक्षणस्यैवातिव्याप्त्यादिना
प्रतिषेधान्न गुणस्य । कथं तर्हि तदुपपत्तिरिति चेदाह—]

तस्मादनेकरूपस्य कथञ्चिद् ग्रहणे पुनः ॥२२७॥

25 **तद्गुणं भेदमारोप्य गुण इत्यपि युज्यते ।**

[§ २५७. गुणतद्गतोः एकान्त एव भेदो न कथञ्चिद्, तद्वादस्य विरोधादिदोषादिति
चेदत्राह—]

यदि स्वभावाद्भावोऽयं भिन्नो भावः कथं भवेत् ? ॥२२८॥

अनवस्थानतो भेदे सकलग्रहणं भवेत् ।

80 **तदनेकान्तात्मकं तत्त्वम्,**

व्यावृत्तिं पश्यतः कस्मात्सर्वतोऽभवधारणम् ? ।

[§ २२४. न दृष्टमित्येव निश्चयः, तत्रापि सारूप्याद्विभ्रमोपपत्तेः मायागोलकवत् इति चेदत्राह—]

सादृश्याद्यदि साधूक्तम्,

[§ २२५. सादृश्यमपि व्यावृत्तिरूपमेवेति चेदाह—]

5

तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम् ? ॥२०१॥

[§ २२६. परमतमाशङ्कते परिहर्तुम्—]

एकान्ते चेत्तथाऽदृष्टेरिष्टम्;

[§ २२७. अत्रोत्तरमाह—]

घक्तुरकौशलम् ।

10

सर्वैकत्वप्रसङ्गो हि तद्दृष्टं भ्रान्तिकारणम् ॥२०२॥

[§ २२८. न कश्चिदपि अन्यथा प्रतिभासहेतुर्भवेत् नौयानादीनामपि निरंशवादिनाम-समवात् । भामूदिति चेदेतदेवाह—]

नो चेद्विभ्रमहेतुभ्यः प्रतिभासोऽन्यथा भवेत् ।

[§ २२९. अत्रोत्तरमाह—]

15

तदकिञ्चित्करत्वं न निश्चिनोति स किं पुनः ? ॥२०३॥

[§ २३०. भवत्वेवं तथापि किमिल्याह—]

तथाहि दर्शनं न स्याद् भिन्नाकारप्रसङ्गतः ।

[§ २३१. विशेष एव परमार्थसंज्ञः तस्यैव दृष्टेः नाविशेष [:] परमार्थविपर्ययादिति चेदत्राह—]

20

न च दृष्टेर्विशेषो यः प्रतिभासात् परो भवेत् ॥२०४॥

[§ २३२. भवतु तर्हि यथादर्शनं वस्तुव्यवस्थितिरिति चेदत्राह—]

प्रतिभासभिवैकञ्च तदनेकात्मसाधनम् ।

[§ २३३. अनेकान्तोऽपि दुर्लभैव दृष्टिरिति चेदाह—]

अदृष्टिकल्पनायां स्यादचैतन्यमयोगिनाम् ॥२०५॥

25

[§ २३४. उपसंहरन्नाह—]

तस्मादभेद इत्यत्र समभावं प्रचक्षते ।

नेक्षते न विरोधोऽपि न समानाः स्युरन्यथा ॥२०६॥

[§ २३५. कथं पुनः शब्दानामर्थवत्त्वं तदभावेऽपि प्रवृत्तेः प्रधानादिशब्दानाम्,

जीवच्छरीरधर्मोऽस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः ।

यथा चैतन्यमन्यत्रेत्यपरः प्रतिपन्नवान् ॥२३६॥

[§ २६८. तत्रोत्तरमाह—]

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ।

5 प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नेति सन्तः प्रवक्षते ॥२३६॥

[§ २६९. ततः किम् ? इत्याह—]

तद्दृष्टहानिरन्येषामदृष्टपरिकल्पना ।

स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूतानामदृष्टेर्गुणभावतः ॥२३७॥

[§ २७०. भवतु तस्य तदात्मत्वं तद्गुणत्वं वा तथापि संसारमोक्षयोरभाव इत्याह—]

10 तत्सारतरभूतानि कायापायेऽपि कानिचित् ।

[§ २७१. मतान्तरमुपदर्शयति दूषयितुम्—]

कार्यकरणयोर्बुद्धिकाययोस्तन्निवृत्तितः ॥२३८॥

कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति कश्चन ।

[§ २७२. तत्रोत्तरमाह—]

15 तस्यापि देहानुत्पत्तिप्रसङ्गोऽन्योन्यसंश्रयात् ॥२३९॥

उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः ।

[§ २७३. उपसंहरन्नाह—]

अत एव विरुद्धत्वादलं प्रायस्तथा भवत् ॥२४०॥

[§ २७४. किञ्च, कायः कारणमात्रं तद्विशेषो वा बुद्धेः ? तन्मात्रमिति चेत्, न तर्हि

20 तन्निवर्त्तमानमपि कार्यस्य बुद्धेस्सत्त्वं निवर्त्तयति, निवृत्तेऽपि सहकारिणि कार्यस्यावस्थितिप्रतिपत्तेः,
यथा मृतेऽपि स्वपतौ प्रासादगोपुरादेः । इदमेवाह—]

तन्न कारणमित्येव कार्यसत्त्वानिवर्त्तकम् ।

स्वनिवृत्तौ यथा तक्षा गोपुराद्दालिकादिषु ॥२४१॥

[§ २७५. भवतु परिणामित्वेन कारणविशेष एव स तस्या इति चेदत्राह—]

25 युगपद्भिन्नरूपेण बहिरन्तश्च भासनात् ।

न तयोः परिणामोऽस्ति यथा गेहप्रदीपयोः ॥२४२॥

[§ २७६. अतश्च न तयोः परिणामः इत्याह—]

प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद् विकृतेरविकारिणी ।

निर्हासातिशयाभावाच्चिर्हासातिशये धियः ॥२४३॥

30 बलीयस्यबलीयस्त्वाद् विपरीते विपर्ययात् ।

[§ २४४. कथं पुनरेकत्रानेकधर्मसद्भाव इत्यत्राह—]

एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेवकादिवत् ॥२१५॥

[§ २४५. कथं पुनः सामान्यस्य व्यक्तिव्यतिरिक्तस्याभावे तद्व्यवहार इति चेदत्राह—]

समानं केनचित्किञ्चिदपरञ्च तथाविधम् ।

भेदबद्धमिणः कृत्वा समानाकारकल्पना ॥२१६॥

5

तदन्यत्र समानात्मा स एवेति तथाविधे ।

व्यवच्छेदस्वभावेषु विशेषणविशेष्यधीः ॥२१७॥

तत्तन्निमित्तकः शब्दः तदन्यत्रापि योज्यताम् ।

[§ २४६. यदि पुनः सदृशपरिणाम एव सामान्यं तस्य व्यक्तिवदनेकत्वात् कथं तत्र सत्त्वेकतया व्यवहार इति चेदत्राह—]

10

ततः सत्तेति साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः ॥२१८॥

नानैकवचनाः शब्दास्तथा सङ्केतिता यतः ।

[§ २४७. यदि समानप्रत्ययवर्शात् सामान्यं तर्हि जलयोरिव जलमरीचिकाचक्र-
योरपि भवेत् इदं जलमिदमपि जलमिति । तत्रापि प्रत्ययवर्शादिति चेन्न; तत्रैके प्रत्ययवर्शात्
वाच्यत्वेन मिथ्यात्वात् " ततो निर्वाधादेव प्रत्ययवर्शात्तद्विद्वेरेतदेवाह—]

15

प्रत्यभिज्ञा द्विधा काचित् सादृश्यविनिबन्धना ॥२१९॥

प्रमाणपूर्विका नान्या इष्टिमान्यादिदोषतः ।

[§ २४८. कथं तर्हि बहिर्यादिवत् प्रधानस्यापि सत्त्वं ततो न साध्यते ? नान्वयादिति
चेन्न; अन्वयस्य तन्मतेनालिङ्गलक्षणत्वात् इत्यत्राह—]

अस्ति प्रधानमित्यत्र लक्षणासम्भवित्थतः ॥२२०॥

20

[§ २४९. नन्वन्यथात्रुपपन्नत्वमपि सत्येव पक्षधर्मत्वाद् भवति, ततस्तदेव हेतुलक्षणम् ।
तदसत्त्वादेव च प्रधानास्तित्वमन्यसाध्यमिति चेन्न; तदभावेऽपि क्वचित्तदुपलम्भात् । तदाह—]

तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्धं यद्विना यद्विहन्यते ।

तत्र तद्गमकं तेन साध्यधर्मी च साधनम् ॥२२१॥

[§ २५०. ततो न मृतशरीरवत् सुषुप्तादावपि जाग्रज्ज्ञानादुत्पत्तिरिति सन्निहित एव 25
कश्चिद्हेतुर्वक्तव्यः, स चाल्पैव उपयोगपरिणामी नापर इति तत्रैव तस्य गमकत्वम् अन्यथात्रुप-
पत्तिसंभवादेतदेवाह—]

अप्रत्यक्षः सुषुप्तादौ बुद्धः प्रत्यक्षलक्षणः ।

जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान् ॥२२२॥

[§ २८६. सत्यं लक्ष्यते, स तु न पौर्वमविकाद् अनुमाना (अनुमवा) दपि तु गर्भ-
भाविन एव, तदाह—]

गर्भे रसविशेषाणां ग्रहणादिति कश्चन ।

तदादावभिलाषेण विना जातु यदृच्छया ॥२५१॥

5

तत्संस्कारान्वयेक्षत्वाद् भूयोभूयः प्रवर्त्तितः ।

[§ २८७. तत्रोत्तरमाह—]

कोशपानं विषेयम्,

[§ २८८. भ्रूतोऽपि समानमिदं गर्भं [ग] तस्यापि पौर्वमविकादेवानुमवादेः स्मरणा-
दित्यत्रापि प्रमाणाभावादिति चेदत्राह—]

10

न समं भूयस्तथा दृशः ॥२५२॥

[§ २८९. पुनरपि गर्भं इत्यादि निराकुर्वन्नाह—]

रूपादिदर्शनाभावात् तत्सम्बन्धस्मृतिः कथम् ? ।

नावश्यं चक्षुरादीनां सर्वत्रोन्मीलनादयः ॥ २५३ ॥

[§ २९०. पुनरपि 'तद्विक्रतेः' इत्यादि समर्थयितुमाह—]

15

तथा रागादयो हृष्टाः सङ्कल्पाद्यविनाशुवः ।

[§ २९१. कथं तर्हि सामान्यस्मरणाद्विशेषे प्रवृत्तिरिति चेन्न; तस्य तस्मादव्यतिरेकात्
दृष्टत्वाच्च, तदेवाह—]

तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोषयोः ॥२५४॥

भावोऽभावश्च वृत्तीनां भेदेष्विह च दृश्यते ।

20

[§ २९२. उपसंहरन्नाह—]

तस्मात्संसारवैचित्र्यं नियमान्न विहन्यते ॥२५५॥

[§ २९३ व्याहृतमेव पिपीलिकाजीवस्य तच्छरीरपरित्यागेन हस्तिशरीरसञ्चरणम्...
इति चेदत्राह—]

न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति देहान्तरपरिग्रहे ।

25

[§ २९४. तदेवम् 'इह च दृश्यते' इत्यनेन तत्परिग्रहमुपपाद्य तदन्तरेणापि उपपा-
दयन्नाह—]

तदभावे हि तद्भावप्रतिषेधो न युक्तिमान् ॥२५६॥

[§ २९५. तस्माद् बुद्धिरियं पुरुषस्यैव स्वभावो न पृथिव्यादेः । चार्वाकस्तत्स्वभावत्वे
दूषणमाह—]

30

बुद्धेः पुरुषतन्त्रत्वे नित्यत्वात्तदनुक्रिया ।

न भवेत्;

[§ २५८. मवतु स एव वादः, तत्रैव चेतनो देहस्य गुण इति चेदत्राह—]

नहि ज्ञानात्मना क्वचित् ॥२२९॥

शरीरग्रहणं येन तद्गुणः परिकल्प्यते ।

[§ २५९. वैशेषिकादेस्त्व (देत्व) गुणवान् गुण इति ब्रुवाणस्य न गन्धादेर्गुणत्व गुणवत्त्वात् । तदेवाह—]

5

गुणानां गुणसम्बन्धो गन्धादेः सङ्ख्याया ग्रहात् ॥२३०॥
तादात्म्यं केन वार्येत ?

[§ २६० ननूक्त भाक्तत्वेन तन्निवारणमिति चेदत्राह—]

नोपचारप्रकल्पनम् ।

अत्रान्यत्रापि तुल्यत्वादाधारस्यैकरूपतः ॥२३१॥

10

तत्रैकत्वं प्रसज्येत, सङ्ख्यामात्रं यदीष्यते ।

नानात्मविभ्रमादेवं न पृथग्गुणिनो गुणाः ॥२३२॥

[§ २६१. आकारमेदात्ते ततः पृथगिति चेदेतदेवाह—]

प्रसक्तं रूपमेदाच्चेत्;

[§ २६२. तत्रोत्तरमाह—]

16

भेदो नानात्वमुच्यते ।

[§ २६३. नात्येवं तत्रैकत्वं केवलं भावसादृश्यात्तत्र तद्व्यवहार. ...तदेवाह—]

एकता भावसाम्याच्चेत्;

[§ २६४. तत्रोत्तरमाह—]

उपचारस्तथा भवेत् ॥२३३॥

20

[§ २६५. यदि च तत्र गुणवत्त्वमयाज वास्तवमेकत्वं पृथक्त्वमपि न भवेत्, तदपि कुतश्चिकित्कार्यविशेषादेरुपचरितमेव स्यात् तदेवाह—]

भेदेऽपि, वस्तुरूपत्वान्न चेदन्यत्र तत्समम् ।

[§ २६६. तत्र गुणगुण्यादीनामपृथक्त्वम्, भवतु पृथक्त्वमेव प्रतिभासादिभेदादिति चेदत्राह—]

25

एतेन भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा गन्ता ॥२३४॥

[§ २६७. तत्र गुणो नाम कश्चिन्निश्चितो य [त] श्वेतनोऽपि गुणः स्यात् । मामूत्तं चर्मस्तु तर्हि स्यात्, तदवष्टम्भेन अवस्थानात् चित्रवत् कुड्यस्य । यथा कुड्याद्यपाये न चित्रं तत्र तिष्ठति नात्यन्त्र गच्छति नश्यत्येव परं तथा शरीरापाये चेतनोऽपि इति मन्वानस्य मत-
सुपर्दर्शयनाह—]

30

तस्मात्सभागसन्तानकल्पनापि न युज्यते ।
न चेत्स परिवर्त्तते हेतुरेव फलात्मना ॥२६४ ॥

[§ ३०८. कथं पुनर्हेतोः फलात्मना परिवर्त्तनं प्रत्यक्षवाधानात्, तेन निरन्वयस्यैव विना-
शस्य प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह—]

6 तस्माद्भावविनाशोऽयं फलीभावस्तदग्रहः ।
तद्ग्रहः,

[§ ३०९. भवतु तत्र फलीभावव्यवहारो विनाशव्यवहारस्तु कथम् ? तद्भावस्याविना-
शरूपत्वात् ; अत्राह—]

प्रतिषेधोऽस्य केवलं तस्मिन्बन्धनः ॥२६५॥

10 [§ ३१०. साम्प्रतं हेतुफलयोः पराम्भिप्रेतमन्यत्वव्यवस्थापनं दर्शयति—]

अन्यथात्वं यदीष्येत हेतोरपि फलात्मनः ।
अन्य एवेति किन्नेष्टमिति केचित् प्रचक्षते ? ॥२६६॥

[§ ३११. तत्रोत्तरमाह—]

15 अन्यथात्वं नचेत्तस्य भवेद् ध्रौव्यमलक्षणात् ।
अभावस्याप्यभावोऽपि किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ? ॥२६७॥

[§ ३१२. साम्प्रतं व्यवहारस्यातिप्रसङ्गमपरत्र तदभावप्रसङ्गमिव परिहरन्नाह—]

स्वस्वभावस्थितो भावो भावान्तरसमुद्भवे ।
नष्टो वा नान्यथाभूतस्ततो नातिप्रसज्यते ॥२६८॥

[§ ३१३. तदेवं प्रपञ्चतः साध्यसुपदिरय साधनस्वरूपं दर्शयन्नाह—]

20 साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्,

[§ ३१४. हेत्वाभासानुपदर्शयति—]

ततोऽपरे ।

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥२६९॥

[§ ३१५. यदि साधनं प्रकृते सत्येव न तदा स्वप (सप) चेऽपि स्यात् तत्र प्रकृताभावात्,
25 ततश्च न तस्य तदविनाभावपरिज्ञानम्, सपक्ष एव तत्संभवाच्च पक्षे, तत्र अद्यापि प्रकृतस्यानि-
श्चयाविति चेदत्राह—]

तथाऽर्थे सत्यसम्भूषणुः धर्मो न बहिर्गतः ।
सर्वथैकान्तविश्लेषे साध्यसाधनसंस्थितेः ॥२७०॥

[§ ३१६. जात्यन्तरस्यैव तत्त्वात् । न तादृशं किमपि दृष्टमस्ति यतः सविसृग्मं चेतः
30 स्यात् इति चेदाह—]

[§ २७७. उपसंहरन्नाह—]

काये तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः ॥२४४॥

[§ २७८. यत्रापि परिणामतद्ब्रह्मवो घटकपालादौ तत्रापि प्रमितेऽपीत्यादि विद्यते, ततो व्यभिचारः; इति चेदाह—]

एतदत्र घटादीनां न तज्जातुचिदीक्ष्यते ।

5

[§ २७९. गुणदूषणमयत्रातिदिरन्नाह—]

तुल्यश्च गुणपक्षेण तत्तथा परिणामतः ॥२४५॥

[§ २८०. कुत इदं ससारवैचित्र्यम् ? ...तस्य च कर्मण एव तद्वैचित्र्यात्...एत-
देवाह—]

अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत् ।

10

अन्यथा नियमायोगात् प्रतीतेरपलापतः ॥२४६॥

[§ २८१. स्वामकल्पनाया सामर्थ्यस्य मुक्तिरूपम्याभावात् कर्मफलमेव तद्वैचित्र्य
तदेवाह—]

कल्पनायामसामर्थ्यात्,

[§ २८२. तदेवं तदहर्जातस्य परलोकित्वे कर्मसिद्ध्या सिद्धे यत्सिद्धं तदाह—]

15

ततस्तद्विक्रूते ऋते ।

पारम्पर्येण साक्षाच्च नास्ति विज्ञानविक्रिया ॥२४७॥

[§ २८३. तत्र शरीरपरतन्त्रो जीवः तदुपरमे व्यवस्थानात्तदहर्जातवत् । कुतो वा तस्य
तत्परतन्त्रत्वम् ? तद्धेतुत्वादिति चेन्न; केवलदुल्पत्तौ मृतेऽपि प्रसङ्गात् । इन्द्रियसहायादिति चेत्; 20
इन्द्रियाणामपि समुदायेन तत्सहायत्वं प्रत्येकं वा ? प्रथमविकल्प निराकुर्वन्नाह—]

कारणं नाक्षसङ्घातः तत्प्रत्येकं विना भवात् ।

विकल्पानां विशेषाच्च तत्तद्वृत्ति विरोधतः ॥२४८॥

जातिस्मराणां संवादादपि संस्कारसंस्थितेः ।

अन्यथा कल्पयन् लोकमनिकामति केवलम् ॥२४९॥

25

[§ २८४. ततः पौर्वमविकल्पैव तस्य तेन स्मरणमिति कथञ्च जातिस्मरणा संवादः ?
एतदेवाह—]

नाऽस्मृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् ।

तद्धि जन्मान्तरान्न,

[§ २८५. तदहर्जातरं अभिलाष एव नास्ति तन्कुतस्तदनुमितिः ? इति चेदत्राह—] 30
अयं जानमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥२५०॥

विरोधानुपलम्भेन किल स्कन्धो विरुध्यते ॥२७८॥

[§ ३२६. अर्वाग्भागादृष्ट्या परभागादेरपि दर्शने तदनुमानाभावप्रसङ्गात् । अदर्शने तदभेदात् अर्वाग्भागास्याप्यदर्शनमित्यनुपलम्भादभावस्यैव प्राप्तेरिति चेदत्राह—]

सम्भवत्यपि मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिः ।

5 [§ ३२७. निदर्शनमत्र—]

इदं विज्ञानमन्यद्वा चित्रमेकं यदीक्ष्यते ॥२७९॥

[§ ३२८. भवतु चित्रमेकं वस्तु तथापि कुतः क (त) स्मिन् सति मात्राणां दर्शनादर्शन-स्थितिरिति चेदत्राह—]

अवान्तरात्मभेदानामानन्त्यात् सकलाग्रहे ।

10 नानाकारणसामर्थ्याज्ज्ञानं भेदेन भासते ॥२८०॥

भेदसामर्थ्यमारोप्य प्रत्यासत्तिनिबन्धनम् ।

चोद्यं महति नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति ॥२८१॥

[§ ३२९. सति चैवमनुपलब्धदर्शनविषयत्वे स्कन्धस्य यज्ज्ञा (यजा) तं तदाह—]

सर्वथा श्लेषविश्लेषे नाणूनां स्कन्धसम्भवः ।

15 अन्यथा नोऽप्रदेशादीत्यपरैर्दत्तमुत्तरम् ॥२८२॥

[§ ३३०. अतो निर्दोषत्वात् स एव तदनुगुणः श्लेषः इति कथं तदभावः ? इदमेवाह—]

नैरन्तर्यं निरंशानां स्वभावानतिरेचनम् ।

स्कन्धो मात्रानुरोधेन व्यवहारेऽवधार्यते ॥२८३॥

[§ ३३१. कुतः पुनरन्योन्यात्मगमनेनैक तस्यावधारणं न रूपान्तरेणेति चेदत्राह—]

20 सङ्ख्यादिसमभावेऽपि तत्स्वभावविवेकतः ।

[§ ३३२. तथापि तदनभ्युपगच्छतो दूषणमाह—]

अतादात्म्यस्वभावे वाऽऽनर्थक्यादलं परैः ॥२८४॥

[§ ३३३. ततोऽवश्यं वक्तव्यः स्कन्धः तस्यैव तद्रूपयोगात्, स च रूपादीनामन्योन्या-

भेद एव नापरः इत्याह—]

25 स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वात्, न रूपं स्पर्शनग्रहात् ।

[§ ३३४. मित्र एव कस्मान्न भवतीति चेदत्राह—]

रूपादीनि निरस्याभिर्न (स्यान्यन्न) चाभ्युपलमेमहि ॥२८५॥

[§ ३३५. एतदेव कस्मादिति चेदत्राह—]

सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिनः ।

30 प्रायेणैकस्य ताद्रूप्यम्, पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः ॥२८६॥

[§ २६६. समाधानमाह—]

परिणामित्वाद्भिनाशानुपलक्षणात् ॥२५७॥

[§ २६७. अत्यन्तविनाशेऽपि सन्तानापेक्षया तत्संभवं मन्यमानस्य मतमाशङ्कते—]

परस्याप्यविरोधश्चेत् फलहेतुव्यपोहतः ।

प्रवृत्तेर्ब्यवहाराणाम् ;

5

[§ २६८. परिहरन्नाह—]

अविनाशेऽपि संभवात् ॥२६८॥

[§ २६९. इदमेव श्लोकैर्न्याचिख्यासुः 'फलहेतुव्यपोहतः' इत्यस्य द्वितीयमर्थं दर्शयन्नाह—]

यथाऽजनकजन्येषु न सन्ति कलशादयः ।

10

तथा जनकजन्येषु ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥२६९॥

[§ ३००. सत्येव यत्सिद्ध तदाह—]

तत्र नाशादिशब्दाश्च समिताः समनन्तरे ।

[§ ३०१. तदेवं परमतमुपदर्श्य अल्पवक्तव्यत्वात् तत्रेलादि निराकुर्वन् विनाशपृच्छति—]

15

अन्यस्यान्यो विनाशः किम् ?

[§ ३०२. इति प्रश्नयित्वा दूषणमाह—]

किञ्च स्यादच्छलात्मकः ? ॥२६०॥

[§ ३०३. पर इदं परिहरन्नाह—]

तद्विवेकेन भावाच्चेत् ;

20

[§ ३०४. उत्तरमाह—]

कथञ्जातिप्रसज्यते ? ।

सदापि सर्वभावानां परस्परविवेकतः ॥२६१॥

[§ ३०५. साम्प्रत विवेकमन्युपगम्य जनकजन्येषु इत्येतन्निराकुर्वन्नाह—]

न चानन्तरमित्येव भावस्तद्व्यपदेशभाक् ।

25

नत्प्रतीत्यसमुत्पादाद्भावश्चेत् ; स कुतो मतः ? ॥२६२॥

साहश्यात् ; प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम् ।

[§ ३०६. चित्रज्ञानवादिनः संभवत्वेव तदिति चेदत्राह—]

विशेषकल्पनायां स्यात्परस्याव्यभिचारिता ॥२६३॥

[§ ३०७. माभूत्प्रत्यभिज्ञान युगपदपि चित्रैकस्यान्युपगमादिति चेदत्राह—]

30

सर्वत्र परिणामादौ हेतुः सत्त्वात्ततोऽन्यथा ।

शब्देऽपि साधयेत्केन ? तस्मान्नान्वयतो गतिः ॥२९५॥

[§ ३४६. साम्प्रतं विपक्षव्यवच्छेदेन परिणामहेतुत्वमेव सत्त्वादेर्विस्तरेण व्याचक्षण आह—]

सिद्धमर्थक्रियाऽसत्त्वं सर्वथाऽविचलात्मनः ।

5

निरन्वयविनाशेऽपि,

[§ ३४७. संबृतिसिद्धं तु तत्सत्त्वं शुद्धमशुद्धं वा तत्र हेतुरिति चेदत्राह—]

साधनं नोपचारतः ॥२९६॥

[§ ३४८. ननु यथा क्षणिकायेकान्ते तथाऽनेकान्तेऽपि तस्यापि तद्वर्ततः कुतश्चिद-
प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह—]

10

अवश्यं बहिरन्तर्वा प्रमाणमवगच्छताम् ।

सिद्धमेकमनेकात्मपरिणामव्यवस्थितम् ॥२९७॥

[§ ३४९. भवतु अन्तस्तत्परिणामव्यवस्था 'चित्रप्रतिमासाध्येकैव बुद्धिः' इति वचनात्, न बहिः; तत्र परमाणुत्वमेव प्रतिक्षणक्षीणानां परस्परविलक्षणानाञ्च भावादिति कश्चित् । अव-
यवावयव्यादीनामेव इत्यपरः । तत्राह—]

15

परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठितः ।

परमाणुरतोऽन्यो वा बहिरन्तर्न बुद्ध्यते ॥२९८॥

[§ ३५०. तस्यापि स्वतोऽर्थक्रियासामर्थ्ये किं सहकारिप्रतीक्ष्यते चेदत्राह—]

अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित्कस्यचित्कचित् ।

शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते ॥२९९॥

20

[§ ३५१. यद्यर्थस्य स्वभावोऽतिशयः तर्हि तद्वेतोरेव सिद्धेरपेक्षया न किञ्चित्, असिद्धौ
तु न तत्स्वभावत्वं सिद्धासिद्धयोर्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्यैवापत्तेरिति चेदत्राह—]

स्वभावातिशयाधानं विरोधान्न परीक्ष्यते ।

तत्र सिद्धमसिद्धं वा तस्माज्जातिर्न हेतुतः ॥३००॥

सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम् ।

25

[§ ३५२ किं सर्वथा ततो न जातिः ? नेत्याह—]

न चेत्स परिवर्तत भाव एव फलात्मना ॥३०१॥

[§ ३५३ सम्प्रति यदुक्तम्—विनाशनियतो भावस्तत्रानपेक्षणादिति; तस्य विरुद्धत्वं दर्श-
यनाह—]

परिणामस्वभावः स्याद्भावस्तत्रानपेक्षणात् ।

30

[§ ३५४. कुतः पुनर्निरन्वयविनाशस्यैव ततो न तिद्धिः ? इत्यत्राह—]

एकं चलं चलैर्नान्यैः नष्टैर्नष्टं नचापरैः ।

आवृत्तैरावृत्तं भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥२७१॥

[§ ३१७. अथ मत चलादेस्तनोऽर्थान्तरत्वाच्चलादिकमेव तत्त्वतः, ततो न चलाचला-
दिरूपवत्तया जात्यन्तरस्यावलोकनमिति; तत्राह-]

अन्यथा तदनिर्देश्यं नियमस्याप्यसम्भवात् ।

5

[§ ३१८. संभव एव समवायादिति चेन्न; तस्य निषेधात् । अम्युपगम्याप्याह-]

वृत्तावपि न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते ॥२७२॥

[§ ३१९. तदनम्युपगमे दोषमाह-]

सम्यग्ज्ञानं व्यवस्थाया हेतुः सर्वत्र तत्पुनः ।

प्रत्यक्षं यदि बाधेत लक्षणं प्रतिरुध्यते ॥२७३॥

10

साङ्ख्यं व्यवहाराणां सन्नियेशविशेषतः ।

नानैकपरिणामोऽयं यदि न व्यवतिष्ठते ॥२७४॥

[§ ३२०. कुतश्चायं निरंशवादे वस्तुषु स्थूलप्रतिभासः ? न चायं नास्ति; प्रसिद्धत्वात् ।
एकार्थकारित्वादिति चेन्न; अर्थस्याप्यगुरूपस्याप्रतिवेदनात्...तत्र तत्कारित्वम्, सत्यपि तस्मिन्
न ततस्तावतिभासो व्यभिचारात्, अस्ति हि तत्कारित्वमिन्द्रियालोकादीनां न च तत्र स्थूलैकप्र- 15
तिभासः, विषये चोदिता प्रवृत्तिरिन्द्रियादावपि स्यात्, एतदेव दर्शयन्नाह-]

सत्यप्येकार्थकारित्वे संश्लेषपरिणामतः ।

इन्द्रियादिषु नैकत्वं यदि किं वा विरुद्धयते ? ॥२७५॥

[§ ३२१. अत्येव तात्पर्यं विस्तरतो व्याख्यातुकाम आह-]

तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः ।

20

स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः ॥२७६॥

[§ ३२२. इदानीं तत्साक्षात्करणेनैव विपक्षान्युपगमं प्रतिक्षिपन्नाह-]

नाऽनाकारैकविज्ञानं स्वाधारे बदरादिवत् ।

तादात्म्येन,

[§ ३२३. भेदे दूषणान्तरमप्याह-]

25

पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ॥२७७॥

[§ ३२४. भवेदेव यदि तथादर्शनं सम्येत, न चैवं करिष्यत्, तदभेदस्यैवोपलम्भात्,
तदेवाह-]

दर्शनादर्शने स्यातां सप्रदेशाप्रदेशयोः ।

[§ ३२५. भवतु तर्हि भवत्परिकल्पितस्यापि स्कन्धस्याभावो भेदाभेदयोरेकत्र विरोधा- 80
दिति चेदत्राह-]

आकृतिभ्रमवद् यद्वद्विषमज्ञैर्विलोकितम् ।

न च तैर्ऽर्थविदोऽर्थोऽर्थात् केवलं व्यवसीयते ॥३०८॥

[§ ३६४. तत्र व्यवसायार्थमपि दर्शनकल्पनमुपपन्नम् । भवतु व्यवहारार्थमिव तत् ; अन्यसदशाया दर्शनादेव व्यवसायनिरपेक्षाद् व्यवहारप्रवृत्तेरिति चेदत्राह—]

5 भावान्तरसमारोपे भाविताकारगोचराः ।

समक्षसंविदोऽर्थानां सन्निति नातिशेरेते ॥३०९॥

[§ ३६५.कोऽपरः स्यादन्यत्र व्यवसायादिति तदाल्मिकैव दृष्टिः, अन्यथा तस्याः । तद्विषयस्य चानवकल्पनादित्वावेदयन्नाह—]

अणवः क्षणिकात्मनः किल स्पष्टावभासिनः ।

10 [§ ३६६. परमपि अरुचिविषयं दर्शयति—]

अतत्फलपरामृत्तार्थाकारस्मृतिहेतवः ॥३१०॥

[§ ३६७. ततो यथा तन्निर्णयात्तदाकारः तथा साधारणरूपमपि इति तस्यैव प्रत्यक्ष-
वेद्यत्वमेतदेवाह—]

स्थूलस्पष्टविकल्पार्थाः स्वयमिन्द्रियगोचराः ।

15 [§ ३६८. तथा च यत्सिद्धं तदाह—]

समानपरिणामात्मशब्दसङ्केतहेतवः ॥३११॥

[§ ३६९. साम्प्रत तस्यास्ततोऽन्यत्वेऽपि तत्संवेदनवत् इन्द्रियप्रत्यक्षास्यापि व्यवसाया-
त्मकत्वं दर्शयन्नाह—]

स्वभावव्यवसायेषु निश्चयानां स्वतो गतेः ।

20 नाशस्यैकार्थरूपस्य प्रतीतिर्न विरुद्धयते ॥३१२॥

[§ ३७०. भवतोऽपि स्वपरनिर्णयात्मनो ज्ञानस्य स्वत एव सञ्चेतनादिवत् प्रतिक्षणपरि-
णामादेरपि निर्णयात् किं तत्र प्रमाणान्तरेणेति चेदत्राह—]

व्यामोहशब्दालाकारवेदनानां विचित्रता ।

साकल्येन प्रकाशस्य विरोधः सम्प्रतीयते ॥३१३॥

25 [§ ३७१. नन्वेवमगृहीताकारसंभवे कुतस्तदस्तिविलित्यत्राह—]

संभावितान्यरूपाणां समानपरिणामिनाम् ।

प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा प्रमाणान्तरगोचरः ॥३१४॥

[§ ३७२. कुतः पुनरिदमग्नान्तव्यं प्रमाणान्तरगोचर आत्मा प्रत्यक्षाणामिति, प्रत्यक्षस्य
तत्र तद्विषये च प्रमाणान्तरस्यावृत्तेः, उभयविषयस्य च कस्यचिदभावादिति चेदत्राह—]

30 प्रत्ययः परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।

सत्यं परिरुद्धं येन तत्र प्राज्ञाप्यमद्भुते ॥३१५॥

[§ ३३६. नन्वेवमेकस्मिन्नेवेन्द्रिये तस्य तथैव प्रतिभासादिन्द्रियान्तरमनर्थकमिति चेदत्राह—]

अल्पभूयःप्रदेशैकस्कन्धभेदोपलम्भवत् ।

अन्यथा स्वात्मनि ज्ञानमन्यथा चानुमीयते ॥२८७॥

[§ ३३७. तत्सर्वमनेकान्तात्मक प्रमेयत्वादिति । सतः प्रमेयत्वे तस्य च सति नियमे ५
स्यादिदमनुमानं नान्यथा हेतुदोषसंभवादिति मन्यमानस्य मतमादर्शयति—]

सत्प्रमेयत्वयोर्नास्ति सर्वथा नियमो यदि ।

[§ ३३८. तत्रोत्तरमाह—]

अप्रवृत्तेः फलाभावात् तत्र वृत्तेर्निषेधतः ॥२८८॥

[§ ३३९. किं वा प्रमाणं यतः प्रमेयत्वमभावस्य ? प्रत्यक्षमिति चेदत्राह—] 10

प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रमेयमसदित्यपि ।

प्रवृत्तेर्ध्यान्यभवेतत् किन्न सन्तं समीक्षते ? ॥२८९॥

[§ ३४०. तत्र प्रत्यक्षतः प्रमेयत्वमभावस्य । नाप्यनुमानात् ; तस्यापि प्रतिबन्धसम्बन्ध-
पेक्षस्यैव प्रमाण्यादभावे च प्रतिबन्धस्यासम्भवात् । तदेवाह—]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षेऽर्थे साधनं त्रिविधं द्वयम् ।

15

हेत्वात्मनोः परं हेतुस्तज्ज्ञानव्यवहारयोः ॥२९०॥

परसत्त्वमसत्ताऽस्याऽदर्शनं परदर्शनम् ।

[§ ३४१. यदि भावान्तरमेवाभावः तत्र कथम् असज्ज्ञानादिप्रवृत्तिरिति चेदत्राह—]

सदसज्ज्ञानशब्दाश्च केवलं तन्निबन्धनाः ॥२९१॥

[§ ३४२. भावस्यैवाभावात्मकत्वे प्रसिद्धमुदाहरणमाह—] 20

अग्निः स्वपररूपार्भ्यां भावाभावात्मको यथा ।

अन्वयव्यतिरेकार्भ्यां शब्दबुद्ध्याऽवधार्यते ॥२९२॥

[§ ३४३. निरूपितमिदम्, यदि न तावता परितोषः पुनरपि वदामः । इत्याह—]

अप्रमेयं प्रमेयञ्चेत् असत् किन्न सदात्मकम् ? ।

अथ न व्यवहारोऽयमन्यत्रापि निरङ्कुशः ॥२९३॥

25

[§ ३४४. सम्प्रति सर्वत्र प्रमेयत्वस्य सद्भावमुपसङ्ख्य गमकत्वे निमित्तं दर्शयन्नाह—]

सत्प्रत्यक्षं परोक्षार्थगतितस्तत्रैकलक्षणम् ।

साध्ये सति विरोधोऽयमतस्तर्केण साध्यते ॥२९४॥

[§ ३४५. तत्र बहिरन्वयादिना किञ्चित् विनापि तेन तर्हिर्णियात् । न च सर्वत्र
तत्संभवो यतः तस्मादेव स भवेदित्याह—]

30

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥३२३॥

[§ ३२१. ततः सामत्प्येनैव तत्करणमभ्युपगन्तव्यं तच्च ततो न संभवति, तदेवाह—]

प्रत्येति न प्रमाहेतुं प्रत्येति पुनरप्रमाम् ।

5

प्रमाहेतुतदाभासभेदोऽयं सुव्यवस्थितः ! ॥३२४॥

[§ ३२२. भवतु तर्हि प्रमाणादेव अनुमानाद् हेतुप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

नियमेन न गृह्णाति निःशङ्कं चतुरस्रधीः ।

अन्यथाऽसंभवेऽज्ञाने ह्यर्थश्चात्मव्यवस्थितः ॥३२५॥

[§ ३२३. तत्र कल्पितस्तद्भाव उपपन्नः, तदाह—]

10

प्रतिव्यूहस्तु तेनैव प्रभवोऽनलधूमयोः ।

प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पितः ॥३२६॥

[§ ३२४. एवमेतत् प्रमाणतः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तोः एतदेव दर्शयति—]

प्रत्यक्षानुपपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

अन्यथानुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते ? ॥३२७॥

15

[§ ३२५. प्रतिबन्धो यदि असाधारणः न तस्मादनुमानम्, यत्र तत्सिद्धिः प्रत्यक्षात् साध्यस्यापि तत्र तत् एव सिद्धेः अन्यत्र चाविद्यमानत्वात् । साधारणश्चेत्, न तर्हि स विषयः प्रत्यक्षस्य स्यात्, तस्य सखक्षण एव नियमादतः प्रमाणान्तरस्यैव विषयो वक्तव्यः, तदेवाह—]

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ।

व्याप्यव्यापकभावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते ॥३२८॥

20

[§ ३२६. प्रतिबन्धसमारोपनिवारणार्थं तस्मिन् रूपमिति कथं तद्व्यापारवान् विकल्पो न प्रमाणम् । अप्रमाणान्तनिवारणायोगादनुमानवत्, एतदेवाह—]

सत्यप्यन्वयविज्ञाने सं तर्कपरिनिष्ठितः ।

अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥३२९॥

[§ ३२७. पुनरपि तर्कस्यैव प्रामाण्यं दृढयन्नाह—]

25

सहृष्टैश्च धर्मैस्तन्न विना तस्य संभवः ।

इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥३३०॥

तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाणम्,

[§ ३२८. यद्येवं भवतोऽपि तृतीयं प्रमाणं प्राप्तम्, प्रत्यक्षवत् परोक्षेऽप्यनन्तर्भावा-

दिति चेदाह—]

80

मतिपूर्वकम् ।

बहुभेदं श्रुतं साक्षात्पारम्पर्येण चेष्यते ॥३३१॥

अयमर्थक्रियाहेतुरन्तरेण निरन्वयम् ॥३०२॥

[§ ३५५. परिणामे भावसाङ्कर्यम्, कस्यचित्त्वपर्यायैरिव परपर्यायैरव्यविशेषात् तदा-
पत्तेरिति चेदत्राह—]

भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य भेदाभेदव्यवस्थितिः ।

लोकतो बानुगन्तव्या समागविसमागवत् ॥३०३॥ 5

[§ ३५६. साम्प्रतं तद्विशेषाणामपि तद्व्युत्पत्तं तद्व्यापकस्य तद्वचनादवगतमपि विनेया-
नुग्रहणार्थं दर्शयन्नाह—]

सामान्यभेदरूपार्थसाधनस्तद्गुणोऽखिलः ।

[§ ३५७. कुतस्तत्साधन एवायं न क्षणिकत्वादिसाधनोऽपीति चेदत्राह—]

अन्यथाऽनुपपन्नत्वनियमस्यात्र संभवात् ॥३०४॥ 10

[§ ३५८. कीदृशो वा शब्दादिर्यत्र क्षणभङ्गसाधनम् ? निष्कल्पपरमाणुरूप इति
चेन्न, ... सञ्चये तर्हि सौख्येणैव तेषां प्रतिपत्तिः स्यात् तत्त्वभावत्वात्, तथा च कथमेकघटादि-
व्यवहारः ? विकल्पारोपितादेव स्वौल्यात् क्षणभेदव्यवहारवदिति चेदेतदेव दर्शयति—]

प्रत्यक्षेऽपि सामानान्यनिर्णयः प्रतिरुद्धयते ।

यथा क्षणक्षयैऽणूनाम् ; 15

[§ ३५९. अत्रोत्तरमाह—]

इत्यात्मासौ विदम्बयेत् ॥३०५॥

[§ ३६०. तन्नायमारोपितः सूत्राकारः तद्व्यव्यतिरेकेण प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात् ।
एकत्वाध्यवसायाच्च तत्कल्पनस्य प्रतिज्ञेपादेतदेवाह—]

अपृथग्वेद्यनियमादभिज्ञाः परमाणवः । 20

[§ ३६१. ततो यथा विद्यमेतरविकल्पेतरादीनामेकत्र समुच्चयः तथा वस्तुस्वाम्यान्वादेव
सूत्रमेतरामेदेतराणामपि । एतदेवाह—]

देशकालान्तरव्याप्तिस्वभावः क्षणभङ्गिनाम् ॥३०६॥

सम्प्रत्यस्तमिताशेषनियमा हि प्रतीतयः ।

[§ ३६२. तस्मादक्रमवत् क्रमेणापि अनेकान्तात्मक एव भावः तथा प्रत्यभिज्ञानात् । 25
ननु च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षविषय एव प्रवृत्तिमन्त्रान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । न च प्रत्यक्षस्य परापर-
पर्यायेषु प्रवृत्तिर्यतः तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपत्त्या तस्मादनेकान्तविषयत्वात्प्रत्यभिज्ञानं तत्र स्यादिति
चेदत्राह—]

अग्रहः क्षणज्ञोऽपि ग्रहणे किमनिश्चयः ? ॥३०७॥

[§ ३६३. ...समारोपनिरसार्थत्वस्य तत्त्वादिति चेदत्राह—]

- उपलब्धेश्च हेतुत्वादन्तर्भावात् स्वभावतः ।
तयोरनुपलम्बेषु नियमो न व्यवस्थितः ॥३४०॥
[§ ३४८. पुनरपि नियमेन (नियम) विधुर्यितुं विज्ञान्तरसुपदर्शयन्नाह—]
- 5 अभविष्यत्यसंभाव्यो धर्मो धर्मान्तरे क्वचित् ।
शेषवद्धेतुरन्योऽपि गमकः सुपरीक्षितः ॥३४१॥
[§ ३४९. सम्प्रतं नैयायिकादिकल्पितमपि तन्नियममतिदेशेन विधुर्यन्नाह—]
एतेन पूर्ववद्वीतसंयोग्यादौ कथा गता ।
तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषेद्धव्योऽनया दिशा ॥३४२॥
[§ ४००. सम्प्रति हेत्वाभासं दर्शयन्नाह—]
- 10 अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥३४३॥
[§ ४०१. यद्यन्यथानुपपत्तिवैकल्यमेकान्ततः सत्त्वादीनाम्, क्षणभङ्गादिवत् परिणा-
मेऽपि न तेषां हेतुत्वं स्यादिति चेन्न, एकान्ततस्तदभावादेतदेवाह—]
विरोधादन्वयाभावाद् व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ।
15 कृतकः क्षणिको न स्यात्कैकलक्षणहानितः ॥३४४॥
[§ ४०२. विरोधमेव दर्शयन्नाह—]
सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे क्रियास्थितेः ।
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥३४५॥
[§ ४०३. कः पुनरन्वय (नरय) मन्वयो नाम यतो निरन्वयो निर्व्यापारत्वमुच्यते इति
20 चेदत्राह—]
अवस्थादेशकालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः ।
या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्प्यते ॥३४६॥
[§ ४०४. उक्तमर्थं रत्नोक्त्या सद्गृह्यन्नाह—]
सर्वसन्तानविच्छेदः सति हेतौ फलोदयः ।
25 अन्यथा नियमाभावादानन्तर्यं विरुद्धयते ॥३४७॥
[§ ४०५. ततः क्षणिकादेरर्थक्रियाव्यावृत्तिनिर्णयात्तदात्मकं सत्त्वं कृतकत्वादयश्च तद्वि-
शेषाः तत्साधनाय प्रयुक्ता विरुद्धा एव, परिणामस्यैव साधनादित्यावेदयति—]
सत्त्वमर्थक्रियाऽन्ये वा वस्तुधर्माः क्षणक्षये ।
हेत्वाभासा विरुद्धाख्याः परिणामप्रसाधनाः ॥३४८॥
[§ ४०६. सम्प्रति अनैकान्तिकास्तदाभासानाह—]
30 सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ।

[§ ३७३. एकस्य रूपप्रतिभासिनः स्वभावद्वयस्यासंभवात्, अत आत्मानमेव प्रलयः प्रतिभासयतीति चेदत्राह—]

आसादितविशेषागामपूनामतिवृत्तितः ।

एकाकारविवेकेन नैकैकप्रतिपत्तयः ॥३१६॥

[§ ३७४. भवत्वेव युगपच्चित्रमेव न तत्कमेण क्षणिकत्वादिति चेन्न; चित्रस्यापि क्षणक्षीण- 5 शरीरस्याऽप्रतिवेदनादेतदेवाह—]

कालापकषपर्यन्तविवर्त्ततिशया गतिः ।

अशक्तेरणुवत् सेयमनेकान्तानुरोधिनी ॥३१७॥

अंशग्रहविवेकत्वान्मन्दाः किमतिशेरते ? ।

[§ ३७५. सत्यपि तदस्यासात् बहिस्तेषां स्वाकारनिर्णये नातः (नान्तः) तत्संभवः इत्याह—] 10

निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो बहिरन्तश्च तादृशः ॥३१८॥

[§ ३७६. [महामतिवृत्त] प्रतिक्षणपरिणामादिसकलसूक्ष्मविशेषेष्वपि किमेति चेत् ? स्यादेव यद्यसावनाद्भूतः स्यादेतदेव दर्शयति—]

जीवः प्रतिक्षणं भिन्नश्चेतनो यदि नाद्भूतः ।

सकलग्रहसामर्थ्यात्तथाऽऽत्मानं प्रकाशयेत् ॥३१९॥ 15

[§ ३७७. प्रतिक्षणपरिणामे जीवस्य क्षणिकत्वमेव न नित्यत्वमिति चेन्न; तस्यापि प्रलयमि-
ज्ञावलेन तत्र व्यवस्थापितत्वात् । तदपि सदृशापरापरोत्पत्तिविभ्रमादेव न तात्त्विकादेकत्वादिति
चेदत्राह—]

तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञा न सदृशापरहेतुतः ।

अवस्थान्तर्विशेषोऽपि बहिरन्तश्च लक्ष्यते ॥३२०॥ 20

[§ ३७८. पुनरपि तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञानमित्यत्रोपपत्तिमाह—]

सूक्ष्मस्थूलतरा भावाः स्पष्टास्पष्टावभासिनः ।

वितथेतरविज्ञाने प्रमायेतरतां गते ॥३२१॥

[§ ३७९. माभूत्स्वयं परामर्शरूप दर्शनं परामर्शस्य कारणं तु भवति संस्कारप्रबोधस-
हायमिति चेदत्राह—] 25

यस्मिन्नसति यज्जातं कार्यकारणता तयोः ।

भेदिनां प्रत्यभिज्ञेति रचिनोऽयं शिलाह्वयः ॥३२२॥

[§ ३८०. तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिवलेन हेतोरगमकत्व तत्र तत्र
स्थाने प्रतिवाद्यभेदं (पाद्य नेद) स्वबुद्धिपरिकल्पितमपि तु परमागमसिद्धमित्युपदेशयितुकामो भगव-
त्सीमन्वरस्वामितीर्थङ्करदेवसमवशरणात् गणधरदेवप्रसादादापादितं देव्या पद्मावस्था यदानीय 30
पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्त्तिकं तदाह—]

प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभावः सर्वार्थगोचरः ।

[§ ४१७. भवतु वक्ता सर्वज्ञः तद्वचनस्य तु कथं यथार्थत्वं यतस्तज्ज्ञानार्थिनामन्वेषणीयः स्यात् ? खरसत एव शब्दानामयथार्थबुद्धिहेतुत्वेन तदुक्तानामपि वस्तुगोचरत्वानुपपत्तेरिति चेदत्राह—]

5 तत्कार्योत्कर्षपर्यन्तभावः सर्वहितामिधा ॥३५७॥

[§ ४१८. तदेवं वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वेनाविरोधमुपपाद्य पुरुषत्वादेरप्युपपादन्याह—]

यथा वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूतयोः ।

अविरोधेन चागवृत्तेराद्रेकस्तन्निषेधने ॥३५८॥

तथैव पुरुषत्वादेरक्षयाद् बुद्धिविस्तरे ।

10 सर्वप्रकाशसामर्थ्यं ज्ञानावरणसङ्घायात् ॥३५९॥

[§ ४१९. एतदेव स्पष्टयन्त्याह—]

अक्षयात्पुरुषत्वादेः प्रतिपक्षस्य सङ्घायात् ।

सर्वतोऽक्षमयं ज्योतिः सर्वार्थैः सम्प्रयुज्यते ॥३६०॥

[§ ४२०. यदि प्रतिपक्षपरिष्णयात् ज्योतिः, इन्द्रस्थानां तदभावात् कथं रूपादिवेदन

15 मिति चेदत्राह—]

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।

संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥३६१॥

साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणालये ? ।

सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥३६२॥

20 [§ ४२१. परदुःखादिकं यदि सर्वज्ञो न जानाति कथं तज्ज्ञत्वम् ? जानाति चेत् कथञ्च दुःखादिमान् .. इति चेदत्राह—]

परदुःखपरिज्ञानाद् दुःखितः स कथं भवेत् ? ।

स्वतो हि परिणामोऽयं दुःखितस्य न योगिनः ॥३६३॥

[§ ४२२. किं पुनर्भावनापाटवात् कुतश्चिद् बुद्धिप्रकर्षो दृष्टः. यतः सकलवेदनमपि 25 ततो भवेदिति चेत् ? वाढमस्ति, इत्याह—]

भावनापाटवाद् बुद्धेः प्रकर्षोऽयं मलक्षयः ।

कारणासम्भवाक्षेपविपक्षः सम्प्रतीयते ॥३६४॥

[§ ४२३. तदेवमनैकान्तिकत्वं वक्तृत्वादीनामभिधाय साम्प्रतमसिद्धमपि हेत्वाभासं दर्शयन्त्याह—]

30 असिद्धाश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने ।

[§ ४२४. बहुविधत्वं चेष्यते, तत्कथमिति चेदत्राह—]

[§ ३२६. बहुभेदत्वमेव तस्य दर्शयितुं तद्व्यापारानाह—]

अर्थमात्रावबोधेऽपि यतो नर्ते प्रवर्त्तनम् ।

स युक्तो निश्चयो मुख्यं प्रमाणं तदनक्षवत् ॥३३२॥

[§ ३२७. तद् व्यापारान्तरोपन्यासेन दर्शयति—]

लिङ्गसांबृतयोस्तुल्या गृहीतग्रहणादपि ।

5

व्यवच्छेदाविसंवादव्यवहर्तुप्रवृत्तयः ॥३३३॥

[§ ३२९. अविसंवादव्यवहारयोः निश्चयेऽपि परस्य प्रसिद्धत्वात् तत्र व्यवच्छेदं दर्शयन्नाह—]

शब्दाद्ययोगविच्छेदे तत्प्रामाण्यं न किं पुनः ? ।

अनुमानं तु हेतोः स्यादविनाभावनिश्चयात् ॥३३४॥

10

[§ ३२२. तदेवं कार्यादान्वयथानुपपन्नत्वादेव हेतुत्वमवस्थाप्य अनुपलम्भेऽपि तत एव तदवस्थापयन्नाह—]

यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्क्यसंभवः ।

हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥३३५॥

[§ ३२३. तदेवमदृश्यानुपलम्भस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिवलेनोपपाद्य दृश्यानुपलम्भ-15
स्यापि तत एव तत्, न तदन्तरेणेति दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।

अन्तरेणेह सम्बन्धमहेतुरिच लक्ष्यते ॥३३६॥

[§ ३२४. इदानीं तत्प्रपञ्चं दर्शयति—]

प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्नाऽपक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः ।

20

प्रमाणं सम्भवाभावाद्विचारस्याप्यपेक्षणात् ॥३३७॥

[§ ३२५. साम्प्रतमुन्नामादेस्तद्गुणत्वाद्यभावेऽपि गमकत्वोपदर्शनेन हेतुः (तोः) त्रैवि-
ध्यमपि विध्वंसयन्नाह—]

तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।

नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥३३८॥

25

तादात्म्यं तु कथञ्चित्स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।

[§ ३२६. न केवलं तुल्यकालत्वात् कथञ्चिद्वादे चानिष्टापत्तेः तुलान्तयोरेव न तादा-
त्म्यमपि तु अन्ये (अन्ये) धामपीत्याह—]

सास्त्रादीनां चन्द्रार्वाक्परभागयोः ॥३३९॥

[§ ३२७. तदेवमुन्नामादेरकार्यसम्भवास्यापि लिङ्गत्वोपपादनेन त्रैविध्यनियमं प्रतिपिच्य 30
पानकेसरिस्त्रामिनाऽपि तन्नियमः प्रतिपिद्ध इति दर्शयन्सद्बचनमाह—]

- [§ ४३४. स्याद्वादिमतमनवलुक्त्वा तत्रेदमुच्यमान धर्मकीर्त्तविदूषकत्वमावेदयति-]
 पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥३७२॥
- [§ ४३५. एतदेव प्रसिद्धेन निदर्शनेन दर्शयन्नाह-]
 सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
 5 तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥३७३॥
 तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
 चोदितो दधि खादेति किमुद्द्रमभिधावति ? ॥३७४॥
- [§ ४३६. सम्प्रति जात्यन्तरं दर्शयन्नाह-]
 अत्रैवोभयपक्षोक्तदोषारेकानवस्थितेः ।
- 10 [§ ४३७. पुनरपि तदन्तरमाह-]
 अनन्वयादिदोषोक्तेः प्रपञ्चो वाऽनया दिशा ॥३७५॥
- [§ ४३८. ननु यथा न्यायसाधर्म्यादिसमा जातिर्नैयायिकेन कथ्यते तथा त्वया किन्ने-
 ति चेदत्राह-]
 मिथ्योत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः ।
 15 साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥३७६॥
- [§ ४३९. यथा जयेतव्यवस्था तथा दर्शयन्नाह-]
 प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपट्टवादिनः ।
 विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥३७७॥
- [§ ४४०. तस्मादेकस्य प्रकृतसिद्धेरेव परस्य निग्रहो न प्रकारान्तरेण, तदेवाह-]
 20 असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
 न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥३७८॥
- [§ ४४१. एतदेव दर्शयति-]
 वादी पराजितोऽयुक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः ।
 तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ? ॥३७९॥
- 25 [§ ४४२. कः पुनसौ दृष्टान्तो यदोषानुद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थान सङ्कल्पयन्ति
 सौगताः ? इति चेदत्राह-]
 सम्बन्धो यत्र निर्जातः साध्यसाधनधर्मयोः ।
 स दृष्टान्तः, तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥३८०॥
- [§ ४४३. कुतः पुनरेषामनुद्भावनानां निग्रहस्थानमिति चेदत्राह-]
 30 सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् ।
 अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ॥३८१॥

[§ ४०७. येषां तु त्रैरूप्याद्गमकत्वं तन्मत्या हेतव एवेत्याह—]

रागादिसाधनाः स्पष्टा एकलक्षणविद्विषाम् ॥३४९॥

[§ ४०८. परकीयं तत्रोत्तरं दर्शयति—]

धर्मिधर्मस्य सन्देहे व्यतिरेके ततो भवेत् ।

असिद्धिः प्रतिबन्धस्येत्यपरे प्रतिपेदिरे ॥३५०॥

5

[§ ४०९. अत्रोत्तरमाह—]

वाचो विरुद्धकार्यस्य सिद्धिः सर्वज्ञवाधिनी ।

शिरःपाणयादिमन्वाद्या विरुद्धव्याप्तिसिद्धयः ॥३५१॥

[§ ४१०. तदेव विरुद्धकार्योपलब्धिं विरुद्धव्याप्तोपलब्धिञ्च प्रतिपाद्य व्यापकविरुद्धोप-
लब्ध्यादिनाऽपि तद्वाधनं दर्शयन्नाह—]

10

सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धः सकलग्रहः ।

स्वभावकारणासिद्धेरेकलक्षणविद्विषाम् ॥३५२॥

[§ ४११. एवमेते वचनादयः कार्यस्वभावानुपलम्भरूपतया त्रैविध्यमपरित्यजन्तोऽपि
अन्यथानुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकाः, तदेव दर्शयति—]

कथञ्च सम्भवी वक्ता सर्वज्ञस्तस्य तेन नो ।

15

यावत्प्रकृत्यते रूपं तावत्कार्यं विरुध्यते ? ॥३५३॥

[§ ४१२. स्यादेव यदि विज्ञानाद्बचनम्, न चैवं विवक्षायास्तत्कारणत्वात् । सा च
रागविशेषत्वेन दोषात्मा सती विधूताशेषदोषतो निःशेषतत्त्वज्ञानान्निवर्त्तमाना वचनमपि निवर्त्तयत्येव ।
तत्कथनान्नाथानुपपत्तिर्यतः तत्सुगतादावनिवर्त्तितप्रसरतया प्रवर्त्तमान विवक्षा दोषोपस्थापनेन निःशे-
षवेदित्वं व्यापादयेदिति चेदत्राह—]

20

विवक्षामन्तरेणापि वागवृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥३५४॥

[§ ४१३. अतो विज्ञानहेतुकैव तत्रवृत्तिरेतद्वेव दर्शयन्नाह—]

प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ।

विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥३५५॥

25

[§ ४१४. भवतु वा विवक्षा, तथापि न दोष इत्याह—]

अप्रमत्ता विवक्षेयम्, अन्यथा नियमात्ययात् ।

[§ ४१५. ततः सा प्रमादरहितैव ततो न दोषवतीत्याह—]

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ? ॥३५६॥

[§ ४१६. कुतः पुनः कस्यचित् सकलज्ञान यतः 'कथम्' इत्याद्युच्यते इति चेदत्राह—]

30

[§ ४५०. भवतु नाम कश्चिद्विषयदर्शी परमवीतरागश्च सः, तत्कृतः प्रतिपत्तव्यः... न च प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तत्रप्रतिपत्तिः । अतः कथं तस्य प्रवचनानुशास्त्रिणं पर्येषणं प्रेक्षा-वङ्गिरिति चेदत्राह—]

तथान्यगुणदोषेषु संशयैकान्तवादिभिः ।

5 पुरुषातिशयो ज्ञातुं यद्यशक्यः किमिष्यते ? ॥३८८॥

[§ ४५१. ततो न रागादिमति तदन्यन्यापारादिर्यतः ततः पुरुषातिशयप्रतिपत्तिरन्य-मिचारिणी न भवेदेतदेवाह—]

परोक्षोऽप्यविनाभावसम्बद्धैर्गुणदोषयोः ।

शास्त्रैर्निर्वर्तितैः शास्त्रकारवत्सम्प्रतीयते ॥३८९॥

10 [§ ४५२. सम्प्रति सर्वैकान्तवादिनः सुगतादेः दोषवत्त्वमेव तद्व्यापारसमधिगम्यमावे-दयन्नाह—]

सिद्धर्हिसानृतस्तेयाज्रह्यचर्यप्रवृत्तितः ।

स प्रत्यस्तमिताऽशेषदोषो नेति प्रतीयते ॥३९०॥

[§ ४५३. भवतु नाम सुगतस्तथाविधः तथापि किमिष्याह—]

15 हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य किलेहशः ।

प्रवक्तैति धिगनात्मज्ञं तदसाध्यमसाधनम् ! ॥३९१॥

[§ ४५४. पुनरप्यत्रैवोपचयमाह—]

सर्वथा सदुपादेयं हेयं सत्तदकारणम् ।

तदर्थोऽयं प्रयासश्चेत्यहो सत्यन्यवस्थितिः ! ॥३९२॥

20 [§ ४५५. इदमेव श्लोकैः विवरीतुमाह—]

करुणा स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारणम् ।

इति नः करुणोष्टमत्यन्तं परदुःखं न गोचरः ॥३९३॥

[§ ४५६. इति तद्वेतुना नैव कृपा, या युक्तिमृच्छति, तदेवाह—]

नत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुरुन्मार्ग एव सः ।

25 [§ ४५७. केवल चिन्तनानस्य अपरिशुद्धस्य सतः सामग्रीविशेषतः परो भागो विशुद्ध उत्पद्यत इति तत्राह—]

मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाकतः ॥३९४॥

तत्त्वज्ञानमुदेतीति क्लृप्तस्तत्त्वविनिश्चयः ? ।

[§ ४५८. तन्नानादिसंस्कारसंभवः तदपरिज्ञानादेस्त ' नादेतदे) वाह—]

30 अनादिवासना न स्यात् त्रैलोक्यमविकल्पकम् ॥३९५॥

अन्यथाऽसंभवाभावभेदात्स बहुधा स्मृतः ॥३६५॥

[§ ४२५. कैः कृत्वा स बहुधा इत्याह—]

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्कारविस्तरैः ।

[§ ४२६. भवतु तर्हि सान्धनिरन्वयविशेषविवक्षारहितं तद्बुभयसाधारण विनाशमार्गं धर्मी सिद्धत्वादिति चेन्न, विशेषद्वयस्थासम्भवात् । नहि निरन्वयोऽपि विनाशः क्वचिद्वगतिपथ-५ प्रस्थापी सान्धयस्यैव प्रतीतेः तत्कथं तयोः किञ्चित् सामान्यं नाम यस्य हेतुम्यति आश्रयत्वमुप- कल्प्येत ? तदेवाह—]

सर्वथा नास्ति सामान्यं परिणामविनाशयोः ॥३६६॥

यो हेतोरश्रयः, अनिष्टेः, इष्टः स्वात्मा विशेषतः ।

[§ ४२७. तत्र कल्पनासिद्धस्य सिद्धत्वमित्यसिद्ध एव सत्त्वादिः, एतदेवाह—] 10

साध्यसाधनभावो न शब्दनाशित्वसत्त्वयोः ॥३६७॥

[§ ४२८. अत्रैव प्रतिवस्तूपमया दृष्टान्तमाचष्टे—]

अनलः पावकोऽग्नित्वादिद्यनेकान्तविद्विषाम् ।

[§ ४२९. भवतु कल्पितस्तत्रानेकान्तः इति चेन्न; अनवस्थादोषस्योद्धोषितत्वात् । भवतः कथं तयोस्तद्भाव इति चेदाह—] 15

सर्वान्यसदृशः शब्दः सत्त्वादिपरिणामतः ॥३६८॥

सर्वार्थान्यासमः शब्दः शब्दादिपरिणामतः ।

[§ ४३०. शब्दस्य परिणामि (णाम) त्वे परिणामिना भवितव्यम् तस्य तद्धर्मत्वात् । न चासौ कश्चिदप्यस्तीति चेन्न; पुद्गलपरमाणूनां भावात् । एतदेवाह—]

अणूनां श्रुतयोग्यत्वातिशयादानहानयः ॥३६९॥ 20

शब्दोत्पत्तिविनाशास्तत्साध्यसाधनसंस्थितिः ।

[§ ४३१. सम्प्रति चित्तनाचार्यानुस्मरणेन पुण्यातिशयावासिमनुसन्दधानः श्रीमत्पात्रके- सरिवचनेन हेत्वाभासानामुपसंहारं दर्शयन्नाह—]

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ॥३७०॥

अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं सङ्गिरामहे । 25

[§ ४३२. सम्प्रति दूषणामासं दर्शयन्नाह—]

तत्र मिथ्योत्तरं जातिः,

[§ ४३३. कीदृशं तदित्याह—]

यथाऽनेकान्तविद्विषाम् ॥३७१॥

दध्युद्गादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् । 80

तज्ज्ञानपूर्वकं तर्क्यमनुमानसमीक्षितम् ।

मानं वस्तुबलादेव सर्ववस्तुनिबन्धनम् ॥४०४॥

[§ ४६८. यथापौरुषेयस्यापि पुरुषगुणबलादेव अर्थतत्त्वनिश्चयः, प्रवचनस्य पौरुषे-
यत्वमेव किञ्च भवतीति मन्वान आह—]

5 आगमः पौरुषेयः स्यात्प्रमाणमतिलौकिकम् ।

संवादासंभवाभावात् समयाधिप्रलम्भनः ॥४०५॥

[§ ४६९. किञ्चामनुपलम्भो वादिनः स्वस्य वा भवेत् सर्वस्य वा गलन्तराभावात् ।
तत्रोभयत्रापि दोषमावेदयन्नाह—]

सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्व-सर्वानुपलम्भयोः ।

10 आरेकासिद्धते तस्याप्यर्वागदर्शनतोऽगतेः ॥४०६॥

[§ ४७०. ततो युक्तमक्षानपेक्षं केवलिन. प्रत्यक्षम् तत्र वैशद्यस्य तत्संक्षणस्य पुष्कल-
त्वात्, तस्य चावरणविवेकनिबन्धनत्वेन अक्षन्यापारपराधीनत्वाभावादेतदेवाह—]

विज्ञानमञ्जसा स्पष्टं विप्रकृष्टे विरुद्धयते ।

न, स्वप्रेक्षणिकादेर्वा ज्ञानावृत्तिविवेकतः ॥४०७॥

15 [§ ४७१. साम्प्रतं प्रतिपादितार्थसङ्ग्रहार्थं श्लोकानाचक्षाणः प्रथमम् आत्मनो ज्ञाना-
त्मकत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वपर्यनुयोगम् आवरणविवेकवैचित्र्येण परिहरन्नाह—]

ततः संसारिणः सर्वे कथञ्चिच्चेतनात्मकाः ।

तत्तत्स्वभावतो ज्ञानं सर्वत्र शबलायते ॥४०८॥

[§ ४७२. अनादिमूर्त्तकर्मसम्बन्धात्तत्प्रदेशानुप्रवेशरूपात् कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्यापि भावा-
20 त्तदेवाह—]

अभिन्नो भिन्नजातीयैर्जीवः स्याच्चेतनः स्वयम् ।

[§ ४७३. स तर्हि कस्मात् सर्वतो न प्रकाशते सर्वविषयतयेति चेदत्राह—]

मलैरिव मणिर्विद्धः कर्मभिर्न प्रकाशते ॥४०९॥

[§ ४७४. यदा तु तदावरणमलाना निःशेषवृत्त्या जीवतो विच्छेदः तदा प्रकाशत
25 एवासौ समन्ततः सर्वार्थसाक्षात्करणरूपतया च ...तदेवाह—]

सर्वार्थग्रहसामर्थ्यात् चैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।

कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वानर्थान्न पश्यति ? ॥४१०॥

[§ ४७५. निरवशेषनिर्घृतबोधावरणमलस्यापि केवलिनः पुनः कुतश्चिदसिम्बन्धसंभ-
वादनर्थोपनिबन्धः किञ्च भवतीति चेदत्राह—]

30 प्रभुः साक्षात्कृताशेषप्रपञ्चभुवनत्रयः ।

अनर्थैः परमात्मानमल एव न योजयेत् ॥४११॥

[§ ४४४. कः पुनरयं वादो नाम यत्रेदं निग्रहस्थानमित्यत्राह—]

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये ।

वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥३८२॥

[§ ४४५. ततो लाभाद्यभाव एव निग्रहो वक्तव्यः इति चेदत्राह—]

आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः ।

5

न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम् ॥३८३॥

[§ ४४६. सम्प्रति वादामासं दर्शयति—]

तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः ।

तदात्मोत्कर्षणायैव वाचो वृत्तिरनेकधा ॥३८४॥

[§ ४४७. साम्प्रत प्रत्यक्षादिज्ञानानां सख्यादिकथननिरूपणे प्रयोजनमुपदर्शयितुं 10
परेण प्रशङ्कायति—]

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादात्,

सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेतसाम् ? ।

आ ज्ञानं सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः,

प्रेक्षन्ते तद्दुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छिन्नये ॥३८५॥

15

[§ ४४८. कुत. पुनर्न्यायदर्शनादि निःश्रेयसनिवन्धनतया प्रसिद्धमपि शास्त्रान्तरं परि-
लज्य पुरुषार्थसिद्धये भगवदा [ज्ञा] य एव भवतामगिरतिरिति चेदत्राह—]

शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकम्,

मिथ्यैकान्तकलङ्कितं बहुमुखैरुद्धीक्ष्य तर्कागमैः ।

दाहातैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतम्,

विस्रब्धैर्कलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते ॥३८६॥

20

इति न्यायविनिश्चये द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ॥



३. तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ।

[§ ४४९. तदेव प्रस्तुतप्रस्तावान्या प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्य निश्चित्य साम्प्रत वचनस्य
तद्विषय(यं)प्रतीतप्रस्तावान्धवृत्तेन सूचितं दर्शयितुमाह—]

25

सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम् ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥३८७॥

तदर्थदर्शिनोऽभावान्मलेच्छादिव्यवहारवत् ।

[§ ४८५. सत्यपि तदर्थमिमुखे अनादिसम्प्रदायत्वे वेदागमस्य मवितव्यं तदर्थदर्शिनो पुरुषेणेति प्रतिपादयिषुः पूर्वपक्षयति—]

अनादिसम्प्रदायश्चेदायुर्वेदादिरागमः ॥४१८॥

5 [§ ४८६. अत्रोत्तरमाह—]

कालेनैतावताऽनाप्तः कथञ्च प्रलयं गतः ? ।

[§ ४८७. ततो यत्सिद्धं तदाह—]

सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं त्रिकालविषयं स्फुटम् ॥४१९॥

[§ ४८८. तर्हि तथाविधस्य तज्ज्ञानस्य संगता (सुगता) दिग्बन्धेन भावात् त एव तद्वेदादेः प्रवर्षकार्षेः (काः स्युः) इति चेदत्राह—]

तथा न क्षणिकादीनां सर्वथासशुणाल्ययात् ।

[§ ४८९. उपसंहरन्नाह—]

तद्विरम्य विरम्यैतद् युक्तं शास्त्रप्रवर्तनम् ॥४२०॥

[§ ४९०. तदेवं तस्य शास्त्रं प्रत्युपयोगमभिधाय तत्र प्रवृत्तेरर्थवत्त्व प्रत्यभिधिसुराह—]

15 तादृशोऽभावविज्ञाने शास्त्रे वृत्तिरनर्थिका ।

[§ ४९१. तत्र बाधकवत् साधकस्याप्यसंभवेन सशयस्यैवोपपत्तेरिति चेदत्राह—]

सन्देहेऽपि च सन्देहः ततस्तन्वं निरूप्यते ॥४२१॥

[§ ४९२. तदेवं वेदावयवत्वेन आयुर्वेदादेः नित्यत्वे दोषमभिधाय साम्प्रतं शब्दमात्रस्य नित्यत्वे तं दर्शयन्नाह—]

20 स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् ।

व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः ॥४२२॥

वंशादिस्वरधारायां सङ्कुलं प्रतिपत्तितः ।

क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्तः सकृद्ग्रहणविभ्रमः ॥४२३॥

ताल्वादिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते ।

25 को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ? ॥४२४॥

[§ ४९३. भवतोऽपि तदुपादानस्य प्राग्भाविनः कुतो नोपलब्धिरिति चेदत्राह—]

उपादानस्य सूक्ष्मत्वाद्युक्तञ्चानुपलम्भनम् ।

[§ ४९४. प्रत्यभिज्ञानात्तत्र नित्यत्वमेवोपपन्नं न मेदः, तत्रातिपक्षेस्तेनैव प्रतिक्षेपादिति

चेदत्राह—]

80

सादृश्यात्, नैकरूपत्वात् स एवायमिति स्थितिः ॥४२५॥

[§ ४५६. ततः प्रत्यक्षत्वादात्मदर्शनस्य न तद्विपरीतैरनुमानविकल्पैरुपपन्ना बोद्धा (बाध) परिकल्पना । तदाह—]

निरुपद्रवभूतस्य वाधाऽयुक्ता विपर्ययैः ।

[§ ४५७. भवतु तर्हि सविद्वैतमेव अविशेषवत्, यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथैत्यभिधानादिति चेदत्राह—]

विच्छेदो वरमुच्छेदात् विदस्तत्पक्षपाततः ॥३९६॥

[§ ४५९. तदवस्थितिश्च करुणयेति चेत्तदाह—]

यत्तावत्करुणाचन्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।

सन्तानः,

[§ ४६२. अत्र दूषणमाह—]

स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥३९७॥

[§ ४६३. ससारदुःखसम्बन्धः सन्तानस्याऽसतः कथम् ? मोक्षोऽपि तदसम्बन्धः सन्तानस्यासतः कथम् ? ततः कथञ्चिदसत एवासौ तथा वेदाह—]

तथा निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ।

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते ॥३९८॥

[§ ४६४. साम्प्रत साख्यादिमते वेदस्य तत्त्वचिख्यासुराह—]

नित्यस्यापि सतः साक्षादहस्यानुभवात्मनः ।

सुखादिर्विषयः शब्दादविशेषधियाऽन्यथा ॥३९९॥

प्रदर्श्यः;

[§ ४६५. साहसान्तरं पुनरित्यादिना निवेदयति—]

पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तितः ।

निर्वाणमाह वेदोऽयं प्रमाणमिति साहसम् ! ॥४००॥

[§ ४६६. समानस्यापि कर्तुः क्वचिद्विप्रलम्भसमवे चक्षुरादावप्यनाम्नासापचरेतदेवाह—]

विश्वलोकाधिकज्ञाने विप्रलम्भनशङ्किनः ।

प्रामाण्यं कथमक्षादौ चञ्चले प्रमिमीमहे ? ॥४०१॥

[§ ४६७. तदेव त्रिभिरन्तरल्लोकैर्न्याचिख्यासुराह—]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।

अदृष्टदोषशङ्कायाममानं सकलं भवेत् ॥४०२॥

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।

दर्शनादर्शनाध्यासात् क्वचिद् वृत्तसमन्वतः ॥४०३॥

क्रमेणोच्चार्यमाणेषु ध्वनिभागेषु केषुचित् ।
न वर्णपदवाक्याख्या विकारेष्वेव संभवात् ॥४३३॥

[§ ५०४. स्वमते तु तत्संभव दर्शयन्नाह—]

शब्दभागाः स्वहेतुभ्यः समानोन्नयहेतवः ।
5 सकलाग्रहणात्तेषां युक्ता हि ओन्नगोचराः ॥४३४॥

[§ ५०५. तथाच पुद्गलपर्यायः शब्दः शरीरावयवसम्बन्धेनोपलभ्यमानत्वात् शीतातपा-
दिवत् ... एतदेव दर्शयन्नाह—]

परिणामविशेषा हि भावानां भावशक्तयः ।
ध्वनयस्तत्समर्थानामभावादतिरेकिणाम् ॥४३५॥
10 [§ ५०६. साम्प्रत प्रकरणार्थमुपसंहर्य दर्शयन्नादितः शब्दानामपौरुषेयत्वे दोषमा-
वेदयति—]

वाचामपौरुषेयीणामाविर्भावो न युज्यते ।
[§ ५०७. पौरुषेयस्यापि वाचकत्वमपि (त्वमनमि) मतस्यापि किञ्च स्यादिति चेदत्राह—]
सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थामिधायकः ॥४३६॥
15 अत्रापौरुषेयत्वं जातु सिद्धमनर्थकम् ।

[§ ५०८. किं पुनस्तत्सत्यम् यदमिधायित्वेन शब्दः सत्य उच्यते इत्यत्राह—]
सर्वार्थानामनेकात्मपरिणामौ व्यवस्थितौ ॥४३७॥
मार्गस्तद्विषयश्चेति मतं सत्यं चतुर्विधम् ।
[§ ५०९. जीवादीनाञ्च मार्गविषयचप्रतिपादनमपरिज्ञाततद्रूपस्य प्रेक्षावतो मोक्षार्थायाः
20 प्रवृत्तेरनुपपत्तेः अत एवाह—]

अहं ममास्त्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥४३८॥
कर्मणामिति सत्कृत्य प्रेक्षाकारी समीक्षते ।
तत्त्वज्ञानप्रभावेण तपः संवरणं वृणाम् ॥४३९॥
तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ।
25 रागद्वेषौ विहायैव शुणदोषवतोस्तयोः ॥४४०॥
मोक्षज्ञानात् प्रवर्तन्ते मुनयः समदुद्धयः ।
सज्ज्ञानपरिणामात्मतत्त्वसम्प्रतिपत्तितः ॥४४१॥
पीतदोषाश्रवाकारो विपरीतग्रहक्षयः ।

[§ ५१०. कर्मपुद्गलश्लेषोऽपि जीवस्य अपरमोहाविपूर्वकः तत्त्वात् षत्पूरामिरसोपश्लेषवत्
30 इति सिद्ध आश्रवो बन्धश्च, तद्रूपश्लेषस्य बन्धत्वात्, तद्वेतोश्च मोहादेराश्रवत्वात् । एतदेवाह—]

[§ ४७६. कुतः पुनः प्रभोर्निर्वणशेषप्रपञ्चसुवनत्रयसाक्षात्करणमिति चेदत्राह—]

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात् सिद्धयेत्,

[§ ४७७. नन्वेवम् आगमस्य तत्पर्यक्तत्वं न भवेत् ततोऽपि पूर्वं तस्य भावादिति चेदत्राह—] 5

न च तेन विनाऽऽगमः ॥४१२॥

[§ ४७८. नचैवमन्योन्यसंश्रयः; हेतुहेतुमद्भावेन परमागमकेवलज्ञानसन्तानस्य बीजाङ्कुर-
वदनादित्वात् । एतदेव दर्शयन्नाह—]

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥४१३॥ 10

[§ ४७९. ग्रहणस्यादयो हि देशकालजातीयविकल्पेन प्राणिनां श्रेयःप्रत्यवायोपनिपा-
तपिशुनतया प्रतीयमाना निःशेषानपि देशकालविशेषान् तन्निवासिनः त्रसत्यावराधनेकविक-
ल्पान् प्राणिनः तदधिकरणानदृष्टविशेषानपि तद्हेतुफलविकल्पेन प्रत्याययन्ति, अन्यथा तत्पिशु-
नतया तन्नातिपचेरनुपपत्तेः । तत्कथमशेषविषयमेव ततस्तत्र साधितं भवेदेतदेवाह—]

ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः । 15

येन साक्षात्कृतास्तेन किञ्च साक्षात्कृतं जगत् ? ॥४१४॥

[§ ४८०. साम्प्रतं परस्य निर्वन्धाङ्गिवल्लोपनिबन्धनत्वे सत्यपि तस्य सूक्ष्मादिपदार्थ-
साक्षात्करणमवरयम्भातीति दर्शयन्नाह—]

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥४१५॥ 20

[§ ४८१. भवत्येव तत्रसङ्गसाधनं यदि ग्रहणस्यादिक्रममनुमानतः प्रतिपद्य कश्चिदुप-
दिशेत्, न चैवम्, तच्छास्त्रस्य वेदाङ्गत्वेनापौरुषेयस्य उपदेष्टुरभावात्, एतदेवाह—]

वेदस्थापौरुषेयस्य स्वतस्तत्त्वं विवृण्वतः ।

आयुर्वेदादि यद्यङ्गम् ;

[§ ४८२. अत्रोत्तरमाह—] 25

यत्नस्तत्र निरर्थकः ॥४१६॥

[§ ४८३. स च पुरुष तदर्थसाक्षात्कार्येव नापरः ...तदेव दर्शयन्नाह—]

शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात् सामग्रीशुण्णदोषतः ।

[§ ४८४. प्रयत्नसापेक्षत्वेन तत्र नित्यत्वविरोधस्याभिधानात् । तदविरोधेऽपि दूषणमाह—]

अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा ॥४१७॥ 30

[§ ५२०. तत्र [प्रवचनं] स्वविषये सप्तमज्ञा प्रवर्तते इति, तद्विनिश्चयं कुर्वन्नाह—]

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ॥४५१॥

स्याद्विधिप्रतिषेधान्यां सप्तमङ्गी प्रवर्तते ।

[§ ५२१. तत्र प्रथमद्वितीयौ तद्भावभावयोः प्रत्येकं प्रतिपिस्त्याय, तृतीयस्तु सङ्गम-
५ जिज्ञासायाम् । तदेवाह—]

तदतद्गुणस्तुभेदेन वाच्योवृत्तेस्तथोभयम् ॥४५२॥

[§ ५२२. चतुर्थस्तु युगपत्प्रतिपिस्तायां वचनप्रवृत्तेरसंभवात्तदाह—]

तदतद्वागवृत्तेश्च,

[§ ५२३. पञ्चमादिमङ्गत्रयं तु प्रथमादेः प्रत्येकं जिज्ञासया चतुर्थेन सम्मेलनात्तदेव
10 निवेदयति—]

सह तद्वागवृत्तिना ।

[§ ५२४. तर्हि किमर्थं स्यादेवकारप्रयोगः विनापि तेन भङ्गविकल्पानामुपपत्तेरिति
चेदुच्यते—]

प्रयोगविरहे जातु पदस्यार्थः प्रतीयते ॥४५३॥

15 स हि शब्दार्थतत्त्वज्ञैस्तस्येति व्यपदिश्यते ।

[§ ५२५. किं स्यात्कारादेः प्रतीतिार्थस्य प्रयोगेन इति चेन्नापमुपालम्भो लोक (के)
प्रतीतिार्थानामपि प्रयोगप्रतीतेरिदमेवाह—]

अहमस्मीति वाक्यादौ सिद्धावन्यतरस्थितेः ॥४५४॥

उभयोक्तिवदत्रोक्तौ उपालम्भो विरुद्धयते ।

20 [§ ५२६. प्रकारान्तरेणापि स विरुद्धते इति दर्शयति—]

यदि केचित् प्रवक्तारो वृत्तिवाक्यार्थघोरपि ॥४५५॥

सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ त्रैलोक्यं किन्न वर्तते ? ।

[§ ५२७. तर्हि स्यात्कारादिप्रयोगोऽपि सफल एव तद्विषये मन्दमतीनां भावादेतदेवाह—]

केवलं प्रतिपत्तारः स्याद्वादे जडवृत्तयः ॥४५६॥

25 [§ ५२८. परत्रापि जडवृत्तय इति दर्शयति—]

जातितद्गुणपोहादिवाद्वा न हि जानते ।

[§ ५२९. के तर्हि स्याद्वादमनुरुन्धते यदि सौगतादयो जडवृत्तय इति चेदत्राह—]

सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गव्यवस्थिताः ॥४५७॥

व्याख्यातारो विवक्षातः स्याद्वादमनुरुन्धते ।

[§ ४२५. यदि चाय निर्वन्धः तथाभूतयाऽपि प्रत्यभिज्ञया प्रतिक्षेपाश्लिखः शब्द एवेति । तत्राह—]

यदि चैवंविधो नित्यो नित्यास्ते विशुदादयः ।

प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद्भिन्नदेशयोः ॥४२६॥

[§ ४२६. मवलु ततस्त्राप्यभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

5

सर्वार्थानामनादित्वे स विशेषो निराश्रयः ।

योज्यथासम्भवी शब्दघटाद्याख्योऽचभासते ॥४२७॥

[§ ४२७. तदुच्चारणस्य पारार्थ्यान्यानुपपत्त्या नित्य एव शब्दः इति चेदुत्तरमाह—]

स वर्णपदवाक्यानां कालदेशादिभेदिनाम् ।

सहशानां प्रबन्धोऽयं सर्वेषां न विरुध्यते ॥४२८॥

10

[§ ४२८. कय पुनरसति नित्यत्वे शब्दस्य प्रामाण्यमिति चेत् ; क एवमाह—तस्य प्रामाण्यमिति, सम्यग्ज्ञानस्यैव तत्त्वात् । शब्दस्य तु तत्त्व तत्कारणत्वेन उपचारात् । न च तद्वैतुत्वमपि नित्यत्वात्, अपि तु तदर्थवेदिपुरुषपूर्वकत्वात्, एतदेव दर्शयन्नाह—]

वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये ।

स्वतः सामर्थ्ययिच्छेधात् सङ्केतं हि प्रतीक्षते ॥४२९॥

15

[§ ४२९. तदेवमनेकधा समयप्रतिपत्तिसमवेनोपपन्न तद्व्यतीक्ष्यैवार्थि(वार्थ)प्रत्यायकत्व वचनस्य । तदनेकत्वमेव दर्शयन्नाह—]

स पुनर्बहुधा लोकव्यवहारस्य दर्शनात् ।

शब्दार्थयोर्विकल्पेन सन्निवेशोऽनुवर्त्तते ॥४३०॥

[§ ५००. यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो येन सङ्केतस्तत्रा- 20 पेक्ष्यते ? इति चेदुच्यते—तत्सर्वविषय नियतविषय वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थप्रतीति- प्रसङ्गात्, तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोपः । तत आह—]

न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केताश्रियमो यदि ।

[§ ५०१. द्वितीयविकल्पे दोषमाह—]

सम्बन्धनियमेऽन्यत्र समयेऽपि न वर्त्तताम् ॥४३१॥

25

[§ ५०२. कस्तर्हि तयो. सम्बन्ध- ? इत्याह—]

न हि शब्दार्थसम्बन्धो यतोऽर्थः सम्प्रतीयते ।

तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्त्तते ॥४३२॥

[§ ५०३. तत्र सौगतमते शब्दस्य संभवो वर्णस्यैव अनवस्थितो (तेः) तन्क्रमान्मनः पदादेरप्यव्यवस्थितेः । एतदेवाह—]

80

[§ ५३८. भगवतोऽज्ञानपेक्षदर्शनत्वात्तदाह—]

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ।

[§ ५३९. सर्वार्थावलोकनमेव दर्शयन्नाह—]

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम् ॥४६६॥

5 ज्योतिर्ज्ञानादिवत्सर्वं स्वत एव प्रणेत्तृभिः ।

[§ ५४०. तद्वत् अन्यदपि सर्वं तत्तैर्दृष्टमेव अन्यथा तद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः । अनुपदेशादयः प्रणयनविशेषणत्वेन संहता एक (एव क) सान्धेतवो न प्रत्येकमपीति चेदत्राह—]

सङ्घातो हेतुरेतेषां पृथगन्यत्र सम्भवात् ॥४६७॥

10 [§ ५४१. ततो न सुगतादीनां प्रणेतृत्वं तदभावात् । तत्र च दोषमाह—]

एवं हि सुगतादिभ्यो वरमीक्षणिकादयः ।

[§ ५४२. अर्हतामपि किं तत्त्वदर्शित्वकल्पनया शास्त्रादेव अनुष्ठेयार्थप्रतिपत्तेः, तस्य च संवादादेव प्रामाण्यावगमात् इति चेदत्राह—]

शास्त्रं तल्लक्षणव्याप्तं सर्वज्ञादेरबाधनात् ॥४६८॥

15 अपौरुषेयवृत्तान्तोऽप्यत एव विरुद्धयते ।

[§ ५४३. सम्प्रति शास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह—]

प्रत्यक्षमज्ञसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम् ॥४६९॥

प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाणे इति सद्ग्रहः ।

[§ ५४४. साम्प्रतं परोक्षविकल्पानां प्रागुपवर्णितमपि प्रामाण्यमनुस्मरणार्थं पुनरुप-
20 दर्शयिषुः प्रथमं तदाद्यत्वात् स्मरणज्ञानस्योपदर्शयति—]

इदमेवमिति ज्ञानं शृहीतग्रहणेऽपि नः ॥४७०॥

[§ ५४५. साम्प्रतं तर्कस्य प्रामाण्यं दर्शयितुमाह—]

प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये ।

अनुमानमतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः ॥४७१॥

25 [§ ५४६. साम्प्रतमुपमानस्य प्रत्यभिज्ञाविशेषत्वेन प्रमाणान्तरत्वमुपाचिकीर्षुः तदेव तावत्परि (तावत्पर) कल्पनामादर्शयति—]

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधन्यात् साध्यसाधनम् ।

[§ ५४७. तान् प्रति अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह—]

रागादयः सजातीयपरिणामाभिवृद्धयः ॥४४२॥
सूचयन्ति हि कर्माणि स्वहेतुप्रकृतीनि च ।

[§ ५११. साम्प्रतं 'तत्त्वज्ञान' इत्यादिना उक्तमपि कर्मनिर्जरणं विनेयजिवृद्धया स्पष्ट-
मभिषिक्तुराह—]

सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्ख्ये ॥४४३॥ 5
कर्माश्लेषः, प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् ।

[§ ५१२. कुतः पुनः विपक्षस्य सात्मीभावः ? इत्याह—]

प्रतिपक्षस्थिरीभावः प्रायः संस्कारपाटवात् ॥४४४॥

[§ ५१३. के पुनस्ते दोषाः येषां तद्भावनाविपक्षभावेनोपेक्ष्यते इति चेदत्राह—]

निर्हासातिशयौ येषां तत्प्रकर्षापकर्षयोः । 10

[§ ५१४. तत्र तस्य [नैराल्पस्य] भावना, तत्संभवेऽपि न किञ्चित्फलमित्यावेदयति—]

यद्यप्यनात्मविज्ञानभावनासंभवस्ततः ॥४४५॥
न निरोधो निरोधे वा न प्रयोजनमीक्ष्यते ।

[§ ५१५. तत्र सौगतकल्पितो मोक्षः, तदभावात् तन्मार्गत्वम् । अनात्मविज्ञानामियो-
गस्य नैराल्पज्ञानस्य मिथ्यात्वाच्च न तदभ्यासस्य मार्गत्वमित्यादर्शयति—] 15

हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थितेः ॥४४६॥

मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञं मैत्र्यादिप्रतिरोधतः ।

[§ ५१६. साम्प्रतं स्वमते प्रमोदादेर्विषयभावादिना विधानमुपपन्नमिति दर्शयन्नाह—]

तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्र्येषु महीयसाम् ॥४४७॥

आत्मीयेषु प्रमोदादिरत एव विधीयते । 20

[§ ५१७. न चैवमवस्थितस्यापि सुगतस्य क्वचिन्मैत्र्यादिकं संभवतीत्याह—]

यस्तावत्करुणावत्तात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ॥४४८॥

सन्तानः स परोच्छेदाच्च समत्वं प्रपद्यते ।

[§ ५१८. तत्र उच्छेदात्मा मोक्षः संभवति । कस्तर्हि कर्तव्य इत्याह—]

तस्मान्निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ॥४४९॥ 25

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु मिथ्यते ।

[§ ५१९. एकान्तनित्यत्वेन (त्वे) विनश्यदैकान्तवर्तिर्वाणस्यैवाभावप्रसङ्गादेतदेवाह—]

नित्यस्येच्छा प्रधानादियोगोऽनित्यः किमात्मनः ॥४५०॥

मिथ्याज्ञानादनिमोक्षः तथाऽनेकान्तविद्विषाम् ।

नैकान्तक्षायिकाणामतिशयमवदत्तैव नानार्थसाध्यम्,
 नैष्टिकञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे ।
 निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम्,
 योऽयं तस्मै नमामः त्रिशुवनगुरवे शम्भवे शान्तये ते ॥४७९॥

5

[§ ५५७. पुनरपि शासनस्याराध्यत्व फलवत्त्वेन दर्शयन्नाह-]

युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियामत्यादराराधिनाम्,
 संसेन्यं परमार्थवेदसकलध्यानास्पदं शाश्वतम् ।
 लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञाशुणोद्भूतये,
 आभन्व्यादकलङ्कमङ्गलफलं जैनेश्वरं शासनम् ॥४८०॥

10

इति न्यायविनिश्चये तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ॥

[समाप्तश्चायं ग्रन्थः]



[§ ५३०. प्रमाणप्रसिद्धत्वादेव अनेकान्ते संशयादिदोषप्रसङ्गोऽपि प्रेक्षावतां नावत-
तीत्याह—]

अनेकलक्षणार्थस्य प्रसिद्धस्याभिधानतः ॥४५८॥

संशयादिप्रसङ्गः किं स्याद्वादेऽमूढचेतसः ? ।

साकल्येनेह सामान्यविशेषपरिणामधीः ॥४५९॥

5

मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो विदुषो विनिवर्त्तयेत् ।

[§ ५३१. कथं पुनः शासनत्वाविशेषेऽपि शासनान्तरपरिहारेण भगवद्दर्शच्छासनत्वैव
प्रामाण्यमित्यारेकाया तथा तद्दर्शयन्नाह—]

आप्तवादः स एवार्थं यत्रार्थाः समवायिनः ॥४६०॥

प्रमाणमविसंबादात्,

10

[§ ५३२. कथं पुनः दृष्टागमविरोधविकलतया प्रमाणमप्यनेकान्तवादः...सकलवेदिन
एवेति निश्चयः ? कथं वा यथोक्तगुणोपपन्नोऽपि क्वचिन्मिथ्यावचनानामप्रणेता इत्येव निर्णयः ?
वीतरागाणामपि सरागवचेष्टासंभवादेतदेव दर्शयति—]

प्रणेता यदि शङ्कयते ।

[§ ५३३. प्रथमशङ्कायामुत्तरमाह—]

15

आत्मा योऽस्य प्रवक्ताऽयमपरालीढस्तपथः ॥४६१॥

नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्त्तते ।

[§ ५३४. द्वितीयशङ्कायामप्याह—]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥४६२॥

अहृष्टदोषाशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते ।

20

[§ ५३५. ततः स्वसंवेदनं प्रमाणयता प्रवचनमपि प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम् अविशेषात् ।
एतदेवाह—]

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्राप्ताग्यं गुणदोषयोः ॥४६३॥

उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां क्वचिद् वृत्तसमात्त्वतः ।

[§ ५३६. तदेवं प्रवचनस्यं प्रामाण्ये यत्सिद्धं तद्दर्शयन्नाह—]

25

तथा साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थोऽक्षानपेक्षणात् ॥४६४॥

सद्बुद्धस्तकेवलज्ञानः सर्वज्ञः सम्प्रतीयते ।

[§ ५३७. सकलावरणपरिहृत्वाविरुत्तमपि कथं तदशेषविषयमिति चेदत्राह—]

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवहित्यते ? ॥४६५॥

यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥४७२॥
प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ।

[§ ५४८. तर्हि स्मरणादिकं किन्नाम प्रमाणमिति चेद्वाह—]

सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानमनुमानं तथाऽऽगमः ॥४७३॥

[§ ५४९. कथं पुनरागमः प्रमाणमिति चेद्वाह—]

5

सम्प्रदायाविधातेन यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

[§ ५५०. किं पुनः प्रत्यक्षं किं वा परोक्षमित्यत्राह—]

आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराक्षसम् ॥४७४॥

[§ ५५१. कथं तर्हि मतिज्ञानस्यैव (वं) अवग्रहादिभेदस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम् आत्ममात्रापेक्ष-
नामावादिति चेद्वाह—]

10

केवलं लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसङ्ग्रहः ।

[§ ५५२. कथमागमस्य परोक्षत्वमुक्तम्—‘अनुमानं सयागमः’ इति; तस्य अज्ञानत्वात्,
ज्ञानस्यैव चागमे परोक्षत्वकथनादिति चेद्वाह—]

स्याद्वादः श्रवणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिषु ॥४७५॥

[§ ५५३. तत्किमिदानीं प्रमाणफलमित्याह—]

15

प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः ।

निःश्रेयसं परं वेत्ति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥४७६॥

प्रत्यक्षं श्रुतविज्ञानहेतुरेव प्रसज्यते ।

[§ ५५४. प्रमाणवन्नयानामपि अविगमहेतुत्वं...तेऽपि विप्रतिपत्तिनिरासेन निर्णेतव्यम्
(व्याः) इति चेद्वाह—]

20

इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ॥४७७॥

[§ ५५५. तदेवं व्यवस्थापितप्रामाण्यस्य प्रवचनस्य शास्त्रान्ते प्रयोजनमाह—]

मिथ्यात्वं सौगतानां कणचरसमयं कापिलीयं प्रमेयम्,
प्रागल्भ्यं शाबराणां जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाशे ।

पर्याप्तत्वं व्यपोहञ्जुपहसनमयं प्रस्तुवन्न्यायमार्गं,

25

स्याद्वादः सर्ववादप्रवणगुणगणः श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् ॥४७८॥

[§ ५५६. किं पुनस्तच्छ्रेयो यदर्थत्वं स्याद्वादस्यारास्यते इति चेत् ? सकलावरणपरि-
क्षयविजृम्भितं केवलज्ञानमेव । तदेवाह—]

स्थूलस्य कस्यचिदर्शनात्, अन्यथार्थी नियम वैस्यद्येच्छा वृत्तयः (१) सकलनान्तर-
वत् । न तादृशं सञ्चितालम्बनं युक्तम्; विविधान् विधानस्य (विवादानुविवादनस्य)
विकल्पनान्तरीयकत्वात् । तदेकान्ते परत्र को [ऽ] परितोषः ? सकृत्प (त्र) तिभास-
मेदः संविदात्मनः सन्तानान्तरवत् । तत्र मेदाभेदसाधनो न मेदसाधनो न मेद-
५ प्रतिषेधो विषयवत्, विज्ञानसञ्चये पुनरसङ्गमादपरामर्शस्पर्शादिज्ञानयोगपद्ये तदर्थान-
न्तरमानसप्रत्यक्षेऽपि समानः प्रसङ्गः । तत्र अतीतविषयं परिस्फुटं युक्तम् अतिप्रस-
ङ्गात् । तदेवं विष्णुतवद् भावनातो निवर्त्तते । अचिन्तायां विकल्पसंहारे तथादृष्टौ
पुनर्भावयतोऽनिवृत्तेः ॥७॥

[§ २. सदर्थनियतं ज्ञानं फलं तत्त्वार्थनिर्णयः ।

10

तदभावे प्रमाणाभं मानसं सविकल्पकम् ॥ ५ ॥]

§ ४. सदर्थनियतं ज्ञानम्, नहि सतोर्विषयविषयित्वेऽपि अनियमो आतृव-
दुपचारस्यापि तत्रानुपयोगः । सम्भवत्यपि भावानां स्वभावभेदः । फलं तत्त्वार्थ-
निर्णयः, स्वार्थमात्राध्यवसायाभावे दर्शनस्य सञ्चिधानामेदेन दृष्टसजातीयाभिला-
षास्मृतेः उभयव्यवसायोऽपि न स्यात् । तदभावे प्रमाणाभम्, तिमिराद्यवग्रहः
15 प्रमाणं चन्द्रादिष्वविसंवादं न पुनः श्रुत्यादौ, तथाऽनभिनि (ऽभिनि) बोधे यथार्थदर्श-
नेऽपि विश्रवसम्भवात् । मानसं सविकल्पकम्, सुखादिरविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षैकान्ते
न मानसं क्षणपरिमाणादेरप्रतिभासः केशादिविवेकवत् । परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परो-
क्षवत् । सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मना (नां) तथाभावसङ्कर-
व्यतिक [र] व्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्वलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वं परस्परपरिग्रहपरि-
20 णामाविनाभावी मतिश्रुतयो [ः] स्वार्थविवेको नियतोद्भवेतरविचर्त्तेन गुणवत्, उभयो-
पयोगलक्षणत्वादात्मनः ।

स्वनिश्चयफलापेतं मानाभासं सुषुप्तवत् ।

§ ५. स्वतो निर्णयात्मकं फलम्, प्रमाणान्तरानुभवनिर्णयं पुनर्मानामम् ।

शास्त्रार्थज्ञानसंवादः तत्प्रत्यक्षप्रसाधनः ॥ ६ ॥

25

§ ६. सर्वमित्यैकान्तातीजा (ता) तिज्ञयज्ञानं प्रवचनम्, अतिकरणप्रत्यया-
त्यये सर्वथा सम्बन्धग्रहणायोगादन्धपरम्परयाऽनुपपन्नम् ॥७॥

कालेने (ने) तावता [ऽ] नासः कथं न प्रलयं गतः ? ।

§ ७. नहि शब्दः स्वतः प्रमाणं विप्रतिपत्तिदर्शनेन तदर्थोपलम्भसम्प्रदाया-
पेक्षः संवादसत्यप्रतिपत्तेः । दोषावरणक्षयोपशमप्रयोगातिशयवशाद् विज्ञानविशेषा-
30 नुपपत्तौ तज्ज्ञानमपि न प्रमाणम् । तदर्थदर्शनसमयसंवादे समभिहारेण प्रमाणान्तर-
प्रवर्त्तने सम्प्रदायाऽविच्छेदः ।

श्रीमद्भद्रकालकविरचितः

॥ प्र मा ण स ड्ड हः ॥

तदाभासौ विपर्याससंशयो (यौ) मतिविभ्रमात् ॥११॥

§ १४. न संशयो व्यवसायसादृश्याभिनिबोधनियमादनुद्धृतविकल्पो [S] नध्यवसायः, तदतद्द्विविशेषाव्यवसायानियमप्रत्ययो विमर्शो [S] नध्यवसायः । विपर्यासः प्रत्यक्षप्रतिभासवैकल्येन हिताहितविवेकविरहः ॥छा॥

5 सम्भवप्रत्ययस्पर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।

अन्यथासम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः ॥१२॥

§ १५. समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम् । संवादसामर्थ्यमेदेन सहक्रमसंयोगभाविषु तथाभावाऽभावनियमनिश्चये न पुनरवग्रहव्यापारो विषयविषयिसन्निपातसमन्तरलक्षणत्वात् । नहि प्रतिबन्धनिर्णयात् भाक्
10 सिद्धमनुमानम्, अनवस्था च ॥छा॥

विवर्त्तः सर्वथैकान्ते विरुद्धः पुरुषादिवत् ।

§ १६. प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवादेशु सहक्रमसंयोगवैस्य (वैस)-रूप्यविरोधिवेतेनेतरप्रमेदैकपरिणामे नाम्नि विवादः सन्मात्राविशेषात् । अन्यथा सर्वत् (सर्व) सर्वत्र सर्वथा स्यात् ॥छा॥

15 नित्यमेकमनेकत्र निमित्तं समवायिनम् ॥१३॥

निरंशं कर्मसंयोगात् कारणं परिणामिनम् ।

§ १७. निमित्तम् उत्पत्तिमतां यदि नित्यं स्थित्युत्पत्तिविपचीनामक्रमः ज्ञानेच्छाकरणशक्तीनामव्यतिरेकात्, अन्यथा तदकर्तृत्वम् । तत्करणनियमे तुल्यः प्रसङ्गः, व्यपदेशनियमाभावः, स्वतः सिद्धेः । तदुत्पत्तिमत्त्वेऽपि देशकालस्वभावानियमो
20 निर्हेतुकत्वात् । तद्देहत्वे पुनरक्रमः, तत्करणशक्तेस्तदात्मकत्वात्, व्यतिरेके समानः प्रसङ्गोऽनवस्था च । सहसिद्धेः तद्वचायामात्मादेः तद्गुणत्वं सर्वत्र समवायाऽविशेषात् । नित्यानां स्वभावोत्पादत्रि(दावि)घातादनपेक्षा । तदन्यकरणे पुनरनिवृत्तः प्रसङ्गः । न कर्म संयोगकारणं सावयवविरोधात्, सर्वस्य परमाणुमात्रप्रचयो वा । परिणामेऽपि निमित्तान्तरकल्पनायामनवस्था ।

25 तत्रैकमर्थकृद् बुद्धेरानन्तर्यमनर्थकम् ॥१४॥

§ १८. एकमनेकत्र निष्पर्यायं प्रत्यवयवं न सर्वात्मना प्रत्येकं तत्स्वभावनै- (वेनै) कत्वविरोधात् । नैकदेशेन निरवयवानाम्, अन्यथा अनवस्था । 'वर्त्तते' इति विज्ञप्तिभात्रेऽपि सर्वं समानम् । न चैतन्यमित्येव तदवयवविकल्पननिवृत्तिः । विभ्रमशून्यप्रतिपत्तिप्रतिषेधः ।

30 इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लौकिकम् ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचितः

॥ प्र मा ण स ड्ग्र हः ॥

१. प्रथमः प्रस्तावः



॥ नमः श्रीवर्द्धमानाय ॥

श्रीमत्परम (त्परम) गम्भीरस्याद्वादाबोधलाञ्छनम् ।
जीयात् श्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ १ ॥

[§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविल्लवम् ।

परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥ २ ॥]

§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रिय- 5
प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् त्रिधा । श्रुतम् अविल्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।
परोक्षं *प्रत्यभिज्ञादि स्मरणपूर्वकम् । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं द्वे एव प्रमाणे
इति शास्त्रार्थस्य सङ्ग्रहः, प्रतिभासमेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः ॥३॥

प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थक्यातेरर्थानुकारिणः ।

व्यभिचारादनिर्णीतं व्यावृत्तं सर्वतो गतम् ॥ ३ ॥

10

§ २. प्रमाणम् अच्युत्तन्न (अच्युत्पन्न) सन्दिग्धविपर्यस्तार्थप्रतीतौ विषया-
नुविधायिनोऽकिञ्चित्कारेकाविपर्यासाऽनिवृत्ते (त्तेः) सर्वथा सारूप्यासंभवात् ।
अर्थोपलम्भाधवसायसामर्थ्ये अन्यकल्पनावैयर्थ्यं (धर्त्या) त् । तज्जन्मसारूप्याध्यव-
सायस्य अन्यत्र वृत्तिः भ्रान्तिकारणवत् । निष्कलानामेतन्न भवति, सकलव्यवच्छेद-
निर्णयाऽनिर्णयादिप्रसङ्गः ॥३॥

15

अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरत्प (रप) राकृतेः ।

स्पष्टं सन्नितिार्थत्वाद् भावनातो निवर्त्तते ॥ ४ ॥

§ ३. चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्यविशेषात्मविषयं वर्णसंस्थानादिभूतः

* प्रत्यभिज्ञा स्मृति वृत्

[§ ३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।

साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ॥२०॥]

§ २३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् । अच्युत्पत्तिसंशयविपर्या-
सविशिष्टोऽर्थः साध्यः । तत्र साधनसामर्थ्यम् । यथा सर्वं सामान्ये (न्य) विशेषात्म-
५ क्कमिति । ततोऽपरं साध्याभासम् । यथा सत्ता, सदसदेकान्तयोः साध-
नासम्भवा, तदतदुभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वम् । भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः
विप्रतिपद्यः सदसत्प्रमाणप्रमेयैकान्तात्म (त्मा) नो बहुप्रमेदाः प्रतिपन्नमिप्रायाणां
निरङ्कुशत्वात् ।

साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं यथा सति ।

10 प्रमेयत्वं निरंशानां प्रतिभासविरोधतः ॥२१॥

§ २४. साध्यार्थाऽसम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः, सर्वमनेकात्मकं
प्रमेयत्वात् । नहि चक्षुरादिज्ञानमन्यद्वा स्वभावान्तरविवेकेन ज्ञारुचिदे (जातुचिदे)-
कमाकारं विषयीकरोति । परस्परविश्लेषिणामणूनां भवतामप्यनुपलम्भः । विप्रतिपिद्धं
तादृशां वर्तनं सम्बन्धासिद्धेः, पृथक्सिद्धिप्रसङ्गः । शकला (सकला) वयवोपलम्भा-
15 सम्भवे तदग्रहः, तदवयवान्तरदर्शनादर्शनविरोधः ।

विश्वं सर्वगतं सत्त्वं व्यक्तं चेद् व्यक्तिभिः स्फुटम् ।

§ २५. एकमक्रमं सर्वव्यक्तिसामान्यमन्यतमाभिव्यक्तं स्वाश्रये यदि सतु-
प्र (सत्प्र) त्ययहेतुरविशेषेण सकलं सदै (दे) व प्रमेय (यम्) तद्विशेषे स्वभावहानिः ।
सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे सामान्यं स्यात् प्रदेशवत् ॥२२॥

20 § २६. यदि सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र विशेषप्रत्यस्तन (म) ये प्रत्ययसङ्करः ।
स्वाश्रयव्यापित्वे तथाऽनेकत्वम् । का अ विरिणो (आश्रयविरहिणोऽ) वस्तुत्वम् ।
आश्रयाश्रयिभावोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती सत्प्रत्ययकर्तृत्वाकर्तृत्वे सहकारिकारणापेक्षा-
विशेषतो निष्कलस्य युगपदनेकत्र वृत्तिः इति दुरन्वयम् । सतोऽपि तदाश्रयादर्शने
दर्शने च सावयवत्वम् ।

25 एकं चलं चलैर्नान्यैर्नष्टं नष्टैर्न चापरैः ।

आवृत्तै (तै) रावृत्तं (तं) रूपं रक्तं रक्तैर्विलोक्यते ॥२३॥

§ २७. विचित्रावयवात्मकमेकं बहिरन्तश्च कैश्चिदेव आत्मभूतैः अन्यैश्च
मात्रामेदैश्चलमचलम्, विनष्टमविनष्टम्, आवृतमनावृतम्, रक्कमरक्कम्, उपलम्भा-
नुपलम्भयोग्यं नापरैः, अनवस्थाप्रसङ्गः । तेनैव तदात्मकं युक्तं येनातिशयेन
80 वस्त्वन्तरं समवैति ।

अन्तरङ्गं स्वतः सिद्धमक्षादेर्व्यभिचारतः ॥ ७ ॥

§ ८. ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिणो ज्ञत्वविरोधात् । स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हः स्वार्था-
लोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वभवत् ॥७॥

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।

§ ९. चैतन्यस्वभावस्य शतः (सतः) सहकर्मसंयोगधर्मान्तरेभ्यो व्यावृष्टि-
रिति समग्रहे स्फुटम् आत्मसहभाविना पूर्वापरकोटयोः अनाद्यनन्तयोरनवयवेन
परिज्ञानम् आवरणविगमे ।

परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ॥ ८ ॥

§ १०. नातीन्द्रियमत्येव सर्वं [वि] त् सर्वत्र परिस्फुटं यथा ईक्षणिकादे [ः]
सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासम्, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् । 10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥९॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे प्रथमः प्रस्तावः ॥७॥



२. द्वितीयः प्रस्तावः

प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः ।

15

§ ११. इन्द्रियज्ञानं हिताहितप्रतिपत्तौ न वै साधकतम (मं) स्मृतिव्यवधा-
नात्, दृष्टसञ्ज (सजा) तीयसम्बन्धान्य (ध्य) वसायनान्तरीयकत्वात् । अनधिगता-
र्थाविग्रहेऽपि अर्थातिशयवैधुर्ये प्रवृत्तेरनङ्गमनध्यवसायादिनिमित्तम् । समधिगते पुनः
व्यामोहविच्छेदेन प्रमाणान्तरवत् ।

प्रत्यभिज्ञा फलं तस्याः प्रामाण्यं प्रतिपत्तितः ॥१०॥

20

§ १२. प्रत्यवमर्शः फलमपि प्रमाणम् उपादानादेः तदना (तन्ना) न्तरीय-
कत्वात् ।

द्रव्यसामान्यसंहारविषयः पुरुषादिवत् ।

§ १३. जीवादयो द्रव्यपदार्था विनियततद् [त] त्परिणामसतन्व (तत्त्व)-
विवर्त्तग्रन्थिविकाराः कौमारादिवत् । सदृशपरिणामः सामान्यं यमलकवत् । समाराः 25
(भाग) विसभागयोरसाङ्ग्येण प्रत्यवमर्शः एकानेकस्वभावनियमः ।

४ चतुर्थः प्रस्तावः ।

अन्यथा [५] सम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

§ ३१ अनित्य आत्मादिः शरीरादेरनित्यत्वात् । नहि तत्परिणाममन्तरेण तद्विकारित्वं युक्तमिति । एतावता यदि प्रतीतिः किं सांध्यधर्मकल्पनया धर्मा-
5 न्तरत्वात् ? उदेत्यति शक्यम् उद्गाद्गरणिः कृचिकोदयादिति । कालादिधर्मिकल्प-
नायामतिप्रसङ्गः । शब्दानित्यत्वे चाञ्जुषत्वादिरपि सिद्धः (?) । सात्मकं या (जी)
वच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । चैतन्योपयोगादन्यत्रावृत्तौ सुषुप्तादिषु दर्शनादयुक्ता
वृत्तिः । न शरीरपरिणामः तदग्रत्यक्ते (च) त्वे प्रत्यक्षः । तथाऽपरिणामिनः तद्गुणत्वे
अमवस्था । सहभावनियमेऽपि अन्योन्यव्यपेक्षतोऽनादिसम्बन्धप्रसङ्गः, तदुभयत्रा-
10 विशेषात् । पूर्वाम्ब्यस्तस्मरणविनाभाविनः क्वचिद् गुणान्तरस्य लिङ्गतो जातिसरसंवा-
देन निरंशस्य विग्रहव्याप्तिविरोधः । नानात्वे पुनरसम्भवः, प्रभवस्त्यतिप्रत्यभिज्ञाद्यं
(दि) विघातः । तथापरिणामे सकलदोषनिवृत्तिरित्यात्मभावसिद्धितः किमन्येन
शब्दपरिणामे श्रावणत्वादिवत् ? पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणत्वाद् । उपाधि-
प्रतिषेधे कृतकत्वादि वैश्वरूप्यं सत्ताव्यतिरिक्तं मा भूत् । सर्वस्य सतः तथा विप्रतिपत्तौ
15 एकत्रानन्वये कथमुपसंहरेत् ? तद्विशेषानाक्षेपे किं साधनम् ? एकलक्षणानुपलक्षणे
कायादिरगमत्व (मकत्वम्) । वचनपुरुषत्वानुपलब्धीनां क्वचिद् रागादि-सर्वज्ञता-
भावसाधनसामर्थ्यवैधुर्यं (र्थे) व्याप्तिविशेषः कोऽपरोऽन्यथा [५] सम्भवात् ।

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥२९॥

§ ३२. स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेरिति । ज्ञानस्वभावपरिणा-
20 भिनो विग्रहव्यापिन (नः) स्वसंवेदनेऽन्यवेदनम् । नहि सुखादयो मेदिनः संविद्वत्ते
तथा [५] निर्णयात् । विभ्रमकल्पनातो नान्योन्यमतिशयाते । स्वभावकार्योपलब्धिः—
अभूदात्मा स्मरणत् । सत्यपि प्रभवसाक्षा (वस्या) तिश्ये तदसम्भवः, जन्यजनक-
वद् विसदृशपरिणामेऽपि बालबुद्धवत् । स्वभावकारणोपलब्धिः—भविष्यति आत्मा
सत्त्वात् । स्वभावान्तरपरिणामात्मकं भावलक्षणम् । सकलशक्तिविरहिणो निरुपा-
25 ख्यत्वम् । स्वपरिणामविकल्पस्य परत्रासामर्थ्यम् । सहचरोपलब्धिः अस्या (अस्त्या)-
त्मा स्पृहादिविशेषात् । तादृशं लोको विवेचयति । सहचरकार्योपलब्धिः—अत्र वचनात्
कायव्यापारः । अन्यव्यतिरेकानुविधानं सहचारिणो व्यापारं साधकतमत्वम् ।
सहचरकारणोपलब्धिः—सकल आत्मा शरीरावयवमेदात् । तद्वृत्तिनान्तरिकः
संयोगः कार्यकारणयोः तथापरिणामः । तादृशः क्रमवृत्तेरप्रतिघातः । नानात्वेऽप्रति-
30 सन्धानम् । एकस्य कालदेशान्तरव्यापित्वं प्रतिभासमेदेन रूपेतरयोर्दर्शनात् ।
दर्शनवच्छ्रौतौ तथा संश्लेषे सर्वथाऽसम्बद्धः प्रसङ्गः ।

§ १६. साधनस्य क्वचिदुपलम्भेऽपि विरोधाविरोधयोः तदर्थत्वात् । दोषा-
वरणपरिक्षये वचनादेः सम्भवो नान्यतः ।

अन्यथा सम्भवज्ञान (नं) कुतका भ्रान्तिकारणम् ॥१५॥

§ २०. विवक्षातो वाचोवृत्तेरन्यत्रानुपलम्भेन सर्वतः तदभावे व्यतिरेकचिन्ता
मिथ्योद्भवः, सुप्रप्रमत्तयोः तदभावेऽपि दर्शनाद्, हेतुसन्निधानासन्निधानाविशेषः करण-
शक्त्यनुविधानात् ।

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥१६॥

§ २१. शरीरं यदि गुणदोषकारणं तन्निर्हासातिशयानुविधानम् । तेषां शरीर-
स्थितिहेतुत्वे तत्रानुपरमः स्यात् । दोषावरणकारणत्वे तत्प्रकर्षापकर्षाविरोधः । तदा-
त्सकत्वे पुरुषस्यैकभावे निवृत्तिः चैतन्यवत् । तद्गुणदोषानुविधायिनी वर्णपदवा-
क्यानुपूर्वी दोषया(जा)तिं विशेषयेद्, विवक्षायामपि अविषये स्वयमप्रवृत्तेः ।

प्रत्यक्षनिर्णयार्हते सामान्यानुस्मृतिस्ततः ।

प्रत्यभिज्ञा ततस्तर्कः ततः साध्यपरिग्रहः ॥१७॥

आत्मैव मतिमा (मान्) दृष्टसामान्याभिनिबोधतः ।

15

परोक्षेऽप्यविनाभावमुपैति श्रुतपाटवात् ॥१८॥ ॥छा॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे द्वितीयः प्रस्तावः ॥



३. तृतीयः प्रस्तावः

अनुमानसमासार्थमनुमानमतः परम् ।

प्रमाणं क्वचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥१९॥

20

§ २२. साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे साधनस्य साक्षात्कृते साध्य-
(ध्या) र्थसमाक्षिप्तः तत्र स्मृतिकल्प (ल्पः) कुतश्चित् प्रमाणम्, कथञ्च ऊहादिः ?
स्वसंवेदनेऽपि समारोपव्यवच्छेदाभावात्, इव (इत) रथा विप्रतिपत्तेरनन (नु) मानम्,
स्वतो [५] सिद्धस्य साधनान्तरेऽप्यनवस्था । अयुक्तम्- § १.) “ नाऽप्रत्यक्षमनु-
मानव्यतिरिक्तं मानम् ” इति । सर्वत्र संवादाविशेषे तद्विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधः २५
शास्त्रानुमानवत् ।

स्वभावविरुद्धव्याप्यव्यापककार्यकारणोपलम्भानुपलम्भप्रयोगभेदाः प्रत्यक्षेऽपि विवादवृत्तयो निर्णये नियमेन परीक्षामपेक्षन्ते । तदर्थसाधनं सर्वत्र ज्ञानशब्दव्यवहारसाधनम् ।

अध्यक्षस्यापरीक्षत्वादनुमानं (न) परम्परा ।

5

अविनाभावसम्बन्धेऽप्यन्तर्व्याप्त्याऽवतिष्ठते ॥३२॥

§ ३६. बहिर्दर्शनादर्शने धर्मिधर्मस्य न लिङ्गिलक्षणं तन्दुलपाकादिवत् । तन्नैतावता व्याप्तिः अन्यत्र विचारात्, यतो व्यापकं निवर्त्तमानं व्याप्यं निवर्त्तयेत् । कस्यचिदवग्रहमात्रं नित्यानित्ययोः विरोधाऽविरोधात् नियमं न परीक्षते अतिप्रसङ्गात् । तदनुमानपरम्पराऽपि अनवस्था । प्रस्य दर्शनपाटवादिमतः स्वतो विवेचकत्वाद् विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः । अविषयेऽन्यस्यावृत्तिः । तदाश्रयत्वाच्च सर्वत्र दृष्टान्तो नावश्यं बहिः ।

अपेक्षः सदनै(नि)कान्तं सम्पश्यद्विः (द्विः) समीक्षकैः ।

अन्यथायोगतः सर्वं [ः] तथैवेत्यनुमीयते ॥३३॥

§ ३७. साध्यसाधनयोः स्वभावप्रतिबन्धे साक्षात्कृतेऽपि साकल्येन व्याप्तिः 15 परीक्षातः । तद्विभ्रमकल्पनायां प्रकृतमकृतं स्यात् । तदाभासाविशेषे कादाचित्कसंवादास्याप्रतिबन्धेऽपि सम्भवत्स्वलक्षणयोगे व्यभिचारः, समीक्षाकारिणः पुनरविप्रतिसारः । तत्र सर्वत्र विभ्रमोपलम्भो [ऽ] विशेषात् । सतामेकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेदयोरभेदप्रत्यनीकस्वभावविप्रतिषेधप्रतिबद्धे ।

प्रत्यक्षस्यापि सामग्रीप्रतिभासविशेषतः

20

§ ३८. मतिश्रुतयोः प्रतिभासभेदेऽपि परमार्थैकतानत्वम् । सामग्रीभेदे प्रत्यक्षवर्थासं (वत्त्वांश) मात्राभिनिबोधे नान्यार्थोऽन्यव्यवच्छेदः । अविषये स्वयमप्रवृत्तेः । अयथार्थात्मावभासविच्छेदः परोक्षमात्मानं कथञ्चिद् विदधतो विच्छेदेन बहिरर्थावलम्बनम् असाधारणनिर्मासविरहिणोऽपि अविरुद्धम् ।

ज्ञस्य विभ्रमसंश्लेषे कथञ्चिद्भ्रान्तिरात्मनि ॥३४॥

25

सर्वथा विभ्रमे तस्य विभ्रमोऽपि न सिद्धयति ।

यथा विभ्रमविच्छेदाज्जानात्यन्तरितं स्वयम् ॥३५॥

तथाऽर्थजातिघर्माणां तत्र सम्प्रतिपत्तितः ।

§ ३९. चेतनस्य सतः कथाञ्चित्स्वभावाप्रतिपत्तौ न वै निमिचान्तरमन्यत्र विभ्रमात् । अन्यथा सुप्तप्रबुद्धाविशेषप्रसङ्गश्च (ज्ञः । उ) पलचितसुखादिविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयादिविशेषानुपलक्षणे दूरासत्त्वादिदेशस्य पुरुषैकविषयोपलम्भवत् । क्वचिद् 80

खलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ।
समर्थं खगुणैरेकं सहस्रमविचर्त्तिभिः ॥२४॥

§ २८. उदयस्थितिसंहारलक्ष [ण] स्य सतः प्रतिभासादिभेदाभेदान्यां भेदा-
भेदप्रसिद्धिः, आत्मप्रतिबन्धेन तथा परिणामात् संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोष-
प्रसङ्गाऽनवस्थासङ्कराभावकल्पनाम् अन्योन्याविवेकप्रतीतिः अतिशेते । जात्यन्त- 5
राधिगमे भेचकादिवत् सत्यपि वैश्वरूपे तथापरिणामेन समानशक्तीनामेकत्वम् ।
तेनैव तत्समं कर्त्तव्यमिति नियमाभावात् । नहि सहकारिणां शक्तिसङ्करः । व्यक्ति-
वदेकैकस्य सकलशक्तियोगे सहकारिकारणापेक्षा मा भूत् । समग्राणां तदेकामिव्यक्तौ
शुक्तः तदेककार्यः प्रादुर्भावः । प्रधानपुरुषयो [ः] शक्तिसङ्करप्रसङ्ग [ः] । गुणा-
नाञ्च न कर्तृत्वम्, अन्यत्रामिव्यक्तेः । तदिमे सामान्यविशेषात्मानो न सङ्कीर्यन्ते । 10

विज्ञानस्यैकरूपत्वे विज्ञेयस्याऽविशेषतः ।

§ २९. 'प्रतिभासभेदेऽपि बुद्धेरेकत्वम्' इति विरुद्धं पश्यामः । सर्वस्यैकांशमा-
त्रालुपङ्गः संविस्त्वभावस्य ते तथोत्पत्तिरेव संवेदनम्, अन्यथा एकत्रापि 'क्षणिकत्ववि-
ज्ञप्तिमात्रता सन्तानान्तरविवेक' इति न स्वतो नान्यतः । वितथनिर्भासाऽविशेषे वृक्षादि-
दर्शिनः स्वांशमात्राविग्रहविकल्पैर्न तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीतिः । विस्मवेऽपि 15
सर्वथा विग्रमे विग्रमासिद्धिः । अनेकात्मकत्वे बाह्यार्थे कोऽपरितोषः ? सर्वथा
विरोधपरिहारस्य कर्त्तुमशक्तेः । स्वसंवेदनमात्रस्य कदाचिदनुपलम्भे यथोपलम्भं
विप्रतिषेधेन शून्यताप्रतिपत्तेरशून्यतालुपङ्गः । तथाहि-

नाभावस्य प्रमेयत्वं न भावस्याऽप्रमेयता ॥२५॥

§ ३०. सर्वथा सतः प्रतीतौ अनिवृत्तिः । असदुपलम्भो विप्रतिषेधः । अर्थाभा- 20
वविकल्पस्य स्वविषयत्वम् । कस्यचित् कैवल्यमपरस्य वैकल्यम् । तदेतत् प्रमेयत्वमवि-
तत्त्व (थ) प्रत्ययात्मकं प्रमातरि प्रत्यक्षं प्रमेयधर्मतया तदधिगमयोग्यं स (स्व) भावः,
परोक्षं च । विषयद्वैविध्येन सब्रवहारलक्षणं प्रमेयमेव । सर्वत्र सर्वथा भावे विरोधः ।

परापरविभागैकपरिणामविशेषतः ।

तान्येव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥२६॥

25

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।

वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥२७॥

तत्र चित्रं भवेदेकमिति चित्रतरं ततः ।

चित्र (त्रं) शून्यमिदं सर्वं वेत्सि चित्रतमं ततः ॥२८॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे तृतीयः प्रस्तावः ॥३॥

80



रुपकारः । तथा नित्यानां परस्परतो हेतुफलाभावः । निर्व्यापारेषु व्यापारसमारोपः क्रमयोगपद्यासम्भवो न कारकज्ञापकव्यवस्था पारमार्थिकी । तदाकस्मिन्कत्वे देशकालस्वभावनिमायोगः । इष्टविधातकृतदे (कृदे) कस्य पूर्वापरस्वभावपरिहाराऽवाप्ति-
नान्तरीयकत्वादर्थसिद्धेः, इत्यनिधि (त्रि) तविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः । कौटस्थो
5 (स्थे) विक्रियाविरोधः । क्षणिकत्वे सर्वथानन्वयः । जात्यन्तरे वितर्कयतः सम्मोहः ।
कृतकत्वादिषु समानक्षर्चः ।

जरत्खन्तरोपलम्भेन कथञ्चित्सकलग्रहः ॥४१॥

अतर्का (त्का) र्यव्यवच्छेदेऽप्यर्थमात्रोप्र (प) योगतः ।

§ ४१. स्वतो व्यतिरेके न उपाधयः स्युरि (र) तिप्रसङ्गात् । तथा दृष्टे प्रमा-
10 गान्तरवृत्तिर्न, एकोपावि(पाधि)प्रतिपत्तेः श(स)कलयहनान्तरीयकत्वात् । अन्यथा
अनवस्थाप्रतीतिः । समारोपव्यवच्छेदे समानः प्रसङ्गः तत्परिच्छेदाऽविशेषः ।
इतरथा विपक्षानतिशयानात् । स्वतो निर्णयस्य अतद्धेतुफलापोहनिर्णयः, स्वविषय-
निश्चययोरविनाभावः, परतोऽनवस्था च । नहि निर्णयस्य स्वरूपमन्यदपि निर्णयात् ।
स पुनः अवश्यमात्मानं व्यवसाययत् (यन्) सकलं न्यायविषयीकरोति । सर्वथा
15 तदतद्भ्रान्तिविच्छेद एकत्र निश्चयसमारोपविधातात्, तदेतदपि गण्णपदमयाद् अल-
गण्यखकुहरपरिपतनमनुसरति । तस्मान्न भेदाऽभेदप्रतिपत्तिः उभयत्र व्याघाता [व] ।
क्वचिदनयोरवाच्यतायां तद्वैकल्पम् । अतो न दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टम् ।

§ ४२. प्राणादीनाम् अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । स्वय-
मदृश्येऽपि न्यायस्य प्रविजृम्भणात् । प्रभवाभावविरोधप्रसिद्धिः व्याधिभूतग्रहादिवत् ।
20 अतः साकल्येन चलनोन्नान्यः (?) तादृशो विप्रतिषेध इत्यनभि (मिनि) निबोधनैकान्ति-
कत्वम् । अदृश्यानुपलम्भादभावाप्रसिद्धेः घटादीना(नाम्) नैरात्म्यासिद्धौ प्राणादेर-
निवृत्तिः इति तमासा (तमसो) नैर्घृण्यात् ।

§ ४३. चलानां तनुकरणश्रुवनादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सर्वं
(सत्त्वं) विरुद्धमचलात्मनि । विप्रकृष्टेऽपि न्यायस्य विजृम्भणम् । परिणामिनि संशयः ।
25 सिद्धः संस्थानादिर्विवादास्पदे तथा प्रत्यवमर्शेनाभिधानमात्रम् । विशेषकल्पनायामति-
प्रसङ्गः । तादृशज्ञानपूर्वकत्वाभावेऽप्यविरोधादनैकान्तिकः ।

§ ४४. चलानां चञ्चुरादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सत्त्वं इष्ट-
विधातकृत् अचलात्मनि । परिणामिनि संशयः । संहतानां पारार्थ्या (र्थ्ये) नियमा-
भावः । कार्यकारणयोः भेदैकान्ताऽसिद्धेः ।

80 § ४५. चलानां शब्दादीनां सन्निवेशादेः सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । प्रकान्त-
पुरुषादौ परिणामिनि संशयः । कार्यकाष्णानामन्वयादेनेककार्यपूर्वकत्वे सम्भवः ।

तथा [S] सद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।

§ ३३. स्वभावानुपलब्धिः—यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः । नहि बहि-
रन्तर्वा भेदनिर्मासविवेकः । परमाणुवच्छल (वत्स्थूल) स्य कस्यचित् प्रतिभासे तदा-
भासविरोधः । कार्यानुपलब्धिः—अत्र कार्याभावात् । सति तादृशे कार्ये यदि अक्रमःप्र-
(मप्र) सङ्गः । कारणानुपलब्धिः—अत्रैव कारणभावात् । नाशसमकालकार्यकल्पनायां 5
पश्चादपि असतोऽविशेषात् । समनन्तरभावेऽपि अतिप्रसङ्गः । विशेषव्यवस्थायां
तादात्मा (त्म्या) सिद्धिः । उपादानप्रकल्पः (सौ) प्रत्यभिज्ञादिहेतोः कोऽपरोऽतिश-
योऽन्यत्र परिणामात् । स्वभावसहचरानुपलब्धिः—नात्रात्मा रूपादिविशेषाभावात् ।
तादृशो [S] विवेके कथं दाहादिसाहसमाचरेत् प्रेक्षापूर्वकारी ? सहचरकार्यानुप-
लब्धिः—अत्र व्यापारव्याहारविशेषाभावात् । निवृत्तिप्रतिबन्धयोः विशेषानुपलक्षणे 10
पुनरविविक्तं स्यात् । सहचरकारणानुपलब्धिः—अत्रैव आहारमा (राऽमा) वात् । स
विचित्रः शरीरस्थितिहेतुर्विज्ञेयः । परिणामि-सहकारिकारणयोः तदविशेषेऽपि तादात्म्यो-
(त्म्ये) तदभेदेऽपि युगपद्भावनामजन्यजनक [क] र्चुसहभावनियमः । स्वापदोन-
(स्वोपादान) सहकारिविवर्त्तविकल्पे प्रतिबन्धनियमे किं परस्य (रम्य) रया नियम-
हेतुना ? तदन्यत्रानिवारणे स्वभावान्तरवत् । 15

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥३०॥

§ ३४. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी । यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः—नावि-
चलितात्मा भावः परिणामात् । स्थितिस्वभावैकान्तस्य स्वभावपरिहारविरोधः । स्वतो
[S] नश्वरत्वे कौटस्थ्यप्रसङ्गः । कार्यविरुद्धोपलब्धिः—न लक्षणविज्ञानं प्रमाणं चिसंवा-
दात् प्रमाणान्तरापेक्षणे । कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलम् अभावैकान्तग्रह- 20
णात् । संवृत्तिवादेऽपि समीक्षाविरोधः ।

व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्धयसिद्धी विचारतः ।

सदसद्व्यवहाराय तत्त्वान्यत्वविवेकतः ॥३१॥

§ ३५. सर्वत्र व्याप्यसिद्धिरविशेषेण व्यापकसाधनी । यथा [S] नित्यं
कृतकत्वात् । परिणामाभावे तदनुपपत्तिः । तथा व्यापकस्वानुपलब्धिः व्याप्यवि- 25
निवर्त्तनी । न निरन्वयविनाशो भावस्य अत्यन्ताभावानुपलब्धेः । इति स्वभावसह-
चरकार्यकारणभेदपरिग्रहः । स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धयोः व्यापकानुपलब्धौ अन्त-
र्भावः । न नित्यः कृतकत्वात्, अकृतकत्वासिद्धिः (द्वेः) । अविशेषेण स्वभाव-
विरुद्धकार्यो (र्या) नुपलब्धयोः कार्यानुपलम्भे । तत्र प्रयत्नान्तरीयकत्वात् इति
नापरो हेतुरनुपलम्भात् । उपलब्धेर्वा अन्योन्यविवेकोपलम्भलक्षणत्वात् । अनयो 80
[:] स्वभावविरुद्धोपलब्धोरनुपलम्भलक्षणत्वात् । अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः ।

विज्ञप्तिमात्रसिद्धेः स्यात् । अतद्रूपस्याप्यतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियमेन विषयाकाराविशेषे विज्ञानसन्तानभेदवादो निरालम्बः । तद्विशेषो विभ्रमविवेकनान्तरीयकः । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः इति स्वप्रमाणनिवृत्तिरन्यथाऽपि । सर्वोपलम्बनिवृत्तिरसिद्धा । सम्भवेऽपि निर्णेतुमशक्नौ तादृशो विप्रतिषेधे तत्प्रतिषेधयोः स्वयमुपलम्भात्मकत्वाच्च
5 स्वाश्रययोः सन्देहे सन्देहः ।

सिद्धे [5] किञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया ।

§ ५१. शब्दविनाशादौ सत्त्वेन सिद्धे सिद्धोऽपि कृतकत्वादिः प्रत्यक्षाग्नौ धूमवत् । विशेषाधानमर्थान्तरं (?) तत्र धूमदाक्षिणः प्रत्यक्षवत् साक्षात्कृतेऽपि कृतसिद्धि (श्चिद्धि) पर्यासनिवृत्तिरज्ञातोऽहेतुः । साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः ।
10 तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात् । अनयोरर्थेऽपि विरुद्धाव्यभिचारिणः सम्भवः, यथा नित्यो भावः तद्भावं प्रत्यनपेक्षणात् । तद्धेतूनामसामर्थ्ये तद [त] त्कारणासम्भवः । कादाचित्कत्वमपेक्षातः स्यात् । नहि भावादव्या (दन्या) र्थाक्रिया । कादाचित्कत्वमयुक्तः (ऋम्) स्वभादिवत् । क्वचित् प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासो वा ग्राह्यमाहकवत् । न चापरं
15 भेदलक्षणमित्यत्रिविक्रं तत्त्वम् । स्वतो जन्मनि सदसतोः प्रभवविरोधः । परतः तुल्यः पर्यनुयोगः । एतेन उभयानुमयविकल्पाः प्रत्युक्ताः । तत्र निर्व्यापारेषु व्यापारकल्पनायां परत्र को [5] परितोषः ? नित्यसन्निधाने कल्पनागौरवपरिहारेण भावधर्मपरिसमाप्तेः । तथा सर्वमनित्यमर्थक्रियाकारित्वात् । तदभावे निरुपाक्ष (ख्य) त्वम् । पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिरयुक्ता तदवस्थस्य । न तावत् क्रमेणः कस्यचिदे-
20 कत्र करणाकरणविरोधात् । पूर्वमसमर्थं पश्चादपि । सहकारिकारणवैकल्यं समानम् । तदपेक्षाऽयोगः । तत्कृतमुपकारमात्मसात्कृत्वतः स्वभावभेदः । अन्यकरणे असम्बन्धाऽनवस्था । न सर्वथा नित्यमुपकर्तुं युक्तम् । अकिञ्चित्करोऽनपेक्ष [:] स्यात् । नापि यौगपद्येनः तत्करणस्वभावस्य पुनस्तदकरणोऽपि स्वभावहानिः । सहकारिवैकल्यादि समानं प्रत्यभिज्ञानेऽपि । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाच्चैकत्वम् । तादृशं भेद-
25 नान्तरीयकम् । न चापरं भेदलक्षणमिति । स्वभावप्रतिबन्धे नैतावन्योन्यमतिशयाते । समुदायोऽहेतु [:] मिथ्यैकान्तपरिग्रहात् ।

सर्वथान्योन्यसम्बन्धे विरुद्धं श (स) कलात्मनि ॥४४॥

§ ५२. प्रत्येकं सह वा सामान्याविशेषार्थसाधनः ।

एकान्ताश्रये विरुद्धः तद्वेदिति सन्देहकृत् ।

80 संशयाद्धेत्वभावेऽपि साध्येऽकिञ्चित्करोऽस्विलः ॥४५॥

§ ५३. किं वै व्यभिचारिणः सन्देहः सत्यप्यविनाभावे पक्षविपक्षयोः तद-

विभ्रमेऽपि वस्तुमात्रोपग्रहे व्यङ्गमनेकान्तसिद्धिः, इति साकारौ विषय-विषयिणौ स्याताम् । एवं हि कालादिव्यवहितात्मपर्यायसमुपग्रहे परत्र कः प्रतिघातः? व्यामोहविच्छेदाविशेषेण अन्तस्तमोविगमे बहिरकारणं संस्कृतेन्द्रियवत् । मूर्च्छितादौ बहिरङ्गसाकण्ठेन अन्तरङ्गं बलीयस्त्वम् । तदतत्कार्यविच्छेदमुपैति न तत्त्वपरिच्छेदमिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । तत्समारोपविधिप्रतिषेधयोरतादात्म्ये प्रकृतमकृत (तं) 5 स्यात् । समानपरिणामरहितानां (ना) मतत्कार्यव्यावृत्तौ समानप्रत्ययः चक्षुरादिवत् । समे समविकल्पजनकत्वे क्वचित् परामर्शनिमित्तः तादृशो दर्शने सामान्यस्य तैरप्याश्रयणीयत्वम्, अर्थक्रियाविरोधः, कल्पनागौरवतो जातिलक्षणसंबृतेः । स्वसामान्यलक्षणयोर्भेदाभावे प्रत्यचेतरयोरतादात्म्येऽप्यनवस्थादिदोषानुपपन्नः । सविकल्पः सिद्धः तदन्यविधिप्रतिषेधविषयमनुमानम् ।

10

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ॥३६॥

प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नो जातिस्मरदर्शनात् ।

सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः ॥३७॥

यथार्थमयथार्थस्या (र्थं वा) प्रसुरेषोऽवलोकते ।

तुलोन्नाम-रसादीनां तुल्यकालतया नहि ॥३८॥

15

नाम-रूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः ।

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ॥३९॥

ततः सर्वा व्यवस्थेति नि (नृ) त्येत् काको मयूरवत् ।

इति प्रमाणासङ्ग्रहे चतुर्थः प्रस्तावः ॥३॥



५. पञ्चमः प्रस्तावः ।

20

अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि ॥४०॥

निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ।

§ ४०. साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः, यथा नित्यः शब्दः सत्त्वात् इति । सर्वथा [s] विचलितात्मनः क्वचिदनुपयोग [ः] । कस्याचिद्भावे स्वयमनायासयतो भावान्तराऽविशेषिणोऽभावाविशेषसन्धिघानेऽप्य-

25

§ ५५. प्रागुत्पत्तेः असतः पूर्वं प्रत्यनपेक्षा, निष्पन्नस्यापि सतः स्वयमनाधे-
यातिशयात्मनो भावान्तरवत् । एतेन उभयावु (जु) भयविकल्पः प्रतिव्यूहः । सत्ता-
सम्बन्धेऽपि समानः प्रसङ्गः । कालाद्यनपेक्षिणः सर्वतो व्यावृत्तेः स्वतन्त्रो भावः
स्थात् । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतकः । तत्कृतश्रुयकारमात्मसात्कुर्वतः तन्निय-
5 तवृत्तेः सर्वथा तत्कार्यतया प्रतिक्षणं भेदिनः तद्भावाऽव्यवसायतया तदपेक्षणम् ।
इतरवा (था) कारणस्यापि सतः सामर्थ्ये सकृत् कार्यजनने विश्वमक्रमकार्यकार-
णमनुपाख्यम् । सति समर्थे तत्राभवत् नियमेन पश्चात् स्वयं भवत् किमानन्तर्यम-
पेक्षते ? तदसामर्थ्याविशेषेण प्रागपि स्यादभावानन्तर्याविशेषेण । तदयं प्रभवसमर्था
सती विहाय मृतां पुत्राय कामयते । सम्भवत्यपि परिणामिनां शक्तिविचित्रता
10 अभावविलक्षणत्वात् । विरुद्धधर्माध्यासेऽपि नानैकव्यवस्था नानार्थैकज्ञानवत् ।

तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ।

§ ५६. तत्र स्पष्टनिर्मासो विकल्पः सन्निधानापेक्षी भावनातो निवृत्तिः सुखा-
दिवत् । अन्यथा स्मरणप्रत्यभिज्ञाऽभावः । तदेवं परस्परपरिणामपरिग्रहविवर्चाहित-
विविधपर्यायैरवस्थान्तरमनुभवति ॥७॥

16 उत्पादविगमप्रौढ्यं सत् प्रत्येकमसम्भवात् ॥६२॥

§ ५७. नाशस्यापि कारणे सिद्धं कृतकत्वमुत्तरोदयाऽविशेषेण । पूर्वापरावधि-
परिच्छिन्नसत्तासम्बन्धेऽपि तादात्म्याऽनतिक्रमः । तत्र उत्पत्तिसंहारौ स्थितिरहितौ
स्याताम् । एवं प्रतिक्षणम् उत्पादविगमप्रौढ्ययुक्तं सत् । सकृदपि अतत्त्वभावस्य
तन्नियमविरोधः । नाशश्चानपेक्षायां न कदाचिद्भवेत् पूर्वोत्तराविशेषेण । स्वतो
20 हेतोर्नाशरथास्त्रुरुदेति न पुनरनपेक्षः । परस्परपरिणामाहितविशेषपरिग्रहेऽपि स्वरस-
वृत्तेरप्रतिघातः विषयसन्निधानाहितविशेषविज्ञानवत् । स्वरसमङ्गुरस्यापि विरोधि-
प्रत्ययविहितविशेषलक्षणेन निवृत्तिं पर्यायः । सदसतोः पूर्वापरभावनियमः ।
कथञ्चित् कार्यकारणवत् अचलस्याप्यव्ययादुचरीभवति । तादात्म्यपरिणामेन
सत्त्वप्रतिमासनात् । सर्वस्य अनेकान्तात्मकत्वे तदतद्व्यवस्था तथापरिणामात् ।
35 नहि तथा अपरिणतं तत् विप्रतिषेधात् । प्रसिद्धप्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तिविप्र-
कर्षयोरपि नानैकत्वभावनियमः पितापुत्रवत् । सन्तानस्य अन्यथाऽसम्भवात् ।
एकप्रत्यवमर्शविशेषव्यवस्थायाम् एकत्वविधानम् । विभ्रमकल्पनाऽनानैकव्य-
वस्था, नैकयोगक्षेमलक्षणमेकम् अतिप्रसङ्गात् । विरुद्धधर्माध्यासाद् धहिरन्तर्मुख-
प्रतिभासविज्ञानैकतानिवृत्तिः । अर्थज्ञानविवेकप्रतिभासयोः अदृश्येतरयोरविरोधे क्षर-
40 स्थूलकलाकलापस्य प्रतिक्षणमुदयस्थितिसंहारमनुभवतः क्रमवृत्तेरप्रतिघाते विवेक-
कल्पनाविवेकः । आदौ दृष्टापरस्वभावाविघातेन पुनः क्षयदर्शनात् सिद्धेः (द्वः) अन्ताद्योः

§ ४६. चलानां सुखादीनां सत्त्वं विरुद्धमचलात्प्रनि । प्रधानादौ तेषामनु-
प्रवेशो वा । चलात्मनि चैतन्यपरिणामिनि तदुभयत्र वृत्तेरनैकान्तिकम् ।

सहोपलम्भनियमः स्याद् भेदस्यापि साधकः ॥४७॥

§ ४७. उक्तविधातकृद् द्रव्यपर्यायपरमाणूनां सहदर्शनम्, यथा भेदः, तद-
न्यथा विधातो भेदप्रतिषेधको न स्यात् । भेदमात्रस्य साधनात् । नहि सर्वविधानां 5
सहोपलम्भोऽपरः सहोत्पत्तेः । स्वभावान्तरविरोधकल्पनायां तथोपपत्तिः । सन्दिग्धा
[ः] कर्तुरस्मरणो(णा)दयः । सतः स्मृतेरभावो यद्विरुद्धः सर्वः सर्वज्ञः स्यात् । अन्य-
तमस्यापि सम्भवे तत्प्रतिषेधे विप्रतिषेधः । शास्त्रलिङ्गतः प्रतिपत्तावनिवयः । तद्विश्लेष-
ण (पेण) वृत्तौ प्रत्यक्षेऽपि कार्यव्यभिचारः । सतो दर्शनसाकान्यनियमे स्मृतिर्न
भवेत् । तदभावे मानान्तराऽसिद्धिः । स्वतः प्रामाण्यविप्रतिषेधे पुनरन्वयपरम्परामां 10
न गुणोत्कर्षः । तदर्थसंबादस्मरणव्यतिरेकेऽपि सर्वथा साधकप्रमाणप्रसिद्धे च
सन्देहः । इत्यनैकान्तिकपेदाः निश्चितसन्दिग्धव्यभिचारिणांऽनेकप्रकाराः ।

§ ४८. त्रिलक्षणयोगेऽपि 'सर्वज्ञो न वक्तृत्वात्' इति पक्षधर्मस्य सपक्ष एव
दर्शनात् स्वभावप्रतिबन्धेन प्रमाणान्तरं व्याप्तिः अयुक्तप्रतिपत्तिः, अतो न व्यापका-
नुपलब्धिर्व्य (विध्वय) वस्था । तथा च न कश्चिद् विशेषः । तादृशवचनसिद्धिगुणी- 15
पपत्तौ अन्तर्व्याप्ति (ते) रसिद्धावगमकत्वम्, तत्सिद्धौ अनन्वयेऽपि । न स्वग्राह्या-
रणा हेतवः, तद्यथा नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् । सर्वथाऽपि परिणामिनः तदसम्भवे-
कान्तः, तत्र सर्वहेतूनामसाधारणत्वम् । साकान्येन व्यसिद्धिदर्शनेऽविप्रतिपत्तिः । अन्यथा
प्रकृतेऽपि कथमुपसंहरेत ?

सर्वथा भावात् सन्देहेऽप्यन्यथाव्यस्तसंविदः ।

20

§ ४९. आसिद्धः चाञ्जुपत्त्वादिः । शब्दस्य परिणामेऽपि चञ्जुरादिज्ञानमयु-
क्तम् । रूपादिविवर्तस्य तत्त्वव्यतिक्रमेण द्रव्यमनादिनिबन्धनं (निघनम्) न शब्द-
पर्यायो (यः) चाञ्जुपत्त्वप्रसङ्गादिति हेतुलक्षणं पुष्पाति ।

[§ ४. सहोपलम्भनियमोऽप्यन्योन्यार्थविद्वां विदाम् ॥४३॥]

§ ४०. सहोपलम्भनियमोऽपि अर्थज्ञानयोः अन्योन्यार्थविद्वां विदाम् । 25
यदेकार्थोपनिबद्धदृष्टयः परस्परज्ञानं परचित्तविदो वा तदर्थं नावि (नात्र) इयं संविदन्ति,
बहिरसति तादृशो [ऽ] सम्भवः । विग्रमे कृतो विशेषः ? तथा सिद्धो हेतुः कृतश्चिद्
शास्त्रग्राहकविज्ञानवृत्तेः विप्रतिषेधः । एवमसहानुपलम्भो व्यावृत्तिमात्रं शशवि-
पाणयोरिव शास्त्रेतरपक्षयोरसिद्धः । सदसतोरसम्बद्धो (न्यो) भेदाभावे भावसिद्धौ किं
वादः ? तत्र एकोपलम्भनियमः, तदात्मकत्वे साध्याऽविशेषः । स्वोपलम्भनियमो 30

- स्वप्नवत् प्रत्येकमनेकात्मनि संशयः क्वचिद् ऊर्ध्वतादिवत् । तादात्म्यनिर्णये परस्परपरिहारे (२) स्थितिः एकानेकस्वभावयोः निमित्तभेदात् । निष्प्रत्यनीकत्वे वैयधिकरण्यात् । उभयदोषे सद्बुभयोपयोगेन भेदसंहारे साङ्ख्येण व्यवस्था मा भूत् । तदनयोरेकस्यापि कस्यचिद्रूपस्य अभावात् स्वरूपस्यातद्भाविनः स्वनियतस्याऽभावात् सर्वव्यवहार-
 5 सङ्करः । तदतिशये व्यतिरेकादुभयाभावः । एकमनेकात्मकं स्ववचनविरुद्धम् ; शबलाकारज्ञानाभावात् । प्रत्यक्षविरुद्धम् ; कस्यचिदेकस्यानुपलम्भेन । संहारसङ्घ-
 नीलादेरपरं न भेदकादिकं प्रमेयम् । तद्बुद्धेरपि तद्रूपत्वे तथाभावः, तदनेकात्म-
 कत्वविरुद्धं द्रव्यान्तरवत् । यदेकं तदेकात्मकमेव नानात्वविरुद्धं तदेकांशवत्,
 तदत्यये धर्मनैरात्म्यम् । तथोपलब्धिः इत्यासिद्धम् । वेद्यवेदकैकारज्ञानेऽपि अनैका-
 10 न्तिकत्वम्, यथोपलम्भं भावस्वभावनियमाभावः स्वभवत् । तथोपलम्भस्य तद्भाव-
 नियम इष्टविधातकृत् । परिणामविधातः तदन्यथोपलम्भमाभावः, साधनान्तरं तदपि
 प्रकरणसमम्, तथाऽन्यथा सम्भवसमारोक्तः प्रक्रियाप्रवृत्तेः । नहि दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टं
 यतोऽयं तथादर्शी प्रमापणीयः । साध्यसाधनव्यवस्थायां पुनः सन्देहो यथा किञ्चि
 (स्त्रि) दर्थं स्थाणुः स्यात् इति । निपातस्य पूर्वप्रयोगानियमे विरुद्धञ्च परनियमोपलब्धेः ।
 15 उच्येदर्शने व्यभिचार इत्यनेकवा (घा) ज्ञानपूर्के परस्य तद्विप्रतिपत्तौ अप्रतिपत्तौ
 प्रकृतार्थविधानप्रतिषेधविधुरे गुणदोषविशेषामवस्थातो (?) जयपराजयाऽसम्भवे
 राजकुलवत् जन्धानारम्भेऽपि निग्रहस्थानम् आकस्मिकम्, अतिशयान (अतिशयाने)
 क्रथमस्थानं स्यात् । भूतदोषोद्भावेऽपि तत्त्वं प्रतिपित्तवो निश्च्यते (न्ते) सन्नार्थ-
 स्थायिनो वा प्रस्तुतानुपयोगप्रलपैरिति प्रकृतार्थप्रत्यायने वाग्दोषेऽपि जन्पाकं
 20 विज्ञयते, यथाऽनित्यः सत्त्वात् इति ।

असिद्ध [:] सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।

द्वेषा समन्तभद्रस्य सत्त्वादिरचलात्मनि ॥५६॥

- § ६१. यावान् कश्चित्स्वभावो मिथ्यैकान्ते स सर्व आश्रयासिद्धः । तदत्यये
 तेषां च तत्राभावः तदात्मकत्वात् । नहि अस्ति सम्भवः यकिंशो भावः परस्पर-
 25 विश्लेषविधातात् तत्रासिद्धिः अनेकान्तसिद्धिः । तत्प्रतिविधानं हि तत्, क्वचित्
 कश्चित् असिद्धो धर्मः प्रतिपक्षापेक्षी । तदतत्परिणामलक्षणोऽर्थः स्वभावान्तरविरोधी
 परस्परविवेकस्थितेः अर्थान्तरवत् । तदयम् अन्तरङ्गबहिरङ्गप्रत्यनीकस्वभावप्रतिषेप-
 विकलतया विरुद्धम् । व्यभिचारी प्रभवसामान्यसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरपि
 तदर्थान्तरभावयोः तथापरिणामव्यवस्थायाम् । साध्यसाधनभेदेऽपि तादात्म्यम् ।
 30 निष्कलस्य तथाप्रतिभासविक्रियाविरोधः । गुणपर्ययवद्भव्यम् । व्यतिरेके पृथगुप-
 लम्भसहभावेऽपि समवायिनो नैकयोगक्षेमलक्षणो गुणभावः । तादात्म्ये कथञ्चि-

वेदिनि सम्भवी ? प्राग् विपर्यासवद्बृत्तस्यानिराकरणं सर्वत्र समानम् । साध्ये गुणदोषयोः कस्यचिदन्वेषणं सिद्धसाध्यार्थयोः सिद्धासिद्धाऽविशिष्टकरविस्तरा विरुद्धादयः ।

अन्यथासम्भवासिद्धः साधनः प्रतिरूपकः ।

विरो (रु) द्वोऽकिञ्चित्करो ज्ञातः प्रत्येकमिति सङ्ग्रहः ॥४६॥

विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् विरुद्धो विदुषां पुनः ।

5

प्रकृत्या (प्रक्रिया) व्यतिरेकेण सर्वे सम्मोहहेतवः ॥४७॥

तथाहि सर्वहेतूनां भावना सत्त्वमीक्षते ।

स विरुद्धोऽन्यथाभावाद् असिद्धः सर्वथात्ययात् ॥४८॥

व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः ।

अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः ॥४९॥

10

विरुद्धाव्यभिचारी स्यादर्थमात्रावधारणात् ।

अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम् ॥५०॥छा॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे षष्ठमः प्रस्तावः

-ॐॐॐ-

६. षष्ठः प्रस्तावः

[५५. समर्थवचनं वादः शाश्वतं सत्क्रियाश्रयात् ।]

15

५५४. समर्थवचनं वादः । प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमर्षं जिगीषतोरे-
कत्र साधन-दूषणवचनं वादः । शाश्वतं सत् क्रियाश्रयात् । 'सर्वं नित्यं कृत-
कत्वात्, यत् कृतकं तन्नित्यं युक्तं यथा आत्मा, तथा च सर्वं कृतकम्, तरमाहित्यम्'
इति साधनाङ्गवचनोपालम्बच्छलेन स्वामेव स्थितिं विधुरयं (यन्) सर्वथानर्थनिव-
न्धिनो विजयते । विचित्रा हि परप्रत्यायनोपायाः स्वन्निश्चयवत् । प्रत्यक्षेऽपि कुतश्चित् 20
साधनसम्बन्धप्रतिपत्तेः । सम्मोहन्यवच्छेदेन तत्त्वावधारणे स्वयं साक्षात्कृतेऽपि
साधनवचने कथञ्चिन्नित्यं विचारं विनिश्चयोपपत्तौ साध्यधर्मसम्बन्धदर्शनस्य
प्रतिज्ञाविशेषेण तदन्यतरवचनप्रतीतौ वाचकम् उपनयादिसमम् । अन्यथा साध्य-
समम् । तदेवमपि 'युक्तं न वा' इति तर्क्य तावदक्षिणी विस्फाल्य । यदि युक्तम्; किं-
कृताकृ [त] नियमेन ? तावत् प्रयोक्तव्यं यावता साध्यसाधनमधिकरणं प्रत्येति ॥छा॥ 25

नहि नैः सर्वथाऽसिद्धं कर्तुं युक्तं निरन्वये ॥५१॥

न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम् ।
 पदादिसत्त्वे साधुत्वन् (न्यू) नाधिक्यक्रमस्थितिः ॥६२॥
 प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम् ॥छ॥
 इति प्रमाणसङ्ग्रहे षष्ठः प्रस्तावः ॥



5

७. सप्तमः प्रस्तावः ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमार्थानुशासनम् ॥६३॥

§ ६३. सर्वमिथ्यैकान्तातीतं शासनम् अनवयवेन प्रमाणम्, साक्षात्कृतसमय-
 संवादेन तादृशोऽबाधनं प्रत्यक्षादिवत् । प्रसिद्धसंज्ञानसामग्रीप्रभवतया प्रमाणान्तर-
 सम्बन्धासम्भवेऽपि कारणगुणदोषसाकल्प्यवैकल्याभ्यां प्रवृत्तेरङ्गम् । सर्वत्र शङ्कानिवृत्तेः
 10 स्वतः प्रतिबन्धवैधुर्ये प्रणेतुरनुभवैरनादित्वेऽपि कायविज्ञप्तिवत् । स्वतः प्रामाण्यमती-
 न्द्रिये न वै बुद्धेर्विप्रतिषिद्धं वचनवत् । स्वविषये प्रकर्षनियमेन दोषावरणपरिष्कारमात्रे
 तदर्थ्येवनाश्वासः । प्रकारान्तरासम्भवेन तदर्थ्यज्ञानाभ्यासप्रकर्षप्रभवपरिष्फुटप्रत्यये
 प्रियमनुष्ठितम् । क्वचित्तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेदयोस्तादात्म्येन सर्वहोपादेयोपा-
 यपरिज्ञाने किमपरिज्ञानं (तं) स्यात् ? तद्विशेष (ताद्विशेष) व्यामोहे तदर्थसिद्धे []
 15 सर्वस्य प्रकरणोपयोगः । साकल्पेन वृत्तौ प्रवचनं विप्रकृष्टेऽपि स्पष्टमवितथं प्रतिवि-
 शिष्टस्वभावं स्वप्नादिवत् । प्रतिबन्धवैकल्ये स्वप्रभवकायवागव्यवहारानुमेया रागादि-
 प्रतिपक्षाः ।

पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिच्यते ? ।

§ ६४. यदि ज्ञानविशेषो द्रव्यगाहः प्रेक्षावतः कथमागमार्थेषु प्रवृत्तिः ?
 20 सर्वविशेषाणां शक्यक्रियत्वात् । सिद्धेऽप्यकृतकस्य प्रमाण्ये ताद्विशेषापरिज्ञानम् ।
 श्रुतेः प्रापञ्चो विपर्ययैः सर्वथा व्यवस्था न स्यात् । तदर्थं त्रिपुरदहनानदिवद् आत्म-
 धातोऽपि सितासनपुरःसरो मिथ्यैकान्तप्रलापी प्राकृतप्रज्ञाविगाहार्थदिग्मूढः स्वय-
 मङ्गीकृतातीन्द्रियार्थप्रत्यक्षदेशनात् सत्यतपःप्रभावरहितो मनुष्यधर्मा कारणादिच्छलेन
 सम्भावितोद्बुद्धचित्तः । प्रसिद्धहिंसानृतस्तोयाब्रह्मपरिग्रहस्वविषयगुणोत्कर्षभासं (शं) -
 25 समानः यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्कं नश्चेतः । §३.) “क्षीणावरणः समधिगतलक्ष-
 णोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिः अन्यथा देशयेत्” इति विप्रलम्भशङ्की तादृशं प्रकरणा-
 नुपयोगविशेषं किमर्थं प्रवृत्तिकामो मृगयतो (ते) ? दृष्टेष्टयुक्तं (क्षि) विरुद्धार्थप्रव-
 चनसमयान्तराणां प्रणेतारो विप्रकर्षेऽपि विशेषतो निर्णयन्ते शास्त्रकारा इव शलैः
 यथार्थदर्शनादिसाकल्प्यवैकल्प्यप्रतिबन्धेन ।

पूर्वापरस्वभावाग्निपरिहारयोः साध्यसाधनभावः । श (स)कलशक्तिविरहिणोऽवस्तुत्वे तदुपादानविच्छेदः, प्रकृतिविकारनान्तरीयकत्वादर्थान्तरप्रसूतेः । त्रिलक्षणं प्रतिक्षण-
मविकल्पितं विकल्पलक्षणम्, अन्यतरव्यतिरेकेऽनुपपन्नम् । सद्युदायेऽसङ्करसङ्गः ।
एकशः तल्लक्षणान्वये भेदकल्पनानर्थक्यम् । तदयम् उत्पाद एव तिष्ठति, नश्यति ।
नाशयेव तिष्ठति, उदेति । स्थितिरेव नश्यति उदेति ॥७॥

5

प्रकृताऽशेषतन्वार्थप्रकाशापदुवादिनः ।

विद्ववाणोऽनुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥६३॥

§ ५८. नित्य आत्मा कथमन्यथा कृतक इति ? न्यूनतया किलायमपि अस्मात्
प्रत्यवस्थातुमकृतज्ञः स्वयमवयवान् कलयति ।

स्यादजग्रं परापेक्षमुदयं प्रलयं प्रति ।

10

अभावस्यानपेक्षत्वं भावस्य परिनिष्ठिते ॥६४॥

§ ५९. न खलु अकृतकस्य नित्यत्वम् । उत्पादविगमक्रियाभावस्यैव क्षणिकस्या-
नपेक्षत्वम् । सिद्धासिद्धयोः तदयोगः । स्वयमात्मलाभं प्रति अपेक्षितपरपरिस्पन्दं नित्यं
कथमकृतकम् ? सर्वदेशकालादिसम्बन्धसातत्ये तत्कृतोपकारापेक्षम् । व्यतिरेकेऽन-
वस्था, सम्बन्धासिद्धिः । स्वयमात्मलाभस्य कथञ्चिद् व्यपदेशः । नित्यानित्ययोरचलयोः 15
अनुपकारेऽपि सत्स्वभावानतिक्रमाविशेषः । 'कृतकाकृतकयोः नित्यानित्यस्वभावा-
प्रतिषेधः' इति दूषणोद्भावने भूयस्तथैकान्तप्रतिषेधे श(स)कलकलाकलापसमाश्लेषजा-
त्यन्तरप्रतिपत्तिनान्तरीयके प्रकृतसाधने परं पराक्रमते । तथाऽनित्यं कृतकत्वादित्य-
त्रापि सर्वं समानम् । अधिचालिनं (चलिनां) क्रियानिष्ठिः, स्वभावान्तरलक्षणत्वात्
सचायाः । तथाऽप्रतिपादने साधनदूषणसामर्थ्याऽपरिज्ञानम् । अज्ञाताऽकिञ्चित्क- 20
रामिधानेऽपि जयाभावः प्रकृतसाधनशक्तिवैशुण्येन ।

साध्ये परतिरस्कारो जल्पः तच्छक्तिनो जयः ।

तत्र मिथ्योत्तरं या (जा) तिः यथाऽनेकात्मविद्विषाम् ॥६५॥

§ ६०. सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् इत्यत्र (त्रा) रेकाः प्रत्येकमाहोस्वित् सद्यु-
दितम् ? सिद्धसाधनम् सर्वस्य अनेकात्मकताविगानम् । एकात्मकत्वप्रतिषेध (घे) 25
विरोधः । क्वचिदेकताऽभावे अनेकत्वाऽसिद्धिः । अथ एकैकशः एकात्मकत्वम् अन्यथा
ज्ञानात्मम् ; अधिकरणं प्रतिज्ञान्तरं पुनरकिञ्चित्करम् । अथ एकत्वविधेः सामानाधिकर-
ण्यम् ; उभयदोषप्रसङ्गः साध्यसाधनसम्बन्धासिद्धिः । अथ तादात्म्यम् ; सङ्करः, परस्पर-
गानुप्रवेशः । विशेषेण नैकाधिकरणत्वम् । संश्लेषे पुनरनवस्था । अतो निरू (रु) पाख्यतया

१ अथ "रीर्य" (सिद्धहेम० १-३-३६) इत्यनेन नात्र + एव = नाशयेव इति नेत्यम् ।

§ ६७. सन्निकर्षाद् रूपज्ञानं यदि स्पष्टावग्रहः, तदर्थप्रतिघाते दीपरश्मिवद् अनियमप्रकाशप्रसङ्गः । स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिबिम्बोष (प) लम्भवच्छ (च्छु) तौ तदार्थाधिगमे प्रमाणान्तरेऽपि तदयमर्थमभिनिबुध्य श्रुतविकल्पे द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषविषयमाधिगच्छति । व्यामोहविच्छेदे सति मतिश्रुतयोरेकत्वेऽपि कथञ्चित् प्रतिभासभेदो अवग्रहादिषत् । तदेतदसद्रूपत्वेऽपि तत्समाधिगमनिमित्तम् । तत्र तदधिगम एव सत्यपि सारूप्ये स्थापनादिवत् ।

परंज्योतिरनाकारं पर्यायानुक्रमस्थिति ।

§ ६८. स्थापनाश्रुतिरेव व्यापिनी सर्वत्र समानाकारसम्भवः । सतोऽपि क्वचिदसदविशेषो व्यतिरेकासिद्धिः, समयस्मरणाभावे तदार्थाप्रतिपत्तिः । असत्यर्थज्ञाने तदभ्यासमात्रेऽपि श्रेयोऽतिशयप्राप्तिः । विचित्रामि [स] न्धयः प्रतिपत्तारः । स्वाध्यायतपःप्रभावमूलं सकलमलं तदर्थज्ञानं तत्परिच्छेदसामर्थ्यं प्रतिनियतभेदमेतदाकारातिरेकेण व्यभिचारदृष्टौ तदावरणपरिक्षये निरुपाधिकप्रवृत्तिः, यथाप्रतिबन्धक्षयोपशमं वर्षपदवाक्यानुपूर्वीसंहारातिशयः परमाणुक्रमनिमेषलक्षणपर्यायसमासतः तात्वादिन्यापाराहितसंस्काराः सदृशापरपरिणामेन शब्दवा (धां) राः शरीरावयवसंस्पर्शिन्यः प्रत्यवभासेरन् ।

§ ६९. श्रोत्रं हि नाप्राप्यकारि चक्षुरिव प्रत्यासन्नाग्रहणप्रसङ्गः । तदभिघाते विशेषोपलम्भे दिग्बिभागाप्रतीतिः । अवगृहीतस्याप्रत्यक्षगुणत्वमयुक्तम्, अनाहितविशेषयुणोत्पत्तिविनाशाऽसम्भवात् । निरंशानां क्रमवृत्तौ अर्थान्तरव्यक्तिवद् अर्थोपयोगः स्यात् । कृतश्चिदक्रमस्य व्यक्तावनभिष्यङ्गौ तदन्यवैयर्थ्यम् । ध्वनिविशेषाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी तदर्थमधिगच्छेत् । गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । स्पर्शवतः क्रमवृत्तेः द्रव्यत्वं न कस्यचिदपरिणामिनः, पौर्वापरयोर्भागस्य परपरिणामे वर्णान्तरपरावृत्तौ असकलप्रतिपत्तिः । उभयपरिणामे अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्ति [:] प्रतिवर्णत्रयसमभेदेन कस्याचित्तिरोभावे परोऽपि तादृशपरिणामः समनन्तरमाविर्भवति कारणसामग्रीसञ्चिधौ । प्रत्यभिज्ञानेऽपि नानात्वम् । युगपत्त्रिभदेशोपलब्धैः (ब्धे) सर्वगतत्वे सर्वत्र सर्वदोषलब्धिवः । अपरिणामिनः तान्त्रादेरभिव्यक्ता [षा] वरणविच्छेदात् क (क्) संस्कारादिवियोगः ? सकृच्चानादेशोपलम्भो व्यापिनः प्रयासेऽपि न स्यात् । व्यञ्जकन्यापारे व्यञ्ज्यविशेषानियमः । करणसञ्चिपातौ (तो) पनीतश्रावणस्वभावः पूर्वापरकोट्योः दीपादिद्रव्यवद् अनुपादानानुत्पत्तिरपरिणामविघातः । तथाऽनुपालम्भेऽपि नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी । तथाहि—द्रव्यमेव भावाव्यभिचारि तदात्मकत्वाद्युपराप (त्वाद् युगपत्) क्रमभावेऽपि तदेकस्त्रीगच्छेमलक्षणवन्नामसदृशोपलम्भतः । तथा हि (तद्धि) शेषाप्रतिपत्तेरात्मा स्वामी तदर्थकृत ॥६९॥

द्भेदः स्पृशदिः संख्यादिवत् । प्रत्ययभेदिनोऽप्येकत्वं सामग्रीभेदेन कार्यकारणवत् ।
वर्णसंस्थानादेरकत्वे विप्रतिभासः, क्वचिद् दूरासन्नादिकरणगुणवैगुण्यतारतम्यभेदेन
मुक्तादिविशेषस्य रूपज्ञानस्य प्रतीतिः, अन्यथा देशादिनियमेन चन्द्रादौ तथा संवादः
कथञ्चिद्विप्रतिसारः सामग्रीवैकल्येऽपि न स्यात् । वितण्डात्मतिरस्कारः सं (स)
वैतण्डिको मिथ्यादृष्टिः नियमेन परतिरश्चिकीर्षया म्बवचनप्रतिघाती यथा सदस-
दात्मा क [श्चित्] ।

स्वभावपरभावाभ्यां वाचोवृत्तिरनेकधा ।

§ ६२. यदि स्वरूपेण अस्ति पररूपेणापि भावस्य क्वचिदभावविरोधः ।
चेतनेतरविकल्पेऽपि न वस्तुविकल्पः । सत्ताविशेषेण प्रमाणस्य अप्रमेयत्वे स्वरूपं न
स्यात् । प्रमेयस्याऽप्रामाण्येऽपि संवादाविशेषेण वेद्यवेदकयोः परस्परपरिहारेऽपि बहिर- 10
न्तश्च वेद्यता । विशेषेण व्यापारनिर्मासस्य केवलस्य दर्शनात् आत्मनः स्वयम् आत्मा-
न्तरेण सत्त्वम् अनन्यवेद्यनियमात् । निर्व्यापारस्य व्यापारतो वृत्तिः उदयस्थिति-
संहारविरहे एकाकारस्याऽदृष्टौ पुनः अनेकस्य तथा विरोधेन भावलक्षणवैधुर्यम् ।
सर्वे (र्व) विकल्पातीर्तं तत्त्वमिति स्वामेव कृतिं स्ववाचा विडम्बयति । यदि
पररूपेण असत्; तद्विविक्तस्वरूपस्य कथञ्चिदनुपलब्धौ पररूपाऽविशेषेण स्वरूपेणापि 15
इति; सोऽयमात्मानं विडम्बयतितराम् । संवृत्या स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां
समारभयन् सुतरां विडम्बयति परमार्थविपर्ययेण । तथाऽपरपर (तथा पर) प्रसिद्धप्रमा-
णेन § २.) “नाप्रत्यक्षं प्रमाणं न परलोकादिकं प्रमेयम् अननुमानमनागमं च” इति
लोकविसंवादशास्त्रागमनिकायादयोऽधिकरणभेदेपि केवलम् आत्मोत्कर्षणार्थं लाभ-
लोकपूजाख्यातिहेतवो वाग्बुचयोऽनेकधा, वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमः तत्त्वप्रति- 20
पचेरनङ्गम्, अन्यत्र आहोपुरुषिकातः । कल्पनातोऽनवस्था ।

शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्क (ष्क) लदर्शनम् ॥५७॥

सञ्चयापोहसन्तानाः श (स) प्रैते जाच्य (ञ्च) हेतवः ।

प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः ॥५८॥

यदहदयमसंज्ञानं त्रिकमज्झी (ही) कलक्षणम् ।

25

प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम् ॥५९॥

क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम् ।

प्रेत्यभावात्स्यो मानमनुमानं मृदादिवत् ॥६०॥

शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानि (ने) ल्यलौकिकम् ।

शब्दः स्वयंभुः सर्व [त्र] कार्याकार्येष्वतीन्द्रिये ॥६१॥

30

लक्षणम् अन्तर्ज्योतिर्मयम् अनादिनिधननिर्भासमात्मीयतस्त्वम् अर्थान्तरानपेक्षं चैत-
न्यवत्, मोहादिसम्बन्धान्वयस्व (व्य) तिरेकानुविधायिनः तादृशोऽज्ञानादयः तिमि-
रादिवत् स्वेहेतुप्रतिपक्षपाटवे निवर्त्तेरन् । आलोकादयो दोषसंश्लेषविश्लेषहेतवः अण्ड
[ञ्ज] नादिवत्, न्मा (मा) र्गाविगमाद् दूरेऽयोग्यानां परिनिवृत्तिः । साध्यसाधनमिध्या-
5 सङ्कल्पाभिनिवेशो निसर्गतः पापीयान्, यथा आत्मज्ञस्वभावस्य व्यतिरेकिणी बुद्धिः
अपरिणामिनोऽर्थोपलम्भेऽकर्तुः करणतया संविद्विषयं व्यवस्थापयन्ती स्वयमन्वय-
व्यतिरेकौ संसारमोक्षौ अनुया (मा) पयति । सर्वथा विशिष्टा गुणसम्बन्धविवेकतः
पुरुषार्थसिद्धिरिति परस्परविरुद्धम् । तादृशो भावान्तराविशेषः । सत्त्वादिसामान्यगुण-
सम्बन्धेन चेतनानिवृत्तिरन्तःकरणसन्निधावदृष्टकल्पना अनवस्था, सामान्यविशेष-
10 समवायव्यपदेशे चेतनाव्यतिरेकेणात्मा मा भूदुपयोगलक्षणातिरेकतो अचेतनादिवत् ।
परस्परपरिहारास्थित (ति) लक्षणतया चेतनेतरात्मनोः चेतनेतरसमवायिविवेकतः
समधिगमः परं निर्वाणम् ।

§ ७४. स्वांशमात्रविषयेन (ण) निरंशपरमार्थेन सर्वथान्या(न्य)वैधविरोधे पर-
दुःखमज्ञानतः करुणैव तावन्न भवेत् । विभ्रमतो भावे विभ्रमो न स्यात् । दुःखविन-
15 श्वरस्य भावोपलम्भेऽपि सिद्धसाधनी[य] परतन्त्रो देवानांप्रियः । सन्तानाभावसाधने
समानः प्रसङ्गः । प्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तेः अन्यथाभावः स्वपूर्वापरस्वभावमतद्वेतुफल-
व्यावृत्तं मानसं तत्परं विच्छिन्नचि स्वयमुपेक्षमाणः कृपालु (कृपालु) रिति कष्ट-
मनात्मज्ञतापरिगत तमः । तदीदृशे संज्ञान्तरविकल्पेऽपि स्वपरसन्तानभावनाया
कचिदुपकारापकारसङ्कल्पहेतवः स्नेहादयः प्रवर्त्तेरन् । भेददर्शने सङ्कल्पाभावकल्पनायां
20 संज्ञान्तरसमावेशे ममः समाधिः । आत्मवतां विशेषतः तत्स्वभावगुणदोषविवेकतो हिता-
हितप्राप्तिपरिवर्जनं यथा विपरीतचेतसां सकलदोषसन्ततयः कारणपरतन्त्रेऽपि कार्य-
जन्मनि तत्करणनियमवैधुर्यं (यै) सङ्कीर्येन् । निरभिप्रायवृत्तौ अनिवारणे वंशवत् आदौ-
त्रिलक्षणस्यान्तेऽप्यनन्ता जीवराशयः प्रदीपादेः अन्ते क्षयं (य) दर्शनेनार्थाभावसिद्धिः ।
एकत्र दृश्यादृश्यस्वभावप्रसिद्धे निर्णयेऽनिर्णयवत्, भावस्वभावोऽयं यत् कथञ्चिद्
25 भवित्येव (भवत्येव) मध्यवत् सदैवान्यथा न भवेत्पर्यवसाने परिणामिनः कारणपर-
म्पराभावप्रसङ्गः । स्वतौ (तो) विवर्त्तशक्तिविरहिणो बहिरङ्गे सुतरामसामर्थ्यम् । उपका-
र्योप [का] रकसन्निधानात् सन्निधानसाम्ये परस्परविवर्त्तग्रन्थीनां देशकालाद्यपेक्षिणां
प्रभवनियमः । तन्निरपेक्षणां संयोगविरोधः । प्रत्यासाद्वि (ति) विप्रकर्षविकल्पप्रत्य-
स्तमयेन व्यवधानेऽपि प्रसङ्गोऽनवस्था च । तदग्रम् अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रदेशादिसहचारी
30 विनश्वरविकल्पविषयः निवर्त्तते (निवर्त्तते) न प्रवर्त्तते इति दुस्तरं द्रौस्थ्यमापद्यते ।
तादृशः पुरुषपरिणामस्वभावेषु तदभावप्रसङ्गात्तदाधिकारे जन्ममरणदिर्भा भूत् । विभ्रमे
तद्विकल्पविभ्रमेण विभ्रमोऽपि न सिद्ध्येत् । परिणामे यथा कार्यकारणानैकत्वं शुभम्

समानपरिणामार्थं सङ्केताच्छब्दवृत्तितः ॥ ६४ ॥

§ ६५. क्वचित् समयानपेक्षणे शास्त्रमपौरुषेयमनर्थवद् । अनादिन्वे व्यवहारवद् व्याख्याविप्रतिपत्तौ परमगहने कः साक्षी यतो निःशङ्कं चेतः पुरुषः ? स्वयंकृतसमये तदर्थदर्शी कथञ्चिद् व्यवहारिणः प्रवर्त्तयेत् । नित्येऽपि शब्दार्थसम्बन्धे अनवस्था-प्रसङ्गः । सङ्केतदर्शिनः तत्प्रतिपत्तौ तदन्यतमे चलत्यचलति वा अचलश्चलो वा विप्र- 5 तिपिद्धः । नित्यानामनित्यानां वा सब (सम्ब) न्योऽनुपकारविशेषणे सिद्धस्य परतन्त्रतायोगो व्यतिरेकाव्यतिरेकयोरनवस्थासङ्करप्रसङ्गः । तत्सङ्केताद्यमिव्यक्तौ अन्यकल्पनासामर्थ्यम्, उभयोरव (च) लात्मतया देशकालावस्थाभेदेन उपलम्भासम्भवः अन्यत्र प्रतिपत्तेः । अन्यत्र सङ्केते अतिप्रमङ्गः । सामान्यसन्निवेशिनि तथा समवायाविशेषेण नियतवृत्तेर्विशेषाविशेषव्यपोहवत् । स्वभावभेदानुपलब्धेर्ज्ञानाभिधानानु- 10 प्रवृत्तेः, अन्यथा सम्भवो द्रव्यगुणसमवायेषु प्रसङ्गः । समानप्रत्ययजनकेषु तदव्यतिरेकेण समविपमतया सम्प्रज्ञायमानेषु जातिधर्मपरिसमाप्ता च त (सावत्) त्कारणव्यावृत्तावसाधारणत्वम् । अभावविशेषे जातिवत् समानप्रत्ययः, समानो नाम एकज्ञाननीलादिवत् । चक्षुरादिज्ञानेऽपि सर्वत्र सर्वथा सारूप्यव्यभिचाराभावः, तादृष्यनियम-सम्भवः । दर्शनेतरयोः सर्वथा भेदे पश्यतो [S] स्मृतिरस्मृतेऽपरामर्श इति विषयज्ञानवत् 15 समनन्तरयोर्मतिश्रुतयोः स्वभावभेदे वेद्यवेदकलक्षणम्, तदेकार्थविषये (य) योरभिन्नात्मना बहिरपि शब्दार्थसङ्केते तदर्थप्रत्यभिज्ञाने वा सत्यार्थता, समानैकात्मप्रतिपत्तौ सत्यानृतार्थताभेदः । समवायसाकल्यवैकल्याभ्यां शाब्देऽपि आभिनिबोधिकवद् भिन्नप्रतिभास एकतानत्वम् । यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्याभ्यां प्रवचनेतरव (वं) शसंवृत्तौ सर्वविशेषकल्पनायामाप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिङ्गचारित्रं मा भूत् । स्वांशमात्रा- 20 बलम्बिनो नार्थप्रतिपत्तिः ।

§ ६६. एकत्र बहुभेदासम्भवे मिथ्याविकल्पो न स्यात् । सर्वथा विभ्रमे नीलादिविशेषवद् देशकालादिभेदेऽपि दृष्टसमानार्थ विकल्पयतः तद्विषयताप्रत्यक्षवद् देशादिनियमः, अन्यथा स्वप्नवद् दूरासन्नकार्यकारणभावप्रतिविधावनानैकं समनन्तरसाधारणमात्मानं संविदत् (त्र) स्वरूपतत्त्वविभ्रमं वा साधारणं प्रतिलक्ष्य (तिक्ष्ण)ं त्रिका- 25 ल्गोचरानन्तपर्यायदर्शी दोषावरणक्षयोपशमवशाद् दर्शनविषयसामान्यविशेषात्मानं समासादयेत् स्थापनादिवत् । प्रतिमादौ यथासमारोपं व्यवस्थापिते तत्समानविकल्पमात्मानं धारयति, समानेऽपि सर्वत्र तथाऽर्थदर्शनादिगुणयोगवियोगः तत्त्वमि- 30 ध्याप्रतिपत्तिः । सत्यां प्रतीतौ तदनुमानं श्रेयोऽवाप्तिपरिहरत्तद्गुणदोषविवेको वा सन्निधिवत् तत्स्थाया (तच्छाया) प्रतिपत्तौ तदनुमानं स्वरूपप्रतिभासातिशये तथा- 30 परिणतम्, न चैतद् युगपद्भिन्नदेशोपलम्भे स्वपरप्रत्यक्षं विभ्रमकल्पनाविरुद्धम् ।

तथा संसारस्थितेरेवानुमानात्मभूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणनियमवत् वरभागमात् प्रवृत्तौ
प्रत्यक्षाद्यविरुद्धात् प्रवृत्तिरिति ।

- सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः ।
- अहेतुरन्यहे (?) क्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥६८॥
- 6 अहृष्टदोषशङ्कायामन्यत्रापि प्रसह्यते ।
अहं ममाश्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥६९॥
कर्मणामिति संब्या (सत्कृत्य) प्रेक्षाकारी समीहते ।
कृपा स्वपरसन्तानस्थानसंहारकारणम् ॥ ७० ॥
अचेतः करुणात्यन्तमन्यदुःखमजानतः ।
- 10 कूटस्थस्य सतः साक्षादहृद्यानुभवात्मनः ॥७१॥
सुखादि विषयः शब्दाद्यविशेषोवि (षधि) योन्यतः ।
गुणयोगवियोगाभ्यां संसारपरिनिर्मुक्ती ॥७२॥
सम्भवः सर्वभावानां शास्त्रं हृष्टेष्टबाधितम् ।

॥[इति] प्रमाणसङ्ग्रहे सप्तमः प्रस्तावः ॥



16

८. अष्टमः प्रस्तावः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविधानप्रतिषेधतः ॥७३॥

सहकर्मविवक्षायां सप्तमङ्गी तदात्मनि ।

- . § ७८. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि स्वपरभावानुगमव्यावृत्तिवत् परापरस्व-
भावानुगमपरावृत्तिप्रसङ्गेन तत्त्वमवकिरन् कथमविचार्यः ? तदाऽनानैकत्वं कारकज्ञा-
20 पकव्यवस्था [प] कत्वम् । विभ्रमे विभ्रमः । स्वामिलाप्यानमिलाप्यत्वम् अमिलाप्या-
नमिलाप्यबहुवचनात् । प्रतिभासभेदेऽपि भतिश्रुतयोः अन्वयव्यतिरेकार्थविषयत्वं
शब्दार्थग्रहणं प्रत्यभिज्ञानादेरात्मनो विशेषे प्रत्यक्षवत्तदभावः, अन्यथा सन्तानान्त-
रवचस्य इतरथा भावः । तदेकार्थाविषयत्वं धर्मभेदेऽपि तदविशेषात् । स्वभावाभेदे
जात्यन्तरं स्यात् । तत्र अर्थभेदाऽभेदौ सदसन्तौ व्यतिरेकेण निरामयत्वात् । वृत्ति-
25 विकल्पविरोधे सम्बन्धोपकाराद्यनवरथादोषैः स एव सर्वथाऽखण्डिताकारस्य प्रत्यक्ष-
वत् शब्दबुद्ध्यावप्रतिभासने तदभेदाभावमवधारयन् वा तत्प्रत्यक्षप्रतिभासभेदानिदर्श-
नेन तद्विषयावि (धि) गमविकल्पविकल्पेन तत्प्रतिपत्तिविप्रतिषेधेन शुद्धत्वापरिणामिनि

§ ७०. सर्वस्य निर्दिष्टस्य सर्वथा नोपकारकत्वम् । शरीरादिपरिणामोपयोग-
साधनेन गतिस्थितिकरणविधाते तदनुपकार्ये भोक्तृत्वविरोधः । सम्बन्धासिद्धिः उपकारः
परिणामाव्यतिरेकेणानवस्था । सर्वत्र तद्गुणोपलब्धावधिष्यानातिरेकः तन्नियतवृत्ता-
वतिरेकव्यतिकरसङ्करप्रसङ्गः । तद्गुणान्तरसमवायाविशेषस्वात्मान्तरस्यापि कालाद्य-
विशेषेणेच्छादिसमवायनियमः कुतः संसारः ? चेतनस्यापि नित्यमदृश्यस्य स्वयं विज्ञाने ६
न बुद्धिरचेतना अतीतकार्यकारणतया विकारिणमात्मानं न) कथं दर्शयते ? तदुपलम्भा-
निवृत्तौ विशेषेण तद्बुद्धिसङ्करः । तदात्मानतिशायनं (१) यदि विग्रहमात्रव्यापी न भवेत्
सहव्याप्तिरूपभोगे न स्यात् । परस्यैव संसारे नात्मनः कर्मफलसम्बन्धः । सन्तान-
स्यापि निरू (रु) पाख्यतया न संसारः ।

साधनं नत्व (तत्त्व) विज्ञानं चारित्र्यं समयस्थितिः । 10

§ ७१. आत्मेतरसम्बन्धवियोगकारणतत्त्वबुद्धेरस्ति कायाधिकरणस्य तदनुष्ठान-
विशेषतो मोक्षः, तन्निसर्गादिवि (धि) गमः, तद्विपक्षवृत्तेः संसार आत्मसुखदुःखतर्पणा-
दिप्रवृत्तिनिवृत्त्योरकारणविशेषौषधवत् । अन्यतरवैकल्येन परस्याप्यपरिसमाप्तिः ।
साध्यसाधनयोरनवयवेन विज्ञानस्वभावव्याप्तौ प्रकृतविषयव्यापारविशेषोपेक्षया
साधनस्य त्रैविध्यम्, सकलात्मपरिज्ञानेऽपि विरतविग्रहसम्बन्धस्य परत्वम् । 15

सम्बन्धयोगतः स्थानप्रस्थाने तद्विशेषतः ॥६६॥

§ ७२. चेतनस्यार्थान्तरसम्बन्धवैकल्ये न शरीरस्थितिः । संयोगपरिणामतः
कार्यकारणवद् अनादिसम्बन्धविवर्त्ती सुवर्णपाषाणादिवद् विशेषोपपत्ते [ः] ज्ञानस्व-
भावस्य मोहादिमूर्त्तानुप्रवेशे मदिरादिवत् । मन्त्रादेस्तादृशोपयोगाविरोधः । धर्मादेर-
ज्ञानस्वभावे तदविशेषः । चेतनस्य हीनस्वाप (स्थान) प्रापणं बन्ध [ः] संस्कारवशात् 20
देशान्तरप्राप्तिः देवदत्तादिवत्, परापरकर्मप्रबन्धात् परवंसो (शो) त्यक्तिः वितटपात-
(भीजपादप) वत् । सत्यपि परस्यरंदे (स्परं मेदे) योग्यतालक्षणः सम्बन्धः ।
मूर्त्तानां च स्निग्धरूक्षताभावे तादृशो वृत्तेः । नायं प्रज्ञागुणः तत्प्रकर्षाप्रकर्षनिर्हासा-
तिशयजातीयाम्बासविवर्त्ती क्रोधादिकर्मोपादानयोग्यताम् आत्मनः सूचयेत् । युगप-
द्भावनिर्वासनानियमः । परिणामान्तरेऽपि तदन्वयेन अविकलतया युगपदुपलम्भ- 25
प्रसङ्गः । तदुद्भवोऽभिभवस्वभावप्रतिषेधे तिरोभावाऽसम्भवः । इतरस्यापि तदात्म-
कत्वात् । चेतनोपतापहेतवः कर्मणो न विशिष्यन्ते । तदयं दोषप्रभवः सति हेतौ च
कदाचिदुपरमते ।

आत्मनो दोषसम्बन्धम् आत्मज्ञः सन्निवर्त्तयेत् ।

§ ७३. निसर्गतोऽनवरतव्यामोहसमुदयवशात् स्वरसतो वृत्तप्रसादवृत्तद्वेष- 30
प्रसरस्य प्रतीकारो न आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिषेधः प्रथमवत् । ज्ञानदर्शनेऽपि

शब्दपर्यायः शाबलेयादिवत् प्रकृतिभेदेऽपि देशकालादिभेदानुविधायिनां गवादिविकल्पोपजननं समानवर्णभागानां परपरिहारस्थितिः । पदविभागवद् अनवस्थितानाम् एकवस्तुभावसम्बन्धविवेकेऽपि वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमवत् सतो न समुदायसमुदाय-
(धि) नियोगः । तथाहि—गोशब्दार्थयोरश्वादिव्यावृत्तेः गोबुद्धिजनकत्वं तुल्यम् वाक्या-
5 न्तरवत्, वाच्यवाचकव्यावृत्तावपि शाबलेयादिभेदान्वये तदर्थाभिधानप्रत्ययानाम् अत-
व्यावृत्तितुल्यरूपं गवादिवत् । क्वचिदेकत्र ऐक्यव्यवहारसम्भवः परत्र कल्पनावृत्तेः ।

नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः तथा सङ्केतसम्भवः ॥७४॥

§ ८१. स्वतो योग्यताविधेरयोगः, प्रयत्नतोऽपि चन्द्रदेशकालगतिनियमवत् सम्मोहविच्छेदः, प्रकरणादिवशात् नानार्थवाक्यानामेकार्थनियमः, सिद्धे तदर्थसम्बन्धे
10 समयव्यपदेशः, तद्वचनोऽपि यथाभिप्रायगतं (गत) जल्पव्यवसायभृङ्गग्राहिकया तर्हि
सम्मोहनिवृत्तिः सम्बन्धाभिज्ञा [न] स्याम्यासातिशयविवर्त्तं साधारणासाधरणविष [य]
योः सम्भवत्सङ्केतेतरयो ऽमेय फलाभावः । स्वयमकृतसङ्केतार्थप्रतीतिः तत्कालमा-
विनोरन्वयः, तदयं स्व (स्वा) भाविको ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत् सामग्रीविशेषोपपत्तेः ।

सम्बन्धान्तरतो नास्ति साध्यसाधनसंस्थितिः ।

15 § ८२. सत्यपि शब्दार्थयोः कार्यकारणभावे अयोग्यतायां न तत्प्रतिपत्तिरर्थो-
न्तरवत्, विप्रकृष्टार्थविवक्षाविशेषसम्बन्धासिद्धेः, अर्थज्ञानविवक्षाप्रयत्नवाच्युदीरणकारण-
व्यापाराविशेषे व्योमादिविशेषसम्बन्धवत् । तद्वदेते प्रत्यर्थनियताः प्रतिनियतनुषयः स्वयं
यत्र योग्याः तमर्थसवगमयेयुः, नतं सम्प्रदायात् ग्रहादिगतिनियमो रसवीर्यविपाका-
दिर्वा संवादयितुमशक्यो यतः तत्प्रतिबद्धजन्मनि विबक्षामेव प्रतिपादयेयुरिति ।

20 शब्दाः शब्दान्तरं सङ्ख्याकालकारकलिङ्गतः ॥७५॥

§ ८३. पदवाक्यान्तरेषु वर्णपदसारूप्येऽपि भेदः तदर्थवत् । नहि सङ्घासङ्घे-
ययोरभेदो विप्रतिभासात् । क्वचिद् गुणगुणिनोरन्यतरदर्शनोऽपि तददृष्टेः द्विचन्द्रादिव-
देकत्वाज्नेकत्वयोः परस्परपरिहारेण गुणिनो विशेषणात् । कालस्य क्वचिदभेदकत्वे पूर्वा-
परस्वभावप्राप्तिपरिहारेणान्वयिनाऽपि निरुपाख्यत्वम्, कारकभेदभेदिनाऽभिधाना-
25 योगः । सकृदपि कार्यविशेषोपलक्षितार्थशक्तिभेदानां शक्तिमतोऽर्थान्तरत्वे अन्यतरवि-
लोपः । कारकभेदानुविधायित्वे कार्याणां वैश्वरूप्यमकारणं स्यात्, अन्यथा स्त्रीपुरुषा-
दिभेदिनोपयोगः (?) । क्वचिद् विशेषनिर्णयाभावे ब्राह्मणत्वादिवत् तदभिधा [ना] त्
तदभिधानयोग्यतालक्षणं सम्प्रदायाविच्छेदे समक्रियाविशेषेण शब्दप्राधान्यतो नवा
वस्तुनो [ऽ] साधारणस्य विजातीयव्यवच्छेदनिबन्धनाः पर्याया न सङ्कीर्यन्ते । अभावा-
30 न्तराख्यातो भावान्तरासिद्धौ कृतकानित्यादिवत् व्यापारव्यतिरेकिणोऽभावाऽविशेषेण
तावता सर्वार्थपरिसमाप्तौ कारककल्पनाऽभिलापिनी निष्कलोषु भावेषु वेद्यवेदकनिर्भा-

उपलम्ब्यवस्थायाः सामग्रीभेदेऽपि एकत्र प्रत्यवमशे बालादिवद्, भावान्तरस्मरणाच्च । निरंशस्याऽनेकत्र वृत्तिविरोधः । आत्मवृत्तेरर्थान्तरसम्बन्धाभावे साकल्यवैकल्यतः यामः स्वयमंशे स्ववृत्तिरनवस्था च । वा (क) स्यचित् सकलपरिणामिनः कर्मावरणचित्रात्मनोऽधिष्ठानभेदे सकृत् सम्भवप्रसङ्गेन देवदत्तवत् । पुद्गलानाम् असङ्ख्येयं तत्त्वं शब्दादिभेदतः, परिणामादेरेककारणप्रत्यनीकनियमे भेदानामविरोधः 5 चैतन्येषु प्रसङ्गः, तदत्यये निरू (रु) पाख्यत्वं संविदान्न (दां त) दीक्षणव्याप्तेः ।

§ ७५. सुखादिसंविद्विषयस्य तत्परिणामविज्ञानात्मनः परत्रावुच्चावचेतनज्ञानसङ्गम आत्मकार्यपरिसमाप्तिः । अज्ञानस्य वा सुखादित्वे शब्दादिद्व्यतिरेकिणोऽभावः । क्वचिद् भावनाविशेषे विशेषदृष्टौ तदेतव (तद्) निभिचमिति नियोगासिद्धौ चैतन्यपरितापवत् परापरभाविनियमभेदाभेदयोः कुतः प्रकृतिविकारव्यवस्था ! स्वयमवि- 10 कारिणो विकारकल्पनायाम् आत्मनोऽपि गुणान्तरस्य तथापरिणामे निभिचमात्राविशेषण समवायनियमो मा भूत् ; समाचार्या (समवाया) विशेषतो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषनियमो वा । न खल्वारम्भकावयवान्योन्यावार्तिर्जन द (?) तिरेकेण प्रभवप्रध्वंसो यतः पदार्थभेदः । सम्बन्धविशेषस्पर्शादिमतामानियतस्त्रिग्वरूपाणां भावात्, येन सूक्ष्मकठिनादिविशेषाः स्थूलद्रव्यादिकमारभन्ते, तत्समस्थाने न तथा भवेत्पुरस्तर (लम्) 15 र्थान्तरकल्पनया । तूलोपलादिस्पर्शवैश्वरूप्ये क्वचिद् विशेषः, जातिभेदे कथमानन्त्यं न स्यात्, भूतानामत्यन्तसम्बन्धगन्धादिरसङ्करे चित्रः समाधिः ।

§ ७६. पार्थिवादिविशेषेषु पुद्गलः स्पर्शादिमान् खलस्नेहो घृ (घा) रणादिभिर्गुणपर्यायैः स्पर्शादिस्वभावान्वयैः अर्थं सुखदुःखादिविज्ञानोपयोगव्यावृत्त्यनुगमात्मकः । तथाहि—नायं स्पर्शः संस्थानादिमान् नापि तत्स्वभावः स्पर्शादिमान् तद्व्यति- 20 रिक्तो निरुपाख्यः । परस्परविवेके स्वभावप्रतिषन्धो मा भूत् । तदुद्भूतवृत्तौ दृश्येतरस्वभाव अनुभूतविरोधे स्वभावस्य स्वभावपरिहारे अत्यन्तनिवृत्तिप्रसङ्गः । परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणीऽर्थः स्पर्शादिविशेषक्रमवर्ति तविद्गमा (ताद्विगमा) सम्भवे अस्त्यन्तरम् उत्पादविगमध्रौण्यवत् प्रगलेतरयोः सम्भवस्थानपरिणामविरोधेऽपि । न वै द्वा (द्वा) एद् गतिमिष्टम् । तद्विशेषोपपत्तौ— 25

अन्त [:] ज्योतिः स्वतः सिद्धमनुमानानुरोधतः ॥६७॥

§ ७७. स्वतः सिद्धं चै [त] न्यं भूतेभ्यः परम् । विरुद्धकर्मविशेषकल्पनायां सम्भवानुपपत्तितः तत्त्वव्यवस्थितेरन्यथाऽपरिसंख्यानम् । परस्परपरिणामस्थितौ समुदायं (ये) तत्स्वभावभावो ज्योमादिवत् । शरीरादेः पुंगल (पुद्गल) स्वभावानतिरेकः । तथा च स्फन्धवदनिवृत्तिः प्राणादीनां सामग्रीसाकल्येन वृत्तेरसक्ति (?) क्षयोपलक्षणादौ 30 प्रमाणान्तरं विरुद्धम्, तन्मात्रानुबन्धिनि तदयोगः । परिणामादेः तुल्यः पर्यनुयोगः ।

व्यवत् । जात्यन्तरकल्पनायां च तद्विधिप्रतिषेधात्मकत्वम्, तदतदुभयानुभयविकल्पेन प्रत्येकमपि चक्रकम्, सर्वनयामासप्रतिपादक्यातिसंख्येत्येऽपि वर्णानुपूर्वीभेदानां तद्विशेषवस्तुविकल्पानन्त्यम् ।

अन्योन्यनिरपेक्षाणामप्रमाणप्रमेयता ।

5 § ८८. सकलकलाकलापमया सत्ता परस्परविधिप्रतिषेधपरमार्था सूक्ष्मरथूलसंस्थानादिभेदमूर्त्तिवत् प्रमाणप्रमेयैकान्तप्रभेदपरिहारेण परस्परपरिग्रहपरिणामसिद्धिरिति ।

द्रव्यपर्याययोर्भेदमेकान्तेन प्रपञ्चयन् ॥७८॥

नैगमः सप्तधा शास्ति हि भावानां व्यवस्थितिम् ।

सर्वमेकं सतो [5] भेदादिभिर्मिथ्यार्थसङ्ग्रहः ॥७९॥

10 स प्रत्यस्तमिताशेषद्रव्यपर्यायभेदतः ।

आत्मादिभेदमाश्रित्य व्यवहारं प्रतिक्षिपेत् ॥८०॥

पर्यायाद् व्यतिरेकाणामन्वयप्रतिपत्तितः ।

अक्रमं स च भेदानां ऋजुसूत्रो विधारयन् ॥८१॥

कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्पतः ।

15 शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशन् ॥८२॥

अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः किता (या) श्रयः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविकल्पतः ॥८३॥

नयद्वयविभागेन नैगमादिरनेकधा ।

20 मतिश्रुतादौ भेदानां स्वपरप्रतिवेदिनाम् ॥८४॥

कल्पना चार्थसम्बन्धेनान्वेति नयलक्षणम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपैरात्मादिप्रविभागतः ॥८५॥

सम्प्रेक्षे नितरा [रां] सिद्धं तत्त्वज्ञानमनन्तरम् ।

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहे अष्टमः प्रस्तावः ॥



विघ्नधर्माध्यासविकल्पविषयताऽविरोधेन प्रमाणानुसारेण लोकोऽयं स्वयमेव विलो-
पयन्तं व्यवस्थापयेत् ।

§ ७६. स्वतः सतां सामान्यविशेषाणाम् असताश्च द्रव्यगुणकर्मणां स्वभावभेदं
प्रकल्पा (ल्प्य) प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियमव्यतिरेकेण परिणामिनः कथञ्चित् सद-
सदसन (दन) भिलापतद्योगविकल्पविधानतः प्रकृतिं क्रमयेत् । स्वभावान्तरग्रहत्यागतः 5
क्रमयौगपद्यविक्षायामभिलापाऽनभिलापौ, तदुपाधिभेदेन जात्यन्तरस्य तथा प्रति-
पादने सम्बन्धो ग्रहणनियमासम्भवः । सङ्ग्रहव्यवहारर्जुद्धत्रार्थन [य] संश्रयात् सामान्येन
तत्त्वप्रत्यवस्थितोऽभेदौकान्नप (भेदैकान्तप) रिग्रहः सर्वविशेषाणां सत्ताविशेषात्, सदेव
प्रत्यर्क्षं सर्वतो व्यावृत्तस्य बुद्धावप्रतिभासने कालादिविशेषस्य विकल्पविषयत्वम् । नहि
कालादयः प्रत्यक्षाः, तेषामविशेषे परापरभावसिद्धेः, उपाच्यन्तरकल्पनायाम् अनवस्था- 10
ऽप्रतीतिरित्यतिरेके नीलादयो न स्युः । एकत्रानेकधर्मानुपपत्तेः । समुदायस्य परस्परप-
रिग्रहाव्यवधानानुपपत्तिर्नार्थान्तरवृत्तेः, निर्व्यापारे चेतनादिविकल्पे संहृताविकल्पा-
वस्थायां सन्मात्रानिवृत्तेरिति कारकज्ञापकव्यवस्थाविलोपे क्षणिक वक्षिं (?) वादः स्यात् ।
सदसत्प्राप्तित्यागेतरविकल्पविशेषेण तदतत्प्रवृत्तिसङ्करः । विग्रमेतरविवेकस्य प्रमाणेतर-
भेदनिष्ठाता (घृता) दृशः सकलतत्त्वप्रतिष्ठापने स्वपरभेदव्यवहारपरिग्रहः । स्वलक्षणम् 15
आत्मानं यदि परैर्मिश्रयति सर्वथा परत्वम् । अनेकधर्मसम्बन्धेऽप्येकत्वहानिरनानैकत्वं
अतो [ऽ] न्वयो भावलक्षणं परिकल्पितपरार्थान्वयवत् । क्वचित् सामर्थ्यासिद्धिभेदेषु
नैरन्तर्यादिव्यतिरेके [ऽ] निष्ठा कार्यस्य सूक्ष्मस्यादर्शने न कार्यदर्शने स्थूलादिप्रतिपत्तिः ।

§ ८०. इमे नैरन्तर्येऽपि व्यावृत्तिस्वभावा भावाः शक्तिप्रतिभासादिभेदे, ते शुद्धा-
शुद्धद्रव्यपर्यायपरिग्रहविभागतोऽर्थनयाः । सर्वे सर्वेषामर्थरूपत्वे समयात् परतः स्मृतिः । 20
न वै शब्दमर्थं प्रतिपादयति । सत्यप्रतिपत्तेः स्वभावोपलम्भेऽपि समयस्मरणभावे
भावात् तदनुस्मरणेऽपि लिङ्गवत् प्रतिबन्धासिद्धिः । स्मरणहेतुरर्थोऽपि लिप्यादिवत्
वस्तुदर्शने नाम संस्काराभिव्यक्तेः क्षमाने विज्ञातेतरस्वभावे निमित्तनैमित्तिकभावेऽप्य-
विचारे वा न कश्चिद्विशेषः । सङ्केतस्मरणकरणनियमाभावे अर्थोऽर्थम् अविनामा-
विनं गमयेत् । सदसत्प्रियविवेकिनो अर्थक्रियां प्रति स्मरणेऽप्यविशेषः । प्रयत्नतो 25
विशेषेषु समयानुचितरसमितविशेषाधिगमे अतिप्रसङ्ग इत्यवाच्यता शब्दपर्यायतः तत्तत्त्वं
सदशापरदर्शने हि शब्दपर्यायोऽर्थः, स्वभावानन्वयात् श्रवणग्रहणयोग्यताव्यावृत्तिः,
यदि नार्थपर्यायः तत्स्वभावनिवृत्तिः उपलम्भविषयस्य पूर्वापरकोट्योरसम्भवः, तत्तद्-
व्यान्तरकारकधर्मो यं यं नियमेन तात्त्वादयः तादृशं सन्निघापयेयुः प्रदीपादिवत् । सर्वत्र
सर्वस्य सर्वदा व्यक्तिः सन्निधानो (ना) विशेषेण प्रतिनियतवृत्तीनां प्रकाशनियमा- 30
भावः । सर्वत्रोपादानसम्भवेऽपि कारणानां प्रत्यर्थव्यापारभेदः । तदयमर्थः अनादिर्न

श्रीमद्भद्राकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥

-शुभचन्द्रः

सेन व्यापारयति द्रव्यपर्यायनयद्वयप्रविभागे प्रमाणप्रमेयभेदेषु परस्परं प्रतिक्षेपैकान्तपरिश्रहः । स्वहेतोरेव निर्वृत्तस्य कार्यतोऽनुपकारे कारणस्य पारतन्त्र्यानुपपत्तिः, अर्थ एव ज्ञानं गमयेत् सन्निधाने तथानिर्भासनात् । संवादनिरपेक्षस्य ग्रामाण्यासिद्धेः ।

प्रत्यक्षं सर्वविज्ञानं स्वरूपस्य स्वतो गतेः ।

§ ८४. अर्थाधिगमस्य तादात्मा (तस्य) मनात्मविदोऽन्यत्र ग्रामाण्याविशेष- 5
पात् । परस्वार्थविदः तुल्यः प्रसङ्गोऽनवस्था च । स्वविषयनिर्भासाविवेकेन क्वचिद-
स्पष्टं प्रमाणसामग्रीविशेषतः प्रमाणान्तरव्यवस्था मा भूत् । विषयव्यवधानेऽपि सन्नि-
कर्षाऽविशेषः सुखादिवत् । तदतद्गृहणानं तद्विषयतानुपपत्तेः सकलनिष्क [ल] स्ववि-
कल्पितेतरस्वभावनियमः । साक्षात् सा (स्वा) कारमर्पयतः तत्प्रतिपक्षेऽतिप्रसङ्गः ।

परोक्षपरतन्त्राणां स्पष्टाकारविवेकतः ॥७६॥

10

§ ८५ यथास्वं विभ्रमविवेकविकलं तदपरिस्फुटं प्रतिसंवेदनेऽपि भेदानामवग्र-
हादेः परतो निश्चयं क्वचिदवगृहीते संशयादेरभावः समीहितेऽप्यनधिगमे निर्णयस्य
विगते वाऽवधारणाभावे न स्मृतेः इत्यकिञ्चित्कारके (का) विपर्यासपराक्रमः ।
परिणामपाटवातिशये संवादशक्तेः सदा विभ्रमेण तथाभासस्यापि कुतश्चिदकसाद्ग्राहि-
णामाकाङ्क्षाऽनिवृत्तिः ।

15

प्रक्रमार्थाविशेषेण श्रुतौ भेद [:] परिस्फुटः ।

§ ८६. क्वचिद् यथाश्रुतमवगृह्णाति, पुनः समीहमानो निर्णीतिं स्मृतिबीजमा-
घत्ते वा स्वभावोपलम्भोपयोगसंस्कारविशेषः, संहृतविषयसाद्या हि समुपलक्षितविशेष-
सङ्घट्टानेऽपि शब्दः प्रत्ययः संशयादिवत् । अभिलाषानपेक्षो मतिविकल्पः सन्निहितविष-
यावपहसमीहावायधारणासमानानुसरणसंकलनपरामर्शाभावे तन्नामविकल्पविकलतया 20
वर्णपदवाक्यानुपूर्वीवत् वर्णावयवानुसरणविकल्पे तदाख्याकल्पनायामनिष्टानुपपन्नः ।
समक्षसजातीयसम्बन्धानुसरणचिन्ताप्रकर्षेण तद्विशेषामिनिबोधः तदभिधानमपि
सन्निवेशयेत् । साक्षादनुभवात्मनः रमृत्यादेरन्यासविशेषे पाटनोपपत्तेः । दूरदूरतरा-
दिभेदेन स्वतोऽर्थं प्रति संयोगसमवायतदनुदयमनुभवस्वभावनिर्णये परापेक्षः कथमर्थं
निष्ठापयेत् । सकलनियमग्रहेऽविकलसामग्रीजन्मनां सर्वथा विषयत्वं प्रतिविम्बोदयवत् 25
तथा परिणतेरन्यथा प्रतिभाससम्भवे बुद्धेरपरत्र न कश्चिद्विरोधः ।

आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं नयच्छ्रुतः ॥७७॥

§ ८७. द्रव्यपर्यायभेदे तद्भाव उत्पादविगमप्रौढ्यविरहे वर्णव्यतिरेकवद् । उम-
यकल्पनायाम्भयदोषः, अनुभयवद् अन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणानुगमे प्रमाणप्रमेय-
व्यवहारनिवृत्तिः अनवस्था । सर्वथाऽवक्त्वान्यकल्पनायां सर्वदोषप्रसङ्गः सर्वथा वक्त्व- 30



६. नवमः प्रस्तावः ।

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इव्यते ॥८६॥

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।

§ ८६. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, तदेव प्रमाणं न शब्दादिः
अन्यत्रोपचारात् । प्रमाणमेव हि ज्ञान (नं) मत्यज्ञानादेरनाधिगतेः । चैतन्येऽपि तल्ल- 5
क्षणविशेषे बालादिवत् ज्ञानवान् न विसंवादयेत् । ज्ञानं प्रमाणं भवत्येव, व्यपेक्षातः
तद्विधिकरणादिपरापेक्ष (क्षं) परोक्षम् । आत्मनियतं प्रत्यक्षम् । परिणामविशेषाविरोधे
दोषावरणक्षयोपशमोदयवृत्तं [ः] त्रसं (स) स्थावरादिगुणप्रकर्षाप्रकर्षेऽपि स्य (१) स्यादिव-
शाद् आत्मस्वभावाऽव्यतिरेकेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपयोगसामर्थ्यविरहेऽपि गर्भाण्ड-
मूर्च्छितादिव [त्] स्वतो जीवतीति वृत्तेऽपि नार्द्रकाप्यादौ प्राणादिपरिणामविशेषेऽपि 10
चैतन्यविलक्षणतया मूर्तिमतः कार्यादिप्रवृत्तश्रोतसः कर्मणो वा सकलश्रुतभावनानां-
वरणविगलितनिखिलक्लेश्विजृम्भितकेवलज्ञानाधिगमफलस्य प्रागपि तत्त्वज्ञानात्
प्रत्यक्षादिः उपायः । स्वयमनिक्षिप्तविषयः कथञ्चिद् वितर्कयन्तो निदर्शनाद्य-
भावेऽपि क्षयोपशमविशेषापेक्षया मार्गप्रतिपत्तिनिक्षिप्तेतरवस्तुस्वभावेऽपि तद्विषयवि-
ज्ञानवत् । तदुपायाऽविशेषेऽपि अनुपयोगादिवत् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षतारतम्यम् इव्यते । 15
साक्षादुपायानाधिगमेऽपि तत्प्रतिपस्थुपायतया तत्त्वं स्वविषये सर्वस्य गुणदोषविचारेण
अतिप्रसङ्गनिवृत्तिः । नयः कपिलादेरभ्युपगमः, प्रमेयधर्मतया विरुद्धाव्याभिचारिणं
स्वभावप्रतिबन्धपरिच्छेदेन तदतिरेकव्यवच्छेदः तत्त्वाधिगमः प्रतिपत्र (त्र) मिप्रायः
तर्हि वस्तुमात्रानिरोधे किं वै सन्दिग्धादिपरिग्रहः साकल्येनेष्यते ? समानो हि तेषामर्था-
श्रयः तत्प्रतिषेधेन युक्तितोऽर्थपरिग्रहः सर्वथैकान्तव्यतिक्रमः श्र (ऋ) मभावनया 20
चिन्तामयबुद्धिः आत्मेतरत्वमनुसरति ।

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादानात्,
सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथनं किं चेतसां कारणम् ।

आ ज्ञातं सकला [गमा] र्थविषया (य) ज्ञानाविरोधं बुधाः,
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सम्मोहविच्छिन्नतये ॥८७॥छ॥ 25

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहं नाम प्रकरणां समाप्तम् ॥छ॥



ज्ञानं प्रमाणं ज्ञानमित्यपि । अकलङ्कवचो ...” [पत्रपरी० पृ० ५] “प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंन्यवहारतः” [न्यायवि० वि० पृ० ४८A.]

प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वेन लक्षणस्थानुसरणं तु निम्नग्रन्थेषु दृश्यते—प्रमाणप० पृ० ९७ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A ९६ B । तत्त्वार्थको० पृ० १८१ । प्रमाणप० पृ० ९७ ।
5 परीक्षामु० २।१ । जैनतर्कवा० पृ० ९३ । प्रमाणनि० पृ० १४ । प्रमाणनय० २।२ । प्रमाणमी० १।१३ । जैनतर्कमा० पृ० २ ।

तुलना—“साक्षात्कारित्वमेव प्रत्यक्षार्थः ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ४१०, ४३१ । मु० पृ० १३०] “मुख्यसंन्यवहारेण संवादि विशदं मतम् । ज्ञानमध्यक्षमन्दि परोक्षमिति सङ्ग्रहः ॥” [सन्नति० टी० पृ० ५९५] पङ्क० बृह० पृ० ८५ A

10 पृ० १, पं० १२. ‘मुख्यसंन्यवहारतः’—आगमिकज्ञानचर्चायाम् इन्द्रियानिन्द्रियजस्य प्रत्यक्षस्य मतिज्ञानान्तर्गतत्वात् परोक्षत्वं सुरपट्टम् । आर्थरक्षिताचार्यैः (ग्रन्थे १४४) नन्दीसूत्रकारैश्च (नन्दिसू० ३) इन्द्रियप्रत्यक्ष-नोइन्द्रियप्रत्यक्षरूपेणापि इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य निर्देशः कृतः । अतश्च आगमिकपरम्परायामेव इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य प्रत्यक्ष-परोक्षेतिविच्छेदरूपतया निर्देशात् सम्प्राप्तो विरोधः । स च जिनभद्रगणित्तमाश्रमयैः विशेषा-
15 वक्ष्यमाण्ये (गा० ९५) “इदियमणोभवं जं सं राववहारपञ्चकलं ॥” इति इन्द्रियानिन्द्रियज-मतिज्ञानं संन्यवहारप्रत्यक्षतया स्वीकृत्य परिहृतः ।

नागार्जुनप्रभृतिबौद्धाचार्यैः भाष्यमिकमतानुसारिभिः “हे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोकसंघृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥” [भाष्यमिकका० पृ० ४०२] इत्या-
20 दिवचोभिः ज्ञानक्षेत्रादिभेदोपदेशेन शून्यतायां समायातस्य विरोधस्य परिहारः तदुपदेशानां लोकसंघृतिसत्यत्वसुररीकृत्य विधीयते । एवमेव धर्मकीर्त्तिना “प्रमाण्यं व्यवहारेण” [प्रमा-
णवा० २।५] प्रज्ञाकरगुप्तेन च “तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् पूर्वं तु सांन्यवहारिकस्य” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ७६] इति व्यवहार-सांन्यवहारिकादिभिरेव शब्दैः संवेदना-
द्वैते भेदविरोधः समाधीयते । संन्यवहारशब्दोऽयं भाष्यमिककारिकायामपि (पृ० ४८९) प्रयुक्तः । वादन्यायटीकाया (पृ० १४) तत्त्वसंग्रहपत्रिकायाञ्च (पृ० ७८४) सुस्पष्टमुद्धृतम् यत्
25 “सांन्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं यदुत प्रमाणमविसंवादिज्ञानमिति ॥” इति संन्य-
वहारशब्दस्य जैनबौद्धदर्शनसाधारणत्वं संसूच्यते । जैनागमे व्यवहारनयस्यापि एतदर्थ-
कत्वमेव बोध्यम् ।

मुख्यसंन्यवहारतया प्रत्यक्षस्य द्विधा विभागः निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यः—प्रमाणप० पृ० ६८ । परीक्षामु० २।५ । प्रमाणनय० २।४ । प्रमाणमी० १।१।१५, २० । प्रमाणनि० पृ० २३ ।
90 न्यायदी० पृ० ९ । जैनतर्कमा० पृ० २ ।

पृ० १, पं० १२. ‘परोक्षं शेष’—तुलना—प्रमाणप० पृ० ९९ । परीक्षामु० ३।१ । सन्नति० टी० पृ० ५९५ । प्रमाणनय० ३।१ । प्रमाणमी० १।२।१ । जैनतर्कमा० पृ० ८ ।

पृ० १, पं० १३. ‘प्रमाणे इति’—“तत्प्रमाणे” [तत्त्वार्थसू० १।१०] इति सूत्रार्थं समन्वेष्टा ग्रन्थकृता लघीयख्यवन् न्यायविनिश्चये (का० ४६९) प्रमाणसङ्ग्रहे च (का० २)
95 इदमेवोक्तमिति ।

पृ० १, पं० १४. ‘सन्निकर्षादे’—तुलना—“ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्नि-

॥ टिप्पणानि ॥

[Notes.]

- [प्रमाणवार्तिककाल० लि० पृ० १२८] “सैयं साधकवाचकप्रमाणात्पुपत्तौ सत्यां समानधर्मो-
पलब्धिः विनश्यदवस्था विशेषस्त्या संहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् क्षणे सती संशयज्ञानस्य
हेतुरिति सिद्धम् ।” [न्यायवा० ता० टी० पृ० २४७] “न हि साधकवाचकप्रमाणाभावमवधूय
समानधर्मोदिदर्शनादेवसौ ।” [न्यायकृनु० स्त० २, पृ० ८] “यत्पुनरुक्तं धर्मक्रीतिना-साधक-
5 वाचकप्रमाणाभावात्तर्हि सन्देहोऽस्तु इति तत्राह-” [सिद्धिवि० टी० पृ० ४२१A.] “साधक-
वाचकप्रमाणाद्योर्निर्यायात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्यायादारेका स्यात् ।” [अष्टा०
अष्टसह० पृ० ४९] प्रमाणनय० १।१२ । प्रमाणमी० पृ० ५ प० ९ । “साधकवाचकप्रमाणाभावात्
सर्वज्ञे संशयोऽस्तु इत्ययुक्तम् ।” [अष्टसह० पृ० ४९] प्रमेवरत्नमा० ३।२९ ।

- पृ० २. पं० १६. ‘अक्षार्थयोगे’-तुलना-“अक्षार्थयोगाद्ब्रह्मसामग्रहणलक्ष-
10 यात् । जातं यद्ब्रह्ममेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः ।” [तत्त्वार्थको० पृ० २१९] “अक्षार्थयोगे
दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।” [प्रमाणमी० १।१२७] “अक्षार्थयोगे इत्यादि व्याचक्षाणैः
भाष्यकारैरेव ” [न्यायवि० वि० पृ० ३२ A]

- अवग्रहादीनां चतुर्णां लक्षणानि निर्युक्ति-भाष्ययोः इत्थं द्रष्टव्यानि-“ अत्याणं
उग्राहणं अवग्रहं तद् विद्यालक्षणं ईदं । षवसायं च अवायं धरणं पुण्य धारणं वेति ।” [भाव०
15 वि० भा० १७९] “सामग्र्यलक्षणग्रहणसुग्राहो भेयसग्राहणमहेह । तस्साकामोऽवाचो अविशुद्ध
धारणा तस्त ।” [विवेवा० गा० १८०]

- पृ० २. पं० २१. ‘विषयविषयि’-तुलना-“तत्र अव्यक्तं यद्यस्त्वमिन्द्रियैः
विषयप्रमाणात्सोचनावधारणमवग्रहः ।” [तत्त्वार्थवि० भा० १।१५] “विषयविषयिसन्निपात-
समग्रानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य
20 ग्रहणमवग्रहः ।” [सर्वाथि० १।१५] राजवा० १।१५। षवलाटी० सत्ररू० । प्रमाणप० पृ० ६८ ।
सन्मति० टी० पृ० ५५२ । प्रमाणनय० २।७ । न्यायदी० पृ० १० ।

इदमेव अवग्रहलक्षणं समुद्धृतं न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ३२ A.)

- पृ० २. पं० २१. ‘विषयस्तावत्’-तुलना-“विषयस्य तावत् द्रव्यपर्यायतन्मे-
थस्य विषयिण्यश्च निर्बुद्ध्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्धुपयोगस्वभावस्य च भावेन्द्रियस्य
25 विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्य अर्थग्रहणयोग्यत्वास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातः योग्यदेशा-
वस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्ताभात्रदर्शनस्वभावं दर्शनमुत्तरपरिणाम स्वविषयव्यवस्थापनवि-
कल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः ।” [सन्मति० टी० पृ० ५५३] पद्म० बृह० पृ० ८४ A. प्रमा-
णमी० पृ० २१ ।

- पृ० २. पं० २२. ‘द्रव्येन्द्रियं’-तुलना-“निर्बुद्ध्युपकरणयो द्रव्येन्द्रियम् ।”
80 [तत्त्वार्थसू० २।१७] प्रमाणमी० १।१२२ ।

पृ० २. पं० २२. ‘लब्धुपयोगौ’-तुलना-“लब्धुपयोगौ भावेन्द्रियम् ।”
[तत्त्वार्थसू० २।१८] प्रमाणमी० १।१२३ ।

- पृ० २. पं० २३. ‘अर्थग्रहणशक्ति’-तुलना-“लम्बनं लब्धिः । का पुनरसौ ?
ज्ञानावरणक्षयोपशमविरोधः ।” [सर्वाथि० २।१८] राजवा० २।१८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १११ ।
85 प्रमाणमी० पृ० १८ । “स्वार्थसंविद्योग्यतैश्च लब्धिः ।” [तत्त्वार्थको० २।१८] “आवर-
णक्षयोपशमप्रतिरुद्धा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः ।” [स्वा० रत्ना० पृ० ३४४] जैनतर्कशा० पृ० १ ।

लघीयस्त्रयस्य

टि प्य शा नि



अकलङ्कं जिनं नत्वा तात्पर्यैतिहातोलनैः ।
न्यायोऽयमाकलङ्को वै विशदीक्रियते मया ॥

पृ० १. पं० ६. 'सन्तानेषु'—सन्तानशब्दोऽयं बौद्धैः अपरामृष्टभेदेषु कार्य-
कारणभूतेषु पूर्वोत्तरक्षयेषु सम्प्रयुज्यते । स च सन्तानो न पारमार्थिकः कश्चित् मालाङ्गभूत-
मौक्तिकेषु सूत्रवत्, अपि तु "सन्तानः समुदायरच पङ्क्तिसेनादिबन्धुषा । सन्तानो नाम न 5
कश्चिदेकः परमार्थसन् सम्भवति । किं तर्हि ? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायं
ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सङ्केतः कृतो
बुद्धैः व्यवहारार्थं 'सन्तानः' इति ॥" [बोधिचर्याव० प० पृ० ३३४ । शिखासमु० पृ० ३५९ ।
तत्त्वस० पृ० ५२३] इत्यादिवचनात् व्यवहारार्थं क्रियमाणः सङ्केतरूप एवायम् । अयञ्च तत्त्वान्य-
न्यादादिविकल्पैरवाच्य एव भवस्तुत्वात् "तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामत्राच्यमथ वर्त्यते" इति 10
तत्त्वसङ्ग्रहकारवचनात् [पृ० ५१०] ।

पृ० १. पं० ८. 'सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया'—सम्प्राप्तबोधेरपि बुद्धस्य न
सद्यः निर्वाणमपि तु बुद्धत्वसंबन्धककर्मवशात् सत्त्वार्थं करुणया तिष्ठन्ति । "तिष्ठन्त्येव परा-
धीना येपां तु महती कृपा ॥" [प्रमाणवा० २।१९८] "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिवर्द्धिताः ।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येपां तु महती कृपा ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३४] इत्यादि वचनात् । 15

यथाहि—दर्शनविशुद्ध्यादिभिः भावनाविशेषैः जैनतीर्थकराः पुराकृतसंसारिणीबोद्ध-
रणाभवसायसमुपाजिततीर्थकरनामकर्मोदयं यावत् तिष्ठन्ति, देशनया च सन्तर्पयन्ति भव्य-
जीवान् तथैव—“अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जिन्य च दोषविद्विषः । जराकृतास्यु-
मद्भूमिसिद्धकुलात् समुद्धरेय भावसागराजगत् ॥” [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३२] “अनेन
चाह कुशलेन कर्मणा भवेय बुद्धो न चिरेण लोके । देशेय धर्मं जगतो हिताय मोक्षेय सत्त्वान् 20
बहुदुःखपीडितान् ॥” [अद्वयवज्रसङ्ग्रह पृ० ९] “इत्यादयामि ब्रह्मोधिचित्तं निमन्त्रयामि बहु-
सर्वसम्पन्नम् । इष्टां चरित्ये ब्रह्मोधिचारिकां बुद्धो भवेयं जगते हिताय ॥” [अद्वयवज्रसङ्ग्रह
पृ० ५] “अतीर्णान् तारयिष्यामि अमुक्तान् मोक्षयाम्यहम् । अनाथाभ्राथयिष्यामि स्थाप-
यिष्यामि निर्द्वैतौ ॥” [बुद्धवेद पृ० ८२] इत्यादिभिः जगद्बुद्धरक्षणभावनाविशेषैः बुद्धा अपि
सादरां संस्कारविशेषं समुपार्जयन्ति, येन सम्यक्सन्तोधिपरिणयस्य अपि अनन्तकल्पं करु- 25
ण्यम् तिष्ठन्ति देशनया च सन्तारयन्ति भवनिदाघपरिपीडितान् प्राणिनः ।

पृ० १. पं० १२. 'प्रत्यक्षं विशदज्ञानं'—समग्रेयं कारिका 'तदुक्तसकलबुद्धेर्देवैः'
इति कृत्वा प्रमाणपटीकाम् (पृ० ६९) अष्टसहस्रान् (पृ० १३४) समुद्धता । "प्रत्यक्षं विशदं

८४ A. "अवग्रहादीनां क्रमोपजनधर्माणं पूर्वं पूर्वं प्रमाणसुत्तरसुत्तरं फलम् ।" [प्रमाणमी० १११३९]

- पृ० ३. पं० ७. 'परमाथैकसंविते'—अत्रार्थं पूर्वपक्षः—संवेदनाद्वैतवादिनः खलु निरंशां संविद्द्वयं मन्यमानाः कल्पिते संवेद्याकारे—सारूप्ये प्रमाणव्यवस्थां संवेदकाकारे—
5 अधिगतस्वरूपे फलव्यवस्थाञ्चोररीकुर्वन्ति । तथा चोक्तम्—“स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपा-
दर्शनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥” [प्रमाणसू० १११०] । ‘अर्थसं-
रूप्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥” [न्यायवि० १११९, २०] “विषयाधिगति-
श्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं सारूप्यं योग्यतापि वा ॥” [तत्त्वस० पृ० ३५८]
- पृ० ३. पं० ७. 'क्षुण्णमङ्गादेरपि'—तत्रोत्तरम्—यतः निरंशासंवेदनं षत्तु तत एव
10 तन्निष्ठक्षणिकत्वस्यापि स्वरूपवत् प्रत्यक्षविषयतैव स्यात् इति । तत्रच यथा प्रत्यक्षगृहीतक्ष-
णिकत्वमिहाहियः अनुमानस्य प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति बौद्धाः । तथैव प्रत्यक्षगृहीतनीलाद्यर्थमिहाहियः
संज्ञत्यपरनाम्नो विकल्पस्यापि प्रामाण्यं स्वीकुर्युः । न च तेषां मते विकल्पस्य प्रमाप्रेषता 'गृही-
तग्रहणाश्रेष्ठं सावृत्तम्—दर्शनोत्तरकालं सावृत्तं विकल्पज्ञानं प्रमाणं नेष्टं दर्शनगृहीतस्यैव
ग्रहणात् तेनैव च प्रापथितुं शक्यत्वात् सावृत्तमकिञ्चित्करमेव ॥” [प्रमाणवा० मनोरथ० २५]
- 15 इत्यभिधानात् ।

पृ० ३. पं० ११. 'अर्थक्रियार्थी हि'—तुलना—'अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान्
प्रमाणमप्रमाणं वाञ्छन्वेषते ॥” [हेतुवि० लि० प्र० परि०] तत्त्वस० पं० ५० ७७८ ।

- पृ० ३ पं० ११. 'रूपादिक्षणक्षयादि'—अत्रार्थं भावः—सौगतानामिदंममिभं
यन् निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना वस्तुनः खलक्षणास्य ग्रहणं भवति । “तस्मात् दृष्टस्य
20 भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ॥” [प्रमाणवा० १४६] इति वचनात् । तत्र यद्यपि नीलं वस्तु
सर्वात्मना प्रत्यक्षेण गृहीतं तथापि यस्मिन्नशो विकल्पोत्पादकता निर्विकल्पकस्य तस्मिन्नेव
अंशो प्रामाण्यम् अथ च प्रवृत्तिजनकत्वम् । तथा चोक्तम्—“प्रत्यक्षेण गृहीतेषु विरोधैश्श-
खिवर्जिते । यहिरोषावसायोऽस्ति प्रत्ययः सः प्रतीयते ॥” [प्रमाणवा० १५९] “अविक-
ल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निश्रेयस्यवहारान्नं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥ १३०६ ॥
25 प्रत्यक्षमुत्पन्नमपि यत्रांशोऽवसायं जनयति स एवांशो व्यवहारयोग्यो गृहीत इत्याभिधीयते ।
यत्र तु भ्रान्तिनिमित्तवशात् समारोपप्रवृत्तेर्न व्यवसायं जनयितुमीशं स व्यवहारायोग्यत्वाद्
गृहीतोऽप्यगृहीतप्रत्यक्ष इति तत्र अनुमानस्य प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदाय प्रवर्तमानस्य प्रामाण्यं
भवति, न पुनः प्रत्यक्षानन्तरभावि विकल्पस्य तस्य प्रवृत्तमारोपव्यवच्छेदाभावात् ॥”
[तत्त्वस० पं० ५० ३९०] अतः नीलनिर्विकल्पकं नीलांशो व्यवसायं जनयत् तस्मिन्नेवांशो
30 प्रमाणम्, न पुनः क्षणक्षयाद्यंशो तत्र व्यवसायजनकत्वाभावात् इति पूर्वपक्षतात्पर्यम् ।

उत्तरपक्षस्यायं भावः—यदा हि नीलनिर्विकल्पके नीलांशस्य क्षणक्षयाद्यंशस्य च
स्फुटः प्रतिभासः संजातः तदा किं कारणं यत् निर्विकल्पके खण्डशः—नीलांशो प्रामाण्यं न
क्षणक्षयांशो । यदि नीलविकल्पवशात् नीलांशो प्रामाण्यं तदा सवेव विकल्पज्ञानं मुख्यरूपतया
फलं स्वीकर्तव्यम् । यदि च निर्विकल्पकात् विकल्पः संजायते तदा कुतो न अखण्डशः—नीलां-
35 शवत् क्षणक्षयाद्यंशोऽपि विकल्पोत्पत्तिः इति ?

पृ० ३. पं० १७. 'तथैकत्वम्'—तुलना—“क्रमोपलब्धिनियमात् स्यादेवमः स्वसं-
विदाम् । सुखदुःखादिभेदेऽपि सहवीक्ष्यानियामवन् ॥” [तिष्ठि० पृ० ३५९]

कर्पादि" [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३] "न वै सन्निरुपादेरज्ञानस्य प्रामाण्यस्युपपन्नं तस्या-
र्थान्तरस्यैव स्वार्थव्यवसितो साधकतमत्वानुपपत्तेः ।" [प्रमाणनय० १४]

पृ० २, पं० ३. 'तन्नाज्ञानस्य'—तुलना—'तन्नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात् ।"
[प्रमेयक० पृ० ७ B]

पृ० २, पं० ४. 'प्रत्यक्षत्वम्'—तुलना—'तस्मात् इत् स्पष्टं व्यवसायात्मकं 5
स्वार्थसन्निधानान्यव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंस्थानिरोच्यविसद्यादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम् ।"
[सिद्धिवि० पृ० ९६ A]

पृ० २, पं० ६. 'अनुमानाद्यतिरेकेण'—तुलना—'अनुमानाद्याधिक्येन विशेष-
प्रकारानं स्पष्टत्वम्" [प्रमाणनय० २।३] जैनतर्कशा० पृ० २ । "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन
विशेषवत्तया वा प्रतिभासनम् वेशद्यम् ।" [परीक्षामु० २।४] न्यायवि० वि० पृ० ४२ B. 10
'वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्" [जैनतर्कशा० वृ० पृ० ९५] प्रमाणमी० १।१।१४ । "एतदेव
रपष्टत्वं यत् सर्वाकारप्रतिभासः" [प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ० ३०६]

समुद्भूतेयम्—स्याद्वादरत्ना० पृ० ३१६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३१० B

पृ० २, पं० ८. 'तत्र सांख्यवहारिकम्'—तुलना—परीक्षामु० २।६। प्रमाणनय०
२।५। जैनतर्कशा० पृ० २। 15

पृ० २, पं० ९. 'तदस्ति सुनिश्चिता'—तुलना—'अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिता-
सम्बद्धाधिकप्रमाणात्वात् सुखादिवन्, शास्त्रप्रामाण्यात् ।" [सिद्धिवि० पृ० ४२१ B.] अष्टका०,
अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । पृष्ठ-
वृह० पृ० ५३। प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० २, पं० ९. 'यावज्ज्ञेयव्यापि'—तुलना—'ज्ञानं नो चेन्निरुपममं विशदं 20
सर्वगतं स्वनः । लोकात् वेद कुतः 'सर्वज्ञविकल्पानिर्त ॥' [सिद्धिवि० पृ० ४२३] "सर्वज्ञा-
भावसंविद्येतेरन्यथानुपपत्तितः । पुरुपातिशयः सिद्धः ।" [सिद्धिवि० पृ० ४२८] प्रमाणमी०
पृ० १४ प० १६-१७ ।

पृ० २, पं० ११. 'सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः'—कुमारिलेन सर्वज्ञनिराकरणाय
उक्तम् यत्—"प्रत्यक्षाद्यविसवादि प्रमेयत्वादि यस्य च । सद्भाववारण्ये शक्तं को तु तं कल्पयि- 25
ष्यति ॥" (मी० श्लो० पृ० ८५) तत्त्वसंग्रहपत्रिकायाम् (पृ० ८८) "अयं च वक्तृत्वाख्यो
हेतुः 'यस्य ज्ञेयप्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः' इत्यत्र आदिशब्देन आक्षिप्त एवेति 'तदत्रादि-
पदाक्षिप्ते वक्तृत्वे योऽभिमान्यते ।' इत्युक्तत्वात् अनुमीयते यत् मीमांसाश्लोकव्याख्याकारः
'प्रमेयत्वादि' इत्यत्र आदिपदेन वक्तृत्वादिकान् हेतून् समुच्चिन्वन्ति । तानेव वक्तृत्वादीन्
हेतून् ग्रन्थकारः प्रतिबन्धा सर्वज्ञाभावज्ञानस्य अशक्यत्वसाधने प्रयुञ्जति । 30

तुलना—नयचन्द्र० पृ० १२३ । "उक्तत्वादेर्दोषसंज्ञयो नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो
व्यभिचार्यतः ॥" [प्रमाणवा० १।१४४] सिद्धिवि० पृ० ४२९ ।

पृ० २, पं० १३. 'अत्रानुपपत्ताम्'—तुलना—प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० २, पं० १४. 'साधकबाधकप्रमाणा'—'साधकबाधकप्रमाणाभावात् सन्देहो
जायते' इति विचारस्य तुलना—'साधकबाधकप्रमाणाभावमात्रं चात्र सन्देहेन लक्ष्यते ।" 35

भावः क्रमेण युगपद्वा न अर्थक्रियां कर्तुं क्षमः' इति मत्तं पूर्वपक्षीकृतम् । तथाहि—“क्षणिके-
ष्वपि भाषेयु ननु चार्थक्रिया कथम् ।” “क्रमेण युगपद्वापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति
ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताभयः ॥” [तत्त्वसं० पृ० १५३]

जैनैः तेनैव हेतुना सर्वथा क्षणिके नित्ये च अर्थक्रियाकारित्वाभावं प्रसाध्य कथञ्चि-
5 जित्यानित्यात्मन्यर्थे अर्थक्रियाकारित्वं संसाध्यते । द्रष्टव्यम्—शास्त्रवा० श्लो० ४३७ ।
अब्जमह० पृ० २०२ । प्रमेयक० पृ० १४७ A न्यायकुमु० पृ० ३७९ ।

समुद्भूतेयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५२७ A. प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० ४. पं० ५. ‘अर्थक्रियासमर्थ’—“अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणात्वाद्भस्तुनः” [न्याय-
वि० १।१५] प्रमाणवा० ३।३।

10 पृ० ४. पं० ६. ‘स्वभूतिमात्रम्’—“तथा—क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः
क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥” [बोधिवर्ण० पृ० ५० ३७६]

पृ० ४. पं० ७. ‘विषयाकारस्यैव’—पूर्वपक्षः—“अत्रापि फले विषयाकारतैव प्रमा-
णम् । यदाह आचार्यः—नन्वव्यतिरेकाद् ग्राहकाकारोपि कस्मान् प्रमाणम् ? अत्रोच्यते—
तद्वार्थाभासतैवास्य प्रमाणं न तु सन्नपि । ग्राहकात्माऽपराथत्वाद्ब्रह्मैश्वर्येष्वपेक्ष्यते ॥”

15 [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ७०]

इति प्रमाणप्रवेशे द्वितीयः परिच्छेदः ॥



पृ० ४. पं० २३. ‘ज्ञानमाद्यं’—अस्यां कारिकायां ग्रन्थकारः मतिस्सृतिसंज्ञेत्यादि
सूत्रे [तत्त्वार्थसू० १। १३] अनर्थान्तरत्वेनोक्तानां मत्यादीनाम् अदस्थाविशेषात्तस्या मतित्वं
श्रुतत्वञ्च निरूपयति ।

20 अत्र व्याख्यामेदः—प्रमाणद्वाराः “किं यत् नामयोजनात् जायतेऽविशदं ज्ञानं तदेव
श्रुतमुतान्यदपि ? इत्याह—प्राङ्नामयोजनात् । नाम्नः अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते
यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजनाजनितार्थास्पष्टज्ञानसाधन्यान् इत्यभिप्रायः । ‘चिन्ता च
इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रमः ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नाम-
योजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते तदपि
25 श्रुतमिति संगृहीतं भवति ॥” [न्यायकुमु० लि० पृ० २२२ B.] इत्यादिसन्दर्भेण स्थूल्यादिविज्ञा-
नान्युभयथा शब्दयोजनात् प्राक् अनन्तरञ्च श्रुतेऽन्तर्भावयन्ति । कारिकायामायातस्य
आद्यशब्दस्य कारणार्थकताञ्च सूचयन्ति ।

विद्यानन्दास्तु—शब्दयोजनात् प्राक् मतिज्ञानादाद्यादामिनिबोधिकपर्यन्तज्ञानानां मतित्वं
शब्दानुयोजनाच्च तेषामेव श्रुतत्वं स्वीकुर्वन्ति । तथाहि—“अत्र अकलंकदेवाः प्राहुः—ज्ञानमाद्यं
30 स्सृतिः संधा... तत्रेदं विचार्यते—मतिज्ञानादाद्यादामिनिबोधिकपर्यान्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानु-
योजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? (पृ० २३९) इत्युक्ता मतिः
प्राङ्नामयोजनात् । शब्दानुयोजनादेव श्रुतमेव न न वाच्यते” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४१]

सन्मतिटीकाकारस्तु विद्यानन्दाभिमतव्याख्यानामेव प्रतीयन्ति, तथाहि—“अत्र च यत्
शब्दसंयोजनात् प्राक् स्थूल्यादिकमभिसंवादिष्यबह्वारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोज-
35 नात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ॥” [सन्मति० टी० पृ० ५५३] यद्द० बृह० पृ० ८४ B.

पृ० २. पं० २३. 'उपयोगः पुनः—तुलना—“उपयोगः प्रथिवानम् ।” [तत्त्वा-
र्थाधि० भा० ११९] “तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः ।” [सर्वाधि० २।१८] राजवा०
२।२८ । तत्त्वार्थश्लो० २।१८ । तत्त्वार्थशा० पृ० १११ । प्रमाणमी० पृ० १८ । जैनतर्कभा० पृ० १ ।
“उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः ।” [स्या० रत्ना० पृ० ३४४]

पृ० २. पं० २५. 'पुनरग्रहीत'—“अवग्रहीतेऽर्थे विपर्ययैकदेशाच्छेषानुगमनं ५
निश्चयविशेषनिहासा चेष्टा ईहा ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० ११५] “अवग्रहणग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषा-
काहञ्जयमीहा ।” [सर्वाधि० १।१५] राजवा० १।१५ । बबला टी० सत्प्रक० । तत्त्वार्थश्लो० पृ०
२२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।८ । पद्द० बृह० पृ० ८४A.
प्रमाणमी० १।१२७ । न्यायटी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'तथैहितविशेष'—“अवग्रहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदो- 10
षाविचारणाध्यवसायापनोदोपायः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० ११५] “विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्मन्या-
वगमनमवायः ।” [सर्वाधि० १।१५] राजवा० १।१५ । बबलाटी० सत्प्रक० । तत्त्वार्थश्लो० पृ०
२२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।९ । पद्द० बृह० पृ० ८४A.
प्रमाणमी० १।१२८ । न्यायटी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'कथञ्चिदभेदेऽपि'—तुलना—सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमा- 15
णमी० पृ० २२ । पद्द० बृह० पृ० ८४A. “कथञ्चिदभेदेपि परिणामविशेषादेपां व्यपदेशमेदः ।”
[प्रमाणनय० २।१२]

पृ० २. पं० २८. 'धारणा'—“धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च
धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम् ।” [तत्त्वा-
र्थाधि० भा० ११५] “अथैतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा” [सर्वाधि० १।१५] 20
राजवा० १।१५ । बबलाटी० सत्प्रक० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय०
२।१० । प्रमाणमी० १।१२९ । पद्द० बृह० पृ० ८४A न्यायटी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।
“महोदये च कालान्धराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम् अनन्तवीर्योऽपि तथा
निर्णयितस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति ।” [स्या० रत्ना० पृ० ३४९]

पृ० ३. पं० १. 'ईहाधारणयोरपि'—तुलना—“अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह
तस्य वा । ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२१] विशेष० 25
शा० १८२ । प्रमाणमी० पृ० २१ पं० २५, पृ० २२ पं० ५, पृ० ३० पं० २३ ।

पृ० ३. पं० ५. 'बह्वाद्यवग्रहा'—तुलना—“बहुबहुविधकिमानिस्तानुक्तब्रुवाणां
सेतराणाम्” [तत्त्वार्थश्लो० १।१६] “अवग्रहाद्यवग्रहत्वात् मतिज्ञानविभागा एषां बह्वादीनामर्थानां
सेतराणां भवत्येकशः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१६] बबलाटी० सत्प्रक० । 80

पृ० ३. पं० ६. 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं'—तुलना—“पूर्वपूर्व प्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति
क्रमः ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ४] “तथा पूर्व पूर्व प्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति” [न्या-
यवि० टी० टि० पृ० ४०] “साम्प्रतं पूर्व पूर्व प्रमाणं स्यात् फलं स्यादुत्तरोत्तरम् इत्यभिस-
मीक्ष्य” [सिद्धि० टी० पृ० १८४A] “केचिदाहुः— पूर्व ज्ञानं प्रमाणमुत्तरं ज्ञानं प्रमा-
णफलमिति ।” [तर्कभा० मो० पृ० ११] सन्मति० टी० पृ० ५५३ पं० ६ । पद्द० बृह० पृ० 85

तुलना—“साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।” [न्यायकुरु० ३।९] “सादर्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ।” [जनतर्कभा० पृ० ७६]

समुद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । रत्नाकाराव० ३।४ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

5 पृ० ७, पं० २३. ‘इदमल्पं’—तुलना—“एकविषाखी खड्गः सप्तपर्यायं विषमच्छदः इत्याहितसस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शानामभिज्ञानं किञ्चाम प्रमाणं स्यात् । तथा स्त्र्यादिलक्षणाश्रवणात् तथादर्शिनः समभिज्ञानम्, संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात्, पर्यतां च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणात्तरम् ।” [सिद्धिवि० पृ० १५० B.] परोक्षामु० ३।५-१० । प्रमाणनय० ३।५, ६ । प्रमाणमी० १।२।४ ।

10 उद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

पृ० ७, पं० २६. ‘अर्थापत्तिः’—“अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना । यथा जीवति देवदत्ते गृह्णामावदर्शनेन बहिर्भावंस्यादृष्टस्य कल्पना ।” [शाबरभा० १।१।५] मी० श्लो० अर्था० श्लो० १ ।

पृ० ८, पं० १. ‘परोक्षेऽन्तर्भावात्’—तुलना—“अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवा-
15 भावान्यपि च प्रमाणातीति केचित् मन्यन्ते तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—सर्वाद्येतानि मति-
श्रुतयोऽन्तर्भावानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् ।” [तत्त्वार्थवि० भा० १।१२] “उपमानार्था-
पत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्” [सर्वार्थसि० १।११] “अर्थापत्त्यादेरनुमानन्यतिरेकेऽपि परोक्षेऽन्तर्भावात् ।” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१]

इति प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परिच्छेदः ॥



20 पृ० ८, पं० ६. ‘यद्यथैवाविसंवादि’—तुलना—“यथा यत्र विशदं तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणाता । (पृ० ६५ B.) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।” [सिद्धिवि० पृ० ८६ A.] “यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणाता ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ B. “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणातेत्यकलंकेदेवैरप्युक्तत्वात् ।” [अष्टसह० पृ० १६३] “यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा
25 मतम् । विसंवाद्यप्रमाणं च तदव्यक्तपरोक्षयोः ॥” [सम्मति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८, पं० १०. ‘तिमिराद्युपसृत्व’—तुलना—“थेनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुक्तेतस्या, प्रसिद्धा-
नुपहृतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कविषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूतकारावभासनात्, तथापहृताच्चादेरपि संख्यादिविसंवादेश्चि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भनात् । तत्प्रकर्षोपेक्षया न्यपदेशान्यवस्था गन्ध-
30 द्रव्यादिवत् ।” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७] “अनुपप्लुतदृष्टीना चन्द्रादिपरिवेदनम् । तत्संख्याविषु संवादि न प्रत्यासन्नताविषु ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] “तिमिराद्युपसृत्वज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात् प्रमाणं तत्संख्यादौ तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणातरव्यवस्था-
यास्तल्लक्षणत्वात् । यतो ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र न प्रमाणात्मेव समारोपव्यवच्छेदापेक्षत्वात् । अन्यथा दृष्टे प्रमाणात्तरवृत्तिर्न स्यात् कृतस्य करणायोगात् तदेकान्तदानेः कथञ्चित्करणा-

पृ० ३. पं० १८. 'प्रमाणफलयोः'—'इत्युक्तं लघीयलक्ष्ये प्रमाणफलयोः क्रम-
भावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम् ॥' [सिद्धिदि० टी० पृ० १९ B.]

इति प्रमाणप्रवेशे प्रथमः परिच्छेदः ॥



पृ० ३. पं० २३. 'तद्द्रव्यपर्याया'—तुलना—'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्'
[नित्यवृक्षा० श्लो० ४७] "अनेकान्तात्मकं वस्तु गौचरः सर्वसंविदाम्" [न्यायवा० श्लो० २९] 5
परीक्षामु० ४१। प्रमाणनय० ५१। प्रमाणनी० ११। ३०। "द्रव्यपर्यायात्मार्यैः इत्येकलक्ष्णद्वेषर-
मिधानात्" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२४]

पृ० ३. पं० २४. 'स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा'—'तत्र यदर्थक्रियामभयं
तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति । सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम् ।" [प्रमाणसमु० टी० पृ० ६]
"यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत्स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत् ॥" 10
[न्यायवि० ११३, १४] "स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् ।" [न्यायवि० टी० पृ० २२]
"अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् । अन्यत्संयुक्तिमत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणम् ॥"
[प्रमाणवा० ३।३] "अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ॥" [न्यायवि० ११६,
१७] "...सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्, साधारणं रूपमित्यर्थः ॥" [न्यायवि० टी०
पृ० २४] "यदाह—न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपर प्रमेयमस्ति, स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं 15
सामान्यविषयमनुमानमिति । यदा साक्षाज्ज्ञानजननं प्रति शक्त्येन प्रतीयते तदाऽस्तीं स्वेन
रूपेण लक्ष्यमाणात्त्वात् स्वलक्षणम् । यदा तु पारम्पर्येण शक्तता तस्यैव प्रतीयते तदा सामा-
न्यरूपेण लक्षणमिति सामान्यलक्षणम् ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २७३]

तुलना—'न हि धहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभानदे यथैकान्त-
वादिभिरान्नायते ।" [अष्टाद०, अष्टसह० पृ० १७५] 20

पृ० ४. पं० ३. 'अर्थक्रिया'—सौगतैः नित्यपक्षस्य असत्त्वसिद्धयर्थं 'क्रमयौगप-
द्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्' इति हेतुः प्रयुज्यते । तथाहि—'यदि न सर्वं सत् कृतकं वा
प्रतिक्षणविनाशि स्यात्क्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्ष-
णमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।" [वादन्याय पृ० ७] 'क्रमयौगपद्याभ्यामित्यादि—नेव प्रत्यक्षतः
कार्यविरहाद्वा शक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते किन्तु तद्व्यापकविरहान्, तथाहि—क्रमयोग- 25
पद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिऽन्यापकयोः तयोरक्ष-
णिकत्वे विरोधात्निवृत्तेः तद्व्याप्यायाः क्रियाशक्तेरपि निवृत्तिः इति सर्वशक्तिविरहलक्षणमस-
त्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति विरुद्धयोरैकत्रायांगान् । ततो निवृत्तं सत्त्वं कार्यक्रे-
त्वेव अवतिष्ठमानं तदात्मसामनुभवति इति यत् सत् तत् क्षणिकमेव ।" [हेतुवि० टी० लि०
पृ० १४२ B.] 'क्रमेण युगपद्यापि यस्मादर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति स्थिरा भावाः निःस- 30
त्त्वास्ते ततो मताः ॥" [तत्त्वस० पृ० १४३] क्षणभगमि० पृ० २० । इत्यादि ।

नित्यवस्तुवादिभिः अनेनैव हेतुना क्षणिकेऽर्थक्रियाऽभावः प्रतिबन्धा प्रमाथ्यते ।
तथाहि—'क्षणिकस्यापि भावस्य सत्त्वं नान्येव सोऽपि हि । क्रमेण युगपद्वापि न कार्यकरणे
क्षमः ॥" [न्यायव० पृ० ४५३] न्यायवा० ता० टी० पृ० ५५८ । सिद्धिदि० न्यायव० पृ० १३० ।

तत्त्वसमूहे 'क्षणिकेऽपि इत्यादिना भदन्तयोगमेतन्मनाशं कृते' इत्युक्त्या 'क्षणिकेऽपि 35
१८

- शब्दाद्बुद्धरिताद्विबक्षितार्थप्रतिभासी विकल्पोऽनुमीयत इत्यर्थः ॥ [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ४]
 “यद्यथा वाचकत्वेन वक्तुमिर्षिनियन्थते । अनपेक्षितवाङ्मार्थं तत्तथा वाचकं मतम् ॥” [प्रमाण-
 वा० १।६७] “परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना । न स्यात्प्रवृत्तिरथेषु समयान्तरभेदेषु ॥
 अतोताजातयोर्विपि न च स्यादनुताथैता । वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता ॥”
 5 [प्रमाणवा० १।२०९-२०] “विषयापरतन्त्रत्वात् शब्दाः सन्ति कुत्र वा । तद्भावादर्थसिद्धौ तु
 सर्वं सर्वस्य सिद्धयति ॥” [प्रमाणवा० २।१६] “यथोक्तम्-वक्त्रभिप्रार्थं सूचयेयुः शब्दाः ॥”
 [तर्कना० मो० पृ० ४]

इति प्रमाणप्रवेशः प्रथमः ॥



- पृ० १०, पं० २३. ‘भेदाभेदात्मके’-“तथा चाहाकलङ्क-भेदाभेदा-यतोऽपेक्षा-
 10 नपेक्षाभ्यां” [भाव० नि० मलय० पृ० ३७० B.] गुष्ठतत्त्ववि० पृ० १६ B.
 पृ० १०, पं० २४. ‘अपेक्षाऽनपेक्षा’-“निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः
 सापेक्षत्वमुपेक्षा ॥” [अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २९०]
 पृ० १, पं० २४. ‘नयदुर्नयाः’-“निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत ॥”
 [आप्तमी० श्लो० १०८] “तन्मा सन्ने वि शया मिच्छादिद्वी सपक्षपडिबद्धा । अपरयोयणणि-
 15 स्तिष्वा उण हर्षति सम्भक्तसम्भावा ॥” [सन्निहि० १।२१] “नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा
 लोकेतोऽपि सिद्धाः ॥” [सिद्धिवि० पृ० ५३७ B.] “तथा योक्तम्-अर्थस्यानेकरूपस्य धीः
 प्रमाणं तदंशवीः । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तनिराकृतिः ॥” [अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २९०]
 “धर्मान्तरादापेक्षाहानिलक्षयत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाण्यात्तद-
 तत्वभावप्रतिपत्तेः तदातिपत्तेः तदन्यनिराकृतेऽपि ॥” [अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २९०] “सदेव
 20 सत् स्यात्सदिति त्रिधाधो भीयेत दुर्नोतिनयप्रमाणैः ॥” [मन्वयोगव्य० श्लो० २८]
 पृ० १०, पं० २५. ‘उत्पादव्यय’-“उप्यले वा विगए वा भुवे वा” [स्यानाग०
 स्या० १०] “सदृशं वा” [व्या० प्र० श० ८ उ० ९ सत्यद्वार] “सदृशव्यलक्षणात्, वत्पादव्य-
 यधौव्ययुक्तं सत्” [तत्त्वार्थसू० ५।२९, ३०] “दृशं पञ्जयविश्वं दृशविजता य पञ्जवा यातिथ ।
 उपायद्विद्विभंगा हंदि द्विवियलक्षणं एयं ॥” [सन्निहि० गा० १।१२] “नोत्पादस्थितिर्भंगाना-
 25 मभावे स्यान्मतित्रयम् ॥” [मी० श्लो० पृ० ६१९] “उत्पादस्थितिर्भंगानां स्वभावाद्दनुबन्धिता ।
 तद्धेतूनामसामर्थ्यात् अतस्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० १९७]
 पृ० १०, पं० २५. ‘द्रव्यपर्याया’-“द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कर्षं ह्ययेतौ
 एवं हि दृश्यते लोके मृतं कयाचिद् आकृत्या युक्तः पिण्डो भवति । पिण्डाकृतिमुपमृष्य घटिकाः
 क्तिन्ने । घटिकाकृतिमुपमृष्य कुडिहकाः क्रियन्ते । यथा सुवर्षं कयाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो
 30 भवति । पिण्डाकृतिमुपमृष्य रुचकाः क्रियन्ते । रुचकाकृतिमुपमृष्य कटकाः क्रियन्ते । कटकाकृ-
 तिमुपमृष्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते पुनरावृत्तः सुवर्षं पिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः कदिराह्व-
 रसहस्रो कुण्डले भवतः । आकृतिरन्या चान्धा च अथवि द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन
 द्रव्यमेवावशिष्यते ॥” [मत्त० महाभा० १।१११] योग्या० ३।१३
 पृ० १०, पं० २६ ‘नयो’-“नयाः कारकाः साधका चिर्वर्तक निर्भावका उप-
 35 सम्भका उवञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राणुबन्ति कारकन्ति साध-
 कन्ति निर्वावन्ति निर्वावन्ति उपलम्भयन्ति व्यवहृन्तीति नयाः ॥” [तत्त्वार्थवि० भा०
 १।३६] “सर्वार्थेषु साधकस्य साधकान्तरविशेषतः । स्याद्द्रव्यविभक्त्यर्थकिरोक्तव्यञ्जके नयः ॥”

पृ० ५. पं० १. 'अविसंवादस्मृतेः'—तुलना—'धारणारूपा च मतिः अविसंवाद-
स्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम् ।' [सन्मति० टी० पृ० ५५३] पद्व० वृह० पृ० ८४ A.

पृ० ५. पं० २. 'प्राक्शब्द'—तुलना—'मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न
भवन्तीत्येकान्तो न, तदेकान्ते पुन. न कश्चित् रयुः तन्नामस्मृतेरयां गात् अनवस्थानादेः ।'
[सिद्धिबि० पृ० १०० A.] " प्राक्शब्दयोजनान् मतिज्ञानमेतत् शेषमनेकप्रमेदं शब्दयोजनानु- 5
पनायमानमविशद ज्ञानं श्रुतम् इति केचित् ।' [सन्मति० टी० पृ० ५५३] पद्व० वृह० पृ० ८४ A.

पृ० ५. पं० १०. 'नहि प्रत्यक्ष'—तुलना—'नहि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं
प्रत्यक्षं कश्चित् कदाचिद्भ्रुवितुमर्हति सन्निहितविषयबलतोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।' [सिद्धिबि० पृ०
१५६] अष्टम०, अष्टसह० पृ० ११९। "यथाहुः—न हीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितवि- 10
षयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।" [शां० भा० भावती पृ० ७६६] न्यायवा० ता० टी० पृ० १३७ ।

पृ० ५. पं० ११. 'तन्नामप्रत्यक्षम्'—उद्धृतमिदम्—प्रमाणस० पृ० १०१ ।

पृ० ५. पं० १२. 'प्रमाणान्तरत्वात्'—तुलना—'सन्निकृष्टप्रकृतयोः साकल्ये-
नेदन्तया नेदन्तया वा न्यवस्थापयितुकामस्य तर्कः परं शरणम् ।' [सिद्धिबि० पृ० २९३ A.]

पृ० ५. पं० १६. 'तादात्म्यतदुत्पत्तौ'—श्रौद्ध हि तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव
अविनाभावनियमं वर्णयन्ति; तथाहि—'स च अतवन्धः साध्येर्थे क्षिणस्य वस्तुतस्वादात्म्या- 15
त्साध्यादर्थाद्दुत्पत्तेरच ।' [न्यायबि० पृ० ४१] "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियमकात् ।
अविनाभावनियमः...' ।' [प्रमाणवा० १३२]

पृ० ५. पं० २०. 'चन्द्रादेः'—तुलना—'चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथा-
विधः । छायादिपावपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ।' [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१]

पृ० ५. पं० २३. 'भविष्यत्प्रतिपद्येत'—तुलना—'कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्या- 20
सत्तिकलुप्तिवत् ।' [मी० श्लो० पृ० ३५१] प्रथ० व्यो० पृ० ५७१ । " प्रतिबन्धपरिसख्यायाम्
उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम् ?" [सिद्धिबि० पृ० ३१७ B] प्रमाणप० पृ० ७१।
परोक्षाम्० ३६३ । प्रमाणनय० ३१८ । प्रमाणपरी० पृ० ४१ । जैनतर्कभा० पृ० १६ ।

पृ० ६. पं० ५. 'अदृश्यानुपल'—'विप्रकृतविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृ-
त्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावात्सिद्धेः ।' [न्यायबि० पृ० ५९] वादन्याय 25
पृ० १८ । " अनुपलब्धिलक्षणाप्रमाणुपलब्धेः संशयहेतुतया अगमकत्वादिति भावः ।'
[वादन्यायटी० पृ० १९]

तुलना—अष्टम०, अष्टसह० पृ० ५२ ।

पृ० ६. पं० २०. 'प्रत्यक्षानुपलम्भ'—'प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।'
[हेतुबि० टी० शि० पृ० ७३] 30

पृ० ६. पं० २८. 'सर्वविज्ञानानां'—अत्रार्थं पूर्वपक्षः—'सर्वचित्तचित्तानामात्मसंके-
दनम् । चित्तमर्थमात्रादि । चैत्ता विरोपावस्थाग्राहिणः सुखावयः ।... नास्ति सा क्वचि-
चित्तावस्था यस्यामात्मनः सविदनं प्रत्यक्षं न स्यात् ।' [न्यायबि० पृ० १९]

पृ० ७. पं० ६. 'उपमानं'—पूर्वपक्षः—'प्रसिद्धार्थसाधन्यात् साध्यसाधनस्युपमानम् ।'
[न्यायबि० १११६] 35

- पृ० ११. पं० १. 'द्रवति'—“तुलना-द्विविधि गच्छति ताहं ताहं सम्भावपञ्ज-
याहं जं । दवियं त भरणति अणुणुमूदं तु सत्तादो ।” [पचास्ति० गा० ९] “यथात्वं पर्या-
यैद्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि ।” [सर्वाथि० ५२] “द्रवति द्रोष्यति तुद्रवैति (अतुद्रवत)
द्रुः द्रोर्विकारोऽव्ययो वा द्रव्यम् ।” [नयचक्र० पृ० ९ B.] “द्रोर्विकारो द्रव्यम्, द्रोरेव्ययो
5 वा द्रव्यम्, द्रव्यं च भव्ये भवतीति भव्यम् द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रव्यते वा, द्रवणात् गुणानां
गुणसन्नावो द्रव्यम् ।” [नयचक्र० पृ० ४४ B] “द्विए द्रुयए द्रोरेव्ययो विगारो गुणाण्य
संदावो । दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोग्गं ।” [विरोपा० गा० २८] “अथवा यस्य
गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् । किं पुनस्तत्त्वम् ? तद्भावस्तत्त्वम् ।
तद्यथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति आमलकं बदरमि-
10 त्येव भवति । अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्नावो द्रव्यमिति ।” [पात० महागा०, ५११११]

- पृ० ११. पं० १. 'द्रव्यार्थिक'—“द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः ।”
[सर्वाथि० ११६] “पञ्चवर्णिसामण्यां वययां दव्वद्वियस्स अत्थित्ति । अवेसेसो वययाविही
पञ्चवमयया सपड्विक्खो ।” [सन्तति० गा० ११७] “द्रव्येणार्थः द्रव्यार्थः, द्रव्यमर्थो यस्तेति
वा, अथवा द्रव्यार्थिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽर्थं द्रव्यार्थः ।” [नयचक्र० पृ० ४ B.]
15 धवलाटी० सत्र० ।

- पृ० ११. पं० १०. 'संग्रह'—“संगहिय पिडिअत्थं संगहवययां समासओ त्ति ।”
[अनुयोग० ४ द्वा०] आ० नि० गा० ७५६ । विरोपा० गा० २६९९ । “अर्थानां सर्वैकदेशसं-
ग्रहणं संग्रहः ।” “आह्व-यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विरोषे । तत्संग्रहनयनियतं
ज्ञानं विद्याल्लयविधिः ॥” [तत्त्वार्थाधि० भा० १३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १३५ ।
20 “स्वजात्यविरोधेनैक्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविरोषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः ।”
[सर्वाथि० १३३] राजवा० १३३ । “विधिष्ठतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्धिमात्रमेव तत्त्व-
मित्यध्यवसायः समनस्य (मस्तस्य) ग्रहणात् संग्रहः । द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद्
द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः ।” [धवलाटी० सत्र०] “शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति
सन्मात्रं संग्रहः परः । स चारोषविरोषेषु सद्दौदासीन्यमागिह ॥” [तत्त्वार्थको० पृ० ७०]
25 नयविव० द्वा० ६७५ प्रमेयक० पृ० २०५ B “शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः ।” [सन्तति०
टी० पृ० २७२] नयचक्र गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७१३ । स्वा० न० पृ०
३११ । जैनतर्कमा० पृ० २२ ।

- पृ० ११. पं० १२. 'सर्वमेक'—तुलना—“यथा सर्वमेकं सदविरोषात् ।” [तत्त्वार्थाधि०
गा० १३५] “अह्व महासामान्नं संगहियं पिडित्यथमियरं ति । सब्वविसानन्नं सामन्नं
80 सब्वहा भणियं ॥” [विरोपा० गा० २७०१] “विश्वमेकं सदविरोषात् इति यथा ।”
[प्रमाणनय० ७१६]

- पृ० १२. पं० ७. 'न च क्षणिकानाम्'—तुलना—“कार्यकारणता नास्ति बहिरन्तः
सन्ततिः कुतः । निरन्वयात् कुतस्तेषां सारूप्यमित्यर्थवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं
स्यात् क्षणिकमक्रमं जगत् निःसन्तानि स्यात् । तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः कारणानन्त-
रोत्पत्तिनियमः ? सदेव कारणं स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसङ्ग जनयेत् । स्वरसत एव कार्योत्पत्ति-
85 कालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् । नैरन्तर्यमात्रात्, प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविरोषे
कुतः प्रभवनियमः । द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते स्वहेतोः परप्रत्ययतायाम् ।”
[सिद्धिनि० पृ० ३६३-६४]

निष्टेः, तदस्य विसंवाद्योष्यवस्तुनिर्भासान् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासाद् विसंवाद्योष्पीत्येकस्यैव ज्ञानस्य यत्राविसंवादेः तत्र प्रमाणता इतरत्र तदामासतेति ॥ [सन्नति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८. पं० १८. 'सर्वतः संहृत्य'—धर्मकारिणा उक्तं यत्-शान्तचेतस्करतया चञ्चुषा यत् रूपदर्शनं भवति तत्रिर्विकल्पकम् । तस्मिंश्च रूपस्वलक्षणं क्षणिकपरमात्मात्मकं प्रति-भाति । तथाहि—“संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चञ्चुषा रूपमीक्षते साऽ- 5
क्ष्ण्ण मतिः ॥” [प्रमाणवा० ३।१२४] ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्—यत् तदवस्थायामपि सविक-ल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थप्राप्त्यनुभूयते ।

तुलना—“संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चञ्चुषा रूपं त्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥” [तत्त्वार्थको० पृ० १८६]

पृ० ८. पं० १९. 'न पुनरसाधारणैकान्तम्'—तुलना—“नहि जातुचिच्चसहाय- 10
माकारं परयामो यथा व्यावर्त्यते तथैवानिर्णयान् । नानावचवरूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सन्प्र-
तिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ॥” [सिद्धिबि० पृ० ३६ B]

पृ० ८. पं० २०. 'प्रतिसंहारः'—“प्रतिसंहारः पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः” [न्यायकुमु०
लि० पृ० २७० A.]

पृ० ९. पं० १. 'प्रतिसंविदितो'—तुलना—“नहि संविद्येः बहुबहुविधप्रभृत्या- 15
कृतयः स्वयमसंविदिता एव उच्यन्ते अत्यन्ते वा यतः सत्योऽपि अनुपलक्षिताः स्युः
कल्पनावत् ॥” [सिद्धिबि० टी० पृ० ९८ B.]

पृ० ९. पं० ३. 'सदृशापरापरो'—“तां पुनरनित्यता पर्यन्तपि मन्दबुद्धिः नाव्य-
वस्यति, सचोपलम्भेन सर्वथा तद्भाष्यशक्तिप्रलम्बः सदृशापरोत्पत्तिप्रलम्बो वा” ॥
[प्रमाणवातिकाल० लि० पृ० २३७] 20

पृ० ९. पं० २१. 'अभ्रान्त'—अभ्रान्तं विशेषणं बौद्धापेक्षया “कल्पनापोढम-
भ्रान्तं प्रत्यक्षम् ॥” [न्यायबि० १।४] इत्यभिधानात् । अव्यभिचारीति विशेषणं नैयायिका-
पेक्षया श्लेषम् “द्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥”
[न्यायसू० १।१।४] इत्युक्तत्वात् ।

पृ० ९. पं० २३. 'नहि दृष्टेऽनुपप'—तुलना—“समावेऽप्युच्यतेः सिद्धे परेः 25
परैस्तुमुच्यते । तत्रोत्तरमिदं वाक्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥” [प्रमाणवातिकाल० लि० पृ० ६८]

पृ० ९. पं० २४. 'वक्त्रमिप्रायेऽपि'—तुलना—“विवक्षाप्रभवं वाक्यं स्वार्थे न प्रति-
ष्यते, यतः कथं तत्सूचितेन लिंगेन तत्त्वव्यवस्थितिः । वक्त्रमिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयन्तीति
अविशेषेणाक्षिपन् न पास्यर्थेणापि तत्त्वं प्रतिपद्यत । नच वक्त्रमिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति
श्रुतिद्वयदेः अन्यतएव प्रसिद्धेः । ॥” [सिद्धिबि० पृ० २६४] 30

पृ० ९. पं० २६. 'सत्येतरव्यवस्था का'—तुलना—“वाक्यानामविशेषेण वक्त्र-
मिप्रेतवाचिनाम् । सत्यानृतव्यवस्था न तत्त्वमिध्यार्थदर्शनात् ॥ मिध्यादर्शनज्ञानात् मिध्या
यत्वं गिरां मतम् । ॥” [सिद्धिबि० पृ० ५०२]

पृ० १०. पं० ३. 'वक्त्रमिप्रेतं'—“वक्त्रव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ वक्त्रव्यापारो विवक्षा तस्य विषयो योऽर्थः 35
समारोपितवद्भीरूपो ज्ञानाकारः प्रकाशते बुद्धौ विवक्षात्मिकायां तत्र शब्दस्य प्रामाण्यं लिङ्गत्वम्

बद्धतेर्च कारिका-सूत्रकृतागती० पृ० २२७ A. ।

- पृ० १४. पं० ६. 'गुणानां परमं'-कारिकेयं निम्नग्रन्थेषु समुद्धतास्ति-"तथा च शास्त्रानुशासनम्-गुणानां...।" [योगभा० ४१३] "षष्ठितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः-गुणानां...।" [योगभा० तत्त्ववै० ४१३] योग० भास्वती, पात० २६० ४१३। "भगवान् चार्धवाप्यः-गुणानां ।" 5 [शा०भा० भावती पृ० ३५२] नयचक्रवृ० पृ० ४३ A. तत्त्वोपप्लव० पृ० ८० । "गुणानां सुमहद्वृत्तम्..." [प्रमाणवार्तिकाल परि० ४ पृ० ३३] अष्टसह० पृ० १४४ । सिद्धिदि० टी० पृ० ७४ B.

- पृ० १४. पं० ११. 'समवायेन'-"पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दाश्चेमे स्वयंकृताः । शृङ्गं गवीति लोके स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् ॥" [प्रमाणवा० १३५०] "वृत्ते शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका भविः । शिलाख्यपरिशिष्टांगनैरन्तर्योपलम्बनात् ॥ तौ पुनस्तस्मिन्निश्चिन्नं लोकातिक्रान्तमुच्यते ।" [तत्त्वस० पृ० २६७] 10

- पृ० १४. पं० १७. 'नयः'-"वचद् विपिच्छिन्नत्वं चवहारो सबद्धवेसु ।" [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५६ । विशेषा० गा० २७०८ । "लौकिकसम उपचार-प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" आह च-लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १३३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १३३५ । "संप्रह्नयाचित्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहारणं व्यवहारः" [सर्वार्थसि० १३३३] राजवा० १३३ । घबलाटी० सत्ररू० । 15 तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविव० श्लो० ७४ । प्रमेयक० पृ० २०५ B. सन्मति० टी० पृ० ३१० । नयचक्र गा० ३५ । तत्त्वार्थसारपृ० १०७ । प्रमाणनय० ७३३ । स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्क-भा० पृ० २२ ।

- पृ० १४. पं० १७. 'दुर्नयः'-"कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक् । प्रमाण- 20 वाधितोऽन्यस्तु तदामासोऽवसीयताम् ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७६ । प्रमेयक० पृ० २०५ B. न्यायावता० टी० पृ० ८६ । प्रमाणनय० ७३२५, २६ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

- पृ० १४. पं० २८. 'ऋजुसूत्र'-"पञ्चुपपन्नगाही ऋजुसूत्रो गणयविही सुयोशब्दो ।" [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५७ । विशेषा० गा० २७१८ । "सतां साम्प्रतानामर्थानाम- 25 मिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः" आह च-साम्प्रतविषयमाहकृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १३३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १३३५ । "ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः ।" [सर्वार्थसि० १३३३] "सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः ।" [राजवा० १३३३] "ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः । सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति ।" नयचक्रवृ० पृ० ३५४ B.] घबलाटी० सत्ररू० । "ऋजुसूत्रं क्षयध्वंसि वस्तुसत्सूत्रयत्तु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्य- 30 स्थानपर्यायात् सतः ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७७ । प्रमेयक० पृ० २०५ B. सन्मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रगा० ३८ । तत्त्वार्थसारपृ० १०७ । प्रमाणनय० ७३२८ । स्या० म० पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

- पृ० १४. पं० ४. 'दुर्नयः'-"निराकरोति यद् द्रव्यं बहिरन्तश्च सर्वदा । सतदामोऽ 35 मिमन्तव्यः प्रतीतरेपलापतः ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७८ । प्रमेयक० पृ० २०६ A. न्यायावता० टी० पृ० ८८ । प्रमाणनय० ७३३०, ३१ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

- पृ० १४. पं० ७. 'शब्दः'-"इच्छद्द विसेसियतरं पञ्चुपपर्यं गण्यो सद्गो ।" [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५७ । विशेषा० गा० २७१८ । "यथार्थाभिधानं शब्दः" 35 आह च-विद्यायथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ।" [तत्त्वार्थाधि० भा० १३३५] तत्त्वार्थहरि०,

[ब्राह्मसी० श्लो० १०६] “वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याया-
 ल्यप्रपणप्रवणप्रयोगो नयः ।” [सर्वार्थधि० १।३३] “ज्ञातृणामभिसन्धयः स्युः नयास्तं द्रव्य-
 पर्यायतः” नयो ज्ञातुर्मेत मतः ।” [सिद्धिबि० पृ० ५१७ A. ५१८ A.] “प्रमाणप्रकारितार्थ-
 विशेषप्ररूपको नयः ।” [राजवा१०।३३] “नयन्ते अध्यान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनो-
 ज्ञेकात्मकस्य अन्यतमेकात्मैकान्तपरिग्रहात्मका इति ।” [नयचक्र० पृ० ५२६ A.] “यथात्मम्- 5
 द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमेकात्मावधारणम् एकदेशनयनाज्ञयाः ।” [नयचक्र० पृ० ६ B.]
 “योगेण वस्तुणोऽप्येगधम्सुणो जमवधारणयोगेव । नयणं धम्मेण तत्रा होई नत्रो सत्तहा सो य ॥”
 [विनोपा० गा० २६७६] “नयन्तीति नयाः, अनेकधर्मात्मकं वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदम-
 नित्यमेवेति वा निरूपयन्ति ।” [तत्त्वार्थहरि० १।६] तत्त्वार्थसिद्ध १।६। “वक्तं हि-ययदि त्ति
 ययो भयिभो वहुहिं गुणपञ्जर्हि जं वज्वं । परिश्यामखेतकालंतरेषु अविण्टुसत्त्वाव ॥ 10
 प्रमाणपरिग्रहीतार्थिकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः ।” [धवलाटी० सप्र०] “न्यायिकदेश-
 निर्णीतिलक्षणे हि नयः स्मृतः ।” (पृ० ११८) “नीयते गम्यते येन श्रुतायाज्ञो नयो हि नः ।”
 [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २५८] नयविव० श्लो० ४। “अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशामाही ज्ञातुरभि-
 प्रायो नयः ।” [प्रमेयक० पृ० २०५ A.] “जं खाणीण वियप्यं सुयभेयं वस्तुयंससंगहणं ।
 व इह खयं पडत्तं खाणी पुण तेहि खाणोहि ॥” [नयचक्र गा० २] “वस्तुनोऽन्यतमेनयस्य प्रमाणं 15
 (य) व्यञ्जितात्मनः । एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा स्मृतः ॥” [तत्त्वार्थसा० पृ० १०६]
 “सद्द्वारायातः पुनरनेकधर्मनिष्ठार्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारितरस्कारपरिहार-
 द्वारेण वर्त्तमानो नयः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ८२] “नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविपर्ययकृत-
 स्वार्थस्यांशः तदितरांशोदासीन्यतः स प्रतिपक्षुरभिप्रायविशेषो नयः ।” [प्रनाणनय० ७।१]
 त्या० म० पृ० ३१०। “प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशप्राप्तिः तदित- 20
 रांशप्राप्तिचेपिणः अध्यवसायविशेषा नयाः ।” [जंतकंया० पृ० २१] “प्रकृतवस्त्वंशामाही
 तदितरांशप्रतिपक्षो अध्यवसायविशेषो नयः ।” [नयचक्र पृ० ७९] नयप्रदीप पृ० ९७ B

मलयगिर्याचार्यभतेन सर्वेऽपि नयाः मिथ्या एव, तथाहि—“अनेकधर्मात्मकं वस्त्ववधा-
 रणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते प्राप्यतं येनाभिप्रायविशेषेण
 स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः । इह हि यो नयो नयान्तरसापेक्षतया न्यायत्वद्वान्निष्ठत्वं 25
 वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवा-
 दान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुनभिप्रेति स नयः
 वस्त्वेकदेशपरिग्रहकत्वान्, ...स च निचमान्मिथ्यादृष्टिरेव ।” [आन० नि० मन्त्र० पृ० ३६९. A.]

पृ० १०. पं० २६. ‘स द्रव्यार्थिकः!’—“तत्र सभक्तुर्विधम, तथाया द्रव्यान्तिकं मातृका-
 पदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकम् पर्यायास्तिकमिति ।” [तन्वायार्थि० भा० ५।३१] “उभं द्रव्यास्तिकं 30
 मातृकापदास्तिकं च द्रव्यनयः । उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकं च पर्यायनयः ।” [तत्त्वार्थहरि०
 ५।३१] तत्त्वार्थसिद्ध ० ५।३१। “द्वन्द्वद्विभो य पञ्चवणश्रो य सेमा वियपामि ।” [मन्मनि०
 १।३] “नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।” [सर्वार्थधि० १।६] “द्वौ मूलभेदी द्रव्यान्तिकः,
 पर्यायास्तिक इति । अथवा द्रव्यार्थिकः ... पर्यायार्थिकः ।” [राजवा० १।३५] “नत्र
 मूलनयो द्रव्यपर्यायार्थगोचरो । मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वं सम्यक्त्वं तद्विपर्ययं ।” [सिद्धिबि० 35
 पृ० ५२१ A.] “तेषां वा शेषदासनागणां द्रव्यार्थपर्यायार्थनयो द्वौ ननामयो मूलभेदी
 तत्रभेदा संप्रदाह्यः ।” [नयचक्र० पृ० ५२६ A.] ‘द्वन्द्वद्विभस्स द्वय वस्तुं पञ्चनयम्म
 पञ्जाभो ।” [विनोपा० गा० ४३३१] धवलाटी० मन्त्र० । प्रमाणनय० ७।५।

- पृ० १७. पं० ३. 'दुर्नेय'—'एषं शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाच्चतिरेकमर्थं समर्थ-
यन्तो दुर्नेयाः ।' [न्यायावता० टी० पृ० ९० ।] "तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ।"
[प्रमाणनय० ७।३४] जैनतर्कभा० पृ० २४ । "पर्यायध्वनीनामभिधेयानानात्वमेव कच्चीकुर्वाणः
तदाभासः ।" [प्रमाणनय० ७।३८] जैनतर्कभा० पृ० २४ । "क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दाच्चतया
5 प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ।" [प्रमाणनय० ७।४२] जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

पृ० १८. पं० ८. 'ज्ञानं प्रमाया'—तुलना-प्रमाणस० पृ० १२७ । "तत्तद्विज्ञानं-ज्ञानं
प्रमाणाभित्याहुरुपायो " [धवलाटी० सत्ररू०]

- पृ० १८. पं० २७. 'तिमिराशुभ्रमया'—'तिमिराशुभ्रमयानौयानसंज्ञोमाद्यनाहि-
तविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तिमिरमक्षणोर्विलवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमय-
मलात्तादेः, मन्दं हि भ्राम्यमाणेऽज्ञातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुभ्रहण्येन विरोच्यते
10 भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य
गच्छद्दृष्ट्वादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संज्ञोभो
वातपित्तरोष्मेणाम् । वातादिषु हि क्षीरं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्म-
गतं विभ्रमकारणम् ।" [न्यायवि० टी० पृ० १६]

- 15 पृ० १६. पं० १. 'इन्द्रियमनसी'—'इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।"
[न्यायवि० वि० पृ० ३२ A] "तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलं कैरपि " "
[तत्त्वार्थं श्लो०-पृ० ३३०]

- पृ० १६. पं० ११. 'आलोकोऽपि'—तुलना- 'नार्थोऽलोको क्ररणं परिच्छेद्य-
त्वात्तमोवत् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोऽङ्गकज्ञानवन्नक्षत्रज्ञानवच्च ।" [परीक्षापृ०
20 ३।६, ७] प्रमाणनी० १।१।२५ ।

पृ० १६. पं० १६. 'तमो निरोधि'—'उद्धृतेयम्-सिद्धिवि० टी० पृ० १८७ B
"तमोनिरोधे वीचन्ते तमसा नाद्युतं परम् । घटादिकम् " [सन्मति० टी० पृ० ५४४]

- पृ० १६. पं० २४. 'मलविद्मयि'—उद्धृतेयम्-सिद्धिवि० टी० १९३ A आव०
नि० मलम० पृ० १७ । इष्टोपवेशटी० पृ० ३०। कर्मप्रयटी० पृ० ८ ।
25 तुलना—"मलाद्युतमयेऽर्थाः कियथाऽनेकविधेऽप्यते । कर्माद्युतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा
न किम् ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१]

- पृ० २०. पं० ६. 'न तज्जन्म'—पूर्वपक्षः—"तस्माच्चतुरस्य रूपञ्च प्रतीत्येदेति नेत्र-
धीः (३।१९०) भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः ज्ञाना-
कारणरूपक्षमम् ॥ कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेष्वनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तेनाप्यत्र तद्वर्णं शृहीतमिति
30 चोच्यते ॥ (३।२४७-४८) अर्थेन घटयत्येनां न हि सुवत्त्वाऽर्थरूपताम् ।" तस्मात् प्रमेया-
धिगतेः साधनं मेयरूपता ॥ [प्रमाणवा० ३।३०५]

तुलना—"तत्पुनः तज्जन्मसारूप्यादिलक्षणां समानार्थानानैकसन्तानेषु संभवात् व्यभि-
चरति, तदध्यवसायहेतुत्वं च । तथा चार्थग्रहणे न कश्चिद्द्वयाघातः । अनागतस्य सम्प्रत्यभावेऽ-
पि विषयतोपपत्तेः प्रत्यक्षस्यापि अविस्वादाः ॥ [सिद्धिवि० पृ० ५६६-६८]

- 35 पृ० २. पं० १६. 'स्वहेतुजनितो'—उद्धृतेयम्—"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः स्वयं ग्राहो

पृ० १२, पं० ८, 'यस्मिन् सत्येव'-तुलना-"किं रूपः पुनरसौ कार्यकारणभावः अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धनः ? इत्याह-तद्भावे भावः तद्भावेऽभावश्चेति ।" [हेतुवि० टी० छि० पृ० ६९]

पृ० १२, पं० १४, 'कार्योत्पत्तिर्विषयेत न वै कारणसत्तया । यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यमितरत् कारणम् इति क्षणिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्ति- 5 प्रसङ्गात् कृतः सन्तानवृत्तिः॥ [चिडिबि० पृ० १६०, ३२६]

पृ० १३, पं० ५, 'ब्रह्मवादस्तदाभासः'-"निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः । तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टवाचनात् ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७०] नयविव० श्लो० ६८ प्रमेयक० पृ० २०५ B न्यायावता० टी० पृ० ८५। प्रमाणनय० ७।१५-२१। जैनतर्कभा० पृ० २५।

पृ० १३, पं० ११, 'नैगमः'-"योगेहि माणेहि मियाइत्ति योगमस्स य निरुत्ती । 10 सेसाणं पि नयाणं लक्खणमियाणो सुण्ह वोच्छं ॥" [अनुयोग० ४ धा०] भाव० नि० गा० ७५५। विशेषा० गा० २६८२। "निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेपामर्थैः शब्दार्थपरिज्ञानं च देरासमग्राही नैगमः । आह च-नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः । देशसमग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ॥" [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "अभिनिवृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः ।" [सर्वायसि० १।३३] राजवा० १।३३। "यदस्ति न तद्दृश्यमितलङ्घ्य वर्त्तत इति नैकं गमो नयः संप्रहासंप्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति यावत् ।" [धवलाटी० सत्प्रक०] "तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः । यद्वा नैकं गमो योज्ञ स सतां नैगमो मतः । धर्मयोः धर्मिणोर्वोपि विवक्षा धर्मधर्मियोंः ॥" पर्यायनैगमादि- 15 भेदेन नवविधो नैगमः । [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९] नयविव० श्लो० ३३-३७। प्रमेयक० पृ० २०५ A. सत्यति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। "धर्मयोः धर्मियोंः धर्मधर्मियोंश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्ष्यं स नैकं गमो नैगमः ।" [प्रमाणनय ७।७] स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१।

पृ० १३, पं० ११, 'नैगमाभासः'-"जं सामन्नविसेसे परोप्परं वत्थुओ य सो 25 मिजे । मन्नइ अषन्तमओ मिच्छद्विटी कयादोब्ब ॥" [विशेषा० गा० २६९०] "तयोरत्यन्त-मेदोक्तिरन्योऽर्थं स्वाश्रयादपि । ज्ञेयो व्यजनपर्यायनैगमामो विरोधतः ॥" [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७०] नयविव० श्लो० ६३। प्रमेयक० पृ० २०५ A. न्यायावता० टी० पृ० ८२। प्रमाणनय० ७।११। जैनतर्कभा० पृ० २५।

पृ० १३, पं० १५, 'वृत्तिविरोधात्'-तुलना-"वृत्तिश्च क्लृप्तांशविकल्पतो न ॥" [युक्त्यनुशा० श्लो० ५५] "एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्गृह्णीत वा । आगित्वाद्वास्त्य नैकत्वं 30 दोषो वृत्तेरनाह्वेति ॥" [आत्मी० श्लो० ६२] अष्टश०, अष्टशह० पृ० २१४। "तस्य वेपु सर्वात्मनाऽन्यथा वा वृत्त्ययोगो बाधकं प्रमाणम् ॥" [वादन्यायटी० पृ० ३०] "यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न कश्चिच्च सः ॥" [तत्त्व० पृ० २०३] "यदि सर्वेषु कायोऽन्यमेकदेशेन वर्त्तते । अंशा अंशेषु वर्त्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु । कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः ॥" [बोधिचर्या० पृ० ४९५]

पृ० १३, पं० १६, 'सतोऽर्थाः'-"सत्ताजोगादसओ सओ व सत्तं हवेज 35 ववस्स । असओ न खपुप्फस्स व सओ व किं सत्तया क्व्वं ॥" [विशेषा० गा० २६९४]

- “एकमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येयैव विभाषिताः संप्रद्वयवहारनुसारिण आत्मद्रव्ये । संप्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाभ्या वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः-देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति विवक्षाथता च वचसः सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या । द्रव्यार्थजात्यभेदात् तु सर्वद्रव्यार्थभेदानैवैकं द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदात्तैकं पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते, तदा त्वविषयवृत्तस्वजातिभेदत्वात् सकलं वस्तु एकद्रव्यार्थभिन्नम् एकपर्यायार्थभेदोपचरितं तद्विशेषैकभेदोपचरितं वा तन्मात्रमेकमद्वितीयार्थां ब्रुवन् सकलादेशाः स्यान्नित्य इत्यादिविधोऽपि नित्यत्वानित्यत्वयुगपद्भावैकत्वरूपैकार्थाभिधायी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्यां तद्विशेषाभ्यां वा वस्तुन एकत्वं तद्वत्तदात्मकं समुच्चयाश्रयं चतुर्थविकल्पे स्वांशयुगपद्वृत्तं क्रमवृत्तं च पञ्चमपञ्चसप्तमेषूच्यते तथाविवक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेशाः ।” [तत्पर्यभा० टी० पृ० ४१६]

- “तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापक्षितापारोपधर्मक्रेडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति घटः स्यादवक्तव्यो घटः इत्येते त्रयो भङ्गा सकलादेशाः । विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंज्ञितसकलात्मकत्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः-स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः ।” [सम्प्रति० टी० पृ० ४४६]

- ७० यशोविजयैः यद्यपि शास्त्रवा० टी०-जैनतर्कभा०-गुरुत्वविनिश्चयादी सर्वेषु भगेषु सकलादेशविकलादेशोभयरूपता सिद्धान्तीकृता । तथापि तैः अष्टसहस्रीविरणे आद्याः त्रयो मंगाः सकलादेशाः शिष्टाश्च चत्वारो विकलादेशाः इत्यपि कृतान्तीकृतम् । तथाहि-“..... किन्त्वाद्यमद्भङ्गयुषटकनिजपररूपयोः श्रृंगग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो बोधयुज्यते, तृतीयमंगस्त्ववक्तव्यत्वलक्षणः ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्भेदादनेकभेद इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्व-सदवक्तव्याद्यश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वात् नोदेतीति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेवामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम् ।” [अष्टसह० विव० पृ० २०८ B.] शास्त्रवार्त्ताटीकायाम् अयमेव सिद्धान्तः ‘केचित्तु इति कृत्वा निर्दिष्टः । तथाहि-“केचित्तु-अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आद्याख्य एव मंगा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः अग्निमास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः इति प्रतिपन्नवन्तः ।” [शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B.]

- ८० पृ० २१. पं० २३. ‘स्याज्जीव एव’-मलयगिरिार्थाः स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणावाक्ये एव उररीकुर्वन्ति । एतन्मतानुसारेण सर्वेषां नयानां मिथ्यारूपत्वात् । अतस्तैः ‘स्यात्पदलाञ्छितो नयः सन्त्यग्’ इत्यकलङ्कमतस्य समालोचना कृता । समन्तभद्र-सिद्धसेनदिव्याकरादिभि उपप्लूतात् अकलंकमतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । (द्रष्टव्यम्-टिप्पण पृ० १४२ पं० १३)

- मलयगिरिकृता समालोचना इत्थम्-“नयचिन्तायामपि च ते दिग्भ्रराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एव प्राह-नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात् इति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता-नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणावाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति । स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति । तदेतद्युक्तम्-

तत्त्वार्यसिद्धं १।३५ । “लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः ।” [सर्वाधिकं १।३३] राजवा० १।३३ । “शब्दपुष्टतोऽर्थग्रहणप्रवणं शब्दनयः, लिङ्गसंज्ञाकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् ।” [धवलाटी० सत्प्र०] “कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत् । सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वाद्बुद्धाहृतः ।” [तत्त्वार्यश्लो० पृ० २७२] नयविव० श्लो० ८४ । प्रमेयक० पृ० २०६ A. सन्मति० टी० पृ० ३१२ । नयचक्र गा० ४० । तत्त्वार्यसार पृ० १०७ । 5 प्रमाणनय० ७।३२, ३३ । स्या० मं० पृ० ३१३ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० १५. पं० ८. ‘अभिरूढ’—‘वत्सूत्रो संक्रमणं होइ अवत्सू नप समभिरूढे ।’ [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५८ । “सत्त्वर्थेष्वसदक्रमः समभिरूढः ।” [तत्त्वार्याधि० भा० १।३५] तत्त्वार्यहरि०, तत्त्वार्यसिद्धं १।३५ । “जं जं सण्यां भासइ तं तं चिय समभिरूढप जन्हा । सण्यांतरत्यविमुदो तन्नो तन्नो समभिरूढोत्ति ॥” [विशेषा० गा० २७२७] “नानार्थ- 10 समभिरूढेषात् समभिरूढः । अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्यामिसुख्येनारोहणात् समभिरूढः ।” [सर्वाधिकं १।३३] राजवा० १।३३। धवलाटी० सत्प्र० । “समभिरूढः एव मत्प्रेकीभावेन आभिरूढ्येन एक एव रूपादिरर्थ एवेति वा या संज्ञा नानां (!) समभिरूढः ।” [नयचक्र० पृ० ४८३ A.] “पूर्वायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निरुचयः ।” [तत्त्वार्यश्लो० पृ० २७३] नयविव० श्लो० ९२ । प्रमेयक० पृ० २०६ A. 15 सन्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्र गा० ४१ । तत्त्वार्यसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।३६। स्या० मं० पृ० ३१४। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० १५. पं० ८. ‘इत्यम्भूतः’—‘बंजण अत्य तदुभयं एवम्भूओ विसेसेई ।’ [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५८ । “व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः ।” [तत्त्वार्याधि० भा० १।३५] तत्त्वार्य हरि०, तत्त्वार्यसिद्धं १।३५ । “येनात्मना सूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः । 20 अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिखतः तेनैवाध्यवसाययति ।” [सर्वाधिकं १।३३] राजवा० १।३३ । “बंजणमत्येणत्थं च बंजणयोभयं विसेसेई । जइ घटसइं चेष्टावया तइ तं पि तेणोव ॥” [विशेषा० गा० २७४३] “एवं भेदे भवनादेवम्भूतः । न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनां चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षाऽप्योगात् । ततो न वाच्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः 25 पदमेकार्थस्यैव वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः ।” [धवलाटी० सत्प्र०] “तत्क्रिया-परिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः ॥” [तत्त्वार्य-श्लो० पृ० २७४] नयविव० श्लो० ९४। प्रमेयक० पृ० २०६ B सन्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्रगा० ४३ । तत्त्वार्यसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० मं० पृ० ३१५ । जैनतर्कभा० पृ० २३ ।

पृ० १५. पं० ६. ‘कालाभेदात्तावत्’—‘तुलना-प्रमाणनय० ७।३३ । जैनतर्क- 30 भा० पृ० २२ ।

पृ० १६. पं० ५. ‘तदुत्पत्तिसारूप्य’—‘तुलना-‘प्रत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्य- लक्षणात् । संवेद्यं स्यात्समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥” [प्रमाणवा० ३।३३] प्रमाणनय० ४।४७ ।

पृ० १६. पं० १८. ‘स्त्यायत्यस्या’—‘संस्थानप्रसवौ लिंगमात्येयौ स्वकृतान्ततः । ‘अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्त्यायत्यस्यां गर्भं इति । कर्तृसाधनश्च पुमान् सृते पुमानिति । 35 ‘संस्थानविवक्षाया स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायां नपुंसकमिति ।” [पाठ० महा० ४।१।३]

इति प्रमाणनयप्रवेशः ॥



- व्यवहारे, उञ्जुस्य, सद्मे, समभिरुढे, एवंभूए ।" [त्याना० ७।१९] मनुयोग० १३६। "नैगमसंप्र-
हव्यवहारजुसूत्रशाब्दसमभिरुढैवन्भूताः नयाः ।" [तत्त्वार्थसू० १।३३] "नैगमसंप्रहव्यवहारजु-
स्य होई बोधव्ये । सद्मे य समभिरुढे एवंभूए य मूलनया ।" [आव० नि० गा० ७५४] "नैगमसं-
प्रहव्यवहारजुसूत्रशाब्दा नयाः । आद्याशाब्दो द्वित्रिभेदौ ।" [तत्त्वार्थवि० १।३४,३५]
- 5 सिद्धसेनदिवाकरस्तु षड् नयान् स्वीकुर्वन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य संप्रहव्यव-
हारयोरन्तर्भावात् । (सम्मति० १।४,५)

पृ० २३. पं० ६. 'व्यतिरेकः'—तुलना—“अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यति-
रेको गोमहिषाविवत् ।" [परीक्षामु० ४।९]

- पृ० २३. पं० १६. 'ततस्तीर्थकर'—तुलना—“नित्यथरवयणसंगहविसेसपत्या-
10 रमूलवागरणी । दृञ्चद्विओ य पञ्चवयणओ य सेसा विवप्यासि ।" [सम्मति० गा० १।३]

पृ० २३. पं० १८. 'न नैगमस्य प्रमाणता'—तुलना—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९।

पृ० २४. पं० ६. 'व्यवहारानु'—“व्यवहारानुकूल्येन” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१]

तुलना—“प्रामाण्यं व्यवहारेण” [प्रमाणवा० ३।५]

पृ० २४. पं० २३. 'चत्वारोऽर्थ'—तुलना—“चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषाक्षर्यं शब्दतः ।" [सिद्धिभि० पृ० ५।१७ B]

- 15 [सिद्धिभि० पृ० ५।१७ B] राजवा० पृ० १८६। “अत्युपवरं सद्मेवसज्जण वत्युञ्जुसुत्तं ता ।
सद्मेवहाण्यमत्योवसज्जणं सेसया विवि ।" [विज्ञेपा० गा० २७५३] प्रमाणनय० ७।४४,४५ ।
जैनतर्कमा० पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B. “तत्रजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः । त्रयः
शब्दनयाः शेषाः शब्दाच्चार्यार्थगोचराः ।" [नयविष० पृ० २६२]

उद्धृतमिदम् “जीवाद्यर्थविनिश्चयात् ।" [आव० नि० मलय० पृ० ३८१ B.] सूत्रज्ञताय

- 20 टी० पृ० ३२६ A.

पृ० २५. पं० २६. 'न्यासः'—“विस्तरेण लक्षणतो विधानतरचाधिगमार्थं न्यासो
निक्षेपः ।" [तत्त्वार्थवि० भा० १।५] “शिच्छय शिपयय खिवदि ति शिपखेवो । सो वि छम्बिहो
यामद्वयणाद्व्यखेत्तभावमंगलमिदि ।" [षवलाटी० सत्रह०]

- पृ० २५. पं० २६. 'चतुर्धा'—“जत्य य जं जाणोञ्जा निक्खेवं निक्खिखे निरवसेसं ।
25 जत्यवि अ न जाणोञ्जा चउक्कगं निक्खिखे तत्थ ॥ आवस्सयं चउक्खिहं पणणत्ते । तं जहा-
नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भावावस्सयं ।" [वतु० सू० ८] “नामस्थापनाद्रव्य-
भावतस्तन्न्यासः ।" [तत्त्वार्थसू०-१।४]

- मूलाचारे पडावश्यकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्य-
क्षेत्रकालभावैः षड्विध उक्तः । आवश्यकनिर्णयती (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालव-
चनभावविकल्पात् सप्तविधो निक्षेपः प्ररूपितः ।

- पृ० २६. पं० १. 'नाम'—“नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थानन्तरम् ।" [तत्त्वार्थवि०
भा० १।५] “अतद्गुणो वस्तुनि संख्यवहारार्थं पुरुषाकारान्निद्युस्मानं संज्ञाकर्म नाम ।" [सर्वाथसि० १।५] राजवा० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। “पञ्जायाणमिषेयं डिअमणत्थे
तयत्थनिरवेक्खं । जाइच्छिअं च नाम जावद्वयं च पाएणं ।" [विज्ञेपा० गा० २५] जैनतर्कमा०
पृ० २५ । “अत्रामिप्यायकया सन्ना चेषणमचेषणो वा वि । ठवणादी निरविकखा केवल
35 सन्ना उ नामिदो ।" [बृहत्कल्पमा० गा० ११] “तत्थ याममंगलं यामिणमिचंतरणिरवेक्खा
मंगलसण्या । तत्थ शिमिचं चउक्खिहं जाइ दव्व गुण किरिया चेदि ।" [षवलाटी० सत्रह०]

यथा मतः । तथा ज्ञानं स्वहेतुत्वं स्वयं तद्ब्राह्मकं मतम् ॥” [सिद्धिदि० टी० पृ० १० B.]
न्यायवि० वि० पृ० ३३ A.

पृ० २१. पं० १४. ‘उपयोगौ’—“तदुक्तम्-उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः ॥”
[सिद्धिदि० टी० पृ० ४ A.]

पृ० २१. पं० १६ ‘स्याद्वादः’—‘स च तिष्ठन्तप्रतिरूपको निपातः । तस्याने- 5
कान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशादनेकान्तार्थो गृह्यते ॥” [राजवा०
पृ० १८१] “निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्तारोपधर्मान्तरसंसृचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्म-
वचनं स्याद्वादः ॥” [न्यायावता० टी० पृ० ९३]

पृ० २१. पं० १७. ‘ज्ञानदर्शन’—‘तुलना-“स्यात्प्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखा- 10
दिरूपा असाधारणा ये चामूर्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्मा धर्माधर्मगणनास्तिकाय-
पुरुषैः साधारणाः येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वागुणित्वाद्यः सर्वपदार्थैः साधारणास्तेऽपि च
प्रतीयन्ते ॥” [भाव० नि० मलय० पृ० १७० A]

पृ० २१. पं० २०-२१. ‘साकल्य...वैकल्य’—सकलादेश-विकलादेशयोः स्वरूपे 15
प्रायः ऐकमत्येऽपि केचिदकलाकायाचार्याः सर्वानपि भंगान् एकधर्मसुखेन अशेषधर्मात्मकवस्तु-
प्रतिपादनकाले सकलादेशरूपान् एकधर्मप्रधानतया अन्यधर्माश्च गौणतयाऽभिधानसमये
विकलादेशात्मकान् स्वीकुर्वन्ति । केचिच्च सिद्धसेनगाण्डिप्रभृतयः सदसदवक्तव्यरूपं भंगत्रयम्
सकलादेशत्वेन शिष्टांश्च चतुरो भंगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । तथा च तेषां प्रत्याः—

“तथा चोक्तम्-सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति ॥” [सर्वार्थसि०
११६] “तत्र यदा यौगपथं तदा सकलादेशः ॥ एकगुणसुखेनारोपवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ॥”
‘तत्रादेशवशात् सप्तभंगी प्रतिपदम् ।’ ‘यदा तु क्रमं तदा विकलादेशः (पृ० १८०) निरंशा- 20
स्यापि गुणभेदादेशरूपेण विकलादेशः ॥’ ‘तत्रापि तथा सप्तभंगी ॥” [राजवा० पृ० १८१]
नयचक्र० पृ० ३४८ B. “सकलादेशो हि यौगपथेनारोपधर्मात्मकं वस्तु कालाविभिरभेदवृत्त्या
प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण
भेदप्रधान्येन वा ॥” [तत्त्वार्थको० पृ० १३६] प्रमेयक० पृ० २०७ A सप्तभंगि० पृ० ३२ ।
प्रमाणनय० ४१४, ४५१ जैनतर्कभा० पृ० २० ।

“इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ॥” [प्रमाणनय० ४१
४३] जैनतर्कभा० पृ० २० । गृह्यतत्त्ववि० पृ० १५ A. धास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A. “यदा मध्य-
स्थभावेनार्थित्ववशात् किञ्चिद्धर्मं प्रतिपादयिष्वः शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखया विद्या
वार्चं प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुग्धाकारतयाचक्षते-बहुत जीवोऽस्ति 30
कदां प्रमाता भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपाठनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन
संभवद्धर्माणां दर्शनमात्रमित्यर्थः ।’ ‘यदा तु प्रमाणाख्यापारमविकल परास्मृत्य प्रतिपादयितु-
मभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्प्रयोगस्याञ्चद्वेषितया साध-
धारणया वाचा दर्शयन्ति स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यादिकया, अतोऽयं स्याच्चद्वेषसूचिताम्य-
न्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशाब्दक्रियाभ्या प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारण्यव-
वच्छिन्नतदसंभवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते । प्रमाणाप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थ- 35
क्यनमिति यावत् । उक्तम्-सा ज्ञेयविशेषगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र । सकलाद्वाहितुं मानं
विकलाद्वाही नयो ज्ञेयः ॥” [न्यायावता० टी० पृ० ९२]

- पृ० २६. पं० ५. 'सदादिभिः'—'से किं ते अयुगले? नवविधे पश्यते तं जहा-
संतपयपरुषण्या, दम्बपमार्णं च, खित्त, फुसणा य, कालो य, कर्तारं, भाग, भाव, अप्पावहुं
चेव।' [अनु० सू० ८०] "सत्संख्याक्षेत्रप्रशानकालान्तरभावात्पवहुत्वैश्च ।" [तत्त्वावर्षू० ११८]
- पृ० २६. पं० ६. 'जीवस्थान'—'सुहृन्मा वादरकाया ते स्तुतु पञ्चत्तया अपज्जता ।
5 एइदिया दु जीवा जिण्हिं कदिया चतुवियप्पा ॥ पञ्चत्तापञ्चत्ता वि होंति विगलिंदिया दु
छम्मेया । पञ्चत्तापञ्चत्ता सणिए असरणी य सेसा दु ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५२-१५३]
जीवकाह गा० ७२ । कर्मप्र० ४१२ ।
- पृ० २६. पं० ६. 'गुणस्थान'—'मिच्छाविट्ठी सासादयो य मिस्सो असंजदोचेव ।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो वह य णायन्वो ॥ एतो अपुञ्चकरणो अणियट्ठी सुहमसंपराओ य ।
10 उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलजिण्हो अजोगी य ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५४-१५५]
जीकाण्ड गा० ९-१० । कर्मप्र० २१२ ।
- पृ० २६. पं० ६. 'मार्गस्थान'—'गइदिये च काये जोगे वेदे कसायणाये य ।
संजम इंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सणिए आहारे ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५६] जीवकाण्ड
गा० १४१ । कर्मप्र० ४१९ ।
- 15 पृ० २६. पं० १०. 'नदि गुणादिविनाशात्'—दुज्जना—'अत्तमलामं विट्ठुमोंकं
जीवस्थान्तर्मलच्छात् । नाभावं नाप्यचैतन्मं न चैतन्यमनर्थकम् ॥" [सिद्धि० पृ० ३८४]
पृ० २६. पं० १०. 'जडः'—'तैयायिकाः जडरूपत्वमात्मनो मुक्तौ स्वीकृवन्ति ।
तथाहि—'नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽन्यन्तमुच्छ्रद्यते सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः
स सोऽन्यन्तमुच्छ्रद्यमानो दृष्टो यथा प्रदीपसन्तानः ।" [प्रब० व्यो० पृ० २० क] "तदेषं
20 नवानामात्मगुणानां निर्मूलच्छेदोऽपवर्ग इति यदुच्यते तदेवेदमुक्तं भवति तद्व्यन्तविशेषो-
ऽपवर्ग इति ॥" [न्यायम० पृ० ५०८]
- पृ० २६. पं० १० 'शून्यः'—'बौद्धाः शून्यात्मकत्वमपि मुक्तौ मन्यन्ते । तथाहि—
"इह हि भगवता उपितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्माद्युधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां
पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषम्, निरुपधिशेषं च । तत्र निरुपधेशस्याविद्या-
25 रागादिकस्य क्लेशरागस्य प्रहाण्यात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते । तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्तेह
इत्युपधिः । उपधिशब्देन आत्मज्ञानिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते । शिष्यत इति शेषः ।
उपधिरेव शेष उपधिशेषः । सह उपधिशेषेण वचते इति सोपधिशेषम् । किं तन्निरवाणम् । तद्य
स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणप्राम-
मात्रावस्थानसाधर्म्येण, तत्सोपधिशेषं निर्वाणम् । यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि ना स्त
30 तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम् । निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा । निहताशेषचौरगणस्य प्राममा-
त्रस्यापि विनाशासाधर्म्येण ॥" [माध्यमिकव० पृ० ५१९]
- पृ० २६. पं० ११. 'तदमोक्ता'—'सांख्या द्वि विरते प्रकृतिसंयोगे मुक्तयवस्थायाम्
पुरुषसमोर्कारं साक्षिणमामनन्ति । तथाहि—'प्रकृतेः सुकृमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे रतिर्भवति ।
था दृष्टास्तीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ देन निधुत्तप्रसवामर्षवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
35 प्रकृतिं परयति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥" [साव्यका० ६१, ६५]

इति लघीयस्त्रयस्य टिप्पणानि ।

प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तैः; तथाहि—‘स्याज्जीव एव’ इति किल प्रमाणवाक्यम् ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीगल्लभ्यलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविशेषः, तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्द-
वाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूताकारशब्दप्रयोगाद्जीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्द-
प्रयोगतोऽसाधारणसाधारण्यवर्माज्ञेयः । ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्द-
पाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः, एवकारप्रयोगात् यदाशङ्कितं
सकलेऽपि अगति जीवस्य नास्तित्वं तद्वपवच्छेदः, स्यात्प्रदप्रयोगात् साधारण्यसाधारण्यप्रति-
पत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव ।” [भाव० नि० मलय० पृ० ३७१ A.]

३० यथोक्तिजयैः सर्वमेतत् मलयगिरिमत् पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्—“अत्रेदमव-
धेयम्—यो नाम नयो नयान्तरापेक्षस्तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात्, तस्य तपः-
संयमप्रवचनप्राहकत्वेन संयमप्राहिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । शब्दनयानाञ्च निषेच-
तुष्ट्याभ्युपगन्तृषां भावान्युपगन्तराब्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः ।
नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च प्राहो स्यात्प्रदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव
लाभात् तेनानन्तधर्मात्मकत्वापरामर्शः । न चेदेवं तदानेकान्ते सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः, अव-
च्छेदकमेदं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्वचत्वात् । इष्यते चायम्, यदाह महामतिः—
‘भयया वि द्नु भद्रयन्वा जह भयया भसद् सव्वदन्वाहं । एवं भयणानियमो वि होह समयाविरा-
इया ॥’ (सन्तवि० गा० ३२७) इति । समन्तमद्रोऽप्याह—‘अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणन-
यसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात् तदेकान्तोऽर्पिताज्ञयात् ॥’ (बहृत्त्वय० प्लो० १०३) इति ।
पारमर्षेऽपि—‘इमा र्थं भते रयणप्पमा पुढवी किं सासया असासया ? गोयमा । सिच सासया
सिच असासया । से केणट्टेणं भते ! एवं बुबइ । गोयमा । दन्वट्टयाए सासया पञ्चवट्टयाए
असासया ।’ (भगवतीसु०) इति प्रदेशे स्यात्पदमवच्छेदकमेदप्रदर्शकस्यैव विद्वृतम्, अत एव
स्यादित्यव्ययनेकान्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते. सम्यगेकान्तसाधकस्यानेकान्ताज्ञेयकत्वात्,
न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम्, अतो न स्यात्प्रदप्रयोगमात्राधीनमादेशसाकल्यं येन प्रमाणनयवाक्य-
योर्भेदो न स्यात्, किन्तु स्वार्थोपस्थित्यनन्तरमशेषधर्माभेदोपस्थापकविधेयपदवृत्त्यधीनम्, सा च
विवक्षाधीनेत्यादेशसाकल्यमपि तथेति नयप्रमाणावाक्यपरिस्थं भेद एव । मलयगिरिपादवचनं
तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थलेऽवच्छेदकमेदाभिधानानुपयुक्तेन स्यात्प्रदेन साक्षादनन्तधर्मात्मक-
त्वाभिधानात्तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तुदुर्विदग्धद्विगन्धरनिराकरणामिप्रायेण योजनीयम् ।”
[गुस्तत्त्ववि० पृ० १७ B.]

पृ० २२. पं० १. ‘अप्रयुक्तोऽपि’—“विधौ निषेधेऽन्यत्रापि ” [भाव० नि० मलय०
पृ० ३६९ B.] गुस्तत्त्ववि० पृ० १६ A

तुलना—‘ सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते । यथैवकारोऽप्योगादिव्यवच्छे-
दप्रयोजनः ॥” [तत्त्वार्थप्लो० पृ० १३७] स्या० रत्ना० पृ० ७१८ । रत्नाकरवृष्टा० पृ० ६१ ।
सप्तमि० पृ० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप पृ० ९६ A

पृ० २२. पं० ३. ‘क्वचित् स्यात्कार’—तुलना—“अत्रान्यत्रापि इति अनुवादा-
तिदेशादिवाक्येषु ” [भाव० नि० मलय० पृ० ३६९ B]

पृ० २२. पं० १६. ‘लोको हि अर्थाप्यनान्निपु’—तुलना—“बुद्धिशब्दप्रमाणन्य
वाहार्ये सति नामति । सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थान्यनान्निपु ॥” [आप्तमी० पा० ८७]

पृ० २२. पं० २४. ‘नयाः सप्त’—“सत्त मूलखया पयणत्ता तं जह—एगमे, संगहे.

5

10

15

20

25

30

35

- न्तस्य त्यागात्, नाम्नः स्वल्पस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् । तद्वचने वा न कचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतर्द्धानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात् । दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावान् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः इत्यप्रमाणप्रमेयत्वम-
 5 शेषस्यावश्यमनुषज्येत । तदुक्तं न्यायविनिश्चये-‘अभिलाप’ इति । ‘अभिलापविवेकतः’ इति अभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् । प्रथमपक्षोपक्षिमदोषपरिजिहीर्षया तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था । नामतर्द्धानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतद्धानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवरथा स्यात् । तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवरथमनुषज्येत । अत्रापि इयमेव कारिका योज्या ‘अभिलापविवेकतः’ इति अभिलापयिनिश्चयात्
 10 इति व्याख्यानात् ।” [अष्टसह० पृ० १२०] तत्त्वार्थसू० पृ० २५० ।

पृ० ३०, पं० १८. ‘आत्मनाऽनेकरूपेण’-“तदुक्तं न्यायविनिश्चये-आत्मनाऽनेकरूपेण इत्यादि ।” [सिद्धिचि० टी० पृ० ५६ B. ५१२ A.]

- पृ० ३१, पं० ३. ‘परोक्षज्ञानविषय’-अत्र हि परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकस्य स्वपक्षेण । तन्मतश्चेत्थम्-“न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति ।
 15 तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः ।” न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम् । तस्मान्न बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत् । अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः ।” [शाबरभा० बृहती पृ० ८७]

तुलना-“ परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परोक्षवत् ।” [प्रमाणसू० पृ० ९८ पं० १७]

- पृ० ३१, पं० ६. ‘अन्यथानुपपन्नत्व’-उद्धृतं पूर्वाद्धं प्रमेयरत्नमालया (३।१५)
 20 प्रमाणनिर्णये च (पृ० १२)

तुलना-“तथा चान्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्धयति ।” [सिद्धिचि० पृ० १३४ A.]

पृ० ३१, पं० १३. ‘अध्यक्षमात्मनि’-तुलना-“ प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रा-
 नुमानिकम् । प्रत्यात्मवेद्यमाहन्ति तत्परोक्षत्वकल्पनाम् ।” [तत्त्वार्थसू० पृ०-१६६]

- पृ० ३१, पं० २५. ‘विषयेन्द्रिय’-तुलना-“अपि चाध्यक्षताभावे विषयः स्याल्लि-
 25 गतो गतिः । तच्चाक्षमर्थो धीः पूर्वो मनस्कारोऽपि वा भवेत् ॥ कार्यकारणसामग्र्यामस्यां सम्बन्धिना परम् । सामर्थ्यादर्शनात्तत्र नेन्द्रियं व्यभिचारतः ॥ तथार्थो धीमनस्कारो ज्ञानं तौ च न सिद्धयतः । नाप्रसिद्धस्य लिगत्वं व्यक्तिरर्थस्य चेन्मता ॥...” [प्रमाणवा० ३।५६१-६३]

- पृ० ३१, पं० २५. ‘मनस्कारादि’-“मनस्कारश्चेतस आभोगः । आनुजनमा-
 भोगः, आलम्बेन येन चित्तमभिमुखीक्रियते । स पुनरालम्बेन चित्तधारणकर्म । चित्तधारणं
 30 पुनः तत्रवा (तत्रैवा) लम्बने पुनः पुनश्चित्तस्यावर्जनम् । एतच्च कर्म चित्तसन्तरेरालम्बन-
 न्नियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तम् ।” [विशिष्टभा० पृ० २०] “विषये चेतस आर्षर्जनं (अवधारणं) मनस्कारः मनः करोति आवर्जयतीति ।” [अभिषर्नको० व्या० २।२४]

- पृ० ३२, पं० ७. ‘असञ्चारोऽनवस्थानम्’-तुलना-“ ज्ञानान्तरेणानुभवोऽनवस्था
 तत्र च स्मृतिः । विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्ट्यते ॥” [प्रमाणसू० १।१३]
 35 “ज्ञानान्तरेणानुभवो भवेत्तत्रापि च स्मृतिः । दृष्ट्वा तद्देदनं केन तस्याप्यन्येन चेदिमाम् ॥ मालो
 ज्ञानविदां कोऽर्थं जनयत्यनुबन्धिनीम् । पूर्वा धीः सैव चेन्न स्यात्सञ्चारो विषयान्तरे ॥”

पृ० २६. पं० २. 'स्थापना'—“यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माच्चनिक्षेपादिविपु स्थाप्यते जीव इति स्थापनाजीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति ॥” [तत्त्वार्थसि० भा० ११५] “काष्ठपुस्तचित्रकर्माच्चनिक्षेपादिविपु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ॥” [सर्वार्थसि० ११५] राजवा० पृ० २० । “जं पुण्यं तयत्यसुजं तयमिष्पाप्यं तारिसागरं । कीरद्वं व निरागरं इत्तरमियरं व सा ठवया ॥” [विशेषा० गा० २६] “सम्भावमसम्भावे ठवया पुण्य इदंके- 5
चमाईया । इत्तरमणित्तरा या ठवया नाम तु आवाकह ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १३] “सद्भाव-
स्थापनया नियमः, असद्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूयोन्रवत् ॥” [नयचक्रम् पृ० ३८१ A.]
जैनतर्कभा० पृ० २५ । “आहिदणामस्स अणणस्स सोयमिदिद्ववणं ठवया णाम । सा दुविडा-
सम्भावासम्भावद्ववणा चेदि । तत्थ आगारवंतए धत्थुम्मि सम्भावद्ववणा । तत्त्विवरीया
असम्भावद्ववणा ॥ [धवलाटी० सत्प्रह०] “वस्तुनः कृतसद्भावस्य प्रतिष्ठा स्थापना भता । सद्भा- 10
वेतरमेदेन द्विधा तत्त्वाविरोधतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११]

पृ० २६. पं० ३. 'द्रव्य'—“द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादि-
परिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते ॥” [तत्त्वार्थसि० भा० ११५] “गुरौः द्वेष्यते गुणान्
द्रोष्यतीति वा द्रव्यम् ॥” [सर्वार्थसि० ११५] “अनागतपरिणामविशेष प्रति शूद्धीतामिसुख्यं
द्रव्यम् । अतद्भव वा ॥” [राजवा० पृ० २०] - धवलाटी० सत्प्रह० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ । 15
“द्वेषे पुण्यं तल्लब्धी जस्सातीता भविस्सते वा वि । जो वावि अणुवज्जुतो इदंस्स गुणे
परिकहेइ ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १४] विशेषा० गा० २८। जैनतर्कभा० पृ० २५ । “भूतस्य
भावितो वा भावस्य हि कारणं तु यज्ञोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कार्यतम् ॥”
[भाव० नि० मलय० पृ० ६ B.]

पृ० २६. पं० ३. 'भावनिक्षेपः'—“वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ॥” 20
[सर्वार्थसि० ११५] राजवा० पृ० २१। धवलाटी० सत्प्रह० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११३। “जो पुण्य
अहत्थज्जुतो सुद्धनयाणं तु एस भाविदो । इदंस्स वि अहिगारं वियाणमाणो तदुचउत्तो ॥”
[बृहत्कल्पभा० गा० १५] “भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रा-
दिवविहेन्द्वनादिक्रियानुभवात् ॥” [भाव० नि० मलय० पृ० १ A.]

पृ० २६. पं० ४. 'अप्रस्तुतार्थ'—तुलना—“स किमर्थः ? अप्रकृतनिराकरण्याय 25
प्रकृतनिरूपणाय च ॥” [सर्वार्थसि० ११५] तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८ । “अथ किमिति निक्षेपः
क्रियते ? इति चेदुच्यते—त्रिविधाः श्रोतारः अव्युत्पन्नः, अवगतारोपविवक्षितपदार्थः, एकदेश-
तोऽवगतविवक्षितपदार्थः इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम् ।
द्वितीयः संशये कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा ।
द्वितीयवस्तुतीयोऽपि संशये विपर्यस्यति वा । तत्र यदव्युत्पन्न-पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः, अव्युत्प- 30
न्नव्युत्पावनमुखेन अप्रकृतनिराकरण्याय । अथ द्रव्यार्थिकः, तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशो-
धनिक्षेपा उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्यायमन्तरेण विधिनिर्यायानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः
संशयविनारायाशोपनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थोपधारणार्थं निक्षेपः क्रियते ।
उक्तं हि—अवगयण्यिधारट्टं पयदस्स परुषण्णाणिमिच्चं । संसयविण्णासणट्टं तच्चत्यवधारणट्टं च ॥”
[धवलाटी० सत्प्रह०] वदन्तमिदं वाच्यम्—जैनतर्कभा० पृ० २५ ।

पृ० २६. पं० ५. 'निर्देशादिभिः'—“निद्वेषे पुरिसे कारणं कर्हि केसु कालं कइविहं ॥” 35
[जन्० सू० १५१] “निर्देशास्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥” [तत्त्वार्थसू० ११७] “किं
केण कस्स क्खयि केवचिरं कदिविधो य भावो य । क्खहि अण्णिओगहूरे ” [मूलचर ८।१५]

“अर्थकार्यतया ज्ञानस्पृतावर्थस्पृतेर्यदि । आन्त्या संकलनं ज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत् ॥”

आन्तिरिति सम्बन्धः । यद्यर्थस्य कार्यं विज्ञानम् अथापि अर्थे कार्यं व्यापारो यत्येति ज्ञानस्पृता नियमेन अर्थस्मरणम्, अतस्तदेष मूढमतिस्तन्तानस्य तथा भवति प्रतिपत्तिः । एवन्तर्हि ज्योतिर्मनस्कारेऽपि तथा प्रतीतिः स्यात् । यथा विषयकार्यता विज्ञानस्य तथा
5 आलोककार्यता मनस्कारकार्यतापि तेन द्वयसंकलनेनापि प्रतीयेत । न हि कार्यत्ये कश्चि-
द्विशेषः । अथ विषये व्याघृतत्वात् तत्संकलनं मनस्कारे तत्रान्यामि [पृ] तत्वात् तदा तर्हि
आलोकेऽपि समान एव व्यापारः । न आलोकमपहृत्य रूपे व्याप्रियते । तदसदेवत् । तस्मा-
द्यथा आलोकप्रतिभासमिति न भवति तथा रूपप्रतिभासमिति न स्यात् । तस्माद्दू-
षणकारमेव विज्ञानम् । कार्यतया तु तथा प्रतिपत्तौ—

10 सर्वेषामपि कार्याणां कारयैः स्यात्तथा ग्रहः । कुलालादिविवेकेन न स्मर्येत घटस्ततः ॥

तेनापि कार्थोऽपि घटादिः स्वकारणविवेकेन न स्मर्येत । अथ अर्थकृतः कश्चिदतिशयो-
चेन ज्ञानस्मरणे अर्थोऽपि (पि) स्मर्यते, ज्ञानग्रहणे चार्थग्रहः, केवलस्य ज्ञानस्य न ग्रहण-
स्मरणे, घटादिस्तु केवलोऽपि गृह्यते तेनादानादिकञ्च । तदपि स्वपक्षबाधनाय । तथाहि—

‘यस्मादतिशया (यो) ज्ञानमर्थसंसर्गाभाजनम् । साख्यान्तिकमन्यत्त्याद् दृष्टश्च यमलादिषु ॥

15 यदि तस्य विज्ञानस्य नार्थाकारता तदाऽर्थग्रहणेऽपि सद् विज्ञानं गृह्यते स्मर्यते चेति
कोऽयं नियमः । तदर्थान्तर्गतं तु नियमेन तद्ग्रहणेऽपि गृह्यत इति भवति नियमः । तस्मात्-
र्थस्वरूपमेव विज्ञानमर्थग्रहणान्तर्रीयकग्रहणं तत्स्मरणान्तर्रीयकस्मरणञ्च ॥” [प्रमाण-
वार्तिकाल० पृ० ८८-८९]

पृ० ३६, पं० ६, ‘अन्तःशरीर’—ग्रहाकारो हि स्वप्नारथायां सूक्ष्मशरीरं
20 स्वप्रान्तिकनामानं स्वीकरोति । तस्मिन्नेव त्रासलंघनधावनादयो भवन्ति । तदेव स्वप्रान्तिकं
शरीरमत्र ग्रन्थकृता ‘अन्तःशरीर’ शब्देन आक्षिप्तम् । तन्निर्देशप्रत्ययम्—“यथा स्वप्रान्तिकः
कायः त्रासलंघनधावनैः । जाग्रद्वेद्विकारस्य तथा जन्मान्तरेऽप्यपि ॥” [प्रमाणवार्तिकाल०
लि० पृ० १४८] “ग्रहाकारस्तु स्वप्रान्तिकशरीरखादी स्वप्रदशायामपि व्यवहारविनिर्भासज्ञान-
नस्य साक्षात् चिकीर्षादिप्रभवनियममन्युपगच्छति” [सिद्धिबि० टी० पृ० १३८ B.]

25 पृ० ३६, पं० १०, ‘विष्णुताक्षा’—विज्ञानवादिनः विष्णुताक्षयुद्धि—तैमिरिक
चन्द्रद्वययुद्धि—दृष्टान्तेन सर्वेषां प्रत्ययानां निरालम्बनत्वं साधयन्ति । तथाहि—“विज्ञप्तिमात्र-
मेवेदम् असद्वर्थावभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥” [विज्ञप्तिमात्र०
निष्ठातिका पृ० १] “अत एव सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनः प्रत्ययत्वात् स्वप्रप्रत्ययविवृति प्रमा-
रुस्य परिशुद्धिः ।” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २२]

30 तुलना—“विष्णुताक्षा यथा बुद्धिः वितथप्रतिभासिनी । तथा सर्वत्र क्रिन्नेति जडाः
सम्प्रतिपेदिरे ॥ सर्वज्ञानानां स्वयमविषयीकृतानां निर्विषयतासिद्धिः इष्टविघातकृन् विकृद्धः
स्याद्वाद्दलंघने ॥” [सिद्धिबि० पृ० ३३७]

पृ० ३६, पं० १६, ‘प्रमाणमात्मसात्कर्षणम्’—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—प्रमाण-
मात्मसात्कर्षणम् इत्यादि ॥” [सिद्धिबि० टी० पृ० २६८ B.] प्रमाणसं० पृ० १०३।

85 पृ० ३६, पं० २८, ‘इन्द्रजालादिषु’—“तथा चोक्तमकलंकदेवैः— इन्द्रजाला-
दिषु” [आप्तप० पृ० ४९] सिद्धिबि० टी० पृ० २०८ B.

न्यायविनिश्चयस्य

॥ टिप्पणानि ॥



पृ० २६, पं० ३. 'प्रसिद्धाशेष'—तुलना—'प्रवृद्धाशेषतत्त्वार्थबोध' [भाष्य० का० १] पचपटी० का० १ ।

पृ० २६, पं० ६. 'वालानां हितकामिनाम्'—तुलना—प्रमाणवा० ११२ । श्लोकोऽर्थं नयविवरणे (कारि० ११९) मूलरूपेण उपलभ्यते ।

पृ० २६, पं० १४. 'प्रत्यक्षलक्षण'—'आकलंकावबोधने' इति कृत्वा समग्रं ६ कारिका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० १८४) विद्यते । 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कवेवेन्यायविनिश्चये' इति कृत्वा पूर्वोक्तं न्यायदीपिकाम् (पृ० ८) उद्धृतम् ।

पृ० २६, पं० १५. 'द्रव्यपर्यायसामान्य'—'तुलना—द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः ॥' [जैनतर्कना० पृ० १०१]

पृ० २६, पं० १९. 'सामान्यविशेष'—तुलना—'...सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य 10 ...' (पृ० २७) "सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् ।" [योगसू० व्यासभा० पृ० ३६६] "सर्ववस्तुषु बुद्धिरथ व्यावृत्त्यनुगमात्मिका । जायते द्रव्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्धपति ॥ ...तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः ॥" [मी० श्लो० पृ० ५४६-४८] "सर्वत्रपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपि गौः अयमपि वृक्षोऽयमपि इति व्यावृत्तानुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालावस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव सर्वाभासं विजित्य द्वयाकारं वस्तु व्यक्तस्थापयत् 15 केनान्येन शक्यते वाधितुम् ॥" [शास्त्रदी० पृ० ३८७]

पृ० ३०, पं० ७. 'एकत्र निर्णये'—पूर्वोक्तं प्रमाणसंग्रहे (का० ८) उपलभ्यते ।

पृ० ३०, पं० १०. 'अभिलापतद्देशानाम्'—अस्यां कारिकायां चौद्धामितस्य 'अभिलापवत्त्वं विकल्पस्य लक्षणम्' इति मतस्य स्पष्टनं कृतम् । तन्मतश्चेत्यम्— "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह—नामजात्यादियोजना । यदच्छाशाब्देषु नास्ति विशिष्टोऽर्थ उच्यते 20 हित्य इति । जातिशाब्देषु जाल्या गौरयमिति । गुरुशाब्देषु गुर्यान् शुक इति । क्रियाशाब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशाब्देषु द्रव्येषु दण्डी विपाणीति ॥ [प्रमाणतमु० टी० पृ० १२] "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना" [न्यायवि० पृ० १३] "अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना" । शब्दार्थवदनायोग्या वृत्त इत्यादिरूपतः । याच्चास्यप्रयोगेऽपि सामिलापेव जायते ॥" [उत्पत्तं० पृ० ३६६]

25

अप्यस्यैव न्यायस्य सोढरस्यं न्याययानमित्यम्—"नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्थूली केवार्थव्यक्तसायः किञ्च स्वान् ? स्वामिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयेऽवसोयन्ते इत्येव-

- ज्ञैवान्येन विना क्वचित् । विरुद्धोऽप्यं ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम् ॥ ... पुनः इ. एषाह—यदि सहशब्द एकार्थः तदा हेतुरसिद्धः; तथाहि—नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु न ह्येकेनैवोपलम्भो नीलादेः । नापि नीलतदुपलम्भयोः एकेनैवोपलम्भः । तथाहि—नीलोपलम्भेऽपि तदुपलम्भानामन्यमन्तानगत्वानामनुपलम्भान् । यदा च सत्त्वं प्राणभृतां सर्वं चित्तक्षणाः सर्वज्ञेनावसीयन्ते तदा कथमेकेनैवोपलम्भः सिद्धः स्यात् । किंच, अन्योपलम्भनिषेधे सत्येकोपलम्भनियमः सिद्धयति । न चान्योपलम्भप्रतिषेधसंभवः, स्वभावविप्रकृष्टस्य विधिप्रतिषेधायोगात् । अथ सहशब्द एककालविषयज्ञाया, तदा बुद्धविज्ञेयचित्तेन चित्तचैतेश्च सर्वथाऽनैकान्तिकता हेतोः । यथा किल बुद्धस्य भगवतो यद्विज्ञेयं सन्तानान्तरचितं तस्य बुद्धज्ञानस्य च सहोपलम्भनिषेधेऽप्येत्येव च नानालम्बम्, तथा चित्तचैतानां सत्यपि सहोपलम्भे नैकत्वमित्यतोऽनैकान्तिको हेतुरिति । ... स्यादेतत् यद्यपि विपक्षे सत्त्वं न निश्चितं सन्दिग्धं तु ततश्चानैकान्तिको हेतुः सन्दिग्धविपक्षन्या-ष्टित्कत्वात् । ... [तत्त्वसं० पृ० ५६७-६९] श्रावणमा० वृत्तीप० ११५। शा० भा० भामती २।२।२८। योगसू० तत्त्ववै० ४। १४। न्यायकणि० पृ० २६४। अष्टसह० पृ० २४२। प्रमेयक० पृ० २१। न्यायकुमु० पृ० १२२। सन्मति० टी० पृ० ३५२। स्या० रत्ना० पृ० १५२।

- पृ० ४१. पं० २२. 'तत्र दिग्भाग'—तुलना—'घटकेन शुगपद्योगात् परमाणोः षडंशता । षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादशुमात्रकः ॥' [विज्ञप्ति० विधिका पृ० ७] चतु शतक पृ० ४८ । 'यद्वा सर्वात्मना वृत्तौ अनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः ॥' [तत्त्वसं० पृ० २०३] न्यायकुमु० पृ० २२७ ।

- पृ० ४१. पं० २७. 'न चैकमेकरागादौ'—तुलना—'एकस्य चावृत्तौ सर्वस्यावृत्तिः स्यादनावृत्तौ । दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य चाऽगतिः ॥' [प्रमाणवा० २।८५] 'रक्ते च भाग एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत् । विरुद्धधर्मभावे वा नानालम्बनमुपपद्यते ॥' [तत्त्वसं० पृ० १९८] भवयविनिरा० पृ० ८७। न्यायकुमु० पृ० २२८।

- पृ० ४२. पं० ५. 'चित्रं तदेकमिति'—अत्रायं पूर्वपक्षः—'चित्रं तदेकमिति चेद्विदं चित्रतरं ततः । नैकस्वभावं चित्रं हि मणिरूपं यथैव तत् ॥' [प्रमाणवा० ३।२००] तुलना—'तत्र चित्रं भवेदेकमिति वेदिस ...' [प्रमाणसं० पृ० १०३]

- पृ० ४३ पं० १८ 'अत्यासन्नानसंसृ'—पूर्वपक्षः—'अर्थान्तरामिसम्बन्धाज्जायन्ते येष्वणवोऽपरे । उक्तास्ते संचितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्यमनः ॥' [प्रमाणवा ३।१९५]

पृ० ४३. पं० २५. 'कारणस्याक्षये'—'तदुक्तं न्यायविनिश्चये—कारणस्या ...' [सिद्धिदि० टी० पृ० ४६ B ३१४ A. ३४३ A.]

- पृ० ४३. पं० २६. 'समवायस्य'—अत्रायं पूर्वपक्षः—अयुतसिद्धानामाधार्याधार-मूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः । 'इह तन्तुषु पटः इह वीरणो कट इह द्रव्ये गुणकर्मणी ।' [प्रभा० भा० पृ० ६६९]

पृ० ४४. पं० ३. 'शाखा वृक्षेऽपि'—तुलना—रुची० टि० पृ० १४६ पं० ७ ।

पृ० ४४. पं० ६. 'तुलितद्रव्यसंयोगे'—तुलना—'गुरुत्वाधोगती स्यातां यद्यस्य स्यात्तुलानतिः ।' [प्रमाणवा० ४।१५४]

- पृ० ४४. पं० ११. 'आसूक्ष्मतः'—तुलना—'आसूक्ष्माद् द्रव्यमालायास्तौल्य-त्वाद्दंशुपातवत् । द्रव्यान्तरगुरुत्वस्य गतिर्नेत्यपरोऽन्नवीत् ॥' [प्रमाणवा० ४।१५६]

[प्रमाणवा० ३।५१३-१४] “ ज्ञानान्तरेणानुभवे सोऽर्थः स्वानुभवे सति । प्र (अ) सिद्धः सिद्धयसंसिद्धेः कदा सिद्धो भवेत्युनः ॥ तच्छानज्ञानजातौ चेदसिद्धः स्वात्मसंविदि । परसंविदि सिद्धस्तु स इत्येतत्सुभाषितम् ॥ तस्याप्यनुभवे (ऽसिद्धे) प्रथमस्याप्यसिद्धता । तत्रान्यसंविदुत्पत्तावनवस्था प्रसज्यते ॥ गोचरान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्यते । गांचरान्तरसञ्चारे यदन्यं तत्त्वतोऽन्यतः ॥ न सि (छयेत्तस्य चा) सिद्धौ सर्वेषामप्यसिद्धता । अतश्चाऽन्यम-शेषस्य जगतः सन्प्रसज्यते ॥ ” [तत्त्वस० पृ० ५६४] तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६७ ।

पृ० ३३. पं० ६. ‘सारूप्येऽपि’—पूर्वपक्षः—“हेतुभावाद्यते नान्या ब्राह्मता नाम काचन । तत्र बुद्धिर्यदाकार तस्यास्तद् ब्राह्मयुच्यते ॥ ” [प्रमाणवा० ३।२२४] “अर्थेन घटग-श्येनां न हि मुक्त्यर्थरूपताम् । अन्यत्त्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ तस्मात् प्रमेया-धिगतेः साधनं मेयरूपताम् ॥ ” [प्रमाणवा० ३।३०५]

पृ० ३४. पं० १५. ‘सत्यं तमाहुः’—“तदुक्तं न्यायविनिरचये—सत्यं तमाहुः... सदर्थमसदर्थं वा ... ” [सिद्धिबि० टी० पृ० १८९] “सत्यं तमाहुर्विद्वानो विद्याया विभ्रमेण यः ॥ ” [प्रमाणस० पृ० १०७]

पृ० ३४. पं० १६. ‘विषयज्ञान’—स्वसंवेदनज्ञानवादिभिः बोद्धैः हि विषयज्ञान-तच्छानयोः भेददर्शनात् तदाकारता प्रसाच्यते । ग्रन्थकृता उक्तं यत्—विषयज्ञानतच्छानभेदः निराकारत्वेऽपि सुघटः । बौद्धानां तदाकारतासाधनप्रकारः इत्थं द्रष्टव्यः—
“विषयज्ञानतच्छानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता । स्पृतेरप्युत्तरे काले नञ्जसाधविभाषितः ॥ ” [प्रमाणसमु० १।१२] “ननु चाकारः प्रमाणां स्वसंवेदनं फलमिति साकारसिद्धौ स्यात्, तद्वै तु कथं सिद्धयति ? उक्तमत्र, अपि च—

विषयज्ञानतच्छानविशेषाद् बुद्धिरूपता ।

विषये रूपादौ यज्ज्ञानं तदर्थस्वाभासम्, विषयज्ञाने तु यज्ज्ञानं तदर्थानुरूपज्ञानाभासम् स्वाभासञ्च । अन्यथा यदि विषयज्ञानमर्याकारमेव स्यात् स्वाकारमेव वा विषयज्ञानज्ञानमपि तद्विशिष्टं स्यात् । विषये यत् ज्ञानं तदर्थस्वाभासमिति साध्यम्, उत्तरां हेतुः, अन्यथेत्यादि चाद्यकप्रमाणम् ॥ ” [प्रमाणवार्तिककाल० पृ० ८३]

तुलना—“विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः—विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकार-परिच्छेदो न स्यात् तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेषः स्यात् ॥ ” [राजवा० पृ० ३५] “ घटविज्ञानतच्छानविशेषस्तेन दुर्लभः । ” [श्री० श्लो० पृ० ३२४]

पृ० ३४. पं० २५. ‘अर्थज्ञानस्पृता’—बौद्धा हि विषयसंकलितज्ञानस्पृत्वान्य-थानुपपत्त्या तदाकारतां प्रसाधयन्ति । केनचिदाशङ्कितम्—‘यत् मास्तु तदाकारता, केवलं ज्ञानमर्थकार्यम्, अतः अर्थसंकलितज्ञानस्मरणं जायते, न तु तदाकारतया’ तत्र सर्गाहितं बौद्धैः—‘यत् तदाकारतां विनापि यदि अर्थकार्यतामात्रेण अर्थसंकलितस्मरणं स्यात्तदा ज्ञानम् आलोक्तस्य मनस्कारस्य वा कार्यं भवति, अतः आलोक्तसंकलितस्य मनस्कारसंकलितस्य वा ज्ञानस्य स्मरणं स्यात् । न च हरयते अतः स्वीकार्यम्—यत् यदाकारं ज्ञानं तदाकारानुरक्तस्य स्मरणमिति ? यदि कारणत्वादेव अर्थस्य संकलनं ज्ञाने तदा घटेऽपि कुलालस्य कारयभूतस्य संकलनं स्यात्, तथा च घटस्पृता कुलालोऽपि स्मर्येत इत्यादि । ग्रन्थकृता अत्र तदाकारवा-स्थापनाय बौद्धैः य अतिप्रसङ्ग आपादितः स ज्ञानं निराकारं स्वीकृत्यापि शक्तिमतिनियमादेव समाहितः । अतिप्रसङ्गापादकः बौद्धग्रन्थस्त्वयम्—

- पृ० ५०. पं० २३. 'मानसम्'—“तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवः । मनः...” [प्रमाणवा० ३१२४३] “स्वविषयानन्तरविषयसहकारिण्येन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम् ।” [न्यायवि० पृ० १७] “इदमित्यादि यच्चान्नमभ्यासात् पुरतः स्थिते । साक्षात्करणतस्तच्च प्रत्यक्षं मानसं मनम् ॥” [प्रमाणवातिकाल लि० पृ० ४१०]
- 5 पृ० ५१. पं० १६. 'प्रोक्षितम्'—“प्रोक्षितं—यद्वादौ मन्त्रादिसंस्कृतं मांसादि ।” [शब्दकल्पद्रुम]
- पृ० ५१. पं० २७. 'चतुःसत्य'—“चत्वार्यर्थसत्यानि । तद्यथा—दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति ।” [धर्मसं० पृ० ५] “सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः ॥” [अभिधर्मको० ६१२]
- 10 पृ० ५१. पं० २६. 'योगिविज्ञानम्'—“प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम् । विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥” [प्रमाणवा० ३१८१] “भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।” [न्यायवि० पृ० २०] तत्त्वसं० पृ० ३९८ ।
- पृ० ५२. पं० १. 'श्रोत्रादिवृत्तिः'—पूर्वपक्षः—“इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।”
- 15 [योगसू० व्यासभा० पृ० २७]
- तुलना—“क्वापिलास्तु श्रोत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षान्वमिच्छन्ति ।...” [प्रमाणसमु० पृ० ६४] न्यायवा० पृ० ४३ । “वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।” [न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५] न्यायसं० पृ० १०० । “श्रोत्रादिवृत्तिः भ्रान्तेऽपि नहि नाम न विद्यते । न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादेरुपपद्यते ॥” [प्रमाणवातिकाल लि० पृ० ४४०] तत्त्वोप० लि० पृ० ७७ । “श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिन्तितम् । तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणात् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७] नयचक्रदृ० पृ० ७३ A. पदद० वृह० पृ० ४३ । प्रमाणमी० पृ० २४ ।
- पृ० ५२. पं० ४. 'तथाकार्य'—पूर्वपक्षः—“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।” [न्यायसू० ११४] प्रश्न० भा० पृ० ५५३ ।
- 25 पृ० ५२. पं० १०. 'लक्षणै'—तुलना—प्रमाणसं० पृ० ९९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४ । इति प्रथमं प्रत्यक्षप्रस्ताव ।
- >>><<<—
- पृ० ५२. पं० २१. 'साधनात्'—तुलना—“साध्याविनामुवो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तद्भ्रान्तं प्रमाणात्वात् समञ्जवत् ॥” [न्यायवा० श्लो० ५] लघी० का० १२ । “साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्मुधाः । प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७] प्रमाणप० पृ० ७० । परीक्षामु० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।९ । प्रमाणमी० १।२।७ । न्यायदी० पृ० २० । जैनतर्कभा० पृ० १२ ।
- 30 पृ० ५३. पं० २. 'साध्यं'—“एवं हि यैरुक्तम्—साध्यं...” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४, १९७] “तदुक्तमकलंकदेवैः—साध्यं...” [प्रमाणप० पृ० ७२] “साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ।” [प्रमाणसं० पृ० १०२] प्रमाणनि० पृ० ६१ । “तदुक्तं न्यायविनि-
- 35 श्रये—साध्यं...” [न्यायदी० पृ० २१]

पृ० ३७. पं० १. 'सत्र शौद्धोदनेरेव'—“सदुक्तं न्यायविनिश्चये—तत्र शौद्धोद-
नेरेव...तत्राद्यापि जडासकतास्तमसो” [अटसह० पृ० ११६]

तुलना—“शौद्धोदनेरेव प्रज्ञापराधोऽयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यविविस्मयमात्महे ।
तन्मन्ये (तन्मन्ये) पुनरथापि कीर्तयन्तीति किं वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः ।” [अटसह०,
अटसह० पृ० ११६] “कथञ्चिद् अस्माल्प्यप्रतिपत्तिमन्तरेण यथादर्शनमेवेत्यादि श्रुवतः क्षणि 5
कप्रान्तैकान्तविचक्षणानान्तराणि स्वभावनैरात्म्यं वा श्रुवतः शौद्धोदनेः तावदयं प्रज्ञारराधः
कथमिति सविस्मयं सकरुणं नरचेतः । सन्त्यस्यापि अनुवक्तार इति किमन्यदनात्मज्ञतायाः ।”
[सिद्धिवि० पृ० ७४] “आचार्यस्तस्यैव तावदिदमीदृशं प्रज्ञास्वस्त्रितं कथं श्रुत्तमिति सविस्म-
यालुकम्पन्नरचेतः । तदपरैऽभ्यनुबदन्तीति निर्दयाक्रान्तश्रुवनं विग्न्यापकं तमः ।” [वादव्या-
यटी० पृ० ५१]

पृ० ३७. पं० ६. 'विभ्रमे विभ्रमे'—तुलना—“भ्रान्तावपि यदि भ्रान्तिः भ्रान्तिरेव
विशीर्यते । भ्रान्तावभ्रान्तावपिचौ भ्रान्तिः सेति प्रतीयते ॥” [प्रमाणवात्तिकाल० कि०पृ० ३०३]

“सदुक्तं न्यायविनिश्चये—विभ्रमे” [सिद्धिवि० टी० पृ० ६२ A.] अटसह०पृ० ११६ ।
“सर्वथा विभ्रमे तस्य” [प्रमाणसं० पृ० १०६]

पृ० ३८. पं० ३. 'परित्यज्यति'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“मण्डिप्रदीपप्रभयोः मण्डि- 15
मुद्धयामिधावतोः । सिध्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥” [प्रमाणवा० ३।५७]

पृ० ४०. पं० ६८. 'विज्ञप्तिर्वितथा'—पूर्वपक्षः—“यथा [स्व प्र] त्ययापेक्षाद-
विषयोपस्तुतात्मनाम् । विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते सिमिरादिवत् । असंविदितवत्त्वा च सा
सर्वापरदर्शनैः ।” [प्रमाणवा० ३।२१७]

पृ० ४१. पं० ६. 'सहोपलम्भ'—विज्ञानवादिनः अर्थसंविदोः सहोपलम्भनि- 20
यमादभेदं साधयन्ति । तथाहि—“सकृत्सन्नेद्यमानस्य नियमेन धिया सह । विषयस्य ततोऽन्यत्वं
केनाकारेण सिद्धयति ॥ विषयस्य हि नीलादेर्धिया सह सकृदेव संवेदनम् । धिया सह न
पृथक् । ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम् ?” [प्रमाणवात्तिकाल० पृ० ११] “यद्
यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात् । यथा वा तैमिरिकज्ञान-
प्रतिभासी द्वितीय उद्दुपः—बन्दूमा । नीलधीयेदनञ्चेदम् इति पक्षधर्मोपसंहारः । धर्म्यत्र 25
नीलाकारतद्विधौ, तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः, यद्योक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः । ईदृश
पञ्चाचार्याये प्रथमो हेत्वर्थोऽभिप्रेतः ।” [तन्वस० पृ० ५० ५६७]

तुलना—“सहोपलम्भनियमान् स्याद्भेदो नीलतद्विधोः । असहानुपलम्भश्चेत् असिद्धः
पृथगीच्छयात् ॥ सहोपलम्भनियमादभेदैकान्तसाधने न कश्चिद्भ्रान्तिज्ञानं स्यात् सुपुत्रवत्
भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः तेन तवेकान्तः, भ्रान्तिविविक्तप्रत्यक्षस्वभावोपपत्तेः । बहिरन्तश्च नीलसिद्धि- 30
योदर्शनात् कुतः सहोपलम्भनियमः सिद्धः ? सकृदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनां परमानुपलम्भेऽपि
तदर्थदर्शनात् कुतो नियमः ? तदेकक्षणवर्तिनां सहोपलम्भनियमान् स्वर्थं वा उपपत्तेः सकल-
लगवेकसन्धानं प्रसज्येत । यदि पुनरेकज्ञानोपलम्भनियमः, असिद्धो हेतुः अनेकान्तिकश्च,
नीलस्य अनेकज्ञानोपलम्भवत् धनुनामपि द्रव्याणामेकज्ञानोपलम्भाप्रतिषेधोत् । यद्यसहानु-
पलम्भः, को विशेषः ? प्रसज्यप्रतिषेधमात्रमसाध्यमाधनम् धस्येव (१) अर्थोद्देशगतिलक्षणात्” 85
[सिद्धिवि० पृ० ३३३-३३६] प्रमाणसं० पृ० १०९ ।

“तत्र भदन्तशुभगुप्तस्त्वाह—विकटोऽयं हेतुः यस्मान् सहस्रानुपलम्भश्च लोकेऽन्यो (स्या)

वेदद्विषी ॥” [विंशषा० गा० २१४०] “ओ वास्तथयमिहासी पठमो अहिलासपुत्रवगो सोवि ।
अहिलासजा ज्यो अह विलथाहारअहिलासी ॥” [ब्रह्मसू० गा० १४५]

पृ० ६४. पं० १५. 'तथा रागादयो'-तुलना-“रागद्वेषादयस्त्रांभी पदवोऽभ्या-
सयोगतः । अन्यथयव्यतिरेकाभ्यां भवन्तः परिनिश्चिताः ॥” [तत्त्वस० पृ० ५४६]

5 पृ० ६६. पं० २. 'न चेत्स'-तुलना-“तदुक्तम्-स्वतोऽन्यतो वा विवर्तते क्रमाद्धै-
तुकसात्मनो ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ६५९ A.]

पृ० ६६. पं० २०. 'साधनं'-तुलना-प्रमाणस० पृ० १०२ । “अन्यथानुपपत्त्ये-
कलक्षणं तत्र साधनम् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४] परीक्षामु० ३।१५ । “तथा चाम्यथापि
कुमारनन्दिभद्रा(कैः)-अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमगम्यते । प्रयोगपरिधाती तु प्रतिपाद्यानु-
राधतः ॥” [प्रमाणप० पृ० ७२]

10 पृ० ६६. पं० २३. 'विरुद्धासिद्ध'-तुलना-“हित्वाभासां असिद्धविरुद्धानै-
कान्तिकांकिञ्चित्कराः ।” [परीक्षामु० ६।२१]

पृ० ६७. पं० १. 'एकं चरुं'-तुलना-“एकं आद्यतैरावृतं रूपं रक्त
रक्तैः” [प्रमाणस० पृ० १०२]

15 पृ० ६८. पं० २७. 'रूपादीनि'-तुलना-“नीलादीनि निरस्यान्यचित्रं चित्रं
यदीक्षसे ।” [प्रमाणवा० ३।२०२]

पृ० ७३. पं० २७. 'शिलास्रवः'-तुलना-“स्वल्पक्षानि परिष्कृतम् अक्षतुद्धौ
प्रतिभासन्ते इति शिलास्रवः कः श्रद्धधीत ?” [सिद्धिवि० पृ० १२५ B.]

20 पृ० ७४. पं० १. 'अन्यथानुपपन्नं'-श्लोकोऽर्थे सिद्धिमिनिश्चयेऽपि विद्यते । तद्वि-
कीर्णता चाव पात्रस्वामिकर्तृकत्वसमालोचनपुरस्सर भगवत्सीमन्धरस्वामिकर्तृकतया निर्दिष्टः ।
[सिद्धिवि० टी० पृ० ३०० A.] न्यायमिनिश्चयविवरणे आराधनाकथाकोणे च अस्व पक्षावतीदेव्या
भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पात्रस्वामिने समर्पणञ्च समुल्लिखितम् । श्लोकोऽर्थे तत्त्वा-
र्थश्लोकवार्तिके धार्मिककारं (राजवर्तिककारं) कर्तृकतया तत्त्वसंग्रहादेषु च पात्रस्वामिप्रये-
वृक्ततया समुद्धृतः । तथाहि-

25 “तथाह च-अन्यथानुपपन्नं” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३] “हेतुलक्षणं वार्तिककारेण-
चमुक्तम्- अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र प्रयेण किम् । इति ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५] प्रमाणप०
पृ० ७२ । जनतर्कवा० पृ० १३५ । सूत्रकृत्यागटी० पृ० २२५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । “अन्यथेत्यादिना
पात्रस्वामिमंतमाराहृते-अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता । नासति त्रयोःकस्यापि तस्मात्की-
र्णशिलाक्षणाः ॥ ...नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र ...अन्यथानुपपन्नत्वं” [तत्त्वस० पृ० ४०६]
30 “तदुक्तं जनैः-अन्यथानुपपन्नत्वं” [सन्नाते० टी० पृ० ५६०] न्यायसौ० पृ० ३२ । “तदुक्तं
पात्रस्वामिना-अन्यथानुपपन्नं” [स्या० रत्ना० पृ० ५२१]

तुलना-“अन्यथाऽस्मन्भवौ ज्ञातो यत्र संभ्र प्रयेथे किम् ।” [प्रमाणस० पृ० १०४]

पृ० ७५. पं० २४. 'तुलौभाम'-तुलना-“तुलौभाम” तादर्थ्यसहकारकः ।”
[प्रमाणस० पृ० १०७] “परस्परविनाभूतो नीमोऽनामी तुलान्तयोः” [सिद्धिवि० पृ० ३१५ A.]

पृ० ४५. मं० १५. 'तिस्रादि'-तुलना-^५ तस्य क्रमेण संयुक्ते प्रांशुराशौ सकृ-
धुवे । भेदः तिस्राशौ च समात् इष्टम् सद् व लोकिवे ॥ क्रमेण प्रापकावीतं संख्यासाध्यं च
युक्त्वे । सप्तधावेयं द्विसासकरोत्तरोत्तरद्विभित् ॥... [प्रमाणवा० ५१५७-५८]

पृ० ४४. पं० २६. 'गुणपूर्वयवद्द्रव्यम्'-तुलना-^५ गुणस्यमासञ्चो द्वयं मन्-
वन्वस्तिमा गुणा । जन्वस्यं पञ्चमयां तु उमश्चे श्रुत्तिमा भवे ॥ [उतत्रा० २८६] 'द्वयं ५
सल्लक्ष्यस्यिष्यं उपादव्ययधुवतसंयुतं । गुणपञ्चयासयं वा जं तं भयस्यति सन्नयद् ॥ १
[पञ्चाशित् ० गा० १०] " मुख्यमर्थयद् ब्रह्मम् " [तद्व्याख्यं ० ५१३८] " तं मरिचामुह्यु वन्तु
तुहं नं गुण-पञ्चयुक्तु । इहशुव जाणहि वाहं गुण्य क्रम-शुव पञ्च वुक्तु ॥ १ [पञ्चाशतप्र०
गा० ५७] कथी० टि० पृ० १४२ पं० २७ ।

पृ० ४५. पं० ५. 'भेदज्ञानात्'-तुलना-^५ भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः 10
परिदृष्टम् । तत्रैवाभेदविज्ञानाद्भेदस्य ज्ञानस्थितिः ॥ [जैवतकं० पृ० ११०] " तथा
चोक्तं न्यायविनिरचये-भेदज्ञानात् " [सिद्धि० टी० पृ० १६९ A.]

पृ० ४५. मं० ११. 'सदोत्पाद्'-दृष्टव्यम्-कथी० टि० पृ० १४२ पं० २१ ।

पृ० ४५. पं० १६. 'अत्रप्रतिप्रतिवेद्य'-तुलना-^५ अत्रमाद्द्रव्यज्ञानेन व्यावृत्त-
ज्ञानात्मकः । पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ [नी० ख्ये० पृ० ६२५] 15
" तद्वत् भवः स्वप्नेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ [यम्यस्य० पृ० १२२]

पृ० ४५. पं० २४. 'स्वस्तक्षया'-तुलना-प्रमाणसं० पृ० १०३ ।

पृ० ४६. पं० ५. 'तद्भावः'-तुलना-^५ "तद्भावः परिणामः ।" [तत्त्वार्थसू० ५१४२]

पृ० ४६. मं० ११. 'भेदानां'-अत्रायं पूर्वपक्षः-^५ नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ [ब्रह्मसं०
२।२।३२] " भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः ।" [प्रमाणवा० १।११] 20

पृ० ४६. पं० १३. 'अन्वयो'-तुलना-प्रमाणसं० पृ० १०७ ।

पृ० ४६. पं० २३. 'उत्पादविगम'-तुलना-^५ उत्पादविगमप्रौढ्यद्रव्यपर्याय-
संश्लेषम् । कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥ [सिद्ध० द्वित्रि० २०।१]

पृ० ४६. पं० १८. 'नीयानादिषु'-नीयानादीनि विभ्रमकारणानि । दृष्टव्यम्-
कथी० टि० पृ० १४८ पं० ८ । 25

पृ० ४६. पं० ३२. 'तस्माद् दृष्टस्य'-अत्रायं पूर्वपक्षः-^५ "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य
दृष्ट एवास्तिलो गुणः । आन्त्या न निरचय इति समन्तं सम्भवतीति ॥ [प्रमाणवा० १।४६]

पृ० ४६. पं० २५. 'अत्यक्षं कल्पना'-अत्रायं पूर्वपक्षः-^५ "अत्यक्षं कल्पनापोढं
प्रत्यक्षैवैव सिद्धयति ॥ [प्रमाणवा० ३।१२२]

पृ० ५०. पं० १४. 'आविकल्पक'-पूर्वपक्षः-^५ "अत्यक्षं कल्पनापोढम्... ७
[प्रमाणसं० १।३] " यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं ब्रह्मसत्त्वं अस्ति वर्तते इति
प्रत्यक्षम् ॥ [ज्यम्यस्य० पृ० ७] " तत्र कल्पनपोढमभ्रान्तं अत्यक्षम् ॥ [ज्यम्यस्य० पृ० ११]
तत्त्वसं० पृ० ३६६ । " तत्रायं न्यायमुल्लभन्त्यः-यज्ज्ञानमर्थरूपेणैव द्विरोषणात्प्रत्यक्षमभेदो-
चारेणाविकल्पकं तद्वक्ष्यन्ति प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम् ॥ [उत्तरसं० पृ० ३७२] 30

[न्यायवि० पृ० १३३] न्यायप्रवे० पृ० ९ । प्रमाणमी० २।१।२९ । “अस्तु मिथ्योत्तरं जातिर-
कलङ्कोकलचक्षुः ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०९, ३१०]

पृ० ७६. पं० ३०. ‘दृष्ट्युद्गादेः’-पूर्वपक्षः-“सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनि-
राकृतेः । चोदितो दधि खादेति कियुर्ध्रं नामिधावति ।” [प्रमाणवा० १।१८३]

5 पृ० ८०. पं० २. ‘विदूषकः’-तुलना-“मिथ्यार्थाभास्थिरज्ञानचित्रसन्तानसाधकः ।
तत्त्वज्ञानगिराङ्गं (?) दूषकस्त्वं विदूषकः ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३३० B.]

पृ० ८०. पं० १५. ‘साधर्म्यादिसमत्वेन’-“साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ष्या-
वर्ष्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वार्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युप-
लब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ।” [न्यायसू० ५।१।१]

10 वादविधि-प्रमाणसमुच्चय-न्यायमूल-तर्कशास्त्रोपायहृदयविदुषु साधर्म्यादिसमानां जातीनां
वर्षानमस्ति । द्रष्टव्यम्-प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ११३ । न्यायकुमु० टि० पृ० ३२३ ।

पृ० ८०. पं० १५. ‘नेह प्रतन्यते’-तुलना-“छलजातिनिग्रहस्थानभेदलक्षणं
नेह प्रतन्यते विस्तरभयात् अन्यत्र तद् द्रष्टव्यम् ।” [सिद्धिवि० पृ० २५६ B.]

पृ० ८०. पं० २०. ‘असाधनाङ्ग’-पूर्वपक्षः-“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं
15 द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥” [वाक्याय पृ० २]

तुलना-“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमिदं चेत् किं पुनः साध्य-
साधनैः ॥” [सिद्धिवि० पृ० २७२ A] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ । प्रमेयक० पृ० २०३ A.
प्रमाणमी० २।१।३५ ।

पृ० ८०. पं० २८. ‘दृष्टान्तः’-तुलना-“साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयते
20 तराम् । साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्वन्धस्मरणान्मतः ॥ साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्य-
संभवः । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ॥” [न्यायाव० श्लो० १८-१९] परी-
क्षामु० ३।४७-४९ । प्रमाणनय० ३।४०-४४ ।

पृ० ८०. पं० २८. ‘तदामासाः’-तुलना-“साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायवि-
दीरिताः । अपलक्षणादेस्तथाः साध्यादिविकलादयः ॥” [न्यायाव० श्लो० २४] परीक्षामु० ६।
25 ४०-४५ । प्रमाणनय० ६।५८-७९ । प्रमाणमी० २।१।२२-२७ ।

पृ० ८१. पं० ३. ‘वादः’-तुलना-“विरुद्धयो घर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृत-
तदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः ।” [प्रमाणनय० ८।१] प्रमाणमी० २।१।३० ।

पृ० ८१. पं० ५. ‘आस्तां तावद्’-उद्धृतेयं कारिका-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९ ।

पृ० ८१. पं० ८. ‘वितण्डादिः’-“यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाध-
80 नोपालम्भो जल्पः । स प्रतिपक्षस्थापनादीनो वितण्डा ।” [न्यायसू० १।२।१, २]

पृ० ८१. पं० १२. ‘प्रामाण्यं यदि’-श्लोकोऽर्थ्यं प्रमाणसंग्रहेऽपि (पृ० १२७) विद्यते ।

इति द्वितीय अनुमानप्रस्तावः ।



तुलना—“पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेषितः, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।” [न्यायप्रबन्धे० पृ० १] “साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः ।” [न्यायाव० श्लो० १४] “स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः इति ।” [न्यायवि० पृ० ७९] “इष्टमवाधितमसिद्धं साध्यम् ।” [परीक्षामु० ३।१५] “अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ।” [प्रमाणनय० ३।१२] जैनतर्कभा० पृ० १३ । “सिसाधयिपितमसिद्धमवाध्यं साध्यं पक्षः ।” [प्रमाणनी० १।२।१३] 5

पृ० ५३. पं० १४. ‘आन्तेः’—तुलना—“ आन्तेः पुरुषवर्मत्वात् ” [न्यायवा० पृ० २०] प्रमाणसं० पृ० १०२ ।

पृ० ५४. पं० ७. ‘व्याधिभूत’—तुलना—“ व्याधिभूतग्रहेन्द्रियप्रद्युत्तिनिवृत्त्योः मन्त्रौपधादिशाक्तेश्च कृतः सिद्धिः ? ” [सिद्धिवि० पृ० ३४९ A.] 10

पृ० ५७. पं० १४. ‘नो चेद्विभ्रम’—तुलना—“नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।” [प्रमाणवा० १।४५]

पृ० ५६. पं० २. ‘भेचकादिवत्’—तुलना—“यथा कल्माषवर्णस्य सधेष्टं वर्णनिग्रहः । चित्रत्वाद्बस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम् ॥ यदा तु शबलं बस्तु युगपत्प्रतिपद्यते । तदान्यान्यभेदादि सर्वभेव प्रलीयते ॥ ” [मी० श्लो० पृ० ५६१] नरसिंहभेचकवद् बस्तुनो जात्यन्तरात्मकत्वाभ्युपगमात् ।” [अनेकान्तजय० पृ० २८१] 15

पृ० ५६. पं० १६. ‘प्रत्यभिज्ञा’—“ प्रत्यभिज्ञा द्विधा इत्यादिवचनात् ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० १७८ B.]

पृ० ६२. पं० ३. ‘अप्रत्यक्षेऽपि’—“अप्रत्यक्षेऽपि तद्गुणो ज्ञानं नो जातिस्मरदर्शनात् ।” [प्रमाणसं० पृ० १०७] 20

पृ० ६२. पं० २८. ‘विकृतेरविकारिणी’—तुलना—“प्रसुप्तिकाद्यवस्थासु शरीरविकृतावपि । नान्यथात्वं मनोबुद्धेस्तस्माभ्येव तदाश्रिता ॥” [तत्त्वसं० का० १९३४] ‘न च यस्य विकारेऽपि यन्न विक्रियते तत्तत्कार्यं युक्तमतिप्रसङ्गात् ।’ [तत्त्वसं० पृ० ५५२७] न्यायकृम० पृ० ३४६ ।

पृ० ६२. पं० २६. ‘निर्हासा’—तुलना—“बुद्धिब्यापारभेदेन निर्हासातिशयावपि । 25 प्रज्ञावेर्भवतो देहनिर्हासातिशयैर्विना ॥” [प्रमाणवा० २।७३]

पृ० ६३. पं० २४. ‘जातिस्मराणां’—तुलना—“जाइस्सरो न विगमो सरणाओ बालजाइसरणोअ । जह वा सदेसवत्तं नरो सरंते विदेसम्मि ॥” [विद्येपा० गा० २।५०] “जाइसरणं च इहं दोसइ केसिं चि अवितहं लोप । पुज्वभवणवियसेवियसंवादातो अयोगभव ॥” [धर्मसंग्र० गा० १४६] “नात्मापि लोके नोऽसिद्धो जातिस्मरणसंग्रयात् ।” [शास्त्रवा० १।४०] 80

पृ० ६३. पं० २८. ‘नास्मृतेऽभिलाषो’—“न स्मृतेरभिलाषा..... इत्यकलंकवचनम् ।” [तत्कार्यश्लो० पृ० ३२९]

पृ० ६३. पं० ३१. ‘जातमान्नेऽपि’—तुलना—“पूर्वाणुमूतस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षमयशोकसम्प्रसिद्धेः ।” [न्यायभा० ३।१।१९] न्यायन० पृ० ४७० । तत्त्वसं० पृ० ५३२ । “पदमो थयाहिलासो अण्णाहारहिलासपुञ्जोऽर्थ । जह बालहिलासपुञ्जो जुवाहिलासो थ 85

[भाष्यप्रवृत्ति० पृ० १४] “यद्योक्तम्—सर्वाद्दृष्टिम् सन्दिग्धं ख्याद्येव्यैरिवास्मिन् । खलुविला-
न्तर्गतस्यापि बीजस्य सत्त्वदर्शनात् ॥” [तर्कना० मो० लि० पृ० २२]

पृ० ८४, पं० १४, ‘स्वप्नेच्छाधिकारदेव्या’—तुलना—“स्वप्ने च मानसं ज्ञानं सर्वा-
र्थानुभवात्मकम् । (पृ० ८६६) ... अतीन्द्रियार्थविज्ञानयोगो नाप्युपलभ्यते । प्रज्ञादिगुण-
योगित्वं पुंसां विद्यादिशक्तितः ॥ अस्ति हीक्षयिकाद्याख्या विद्या या सुविभाषिता । परचित्तप-
रिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि ॥ आदिशब्देन गान्धारीप्रभृतीनां ग्रहणम् ॥” [तत्त्वस० पृ० ८८८]

पृ० ८४, पं० १४, ‘ज्ञानावृत्तिविवेकतः’—तुलना—“एवं क्लेशावरणप्रहायं
प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहायं प्रतिपादयन्नाह—साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः । सर्वज्ञ-
त्वमत्तः सिद्धं सर्वावरणयुक्तितः ॥” [तत्त्वस० पृ० ८७५]

10 पृ० ८५, पं० २, ‘एवं यत्कैवल्यज्ञानं’—पूर्वपक्षः—“एवं वैः केवल्यज्ञानमिन्द्रि-
याद्यन्येच्छितम् । सूत्रमातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥ नर्ते तद्ब्रह्मामात् मिद्वयेत्र च
तेनागमो विना ॥” [मो० श्लो० पृ० ८७]

पृ० ८५, पं० १५, ‘ग्रहादिगतयः’—तुलना—“धीरत्यन्तपरोक्षेर्धेनं चेतं पुंसां
कृतः पुनः । ज्योतिर्ज्ञानाविषंभ्रदः श्रुताचेत् साधनान्तरम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ४१३ A.]
15 चन्द्रसूर्योपरागादेसतः संवाद्दर्शनात् । अप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न ब्राम्णार्थं न युज्यते ॥”
[शास्त्रवा० २।३] प्रमाणमी० पृ० १२ ।

धर्मकीर्तिना ज्योतिर्ज्ञानोपदेशस्य सर्वज्ञत्वसाधकत्वे सन्दिग्धव्यतिरेकितोक्तम् । तथाहि—
“सन्दिग्धसत्त्वान्यव्यतिरेकमुदाहरणमाह—यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनासा वा अविद्यमानसर्वज्ञ-
तामत्तार्थिणभूतप्रमाणाविशयशासनत्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणं यः सर्वज्ञ आसीत् वा स
20 ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टव्यम् तथाथा श्रुतभवधर्मानादिरिति ।” [न्यायवि० पृ० १२६] “तदिह
वैधर्म्योदाहरणम् श्रुतभादेरसर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यष्टुत्तिः सन्दिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं
चोपदेशीदसर्वज्ञत्व भवेदमाप्ते वा, कोऽत्र विरोधः ? नैमित्तिकमेतच्छानं ज्यमिचारि न सर्वज्ञत्व-
मनुष्ठापयेत् ॥” [न्यायवि० टी० पृ० १२७]

पृ० ८५, पं० १६, ‘सूक्ष्मान्तरित’—कारिकेयं मूलतः स्वामिस्रमन्तभद्रोक्ता ।
25 तुलना—भाष्यमी० का० ५ । प्रमाणमी० पृ० १२ । “तदुक्तं स्वामिभिः महाभाष्यस्यादावाप्त-
मीर्मासाप्रस्तावै सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः... ५ [न्यायवि० पृ० १३]

पृ० ८६, पं० १, ‘स्लेच्छादिव्यवहारवत्’—तुलना—“तस्मादपौरुषेयत्वे स्याद-
न्योऽपुरुषाग्रयः । स्लेच्छादिव्यवहारार्थां नास्तिक्वचक्वत्सामपि ॥ अनारदित्वाद् भवेदेवं पूर्णसंस्कार-
रसन्ततेः । साहस्येऽस्यैरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि ह्युपां सत्रेत् ॥” [प्रमाणमी० १५४७-४८]
30 “सिद्धेऽपि तद्ब्रह्मादिज्ञे प्रौरुषेयत्वाभावे वा कश्चमविसंवाद्गत्वं प्रत्येतव्यम्, स्लेच्छादिव्यवहा-
रादेस्तादृशो ब्रह्मलुपलम्भात् ॥” [अष्टस०, अष्टसह० पृ० २३८] “कर्तुरस्मररौऽपि अबन्धा-
नादित्वं स्यात् पुनः नित्यत्वमेव, तथापि कथं प्रामात्यं तद्वारीः स्लेच्छादिव्यवहारवत् ।”
[सिद्धिवि० पृ० ४०८ A.]

पृ० ८६, पं० ६, ‘कालेनेतावता’—तुलना—प्रमाणस० पृ० १८ ।
35 पृ० ८६, पं० १०, ‘स्वप्नेऽत्रत्वे तु शब्दान्तरम्’—तुलना—“नित्यत्वेऽपि सक्त्वा
सर्वेषां स्यात् सक्त्वात् । समानप्रहयोग्यत्वात् ज्यपिनां समवस्थितेः ॥ तत्कृतमुपकरण-
सर्वेषां स्यात् सक्त्वात् ।

पृ० ७५, पं० २६. 'चन्द्रावीक्षपरभागोः'—तुलना—“उदेतस्मिन् प्रसिद्ध-
नियमे कथं चन्द्रावेर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयेत नानयोः कथंकारणभावः सहैव
भावात् । न च तादात्म्यलक्षणो भेदात् ।” [सिद्धिदि० पृ० ३०६ B.]

पृ० ७६, पं० ७. 'एतेन पूर्ववत्'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“अथ तत्पूर्वकं त्रिषधस-
नुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतादृष्टं च ।” [न्यायसू० ११११] 5

पृ० ७६, पं० ७. 'धीति'—पूर्वपक्षः—“तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं धीतमधीतं च ।
तत्र अन्वयसुखेन प्रवर्तमानं विधायकं धीतम् । अतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमधीतम् ।
तत्र अधीत शेषवत् । धीतं द्वेषा पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्टम् ।” सायनतत्त्वटी० पृ० ३० ।

पृ० ७६, पं० ७. 'संयोग्यादी'—पूर्वपक्षः—“अश्वेदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि
समवायि चेति लौकिकम् ।” [वैश० सू० १२११] 10

पृ० ७६, पं० १०. 'अन्यथानुपपन्नत्व'—तुलना—“अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलं-
घणमीरितम् । तदप्रतीतिसन्देहविषयासैस्त्वदाभिता ॥” [न्यायसू० श्लो० २२]

पृ० ७६, पं० १८. 'निर्व्यापारो'—तुलना—प्रमाणसू० पृ० १०७ ।

पृ० ७६, पं० २८. 'सत्त्वमर्थ'—तुलना—“अन्यथा निश्चितं सत्त्वं विरुद्धमन्व-
लात्मनि ।” [प्रमाणसू० पृ० १०७] 15

पृ० ७६, पं० ३१. 'सर्वज्ञप्रतिषेधे'—तुलना—“सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षोद्वेषना-
देस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम्, अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥” [न्यायसू०
पृ० १०५] “अज्ञानादेर्दोषसंज्ञो नो लोके व्यतिरेकोऽन्य सन्दिग्धोऽन्यभिचार्यतः ॥” [प्रमाणवा०
२।१४२] परीक्षासू० ६।३३ । प्रमाणनय० ६।५७ ।

पृ० ७८, पं० २२. 'परदुःखपरिप्राणात्'—तुलना—“सर्ववेदने तु परसन्तान-
रागादिवेदने रागादिमत्त्वमिति न सत्, तथाहि—परसन्तानसंविचौ धीतरागित्ववेदने । सत्त्व
रागित्वमप्यस्तीत्येतद्व्यान्तदुषटम् ॥ यदैवासौ रम्यी पररागवेदने तथा परवीतरागवेदने
धीतरामोऽपि । समयमपि तदैवेति चेन्न; एकेनाप्यनुभूतत्वामात्रे रागी कथं मतः । तदर्थस्य हि
संविचौ न रागित्वादिसम्भवः ॥ तथाहि—न घटवेदने घटीभवति । एवं रागादयोऽपि परसन्ता-
नान्तर्गतस्तदवस्थतया अथगम्यमाना न रागित्वं निर्वर्त्तयन्ति ।” [प्रमाणवाचिकाल० लि० पृ० ४३४] 20

पृ० ७८, पं० ३०. 'असिद्ध्यास्तु'—तुलना—“तत्र शब्दान्तिवत्त्वे साध्ये चाह्युप-
त्वादिस्तुभवासिद्धः ।” [न्यायप्रवे० पृ० ३] “अविद्यमानसत्ताकः परिश्यामी शब्दः चाह्युप-
त्वात् ।” [परीक्षासू० ६।२३ ।] प्रमाणनय० ६।५० ।

पृ० ७६, पं० ३. 'विरुद्धा'—“एकलक्षणताहात्याद्वैत्यात्मसा निर्धर्त्ताः ।
विरुद्धानैकान्तिकासिद्धाहात्ताकिञ्चिद्विरादयः ॥ अन्यथानुपपत्त्या निर्णयिते हेतुः । अन्यैवोप-
पत्त्या विरुद्धः । अन्यथा योपपत्त्यानैकान्तिकः । तथा अन्वया च सन्मूर्धुरसिद्धः । अज्ञाने
पुनरज्ञातोऽकिञ्चिद्विरुद्धः तथैव । न एकलक्षणाभावे त्रिलक्षणां गमकम् । अनुपपत्त्यात्वात्तत्राद्यत्रा
निरचेत्तुमशक्यैव ।” [सिद्धिदि० पृ० ३४३-४४] 25

पृ० ७६, पं० २७. 'तत्र मिथ्योत्तर'—तुलना—“दृष्टानामास्तु जातयः ।”

वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्रमङ्गी ।” [रात्र्वा० १।६] “द्रव्यपर्यायसामान्य-
विधानप्रतिषेधतः । सहस्रमखिवक्षायां सप्तमङ्गी तदात्मनि ॥” [प्रमाणसं० पृ० १२२]
तत्त्वार्थकलो० पृ० १२८ । प्रमेयरत्नको० पृ० ५ । प्रमाणनय० ४।१३-२१ । जैनतर्कना० पृ० १९ ।
नयोप० पृ० ९४ A. । स्याद्वादम० का० २३ । सप्तमङ्कित० पृ० २ ।

४ पृ० ६०, पं० १४, ‘प्रयोगविरहे’—तुलना—लघी० टि० पृ० १५१ पं० २९ ।

पृ० ६१, पं० ४, ‘संशयादिप्रसङ्गः’—पूर्वपक्षः—“अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं
यत्तत्सद्विष्यते । एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भाषाधियोगतः ॥ यदा व्ययस्त्वदा सत्त्वं कथं
तस्य प्रतीयते । पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात्तदा तस्य व्ययः कथम् ॥ ध्रौव्येपि यदि नास्मिन् धीः
कथं सत्त्वं प्रतीयते । प्रतीतेरेष सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा ॥ तस्मान्न नित्यानित्यस्य
10 वस्तुनः संभवः क्वचित् । अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमतम् ॥” [प्रमाणवाचिकाल०
लि० पृ० २३५] “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्येतदप्ययुक्तम्; ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरो-
धात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात् । कथञ्चिदुत्पादव्ययौ कथञ्चिद् ध्रौव्यमिति चेत्; यथा उत्पाद-
व्ययौ न तथा ध्रौव्यम्, यथा च ध्रौव्यं न तयोत्पादव्ययौ इति नैकं वस्तु यथोक्तलक्षणं
स्यात् ॥” [हेतुवि० टी० लि० पृ० २१६] द्रष्टव्यम्—न्यायकुमु० पृ० ३६० टि० १, ३६१ टि० १ ।

15 तुलना—“न चास्य विरोधसङ्करानवस्थापिसङ्गदोषानुग्रहण ” [नयचक्र० लि० पृ०
५८ B.] अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २०६ । प्रमाणसं० पृ० १०३ । तत्त्वार्थकलो० पृ० ४३५ ।
प्रमेयक० पृ० १५८ A. । न्यायकुमु० पृ० ३७० । सन्नाति० टी० पृ० ४५१ । स्या० रत्ना० पृ०
७४१ । प्रमेयरत्नमा० ४।१।प्रमाणमी० पृ० २८ । शास्त्रवा० टी० पृ० २६५ । सप्तमङ्कित० पृ० ८१ ।

पृ० ६२, पं० २, ‘अप्राप्यकारिणः’—तुलना—“इत्थभावस्य अप्राप्यकारिणः प्रति-
20 वन्वामावे त्रिकालगोचरमरोषं द्रव्यं कथञ्चिज्ज्ञानतो न कश्चिद्विरोधः ॥” [सिद्धिदि० पृ० १९४ B.]

पृ० ६३, पं० १, ‘यदि किञ्चिद्विशेषेण’—तुलना—लघी० का० १९ । लघी०
टि० पृ० १३९ पं० ३४ ।

पृ० ६३, पं० ८, ‘आद्ये परोक्ष’—तुलना—“आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ॥”
[तत्त्वार्थक० १।११, १२]

25 पृ० ६३, पं० ११, ‘केवलं लोक’—तुलना—“केवलं लोकमुद्रयैव बाह्यचिन्ता
प्रतन्यते ।” [प्रमाणवा० ३।२१९]

पृ० ६३, पं० १६, ‘प्रमाणास्य फलं’—तुलना—“अपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादा-
नहानधीः । पूर्वा बाह्यज्ञाननाशः सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥” [भाष्यमी० का० १०२] “प्रमाणास्य
फलं साक्षाद्ब्रह्मानविनिवर्तनम् । केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥” [न्यायाव० क्लो०
80 २८] “अपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् ।” [सर्वार्थसि० १।१०] “प्रमाणास्य फलं साक्षात्सिद्धिः
स्वार्थविनिश्चयः ।” [सिद्धिदि० पृ० १२६ A] तत्त्वार्थकलो० पृ० १२७ । परीक्षामु० ५।१, २ ।
प्रमाणनय० ६।१-५ । प्रमाणमी० १।१।३४-४० ।

पृ० ६३, पं० २१, ‘नयचक्रतः’—तुलना—“आत्मज्ञानादिमेदानामानन्तं नय-
चक्रतः ॥” [प्रमाणसं० पृ० १२५] “तद्विशेषाः प्रपञ्चेन मञ्चिन्त्या नयचक्रतः ।” [तत्त्वार्थ-
85 क्लो० पृ० २७६] अष्टसह० पृ० २८८ । नयवि० पृ० २६४ । प्रमेयरत्नमा० ३।७४ ।

इति न्यायविनिश्चयस्य टिप्पणानि ।

पृ० ८१. पं० २७. 'सिद्धं प्रवचनं'-तुलना-"कृत्तनं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ।" [सिद्ध० द्वात्रि० २१।१] प्रमाणत्वं पृ० ११६ ।

पृ० ८२. पं० ५. 'पुरुपातिशयो'-पूर्वपक्षः-"पुरुपातिशयोपेक्षं यथार्थमपरे विदुः । इष्टोऽयमर्थः [प्रत्येतुं शक्यः] सोऽतिशयो यदि ॥ अयमेवं नवेत्यन्यदोषा निर्दोषतापि वा । दुर्लभत्वात् प्रमाण्यानां दुर्बोधेत्यपरे विदुः ॥" [प्रमाणवा० १।२२०-२१] 5

तुलना-"पुरुपातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिष्यते ॥" [प्रमाणस० पृ० ११६] "विप्रलम्भराङ्गानुबन्धात् इत्यधिकारिकारिकां विप्रलम्भो वचनं तस्याशाङ्का तस्या अनुबन्धात् कारणात् पुरुपातिशयः किमिष्यते ? नेष्टव्य इत्यर्थः" तदनुबन्धिकारणं दर्शयन्नाह-चेष्टते व्याप्रियते वेद्यादि यथाकृतम्, क इत्याह-धीतदोषे धीतरागाः, क इव दोषवर्जित । दूषयान्तरमाहपुरुपातिशयः सन्नपि ज्ञातु यद्यशक्यः किमिष्यते ? [सिद्धिवि० टी० पृ० ३९३ B] 10

पृ० ८२. पं० १२. 'सिद्धहिंसा'-तुलना-"प्रसिद्धहिसान्तस्तेयाम्नापरिग्रहस्वविपक्षगुणोत्कर्षभारसंसान. यथार्थदर्शनादिरुणो नेति निःशङ्क नश्चेतः ।" [प्रमाणस० पृ० ११६]

पृ० ८२. पं० १५. 'हेयोपादेयत्वस्य'-पूर्वपक्षः-"हेयोपादेयत्वस्य सोपायस्य प्रसिद्धितः । प्रधानार्थाविसंवादनमानम्परत्र वा ॥" [प्रमाणवा० १।२१९]

पृ० ८२. पं० २८. 'भावनापरिपाकतः'-पूर्वपक्षः-"तस्माद् भूतमभूतं वा यद् यदेवाभिमान्यते । भावनापरिनिष्पत्तौ तत्स्फुटाकल्पधीफलम् ॥" [प्रमाणवा० ३।२८५] "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्" [न्यायवि० पृ० २०] "किंच, ये ये विभाल्यन्ते ते ते भान्ति परिस्फुटम् । भावनापरिनिष्पत्तौ कामादिविषया इव ॥" भूतार्थभावनाद्भूतेः प्रमाणां तेन तन्मतम् ॥" [तत्त्वस० पृ० ८९६]

तुलना-"चतुःसत्यभावनोपायं निर्वाणं सकलं कथम् मिथ्याज्ञानतः तत्त्वप्रतिपत्तिः । 20 कथमतत्त्वभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं तत्त्वज्ञानञ्च । मिथ्यैकान्ताविशेषे नैरास्त्येतरपक्षयोः न कश्चिद्विशेषः ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३५४-५५] "यदि पुनः चिन्तामर्यामेव प्रज्ञामनुशीलयतां विभ्रसविवैकनिर्मलमनःप्राप्तिः निर्वाणम्, तच्च कथम् अतत्त्वभावनातः, मिथ्याभावनायां तत्त्वज्ञानं कामशोकमयोन्मादादिवम् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३८७]

पृ० ८३. पं० ३. 'निरुपद्रवभूतस्य'-तुलना-"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य 25 विपर्ययैः । न बाधा यन्नवत्वेऽपि दुःखेस्तत्पक्षपाततः ॥" [प्रमाणवा० १।२२३, २।२१०]

पृ० ८३. पं० ६. 'यस्तावत् करुणा'-तुलना-रुषी० टि० पृ० १३१ प० १२ ।

पृ० ८३. पं० १०. 'सन्तानः'-तुलना-रुषी० टि० पृ० १३१ प० ३ ।

पृ० ८३. पं० २४. 'विश्वलोकाधिक'-पूर्वपक्षः-"सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानु- 30 तवादिनः । यथाऽयत्ने न विश्वम्भस्तथाऽतीतार्थकीर्त्तने ॥" [मी० श्लो० पृ० ८८] "ज्ञानवान् पश्यते कश्चिच्छुक्लप्रतिपत्तये । अज्ञोपवेशकरणे विप्रलम्भनराङ्गिभिः ॥ तस्मान्नुष्टेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् । कौटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नाक्षोऽपि युज्यते ॥" [प्रमाणवा० २।३०, ३१]

पृ० ८४. पं० ६. 'सकलज्ञस्य'-तुलना-"सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्य- 35 भिषारिणी । विन्व्यादिरनूद्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥" [तत्त्वस० पृ० ६५] प्रमाणस० पृ० १०० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३, १४ । "सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः ॥" 35

भिन्नमन्ये चक्षते समानतन्त्राः । 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रुतमविज्ञत्वम्' इति वचनाविति तदयुक्तम्; "त्रिविधं भवति श्रौतं न त्वविज्ञत्वं प्रमाणमित्यर्थः । प्रत्यक्षे हि परोपदेशस्य अनर्थकत्वात् । 'तत्रेदं श्रुतस्य लक्ष्यम् । किं तर्हि ? इत्याह--परोपदेशात् श्रौतमिति । परोपदेशात् श्रौतमिति शेषं अयुक्तिनाः । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमतः ॥" [जैनतर्कवा० पृ० १३१]

- 5 पृ० ६७. पं० ७. 'हिताहितप्राप्ति'—तुलना—'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥" [परीक्षामू० ११२] प्रमाणव० १३ । "हिताहितार्थसम्प्राप्तित्यागयोर्धर्मिष्वन्यम् तत्रमायां" [जैनतर्कवा० पृ० १]

पृ० ६७. पं० १६. 'अक्षज्ञान'—'शुक्लम्-अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरपराकृतेः ॥" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४७२ A.]

- 10 पृ० ६८. पं० २. 'विविधान्'—'तथा चात्र देवस्य / वचनम्-विवादात्तु विवादनस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात् ॥" [न्यायवि० वि० पृ० ८३ A.]

पृ० ६८. पं० १३. 'स्वार्थमात्राद्य'—तुलना—'अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तद्वत्प्रत्यक्षौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरीयकत्वात् सन्निधानाभेदात् सुषुप्तचैतन्यवत् । सन्निधानं हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षः ॥" [अष्टव०, अष्टसह० पृ० ७५, १२३]

- 15 पृ० ६८. पं० १४. 'तिमिराद्य'—तुलना-कवी० टि० पृ० १४० पं० २६ ।

पृ० ६८. पं० १७. 'परोक्षज्ञानार्थ'—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १५६ पं० १३ ।

पृ० ६८. पं० २७. 'कालेनैतावता'—अस्य व्याख्यानं न्यायविशिष्यवधिवरणे

इत्यम्—'यथावत्प्रतीतिरूपेण कालेन कथं न प्रलय गतः तदागमः । कीदृशोऽनाप्तः, अविद्यमानः तदर्थमिच्छते साक्षात्कारिपुरुषः प्रलयज्ञतोपपत्त्येव रागाद्युपहतचेतस्कतया प्रज्ञाबलवैकल्यादिना चार्थाकदर्शनामत्रुपदेशान्यथोपदेशादेरप्रतिवेदनादेः प्रविपुरुषसुपक्षीयमाणास्य सर्वत्रापि देशादिना कालेन निर्मूलोन्मूलनस्य सम्भवात् । हरयते हि इदानीन्तनानामपि नैपथ्यादिव्यवहारणां बहुजनपरिदुष्टीतानामपि निर्मूलप्रलयः ॥" [न्यायवि० वि० पृ० ५६२ A.]

पृ० ६९. पं० ३. 'सत्यस्वप्नवत्'—'तद्धि सत्यस्वप्नज्ञानम् इन्द्रियासंस्पर्शं व्यवहितं चार्थमवैति इति प्रमाणसङ्ग्रहे निरूपितम् ॥" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४३० B.]

- 25 तुलना—'इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिकं विदन्त्येव । (पृ० ३९१) सत्यस्वप्नदर्शनवत्-सत्यस्वप्नदर्शनं हि तत्कालानुयायनैव ग्राहकमीक्षते ॥" [प्रमाणवार्तिकाल वि० पृ० ४१०]

"एतदुक्तम्-यथाहि सत्यस्वप्नदर्शिनो ज्ञानं परमार्थतोऽविषयमपि प्रतिनियतविषयाकारं लिङ्गसम्यानपेक्षज्ञानविशेषात्तुल्यमन्युपदर्शितार्थप्रापकत्वेनाविस्वादि भवति तथा योगिज्ञानं मन्त्रापारमितायोगाभ्यासबलेन यथैव तवभूङ्गवति भविष्यति च अतोऽतं वर्तमानमनागतं वस्तु परेषु परिकल्पितं तथैवोपदर्शितविधिधाकारप्रकारप्रभेदप्रपञ्चं वहिरिव परिसङ्ग्रहं सुदृढप्रतिभासं लिङ्गगमात्तपेक्षमविस्वावितयोत्पन्नं प्रत्यक्षं प्रमायामिष्यते । अस्वप्नवत् भगवतः सर्वत्र साक्षात्दर्शित्वाभ्युपगमात् यत्र प्राप्तं न विज्ञात साक्षात्कृतं तदभावेन सर्वज्ञज्ञानमुच्यते । यतो भ्रान्तिनिवृत्तावप्याकारनिवृत्तेः प्रतिबन्धाभावेनासंभवः इति स्वयमकन्यायानुसारेणैतानागार्जुनपादप्रभृतयः ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १७७]

- 35 सत्यस्वप्नज्ञानदृष्टान्तस्य समालोचनं निम्नप्रत्यक्षेण हरयते—'ये तु पुनः सर्वमेव योगिनिज्ञानमनालम्बनं सत्यस्वप्नदर्शनवद्वस्तुसंवादितया प्रमाणमिति प्रतिपन्नाः; ताश्च प्रत्यन्तवचनबोधं

त्वसात्कुर्वतः तद्वैराद्युत्तिनियमात् कृत्स्नस्य न संभवति । सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितैकराष्ट्रकृतिर्न स्यात् । न हि समानदेशानां समानाक्षविषयाणां भेदेन्याय्यम् । प्रत्येकं व्यञ्जकनियमे कलाकला-
श्रुतेरनुपपत्तेः । व्यञ्जकव्यञ्जकभावप्राप्तिपरिहारमन्तरेण कृतो व्यक्तः । तस्यानोपादानमृते
कृतस्तिरोधानम् ? सत्यां च व्यञ्जकव्यापृती न स्याद्व्यङ्ग्यस्य नियमाद्भितिः; नावश्यम्भाविनिवमः
उच्चारणात् श्रुतेस्ततः । ” [सिद्धिनि० पृ० ५५४]

5

पृ० ८६, पं० २५, 'नित्यत्वम्'—पूर्वपक्षः—“नित्यस्तु स्वाद् दर्शनस्य परार्थत्वात् ।
नित्याः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणम् तत्परार्थम् ।
परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयान्
अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथाविनष्टः; ततो बहुशा उपलब्धपूर्वत्वादेवार्थाविगमः इति युक्तम् ।”
[शाबरभा० १।१।१८]

10

पृ० ८६, पं० ३०, 'स एवायमिति'—पूर्वपक्षः—“एवमन्येऽपि । प्रत्यभिजानन्ति
स एवायमिति । प्रत्यभिजानानां वयमिवान्येऽपि नान्य इति वञ्चतुमर्हन्ति । अथ अमय-अन्यत्वे
सति सादृश्येन व्यामूढाः 'सः' इति वक्ष्यन्ति; तन्न, नहि ते सदृश इति प्रतिव्यन्ति, किं तर्हि ?
'स एवायम्' इति । ” [शाबरभा० १।१।२०]

15

पृ० ८८, पं० १४, 'सम्यग्ज्ञानाङ्कुशाः'—तुलना-प्रमाणसं० का० ६८ ।
पृ० ८८, पं० २१, 'अहं ममाश्रवो'—तुलना-प्रमाणसं० का० ६९ । “जीवाजीवा-
क्षत्रवन्धसंवरनिर्जरासोक्षास्तस्वम् ।” [तत्त्वार्थसू० १।४] “नव सम्भावपयथ्या पण्णसो । तं जज्ञ-
जीवा अजीवा पुत्र्यं पावो आसन्नो संवरो शिञ्जरा वंशो भोक्त्वो ।” [स्थानागसू० ५।६६५]

20

पृ० ८६, पं० ५, 'सात्मीभावाद्दि'—तुलना—“सर्वेषां सविपक्षत्वाभिर्ज्ञासावितश-
यश्रिताः । सात्मीभावात्तदभ्यासाद् हीवरजास्त्रवा. क्वचित् ॥” [प्रमाणभा० १।२।२२]

25

पृ० ८६, पं० १२, 'यद्यप्यनारमविज्ञान'—पूर्वपक्षः—“तस्मादनादिसन्तानतुल्य-
जातीयबीजिकात् । उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं सुसुत्तवः ॥ २५६ ॥ तत्रैव तद्विद्वद्व्यस्त-
त्वाकारानुभोधिनी । इन्ति सात्त्वरां दृष्ट्यां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता ॥ २५१ ॥” [प्रमाणभा०
१।२।५६, २७१] “अद्वितीयं शिवद्वारं कृद्वितीनां भयङ्करम् । विनयेभ्यो द्वितीयोर्कः नैरात्म्यं
तेन तु स्फुटम् ॥” [तत्त्वसं० पृ० ८६६]

30

पृ० ८६, पं० १७, 'मैत्र्यादि'—तुलना—“मैत्रीकृत्वास्तुवितोपेक्षायां सुखदुःख-
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनात्तरिचत्तप्रसादनम् ।” [योगसू० १।१६] “मैत्रीप्रभोवर्कहर्य-
माध्यस्थानि च सत्त्वरायाधिकक्तिरयमानाभिनयेषु ।” [तत्त्वार्थसू० ७।११] “चक्षारो ब्रह्म-
विद्यारो-मैत्री कल्पणा सुद्वितीयेषां चेति ।” [वर्मसं० पृ० ४] “मैत्र्यद्वेषः कल्पणा च सुद्विक्त
सुभनस्कता । उपेक्षाऽश्लोमः ।” [अत्रिधर्मसं० ८।३०]

35

पृ० ६०, पं० ३, 'सप्तमंगी'—तुलना—“सिय अस्ति रास्ति सद्यं द्विजसत्त्वं
पुणो य तत्तद्विद्यं । दत्त्वं तु सत्तमंगं आदिसवसेण संभवदि ॥” [पञ्चासिकं० गा० १४]
प्रवचनसा० २।२३ । “अत्त्वंतरमूयहि य शिययहि य दोहि समर्थमर्हति । वदंशविसेलार्थं
दत्त्वमवत्तत्त्वं पदइ ॥” [समति० १।३६-४०] “कथञ्चित्ते संदेव्यं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तयोभयवाच्यद्वय नययोगात् सर्वथा ॥” [भाष्यसं० का० १४] “विचिन्तिषोऽभिज्ञानान्यस्त
च त्रिकेकास्ति द्विशा एक एव । अयो विकल्पस्तैव सप्तधार्मि स्यात्तद्व्यनेयाः सक्तैर्धने ॥”
[युक्त्यनु० ब्रह्मो० ४६] “अस्ति हि य सस्ति हि च इवन्नि अवत्तममिदि पुणो दत्त्वं ।
पञ्चापण द्दु केणवि तदुभयमादिदुमप्यं धा ॥” [विभोपा० गा० २२३२] “प्रनवरावेकत्र
२२

पृ० १०२. पं० २५. 'एकं चर्लं'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १३।

5 पृ० १०३. पं० १. 'खलुक्षणा'—अस्य ज्याख्यानां न्यायविनिश्चयविवरणे इत्यम्—“खलुक्षणां असङ्कीर्णपदेन खलुक्षणास्य विशेषात्मकत्वं समानपदेन च सामान्यात्मकत्वमुक्तम् अतः सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वं वस्तु सविकल्पकमेवं नाऽसहायस्वभावमत एवाह—सविकल्पकमिति (पृ० ३५२A) समर्थमिति यस्मात् स्वकार्ये समर्थे शक्तं खलुक्षणां तस्मादसङ्कीर्णमिति। खलुक्षणास्य स्वरूपमाह स्वगुणैरेकम् इति। स्वग्रहणेन परगुणैरेकत्वाभावमावेदयन् 'चोदितो-दधि खादेति' इत्यादेरनवकाशत्वं दर्शयति। गुणशब्देन च तस्य सामान्यवाचित्वात् गुणपर्य-थयोरुभयोरपि ग्रहणम्। अत एवाह—सहक्रमविवातिभिः इति ॥ [न्यायवि० वि० पृ० ३५४ B.]

पृ० १०३. पं० ४. 'संशयविरोध'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १७० पं० ६।

10 पृ० १०३. पं० १५. 'बिम्बवेऽपि'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११।

पृ० १०३. पं० २१. 'कस्यचित्कौबल्यं'—तुलना—“तस्य कैवल्यमेव अपरस्य कैवल्यमिति ॥ [हेतुवि० लि०] अष्टश० अष्टसह० पृ० ५३। “पूर्वस्य कैवल्यम् अपरस्य कैवल्यम् ॥ [सिद्धिवि० पृ० ३६२]

15 पृ० १०३. पं० २४. 'परापरविभागैक'—तुलना—“अधःकर्षविभागादिपरिणाम-विशेषतः। तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥ जयश्च (अधश्च) ऊर्ध्वं च ये विभागा मूलशाखारूपा अवयवास्ते आदयो येषां पार्श्वमध्यविभागानां तैः सह परिणाम-विरोधः कथञ्चिदभेदपरिणामः तत इति, अभेदपरिणामाद्धि शाखाभिरिह शाखिनः शाखासु वृक्ष इत्येव प्रत्ययः परिदृश्यते ‘यदि च शाखासु वृक्ष इति प्रत्ययान् तत्र वृक्षस्य कार्यत्वेन वृत्तिः वृक्षे शाखा इत्यपि प्रत्ययान् तासामपि तत्र तथा वृत्तिः प्राप्नुयात्, एवं च न यावच्छाखा न तावद् वृक्षः न यावच्च वृक्षो न तावच्छाखा इति परस्परअथाहुमयाभावः परस्थापत्तेः इति आवेदयन्नाह—तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः इति। तानेव प्रकृतानवयवान् अवयविनं च पश्यन् प्रत्येति प्रतिपद्यते शाखा आधेयभूता वृक्षे आचारभूते न केवलं तासु वृक्षम् अपि तु तत्रापि ताः प्रत्येतीत्यपिशब्दार्थः। क. प्रत्येति ? लौकिकः’ ॥ [न्यायवि० वि० पृ० २२७ A]

25 पृ० १०३. पं० २६. 'प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्'—ज्याख्या इत्थं द्रष्टव्या—“प्रमाण-मवितथनिर्भासं ज्ञानम् आत्मसात्कुर्वन् प्रतीतिं यथार्थपरिच्छित्तिसतिलङ्घयेत् प्रत्याचक्षीत सौगतो ब्रह्मवादिवन् तामतिलङ्घयेत्। वितथा मिथ्याभिमता ये ज्ञानानां सन्तानविरोधाः कामि-न्यादिविषयाः तत्रज्ञचन्द्रादिविषयाश्च प्रवाहभेदास्तेषु न केवलं न प्रमाणमन्तरेण तदनतिलङ्घ-नस्यापि तथाप्राप्तेः। न च तदात्मसात्करणं परस्योपपन्नम् ॥ [न्यायवि० वि० पृ० १६७ B.]

80 तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५८ पं० ३३।

पृ० १०३ पं० २८ 'चित्रं तदेक'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६० पं० २२।

95 ज्याख्यानां स्वस्य न्यायविनिश्चयविवरणे इत्यम्—“चित्रं नानारूपं तद् बाह्यं चित्रपतङ्गादि एकमभिन्नमित्येवं चेत् यदि मन्यते जैन इदमनन्तरोक्तं तत्तत्रिन्द्रादितिशयेन चित्रं चित्रतरं विस्मयनीयतरम्। तथाहि—यदि नानारूपं नैकं विरोधात् इत्यसदेव एकत्वम्, तद्भावे च नानारूपं तस्यापि परमाणुरूपस्याबुद्धिगोचरत्वान् इत्यसन्नेव तादृशो वहिरर्थ इति भवत्येव तद्भादिनासुपहास इति भावः। परस्य तत्र प्रत्युपहासमाह—चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्सि चित्र-

प्रमाणसङ्ग्रहस्य

॥ टिप्पणानि ॥



पृ० ६७. पं० १. 'श्रीमत्परम'—कारिकेयं निम्नशिलालेखेषु वर्तते—चन्द्रगिरिपर्व-
तस्य ३९, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५२, ५३, ५५, ५६, ६८ । विन्ध्यगिरिपर्वतस्य
८१, ८२, ८३, ९०, ९६, ९६, १०५, १११, ११३, १२४, १३०, १३७, १३८, १४१, १४४,
२२६, ३६२, ४८६, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ५०० । [जैनशिलालेखसं०]

सुलना—“जीवाग्निरस्तनिःशेषसर्वथैकान्तशासनम् । सदा श्रीवर्द्धमानस्य विद्यानन्दस्य ६
शासनम् ॥” [पत्रपटी० पृ० १३]

पृ० ६७. पं० ३. 'प्रत्यक्षं'—अस्या व्याख्यायं तत्त्वार्थलोकवातिके इत्यम्—
“..... अकलङ्कैरभ्यधायि यः ॥१७८॥ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविष्णु (प्लु) तम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥ १७९ ॥ 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' इति ऋवायो-
नापि मुख्यमतीन्द्रियं पूर्णं केवलमपूर्णमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्याच्च-
मात्मानमाश्रित्य वर्द्धमानत्वात् । व्यवहारतः पुनः इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्यारा-
सङ्गात्वात् ततो न सूत्रव्याहतिः । श्रुतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षम् इत्येतदपि न सूत्रविरुद्धम्
'आद्ये परोक्षम्' इत्यनेन तस्य परोक्षत्वप्रतिपादनात् । अवग्रहदेहावायुधारणानां स्पृष्टेऽत्र परोक्षत्व-
वचनात् सद्विरोध इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र दृष्टिद्वयेन सर्वसङ्ग्रहात् । कथम् ? प्रत्यभि-
ज्ञाया आदिः पूर्वं प्रत्यभिज्ञादि इति स्मृतिपर्यन्तस्य ज्ञानस्य सङ्ग्रहात् प्राधान्येन अवग्रहादेरपि 10
परोक्षत्ववचनात्, प्रत्यभिज्ञा आदिर्यस्य इति वृत्त्या पुनः अभिनिबोधपर्यन्तसङ्ग्रहीत्वेन का-
चित् परोक्षत्वकिरसङ्ग्रहीत्वा स्यात् । तत्र एव प्रत्यभिज्ञादि इति युक्तम् व्यवहारतः, मुख्यतः
स्वेष्टस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात्, अन्यथा 'स्मरणादि परोक्षं तु प्रमाणे इति सङ्ग्रहः'
इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्, ततः शब्दार्थाश्रयणात् कश्चिद्बोधोऽत्रोपलभ्यते ।” [तत्त्वार्थश्लो०
पृ० १८५]

20

सुलना—“प्रमाणसङ्ग्रहाद्यौ प्रमाणे इति सङ्ग्रहः” इत्यभिधायि...” [सिद्धिचि० टी०
पृ० ५६.] “तदुक्तम्—प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधाश्रितं ...” [मण्डसङ्ग्रह० पृ० २८१] “प्रत्यक्षं
विशदं ज्ञानं त्रिधा इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात् ।” [न्यायचि० वि० पृ० ५३. A.] “प्रत्यक्षं
विशदं ज्ञानं त्रिधैन्द्रियमनैन्द्रियम् । योग्यं चेति...” [जैनतर्कशा० पृ० ९३]

पृ० ६७. पं० ६. 'श्रुतमविष्णु'—अकलङ्केन श्रुतं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्त- 25
कतया त्रिधा विभक्तम् । जैनतर्कवार्तिककृता तु लिङ्ग-शब्दसमुच्चयस्य तया द्विधा परोक्षं स्वीकृत्य
अकलङ्कमत्तं निरस्तम् । तथाहि—“परोक्षं द्विविधं प्रादुर्लिङ्गशब्दसमुच्चयम् । लौकिकप्रत्यभिज्ञादि
मिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥—नन्वन्यदपि प्रत्यभिज्ञादिकं परोक्षं मन्यन्ते, तदेव लौकिकप्रत्यभिज्ञादि-

स्वतन्त्रं यथा भवति तथाऽवभासनात् । किम् ? तद्गुणः तस्य देहस्य गुणः, तदाश्रयान्नेति सन्तः प्रचक्षते कथयन्ति । नहि नस्मिन्नप्रत्यक्षेपि प्रत्यक्षस्य तदा (इ) गुणत्व रूपादेराकाश-गुणत्वप्रसङ्गात्...” [न्यायवि० वि० पृ० ४५७ B]

- पृ० १०७. पं० १३. ‘सत्यं तमाहु’—अस्य व्याख्या इत्थम्—“सत्यमवितथम्
- 5 आत्मन एव विचारविषयतया प्रस्तुतत्वात्, आहुः आवेदयन्ति । के ? आचार्य (याः) विचार-
ज्ञानप्रवर्तकाः ‘‘कीदृशं तत् इत्याह—योऽवलोकते पश्यति । कया ? विद्यया यथावस्थितवस्तुरूपाव-
लोकनशक्तया ‘‘कमवलोकते ? यथार्थं यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थः तमिति ‘‘
पुनरपि सत्स्वरूपमाह—विभ्रमैश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषैश्च, चशब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः
अयथार्थं (थं) मिथ्याकार (रं) योऽवलोकते ‘ कः पुनरसौ यो विद्यया यथार्थं विभ्रमैश्च
10 अयथार्थमवलोकते इत्याह—एषः प्रत्यात्मवेदनीयः ‘‘कीदृशः पुनरेवोऽपि इत्याह—प्रमुः इति,
प्रमुखं पुनस्तस्य यथार्थाद्यवलोकने विषयाकारस्य व्यतिरिक्तविज्ञानस्य च अनपेक्षणात् ‘‘”
[न्यायवि० वि० पृ० १५० B]

- पृ० १०७. पं० १५. ‘तुलोन्नाम’—अस्य व्याख्या इत्थम्—“तुलाया उन्नामश्च
कुर्ष्वगमनं रसश्च तावधी (वाधी) येषाम् अर्वाग्भागास्साक्षादीनां तेषां नहि स्फुटम्, किम् नामश्च
15 अघोर्गमनं रूपं च आदिर्येषां परभागविशेषणादीनां त एव हि (हे) तवो येषां तेषां भावः
तत्त्वम् । कया युक्त्या तत्तेषां न तुल्यकालतया [सम] समयतया इति ? नहि समसमयत्वे
युक्तो हेतुफलभावः परस्परमनुपयोगात् सव्येतरनारीकुचचूचुकवदनभ्युपगमात् । नचैवमहेतुः
अव्यभिचारात्, नहि नामादेः उन्नामादिव्यभिचारः निर्व्यभिचाराया एव ततः तद्वत्पितृतेरुप-
लम्भात्...” [न्यायवि० वि० पृ० ५०९ A.]

- 20 पृ० १०७. पं० १७. ‘अन्वयोऽन्य’—अस्य व्याख्यानमित्थम्—“अन्वयोऽनुगमः
खण्डाविषु गौरिति तन्तुषु अयं पट इति रुचकादौ तदेवेदं सुवर्णमिति रूपः, स अन्वयस्य कर्कादेः
मुग्धादेश्च व्यवच्छेद एव नापरः । तथा सर्वस्मात् सजातीयान् विजातीयान् व्यतिरिच्यते
मिद्यते इति व्यतिरेकः, स एव स्वलक्षणम् पूर्वोक्तम्, ततः तस्मात् अन्वयात् स्वलक्षणान् सर्वा
निरवरोधा व्यवस्था स्वामितवस्तुव्यवस्थितिः इति एवं नृत्येत् नृत्यं कुर्यात् काक इव काकः
25 सौगतः तद्वधवस्थ्यात्मनि नृत्यक्रियायाम् वपायात्मनः पिच्छमारस्य अभावात्, मयूर इव
मयूरो चैन (जैनः) तस्य तद्भावस्य निवेदनात् स इव तद्वदिति ‘‘” [न्यायवि० वि० पृ० ३६१ A.]

इति चतुर्थः प्रस्तावः ।



- पृ० १०७. पं० २१. ‘निर्व्यापारो’—तुलना व्याख्या च—“सत्ता सम्प्रतिबद्धैव
परिणामे क्रियास्थितेः । निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ।—एवकारो भिन्नप्रक्रमः
80 परिणाम इत्यत्र दर्शनात्, ततः सत्ता (सत्ता) सत्त्वं सम्यक् प्रतिबद्धा, क ? परिणाम एव न क्षण-
मह्नादौ, ततः तत्रैव सा हेतुः इत्यर्थः । एतदेव कुतः ? क्रियास्थितेः परिणाम एव क्रियायाः कार्य-
करणस्य स्थितेः अवस्थानादिति, तदपि कस्मात् ? निर्व्यापारो व्यापारान्निष्क्रान्तो हि यस्माद्
भावः चेतनादिः स्याद् भवेत्, कस्मिन् सति ? निरन्वये क्षणमह्ने, केव ? नित्यत्वे वा नित्यत्व
इव, कश्चिद्व्यवस्था इवार्थत्वात् निरन्वय इव वा नित्यत्वे वा इति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५०९ B.]
- 85 पृ० १०८. पं० ३. ‘इष्टविधातकृत्’—“इष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विधात करोति
विपर्ययसाधनात् इति इष्टविधातकृत् ।” [न्यायवि० टी० पृ० १०३]

दूरीकृतावकारमेव ।” [तत्त्व० प० पृ० १३२] “सत्यस्वप्नदर्शनं तु यदि वर्तमानस्य ...”
[निधिवि० पृ० १५९]

पृ० ६६. पं० ४. ‘एकत्र निर्णये’—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १५५ पं० १७ ।

पृ० ६६. पं० ६. ‘इच्छाणिकादेः’—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६८ पं० ३ ।

पृ० ६६. पं० ११. ‘लक्षणं’—अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्यम्— 5
‘लक्षणं स्पष्टं प्रत्यक्षम् इत्येतत् समं सदृशं त्रिष्वपि प्रत्यक्षेषु । कस्तर्हि इन्द्रियप्रत्यक्षात्
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य विशेष इति चेत्, एतावान् विशेषः अशेषगोचरं निःशेषद्रव्यपर्यायपरि-
च्छेदरूपमतीन्द्रियप्रत्यक्षम् । क्रमेण तद्गोचरमपीतरवदपि प्रत्यक्षमिति चेदत्राह—अक्रमम् इति ।
इन्द्रियायत्तत्वे कथमितरवत् तद्व्यक्रम तद्गोचरमिति चेदत्राह—करणातीतं करणानि इन्द्रियाणि
अतीतमतिक्रान्तं तन्निरपेक्षत्वात् । तस्यैव समर्थनमकलङ्कम् इति, अविद्यमानज्ञानावरणादिकल्म- 10
षमित्यर्थः । ‘तत्केषां प्रत्यक्षम् इत्याह—महीयसाम् महतामिति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ३१९ A.]
तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० २५ ।

इति प्रथमः प्रस्तावः ।



पृ० ६६. पं० १५. ‘प्रमाणमर्थ’—तुलना—“प्रमाणमविनंदावात् मिथ्या तद्विप-
र्ययात् । गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ॥” [सिद्धिवि० पृ० १४६ A.] 15

पृ० ६६. पं० २१. ‘सदृशपरिणामः’—तुलना—“सदृशपरिणामस्तिर्यक् स्वस्व-
सुखडादिषु गोत्ववन् ।” [परीक्षामु० ४१४] प्रमाणनय० ५५ ।

पृ० १००. पं० २६. ‘एकमनेकत्र’—तुलना-रुची० टि० पृ० १४५ पं० २८ ।

पृ० १००. पं० ३०. ‘इति तर्क’—अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्यम्—
“इति एव तर्कमेव एवकारस्यात्र सम्वन्धान् नापरं तस्य प्रतिबन्धाविषयत्वात् तदपेक्षितम्, किं 20
लौकिकम् अनुमानं लिङ्गादागतत्वात्, कथमपेक्षेत नियमेन अवयवभ्यावेन, तदनपेक्षेत्वे तदनु-
सृतेः ॥” [न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B]

पृ० १०१. पं० ७. ‘विज्ञानशुणदोषाभ्याम्’—“तदुक्तम्—विज्ञानशुणदोषाभ्यां ”
[अचसह० पृ० ७४] “विवक्षामन्तरेणापि वाञ्छन्तित्तु वीक्षते । वाञ्छन्तो वा न वक्षारः
शाखाणां मन्वबुद्धयः ॥” [न्यायवि० पृ० ७७] “न च दोषजातिस्तद्व्येतुयंतस्ता चाणी नातिवर्तेत 25
तत्प्रकर्षोपकर्षोत्तुविधानासावान् बुद्ध्यादिवत् . ॥” [अचसह० पृ० ७३]

तुलना—“वचनस्य विज्ञानमेव कारणम् असति तस्मिन्निच्छायास्यै तदभावात् . ”
[न्यायवि० वि० पृ० ५२० A]

इति द्वितीयः प्रस्तावः ।



पृ० १०२. पं० १. ‘साध्यं शक्य’—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० ३२ । 30

पृ० १०२. पं० २. ‘आन्तेः पुरुष’—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६३ पं० ७ ।

पृ० १०२. पं० ६. ‘साधनं’—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० ७ ।

पृ० १११. पं० १५. 'वादः'-तुलना-"समर्थवचनं जल्पं वाहं षतुरङ्गं विदुः। पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥" [सिद्धिदि० पृ० २५४ A.] तत्त्वार्यदलो० पृ० २८०। प्रमेयरत्नमा० ६।४७। न्यायवि० टि० पृ० १६६ पं० ३६।

पृ० ११२. पं० ४. 'अपेक्षितपर'-तुलना-"अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः
5 स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।" [न्यायवि० पृ० ६७]

पृ० ११२. पं० ८. 'सति समर्थे'-तुलना-"नहि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनु-
त्पित्सोः परचाङ्कवतः तत्कार्यत्व समनन्तरत्वं वा नित्यवत् ।" [अष्टा०, अष्टसह० पृ० १८२]

पृ० ११२. पं० ११. 'तदयं भावः'-तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६१ पं० १४।

पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'-"योगः अप्राप्तविषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः,
10 क्षेमः तदर्थक्रियासुष्ठानलक्षणा परिपालनम् ।" [हिन्दुवि० टी० लि० पृ० ५५]

पृ० ११३. पं० २. 'त्रिलक्षणां'-"यदि पुनः भावः स्यास्तु तल्पत्सुर्वा न भवेत्
न कदाचिदपि तिष्ठे दुत्पद्येत वा खपुष्पवन् । न हि तन्नश्वरत्वमेव साध्यतन्व्यत्राप्यविशेषात् ।
तद्विमे स्वरसत एव उत्तरीभवन्तः यथायोगं परस्परोपकारमतिशयाधानमात्मसात्कुर्वन्ति ।"
[सिद्धिदि० पृ० १७२]

15 पृ० ११३. पं० ४. 'तदयमुत्पाद'-तुलना-"स्थितिरेव उत्पद्यते विनारा एव
तिष्ठति उत्पत्तिरेव नश्यति ।" [अष्टा० अष्टसह० पृ० ११२] नमचक्रवृ० लि० पृ० २९२ A.

पृ० ११३. पं० ६. 'प्रकृतशेष'-व्याख्या-"प्रकृतः विधिमुखेन निषेधमुखेन
वा साध्यितव्यतया प्रकान्तो यः अरोषः समग्रः साध्यसाधनरूपः तत्त्वार्यः, न सौगतवत्
कल्पितस्वभावः, तस्य प्रकाशः सम्यचेतसि समर्पणम् तत्र पदुवादिनः सकाशात् यो विपरीतः
20 तत्प्रकाशापादवधिकलः स निगृह्यते पराजयं प्राप्नोति ।" विष्णुषाणः विसदृशं दूषणमभिदधानोऽ-
ब्रुवाणो वा तूष्णींभासीनो वा विपरीत एव निगृह्यते इति ।" [न्यायवि० वि० पृ० ५२७ B.]

पृ० ११३. पं० २३. 'तत्र मिथ्योत्तरं'-व्याख्या-"तत्र मिथ्योत्तरं जातिः
यथाऽनेकान्तविद्विषाम् । दृष्युद्वादेरभेदत्वप्रसङ्गदेकचोदनम् ॥ प्रमाणोपपन्ने साध्ये धर्मे यस्मिन्
मिथ्योत्तरं भूतदोषस्य चन्द्रावयितुमशक्यत्वेन असद्दूषणोद्भावन सा जातिरिति । तत्केषाम्
25 त्याह-यथा अनेकान्तविद्विषाम् इति । यथा हस्त्युदाहरणप्रदर्शने अनेकान्तविद्विषः सौगतादयः
तेषाम् इति । कौटशं तदित्याह-तद्यु (दृष्यु) द्वादेरभेदत्वप्रसङ्गदेकचोदनम् इति ।"
[न्यायवि० वि० पृ० ५२६ B.]

तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६५ पं० ३४।

पृ० ११४. पं० २१. 'असिद्धः'-व्याख्या-"स्वलक्ष्यौकात्त्वस्य साधने सिद्धौ
80 अङ्गीक्रियमाणानां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतः असिद्धः । कथमिति चेदुच्यते-बहिरिव
इति- अथातो रूपात् चित्रमेकं ज्ञानमिष्यते तत्राह-विरुद्धो देवनन्दिनः हेतुरेकान्त-
साधने, क्रमेणैव क्रमेणैव चित्रैकविरोधात् ।" अपरस्त्वाह-न भया प्रतिभासाहूतवादिना
परमार्थतः कचिद् हेतुरिष्यते यस्तु इष्यते स व्यवहारेण 'प्रामाण्यं क्यवहारेण' इत्यभिधानात्
इति तं प्रत्याह-'हेथा समन्तमद्रस्य' हेतुः एकान्तसाधने इति पक्षवत् विपक्षेऽपि वर्तते इति
85 द्वेषा अनैकान्तिकः इति यावत् ।" [सिद्धिदि० टी० पृ० ३२३ A.]

तमं सल इति । चित्रमिति—नानारूपं बाह्यं मयूरादि । कीदृशमिदं प्रत्यक्षवेद्यं सर्वं निरवरोधं वेत्ति जानाति, कीदृशं शून्यम् नीलपमिदम् इत्यत्रापि सन्वन्धनीयम्, इदं परस्य ध्वननं ततः चित्रतरातिशयेन चित्रं चित्रतमम् अनुपायस्यैव तदभाववेद्यस्य प्रतिपादनात् । १७ [न्यायवि० वि० पृ० २०५ B.]

इति तृतीयः प्रस्ताव ।

5



पृ० १०४. पं० २. 'अन्यथाऽसंभवो'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १९।

पृ० १०४. पं० ५. 'उदेष्यति शकटं'—तुलना—रुमी० टि० पृ० १३९ पं० २०।

पृ० १०४. पं० ५. 'कालादिधर्मिकल्पनायाम्'—तुलना—“यदि पुनराकारं कालो वा धर्मो तस्य उदेष्यच्छकटवत्त्वं साध्यं कृतिकोदयसाधनं पक्षधर्मं एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधारामिमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु, तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् . . . ।” [प्रमाणपरी० पृ० ७१] तत्कार्यरत्नो० पृ० २०१ । जैनतर्कमा० पृ० १२ पं० १३ । “कृतिकोदयपूरादेः कालादि-परिकल्पनात् । यदि स्यात्पक्षधर्मत्वं चास्तुपत्वं न किञ्चनौ (किं ध्वनौ) ।” [जैनतर्कमा० पृ० १६०]

पृ० १०४. पं० १८. 'सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि'—तुलना—“अविरुद्धोपलब्धिः विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरमेवान् ।” [परीक्षामु० ३।५४-७२] प्रमाणप० पृ० ७३ । प्रमाणनय० ३।६४-७८ । प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ८३ पं० २३ ।

पृ० १०४. पं० २४. 'निरुपाख्यत्वम्'—तुलना—“सर्वसामर्थ्योपाख्याविरह-लक्षणं हि निरुपाख्यमिति, उपाख्या श्रुतिः उपाख्यायतेऽन्या इति कृत्वा ।” [वादन्याय पृ० ८]

पृ० १०५. पं० १. 'असद्व्यवहाराय'—तुलना—“प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्त्या एवानुपलब्धेः सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा—स्वभावानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, व्याप-कानुपलब्धिः, स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, कार्यविरुद्धोपलब्धिः, व्यापकविरुद्धोपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, कारणविरुद्धोपलब्धिः, कारणविरुद्ध-कार्योपलब्धिः ।” [न्यायवि० पृ० ४२-५४] परीक्षामु० ३।७३-८० । प्रमाणनय० ३।९०-९८ ।

पृ० १०५. पं० १६. 'सद्वृत्तिप्रतिषेधाय'—तुलना—न्यायवि० पृ० ४२-५४ । परीक्षामु० ३।६६-७२ । प्रमाणनय० ३।७९-८८ ।

पृ० १०६. पं० १६. 'अविप्रतिसार'—“पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि” [अमरकोशः] “तत्र विदूषणसमुदाचारोऽङ्कुरालं कर्माभ्यचारति, तत्रै तत्रैव च विप्रतिसार-बहुलो भवति ।” [शिक्षासमु० पृ० १६०] न विप्रतिसारः अविप्रतिसारः दोग्धरहित इत्यर्थः ।

पृ० १०७. पं० ४. 'स्वरुचि'—तुलना—“इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्” [अष्टाध्या०, अष्टसह० पृ० १०२]

पृ० १०७. पं० ११. 'अप्रत्यक्षेऽपि'—अस्य व्याख्या न्यायमिदिष्वचयविवरणे इत्यम्—“अप्रत्यक्षेऽपि—ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते ॥—बहलसम्पटलपरिपिहितलोचनदर्शायामप्रत्यक्षेऽपि विस्पष्टप्रतिभासाविषयेऽपि न केवलं विपुलविलसदालोऽपरिक्लितदेशदशायां प्रत्यक्षेऽपि इत्यपिराब्धः । कस्मिन् ? देहे शरीरेऽस्मिन्नात्मीये प्रतीचमाने प्रत्यक्षं स्पष्टावभासं ज्ञानम्, कुत एतन्

25

30

35

- पृ० १२२. पं० ६. 'अहं ममाश्रवो'—व्याख्या—“समीहते संसारनिवृत्तिं प्रतीयेत, कः ? प्रेक्षाकारी विचारकरणीयः । कथं समीहते ? सादरं निश्चितनिश्चयप्रकारं च अहम् इत्यादिना दर्शयति । प्रत्येकमत्र इतिशब्दस्य सन्बन्धः, ममशब्दस्य च आश्रवादिभिः, अहमिति, ममास्त्रव इति, मम बन्ध इति, मम संवर इति, मम कर्मणा निर्जरा इति मम तेषां क्षय इति च, तत्र अन्त्यात्मम् अहमिति निर्दिशति अहम्प्रत्ययवेद्यत्वात् । तस्यासत्कार कस्य संसारो मोक्षो वा तद्दुपाये प्रवर्तेत ” । [न्यायवि० वि० पृ० ५७९ A]

इति सप्तम प्रस्तावः ।



- पृ० १२२. पं० १६. 'द्रव्यपर्याय'—व्याख्या—“द्रव्यमन्वयिरूपम्, पर्याया व्यावृत्तिधर्म (मी) णः, सामान्य सदृशपरिणामः, विशेषो विसदृश, तेषां च विभागः तेन यौ स्यात् कथञ्चित् त्रिविक्रितधर्मस्य विधिप्रतिषेधौ भावाभावौ ताभ्यां समभङ्गी सप्तानां भङ्गानां समाहारः तद्वचसि प्रवर्तते इति ” [न्यायवि० वि० पृ० ५८७ A]

तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६९ प० ३१।

- पृ० १२५. पं० ४. 'स्वरूपस्य'—तुलना—“स्वरूपस्य स्वतो गतेः ।” [प्रमाणवा० २।४] “न खलु स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणाप्रमाणविभागमुपदर्शयति सर्वज्ञानेषु स्वसंवेदनस्य 15 भावात् ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ५५]

पृ० १२५. पं० २७. 'नयचक्रतः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १७० प० ३३।

पृ० १२६. पं० ८. 'नैगमः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४५ प० १०।

पृ० १२६. पं० ९. 'सर्वमेकम्'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४४ प० २८।

पृ० १२६. पं० ११. 'व्यवहार'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ प० ११।

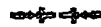
- पृ० १२६. पं० १३. 'अनुसूत्रो'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ प० २२।

पृ० १२६. पं० १५. 'शब्दो'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ प० ३५।

पृ० १२६. पं० १६. 'अभिरूढः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४७ पं० ७।

पृ० १२६. पं० १६. 'इत्थम्भूतः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४७ प० १८।

इति अष्टम प्रस्तावः ।



- पृ० १२७. पं० २. 'ज्ञानं प्रमाण'—तुलना—लघी० का० ५२। लघी० टि० पृ० १४८ प० ६ ।

पृ० १२७. पं० २२. 'प्रामाण्यं'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६६ प० ३१।

इति प्रमाणसङ्ग्रहस्य टिप्पणानि ।



पृ० १०८. पं० १५. 'गण्डूपद'-तुलना-"अनेकान्तत्व विरोधशङ्कया परिह-
रतस्ते चर्यकान्तोपलम्भावलम्बनम् गण्डूपदमयादजगरमुखप्रवेशमनुसरति ।" [तिडिवि०
पृ० ५३७ B]

पृ० १०८. पं० १७. 'दृष्टाद् गरिष्ठ'-तुलना-"नहि दृष्टाञ्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम्"
[अष्टक० अष्टसह० पृ० ८०] 'नहि दृष्टाद्गरिष्ठं प्रमाणमस्ति ।" [नयचक्रवृ० लि० पृ० १८ B.] 5

पृ० १०८. पं० २१. 'अदृश्यानुपम्माद'-तुलना-लघी० टि० पृ० १३९ प० २५

पृ० १०८. पं० २८. 'संहतानाम्'-पूर्वपक्षः-"सङ्घातपरार्थत्वान्-यतः सङ्घातश्च
परार्थः तस्माद्भेदाः, इह लोके ये सङ्घातास्ते परार्था दृष्टाः पर्यङ्करथशय्यादयः । एवं गान्नाया
महदादीना सङ्घातः समुदायः परार्थ एव । पर्यङ्करथादयः काष्ठसङ्घाताः, गृहादयः काष्ठे ष्टि-
कादिसङ्घाताः । न हि ते रथगृहपर्यङ्कादयः किमपि स्वार्थं साधयन्ति न वा परस्परार्थाः, किन्तु
अस्यमी वेवन्तादिः योऽस्मिन् पयङ्के शेते रथेन गच्छति गृहे निवसतीति । एवममी महदा-
दयश्चक्षुरादयो वा न स्वार्था न च परस्परार्थाः किन्तु परार्थाः । यश्चासौ परः स चात्मा ।"
[मार्यका० माठरवृ० पृ० २९] 10

पृ० १०६. पं० २५. 'सहोपलम्भ'-तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १५९ प० २०।

पृ० ११०. पं० २. 'नास्ति सर्वज्ञः'-तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६७ प० ३३। 15

पृ० ११०. पं० ६. 'सिद्धेऽकिञ्चित्करो'-तुलना-"सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधितं च
साध्यं हेतुरकिञ्चित्करः ।" [परीक्षामु० ६।३५]

पृ० ११०. पं० ११. 'विरुद्धाव्यभिचारिणः'-विरुद्धाव्यभिचारिणो लक्षणम्-
"विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्
शब्दत्ववत् इति उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येवैकांजनैकान्तिकः समुद्दितावेव ।"
[न्यायप्रवे० पृ० ५] "स्वल्पक्षयप्रयुक्तयोः हेत्वोः एकत्र धर्मिणि विरोधेनोपनिपाते विरुद्धा-
व्यभिचारीति ।" [हेतुवि० लि०] 20

पृ० १११. पं० ५. 'विरुद्धाव्यभिचारी'-उद्धृतोऽयम्-प्रमाणवि० पृ० ६१ ।

पृ० १११. पं० १२. 'अन्तर्व्याप्ताव'-तुलना-"यथाच अन्तर्व्याप्तावसिद्ध्यां
वह्निर्योऽपि रकिञ्चित्करत्व तथा सिद्धायामपि इति यद्वक्ष्यति प्रमाणसङ्ग्रह-भविष्यति आत्मा
सत्त्वात् " [सिद्धिवि० टी० पृ० २३९ B] "अन्तर्व्याप्यैव साध्यस्य सिद्धौ वह्निरुदाहतिः ।
व्यथा स्यात्तदसद्भावेप्येवं न्यायविषो विदुः ॥" [न्यायावता० श्लो० २०] "तत्सिद्धयसिद्धयोः
वह्निर्योऽपि रसाधनात् ।" [सिद्धिवि० पृ० ३०८ A.] "अन्तर्व्याप्तावसिद्ध्याया वह्निर्योऽपि रसा-
धनम् ।" [सिद्धिवि० पृ० २८१ A.] अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशाक्तौ च
वह्निर्योऽपि रसाधनं व्यर्थम् । पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः. अन्यत्र तु
वह्निर्योऽपि रसाधनं व्यर्थम् । यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः अभिमानश्च दृशो धूमवत्त्वान्,
य एवं स एवं यथा पाकस्थानम् ।" [प्रमाणतय० ३।३५, ३६] धर्मसं० वृ० पृ० ८२ ।
नैतकंभा० पृ० १२ । 30

इति पञ्चमं प्रस्ताव ।



उद्धृतोऽयम्—“... हेतुरेकान्तसाधने ” [न्यायवि० वि० पृ० ५०२ A.]

तुलना—“ असिद्धः सिद्धसेनस्य .. विरुद्धो मल्लघादिनः । .. द्वेषा समन्तभद्रस्य .. हेतुरेकान्तसाधने । ” [जैनतर्कवा० पृ० १४२] स्या० रत्ना० पृ० १०३२ ।

पृ० ११५. पं० २३. ‘जाड्य’—वौद्धाचार्यैः अह्निकजाड्यत्वयोऽपशब्दाः प्रतिवा-
दिनः प्रयुक्ताः । अन्यकारः तत्तत्सिद्धान्तासङ्गतिप्रदर्शनेन वौद्धाचार्या एव तच्छब्दयोग्या इति 5
प्रदर्शयति । जाड्यान्निशब्दप्रयोगस्थलानि—“ ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ” [प्रमाणवा०
१।३४२] “ तदेतज्जाड्यवर्णितम् ” [प्रमाणवा० ४।३५] “ एतेनैव यदह्निकाः किञ्चिद्वरलील-
माकुलम् । प्रलपन्ति . । ” [प्रमाणवा० १।१८२] हेतुवि० पृ० १२९ । वादन्यायटी० पृ० २ ।
“ एतत्सांख्यपशोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीदृते । ” [प्रमाणवा० २।१६५] “ शृङ्गे गौरित्यलौ-
किकम् । ” [प्रमाणवा० ३।१५०, ४३७] “ एषा लोकोत्तरा स्थितिः ” [प्रमाणवा० ४।५५] 10
“ धिन्व्यापकं तमः ” [प्रमाणवा० ३।२३९] वादन्यायटी० पृ० ५१ । “ तमोविज्ञानमयम् ”
[प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ० ३४६] “ जयेद् घ्राष्ट्र्येन चन्धकीम् ” [प्रमाणवा० ३।३३४]
इति षष्ठं प्रस्ताव ।



पृ० ११६. पं० ६. ‘सिद्धम्’—न्याय्या तुलना च—“ सकलं सर्वथैकान्तप्रवादा-
तीतगोचरम् । सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् । सिद्धं प्रमाणमित्यर्थः सिद्धयति 15
निर्णयविषयतां गच्छति अनेन अर्थ इति सिद्धमिति .. हेत्वन्तरमाह—सिद्धपरमात्मानुशासनम्
इति । सिद्धो निश्चितः परमात्मा सकलवस्तुयाथात्म्यदर्शी पुरुषविशेषोऽनुशासनः काले देशे
च कचिदुत्पन्नस्य अतु पश्चात् शासनः शास्ता यस्य तत्तथोक्तम् यत् एव प्रवचन ततः
सिद्धमिति । ” [न्यायवि० वि० पृ० ५३४ A.]

पृ० ११६. पं० १८. ‘पुरुषातिशयो’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६७ प० ३। 20

पृ० ११८. पं० १६. ‘ओत्रं हि’—पूर्वपक्षः—“ अप्राप्तान्यङ्गिभनःश्रोत्राणि । ”
[अभिवर्म को० १।४३]

तुलना—राजवा० पृ० ४८ । तत्त्वार्यपलो० पृ० २३५ । न्यायकुमु० पृ० ८३ । सम्पति०
टी० पृ० ५४५ । स्या० रत्ना० पृ० ३३४ ।

पृ० ११८. पं० २८. ‘करणसन्निपातोप’—तुलना—“ तदेतेषां पुद्गलानां करण- 25
सन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयज्ञानन्तरीयको घटादिवत् ”
[अष्टादश०, अष्टसह० पृ० १०७]

पृ० ११६. पं० २०. ‘हीनस्थान’—तुलना—“ मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्पसञ्ज्ञेव-
नावशात् । हीनस्थानगतिर्जन्म... ॥ ” [प्रमाणवा० २।२६०] भाष्यप० पृ० १ ।

पृ० १२२. पं० ३. ‘सम्यग्ज्ञानाद्भ्रुकुशः’—न्याय्या—“ शब्द इति सर्वोऽपि पौरुषेयः 30
शब्दः पुरुषार्थस्य निःश्रेयसः तत्कारणस्य अभिधायकोऽपि तु सत्यो विप्रतिसारविकलश्च, न
सर्वोऽप्यसौ तद्विकलचये वा अपि तु सन्न्यहानाद्भ्रुः सम्यग्ज्ञानं तत्प्रणेतुः पुरुषस्य तदर्थविपर्यं
निरुपसर्वं ज्ञानं तदेव अद्भ्रुशो नियामकः यस्य स एव च अयमेव स्याद्वातामोघलाञ्छनः वचन-
प्रबन्धः नापरः तत्प्रणेतृणां तज्ज्ञानाभावस्य निवेदनात् . । ” [न्यायवि० वि० पृ० ५७८ A.] 35



टिप्पणापरिशिष्टम्

- पृ० २. पं० ८. 'तत्र सांख्यवहारिकम्'—उद्धृतमिदम्—“अकलङ्कोऽप्याह-
द्विविधं प्रत्यक्षज्ञानं सांख्यवहारिकं मुख्यञ्च । तत्र सांख्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।
मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमिति ॥” [नन्दि० मलय० पृ० ७४]
- पृ० ५. पं० ८. 'नहि प्रत्यक्षम्'—शुलना—“यदाह—नहीदमित्यतो व्यापारान्
कर्तुं समर्थमिति ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १४१]
- पृ० ६. पं० १. 'सदृशापरापरोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः—“स्वहेतोरेव तयोत्पत्तेः
क्षणास्थितिघर्षतां तत्त्वभावं पर्यत्रापि भन्दबुद्धिः सत्तोपलम्भेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया
सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्बो वा न व्यवस्यति ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १३४]
- पृ० ६. पं० ३. 'प्रातिसंविदितोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः—“यदाह—न चेमाः कल्पना
अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तद्कार-
समारोपसंशयः शक्यते कल्पयितुम् ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १५०]
- पृ० १६. पं० ११. 'आलोकोऽपि'—पूर्वपक्षः—“यथा इन्द्रियालोकमनस्काराः
आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपविज्ञानमेकं जनयन्ति ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १७५]
- पृ० १६. पं० २४. 'मलविद्ध'—उद्धृतमिदम्—नन्दि० मलय० पृ० ६६।
- पृ० २२. पं० १३. 'वक्त्रभिप्रेत'—पूर्वपक्षः—“अपि च वस्तुनान्तरीयकताभावात्
तेभ्यो नार्थसिद्धिः, ते हि वक्त्रमिप्रायसूचकाः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १२१५]
- पृ० २६. पं० १५. 'द्रव्यपर्याय'—शुलना—उत्पादादिसि० पृ० ७२, १३२।
- पृ० ३६. पं० २०. 'अद्वयं'—पूर्वपक्षः—“अद्वयानां द्वयप्रतिभासादिति । [प्रमाण-
वा० स्ववृ० ११००]
- पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदने'—शुलना—“तस्यैव तावदीदृशमविस्थूलं प्रज्ञा-
स्खलितं कथं वृत्तं जातमिति कृत्वा सह विस्मयेन अनुकम्पया वर्त्तत इति सविस्मयानु-
कम्पं नोऽस्माकं चेत् । श्रुतवतोऽप्येवमविद्याविह्वलितमिति सविस्मयं गाढेन अविद्यावन्धेन
सत्त्वाः पीड्यन्त इति सानुकम्पम् । तदत्र अपरेऽपि इदानीं तन्मवानुसारिणः कुमारिलप्रभृतयः
परीक्षकमन्त्या एवमेतदनुवदन्तीति निर्देयं निष्कृपमाक्रान्तं भुवनं जगद् येन तमसा तत्तथोक्तं
धिमव्यापकं तमः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२४०]
- पृ० ४५. पं० ७. 'भेदज्ञानात्'—शुलना—उत्पादादिसि० पृ० ११९।
- पृ० ७४. १. 'अन्यथानुपपन्नत्वं'—कारिकेयं प्रमाणवा० स्ववृत्तिटीकायाम् (१३)
ऐतुलक्षणपूर्वपक्षे 'तदुक्तम्' इति कृत्वा समुद्धृता ।
- पृ० ७६. पं० ३० 'दध्युष्टादे'—पूर्वपक्षः—“सर्वस्योभयरूपत्वम्—उभयरूपप्रमाणमे-
कत्वोपलक्ष्यार्थम् तस्मिन् सति तद्विशेषस्य 'उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि, दधि दध्येव नोष्ट्रः' इत्येवं
लक्षणस्य निराकृतेः, 'दधि खाद. इति चोदितः पुरुष' किमुष्ट्रं खानितुं नामिधावति ?
उष्ट्रोऽपि दध्यभिजातं द्रव्यत्वात् अव्यतिरेकान् स्याद् दधि, नापि स एवेति । उष्ट्र एवोष्ट्र
इत्येकान्तवाद्, येनान्योपि दध्यादिकः (तः) स्यादुष्ट्रः । तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रः उष्ट्रमिन्नेन
द्रव्यत्वेन द्रव्यत्वादात्प्येनामिसम्बन्धात् । नापि तदेवेति, दध्येव दधि, येनान्यदपि उष्ट्रादिकं
स्यादृधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्व व्याख्यातम् ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११८३]

प्रतिभासभेदकार्यं	१५	वाञ्छिताश्च क्वचिन्नेति	२२
प्रतिसवितोत्पत्ति-	९	विद्यो निषेधेऽप्यन्यत्र	२२
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा	७	विरचय्यार्थवाक्यप्रत्यया-	२५
प्रत्यक्षाम कथञ्चित्स्यात्	८	विवक्षा नैगमोऽप्यन्त-	२३
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन्	९	वीक्ष्याणुपादिरिमाण्डल्य-	६
प्रत्यक्ष बहिरन्तरं	११	व्यपेक्षात् समसोऽर्थे	७
प्रत्यक्ष विशद ज्ञान	१	व्यवसायात्मक ज्ञान	२०
प्रत्येक वा भजन्तीह	२०	व्यवहारानुकूल्यात्	२४
प्रमाणनयनिकोपानभि-	१८	व्यवहारविषयवास्तदा-	९
प्रमाण श्रुतमर्थेषु	९	व्यवहारविषयवादी नय	१४
प्रवचनपदान्यभ्यस्य	२६	व्याप्ति साध्यंन हेतौ	१७
प्राङ्नामयोजनाच्छेष	४	शुद्ध द्रव्यमभिप्रेति	११
प्राभाष्य व्यवहारार्थं	१४	श्रुतभेदा नया सप्त	२२
प्राय श्रुतेर्विसवादात्	९	श्रुतावर्थमनेकान्तम-	२५
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्ति-	१४	श्च आदित्य लवेतेति	५
बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टवत्त्वा-	३	षट्कारकी प्रकल्प्येत	१६
ब्रह्मवादस्तदाभास	१३	सदभेदात् समस्तैव्य-	२४
भविष्यत्प्रतिपक्षेत्	५	सदसत्त्वार्थनिर्भासे	११
भव्य पच गुणन्	२६	सत्येतरव्यवस्था का	९
भेदाना नासदात्मके-	११	सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक-	१
भेदाभेदात्मके ज्ञेये	१०	सन्निवेशेऽनिव्याप्यना	१९
भेद प्राधान्यतोऽन्वि-	२४	सर्वजाय निरस्तवाधकधिये	१७
मलविद्धमणिव्यक्ति-	१९	सर्वत्र चेदनास्वाप्त	९
मिथ्येतरात्मक दुःखादुदय-	४	सर्वत्रैकत्वविधीपी	२४
मिथ्यैकान्ते विद्योपो वा	१४	सप्रहृ मर्वभेदेक्यमभि-	१३
यथैक भिन्नदेवार्थान्	१२	ससायादिविदुत्पाद	१८
यत्पर्यवसिसवादि	८	सहृताशेषचिन्ताया	८
युज्येत क्षणिकोऽर्थे	१२	स्याद्वाद सकलादेवो	२१
यै तेऽपेक्षानपेक्षाभ्या	१०	स्वतोऽर्था सन्तु सत्तावत्	१३
लक्षण क्षणिकान्ते	१२	स्वसविद्विषयाकार-	६
लिगात् साध्याविनाभावा-	५	स्वसवेद्य विकल्पाना	८
लिभिधीरनुमान	५	स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ	२०
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य	२२	स्वेच्छया सामतिक्रम्य	२२
वर्णा पदानि वाक्यानि	२२		

§ २. सप्तमोऽध्यायगतानि श्रवतरणानि.

श्रवतरणम्	पृ०	श्रवतरणम्	पृ०
इन्द्रियमनसौ कारण विज्ञानस्य-	१९	नहि बुद्धेरकारण विषय -	१५
गुणाना परम रूप न बुद्धि-	१४	नाननुकृतान्वगप्यतिरेक-	१९
तत्राप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्त-	५	वक्तुरभिप्रेत तु वाच सूचयन्ति-	१०
नहि तत्त्वज्ञानमित्येव-	२	वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचक वचन निवृत्ति	२२

अन्य एवेति किन्ने-	६६	अलमर्थेन चेन्नैवमति-	४२
अन्यथा कल्पयल्लोक-	६३	अल्पभूय प्रदेशादी-	६९
अन्यथा तदनिर्वेद्य-	६७	अल्पभेदाग्रहान्मान-	४४
अन्यथात्वं न चेत्तस्य	६६	अवस्थादेशकालाना-	७६
अन्यथात्वं यदीप्येत	६६	अवस्थान्तर्विशेषोऽपि	७३
अन्यथाऽर्थात्मन	४८	अवश्य बहिरन्तर्वा	७०
अन्यथा नियमाभाव-	७६	अवश्य सहकाराति	४७
अन्यथा नियमायोगात्	६३	अवान्तरात्मभेदानामान-	६८
अन्यथानुपपन्नत्वनियम	७१	अधिकल्पकमभ्रान्त	५०
अन्यथानुपपन्नत्वमन किन्न	७४	अविज्ञाततथाभाव-	३५
अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्ध-	३१	अधिनाभावसम्बन्ध	७४
अन्यथानुपपन्नत्वरहिता	७९	अधिप्रकृष्टदेशादिर-	४०
अन्यथानुपपन्नत्व रहिता	७६	अविरोधेन काग्वृत्ते-	७८
अन्यथानुपपन्नत्व	७४	अविरोधोऽपि नित्यस्य	८५
अन्यथा नोऽप्रदेशादी-	६८	अविसबादनियमाद-	५०
अन्यथा सर्वभावानाम-	८०	अशक्तेरणुवत्	७३
अन्यथासमवाभाव-	७९	असञ्चारोऽनवस्थानम-	३२
अन्यथाऽसभवेऽज्ञाने	७४	असतो ज्ञानहेतुत्वे	३३
अन्यथा स्वात्मनि	६९	असत्त्वेद् बहिरर्थात्मा	३९
अन्यदेशाद्विरोधात्	४०	असाधनागवचनमदोषो-	८०
अन्यस्याभयो विनाशा	६५	असिद्धधर्मिधर्मत्वे	५३
अन्यानपि स्वय प्राहु-	३७	असिद्धञ्चाक्षुषत्वादि	७८
अन्योन्यमश्रयाप्तौ चेत्	३९	असिद्धसिद्धेरप्यर्थ	३१
अन्योन्यात्मपरानुत्त-	४७	असिद्धि प्रतिबन्धस्येत्यपरे	७७
अन्वर्थमन्यथाभास-	४५	असिद्धिरितरेपाञ्च	३२
अन्वयव्यतिरेकाभ्या	६९	असिद्धौ व्यवहारोऽय	३२
अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो	४६	अस्ति प्रधानमित्यत्र	५९
अपर प्राहु तत्रापि	४३	अहमस्मीति वाक्या-	९०
अपि चाण्डालगोपाल-	३६	अहेतुत्वात्मसवित्ते-	३१
अपीरुपेयवृत्तान्तो	९२	अह ममाश्रवो बन्ध	८८
अपृथग्बेदानियमाद-	७१	आकृतिभ्रमवद् यद्दद्	७२
अप्रत्यक्ष सुषुप्ता-	५९	आगम पौरुषेय	८४
अप्रत्यक्ष स्वमवेद्यम-	३२	आत्मनाऽनेकल्पेण	३०
अप्रत्यक्षोऽपि देहे	६२	आत्मादिव्यतिरेकेण	६०
अप्रमत्ता विवक्षेयम्	७७	आत्मा योऽन्य प्रवक्तान-	९१
अप्रमाणप्रमेयत्वम-	३८	आत्मीयेषु प्रमोदादि-	८९
अप्रमेय प्रमेय चेत्	६०	आलो परोक्षमपर	९३
अप्रवृत्त फलाभावात्	६९	आनुमानिकभोगस्याप्य-	३१
अप्रसिद्ध पृथक् सिद्ध	४९	आन्तरा भोगजन्मानो	३१
अप्राप्तकारिणस्तरमात्	९१	आप्तवाद स एवाय	९१
अवाह्यभावनाजन्य	४३	आयातमन्यथाऽद्वैत-	४०
अभिव्यक्त्यसमाभ्यो	७६	आयुर्वेदादि यद्यम	८५
अभावस्याप्यभावोपि	६६	आरादपि यथा चक्षु-	३५
अभिन्नदेशवा ग्रामा-	३६	आरेकासिद्धते	८४
अभिन्ननिर्मासेन	४६	आलोकापर्यान्तर क्रियात्	४४
अभिज्ञो भिन्नजातीयै	८४	आवृत्तरावृत्त भार्यै-	६७
अभिज्ञापतदज्ञानाम-	३०	आसादितविशेषाणाम-	७३
अभेदज्ञानत सिद्धा	४५	आस्ता तावदलाभादिरय-	८१
अयमर्थक्रियाहेतुर-	७१	आह्वर्यवलायातम-	४२
अयमेव नवेत्येवमवि-	३८	इतरत्र विरोध क	३९

§ १. लघयिस्त्रयस्य कारिकाधीनामकाराद्यनुक्रमः.

कारिकार्थम्	पृ०	कारिकार्थम्	पृ०
अक्षधीस्मृतिप्रज्ञाभि-	१	चन्द्रादे ज ३ चन्द्रादि-	५
अक्षवृद्धिरतीतार्थ	१५	चित्त मत्सदात्मैक	४
अक्षयन्दार्थविज्ञान-	१६	चेतनाधुनमूहत्वात्	१४
अक्षार्ययोगे सत्ता-	२	जीवन्व्यानगुणस्थान-	२५
अर्थक्रिया न युज्येत	४	जीवाजीवप्रभेदा यद-	११
अदृश्यपरचित्तादे-	६	ज्ञानमाद्य मने सजा	४
अनाशवास न कुर्वीरन्	९	ज्ञान प्रमाणमात्मादे-	१८
अनुमानाद्यतिरेकेण	२	तथा ज्ञान स्वहेतुत्व	२०
अनुपपन्नयोगैश्च	२५	तथैव भिन्नफलार्थान्	१२
अनश बहिरन्तश्चा-	६	तदाकारविकारादे-	६
अन्तर्भावान् भुज्यन्ते	२१	तद्द्रव्यपर्यायात्मा-र्था	३
अन्याया न विवाद	१८	तपोनिर्जीर्णकर्माज्ज	२५
अन्योन्यगुणभूतैक-	१३	तमो निरोधि दीप्तन्ते	१९
अन्वयव्यापारकाभ्या	१८	तत्प्रत्यक्ष परोक्ष च	२१
अप्रयुक्तोपि सर्वत्र	२२	तत्प्रमाण न चैन्वर्त-	७
अभिरुदस्तु पर्याये-	१५	तद्वैधर्म्यान् प्रमाण	७
अयमर्थ इति ज्ञान	१८	तद्वैशद्य मन बुद्धे-	६
अचरहो विरोपाकाक्षी-	२	नय भवन्नवा मरु-	२४
अविकल्पधिया लिंग	५	दुर्गयो ब्रह्मगट	२४
असदात्मसु नैवा	१३	दृष्ट्यादृश्यैर्विभाज्ये	११
अस्पष्ट शब्दविज्ञान	१६	द्रव्यपर्यायिसुम्नान्ते	२०
आप्तोक्तोद्धेनुवादाच्च	९	द्रव्यपर्यायिनामान्य-	१६
इदमन्य महद्ब्रह्ममास-	७	द्रव्याणि जीवादीन्यान्वा	२५
उपमान प्रसिद्धार्थ-	७	द्रव्य स्वल्पज्ञप शयेन्	११
उपयोगी श्रुतस्य द्वी	२१	धर्मती-नकरभ्योऽज्ज	-
एकस्यानेकसामग्री-	१६	धागथा स्मृतिहेतु-	७
एक यथा स्वनिर्भाभि-	११	धीधिकन्याविकल्प्यामा	३
हज्जुम्वस्य पर्याय	१८	न नञ्जन्त न माद्रूप्य	२०
रूपभादिमहाबीग-	११	नगनु-नानिद-न-	२५
वर्षविद्वात्सर्मा इज्जि-	११	नरो ज्ञानुर्गभिप्रासो	१८
कन्वत्त्वभावो हेतु	६	नानुमानादमिद्वन्वात्	५
कार्यकारणयोश्चार्थि	१९	नानद-पि विरुद्धेन	१
कार्यात्ताविवरुद्धा चेत्	१०	नाम्यया वाधप्रमाताना	२१
कार्यं दृष्ट प्रजातीया-	१०	निश्चयव्यवहारी तु	२०
कार्ये कार्यभावचेत्	१०	निन्दनतत्त्व-नन्दोपि	२०
कालकारकलिताना	१०	निश्चयान्मा न्यन	६
मागविलक्षण न्यक्षेपा-	१६	नगमा- नान्त्वोन्नी	१३
दृष्ट्यादिन न दृष्ट्यादि-	१९	परि-न नागना- एद्रमान-	१५
द्वयानामभ्या भावाना	१	परि-न शेरविज्ञान	१
गुणप्रधानभावेन	२३	परान्ति-गामिभ्योऽने-	१०
गृह्य निर्णयन्नेव	२०	पर-व-उपपत्त्या-न- उ-	३
चत्वारोऽर्थनवा ह्येते	२४	प्र-नि-न- म-द-वीर	१८

ज्योतिर्जानादिवत्सर्वं
 तत सत्तेति साध्यन्ते
 तत सर्वा व्यवस्थेति
 तत ममाव्यते शब्द
 तत ससारिण सर्वे
 ततस्तत्त्वव्यवस्थान
 ततस्तत्त्व गत केन
 तपसवच प्रभावेण
 तयोरनुपलभेषु
 तत्कार्यात्कार्यपर्यन्त-
 तज्जातीयमत प्राहु-
 तज्ज्ञानपूर्वक तर्क्य
 तत्तन्निमित्तक शब्द
 ततस्तत्त्वभावतो ज्ञान
 तन्न कारणमित्येव
 तत्प्रतीत्यसमुत्पादा-
 तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्ष-
 तत्प्रत्यक्ष परोक्षोऽर्थे
 तत्र तद्गमक तेन
 तत्र दिग्भागभेदेन
 तत्र दोष ब्रह्माणो वा
 तत्र नाशादिशब्दादच
 तत्र भावा समा केषित्
 तत्र मिथ्योत्तर जाति
 तत्र रूपादिरन्यदच
 तत्र शौद्धोदनेरेव
 तत्र सिद्धमसिद्ध वा
 तत्राद्यापि जना सक्ता
 तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्ध
 तत्रापि तुल्यजातीय-
 तत्राप्यनर्थसवित्तो
 तत्राग्नितफलाभावी
 तत्रैकत्वप्रसगाच्चेत्
 तत्रैकत्व प्रसज्येत
 तत्रैकमन्तरेणापि
 तत्रैकमिसन्धाय
 तत्रैक कल्पयन् चार्यं
 तत्रैव ग्रहणात् किवा
 तत्त्वज्ञानप्रभावेण
 तत्त्वज्ञानमूवेतीति
 तत्त्वज्ञानाद्यन्त्पादहेतु-
 तत्त्वतोऽनुपकारेऽपि
 तत्त्वार्यदर्शनज्ञान-
 तत्सत्ताव्यवहाराणा
 तत्समानासमानेषु
 तत्सारतरभूतानि
 तत्सत्कारान्वयेषु-
 तत्राऽक्षार्यमनस्कार-
 तथा गोचरनिर्भासं
 तथा चेत्स्वपराल्भानी

११	तथा जनकजन्येषु	६५
५९	तथा ज्ञान तथाकार-	४८
४६	तथा तत्प्रतिपक्षेऽपि	५८
५८	तथार्थे सत्यसम्भूतु	६६
८४	तथा न क्षणिकादीना	८६
५०	तथा निराश्रयीभाव	८३
३७	तथानेकोऽपि तद्धर्म-	५८
८८	तथान्यगुणदोषेषु	८२
७६	तथापि सुगतो बन्धो	८०
७८	तथा प्रतीतिमुल्लघ्य	४७
५६	तथा प्रमाणत सिद्ध	५०
८४	तथा भूताविशेषेऽपि	६०
५९	तथाय क्षणभगो न	४६
८४	तथा रागादयो बृष्टा	६४
६२	तथा वस्तुबलादेव भेदा-	८०
६५	तथा सत्त्वमतत्त्व वा	३७
४०	तथा सर्वत्र किन्नेति	३६
६९	तथा साक्षात्कृताद्येव-	९१
५९	तथाहि दर्शन न स्यात्	५७
४१	तथाहेतुसमुद्भूत	४०
८०	तथेष्टत्वाददोषोऽय-	५३
६५	तथैव पुरुषत्वादेर-	७८
५०	तथैव व्यवसाय स्या-	३०
७९	तथैवात्मानमात्माऽय-	३४
४४	तदकिञ्चित्करत्वं न	५७
३७	तदतद्वस्तुभेदेन	९०
७०	तदतद्भागवन्तोऽय-	९०
३७	तदर्थदर्शनाभावात्	५८
५९	तदर्थदर्शिनोऽभावात्	८६
४३	तदर्थवेदन न स्यात्	३३
३३	तदर्थोऽय प्रयाससत्त्व-	८२
५४	तदनेकार्यसंश्लेष-	६७
५५	तदनेकान्तात्मक	६०
६१	तदभावेऽपि तद्वाऽस्या-	५३
५६	तदन्यत्र समानात्मा-	६५
५५	तदभावे हि तद्भावा-	३७
३६	तदसत्त्वमतत्त्व वा	८१
८८	तदात्मोत्कर्षणार्थेव	६४
८२	तदासावभिलाषेण	८१
८२	तदाभासो वितण्डादि-	६४
५५	तदाहारादिसामान्य-	४६
८९	तदेव नस्तु साकारमकार-	४७
५४	तदेव सकलाकार तत्त्व-	६६
५८	तद्बुद्ध प्रतिषेधोऽय	६२
६२	तद्बुद्ध्यामिरत्येवा	६३
६४	तद्धि जन्मान्तराभाय	४६
५२	तद्भावा परिधाम स्यात्	३४
४३	तद्भ्रान्तेराधिपत्येन	६०
३९	तद्व्यचोदितेऽव्यक्ते	५५

३३. न्यायविनिश्चयस्य कारिकाधीनामकाराद्यनुक्रमः.

कारिकाधर्मम्	पृ०	कारिकाधर्मम्	पृ०
अकिञ्चित्कारकान् सर्वान्	७९	अर्थज्ञानस्मृतार्थम्-	३४
अक्रम करणादीन्	५२	अर्थज्ञानेऽस्तौऽप्युक्त	३०
अक्षज्ञानानुब स्पष्ट	५०	अर्थमानावबोधेऽपि	७५
अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्य	५८	अर्थस्यानेकरूपस्य	७०
अक्षयात् पुरुषत्वादे	७८	अर्थान्तरविवेको न	४६
अक्षादीना विकारोऽप्य	६३	अर्थेष्वपि प्रसंगत्वे-	४१
अक्षादेरप्यव्यस्यस्य	५४	अदृष्टदोषासकामान्-	८३
अग्नि स्वपररूपाम्या	६९	अदृष्टदोषासकामान्वयानि	९१
अद्रह क्षणभगोपि	७१	अदृष्टिकल्पनाया	५७
अज्ञानरूपहेतुस्तद-	४०	अदृष्टैरर्थरूपस्य	३३
अणव क्षणिकात्मान	७२	अद्रवद् भवति द्रोष्यति	४५
अणुना श्रुतयोग्यत्वा-	७९	अद्रव्य द्वपनिर्नास-	३६
अत एव विरुद्धत्वादल	६२	अद्रव्य द्वपनिर्नासमात्रम्-	३९
अतस्कालादिरप्यात्मा	३५	अद्रव्य परचित्ताविवेक-	३९
अतस्फलप्राप्तुत्वात्	७२	अथ ऊर्ध्वविभागादि-	४४
अतदर्थपरानुत्तम-	३३	अव्यक्तमात्मनि ज्ञान-	३१
अतदारम्भतया बुद्धे	४८	अव्यक्तमात्मवित्तैर्ब	५१
अतद्वैतुफलापोहवि-	४९	अव्यक्तसिगत सिद्ध	४९
अतद्वैतुफलापोहे	३०	अव्यक्तादिविरोध	५१
अतद्वैतुफलापोह	५६	अनर्थाकारसकैषु	३४
अतद्वच बहिरर्णना	५३	अनर्थानिक्कमन्तानान-	३७
अतद्वचार्थबलायातम-	४२	अनर्थे. परमात्मानमत	८४
अतादात्म्यस्वभावे	६८	अनन्यसाधने सिद्धि	४३
अतिप्रसंगतस्तत्रात्	५६	जनन्वयादिविदोषोक्ते	८०
अतीतस्यानां नव्यकनो	३३	अनपाथीति विद्वत्तामा-	४१
अतीतानागततादीना	५३	अनल पावक्रोऽग्नित्वात्	३९
अतीत्यादर्थराशेस्त-	४४	अनवस्थानतो भेदे	६०
अत्यन्तमसदात्मान	३५	अनादिनिघन तत्त्वम्-	६०
अत्यन्तामेवमेवौ न	४८	अनग्निवासना न	८२
अत्यक्षेपु द्वुमेवन्व-	४३	अनादिसप्रदायद्वेदायु-	८६
अत्मात्मानानसम्पृष्टान-	४३	अनाधिपत्यशून्य	४१
अत्र दृष्टविपर्यस्तम-	४८	अनुमानमती हेतुव्य-	९२
अत्र मिथ्याविकल्पौर्ध	४३	अनुमानमल कि तदेव	७५
अत्राक्षेपस-नाथीनाम-	३३	अनुमान तु हेतो	३५
अत्रान्यत्रापि तत्तुल्य-	६१	अनुमेयत्वतोऽन्यादि-	८५
अत्रापीरूपेयत्न जातु	४४	अनेकअर्थमेकमानेक-	४८
अत्रैवोभयपक्षोक्त-	८०	अनेकलक्षणार्थस्य	९०
अथ न व्यवहारोऽप्य	६२	अन्त धारीरवृत्तचैद-	३६
अथ नान्य परिच्छेदो	३२	अन्तरेणापि तादृश्य	३३
अथैवमसरूप किम-	३३	अन्तरेणैवमसागनुभूतं	५०
अथैक सर्वविषयमस्तु	५१	अन्तरेणैह मन्वन्व-	७५

नित्यस्येच्छा प्रधानादि-
 नित्य सर्वगत मत्त्व
 नित्य सर्वगतो ज्ञ सन्
 नियमेन न गृह्णाति
 निरन्वयविनाशे
 निराकारैतरस्यैतत्
 निरुपद्रवमूतस्य
 निर्वाणमाह वेदोऽयं
 निर्विकल्प विकल्पेन
 निर्व्यापारो हि भाव
 नि श्रेयस पर वेति
 निह्नासातिशयाभावात्
 निह्नासातिशयो येषा
 नैक्षते न बिरोधोऽपि
 नैकान्तधायिकाणा
 नैरन्तर्यं निरक्षाना
 नैषा विकल्पना
 नो चेत्पि डोऽणुमात्र
 नो चेद्भिन्नमहेतुभ्य
 नोपाश्रयो न तद्वन्त
 नीयानादिषु विभू-
 न्यायेन विजिगीषुणाम्
 पदार्थज्ञानभागाना
 परदु खपरिज्ञानात्
 परमाणुरतोऽन्यो वा
 परमाथोवताराय
 परमार्थकतान्त्व-
 परसत्त्वममात्तस्य
 परस्याप्यविरोधश्चे-
 परापरविवेकैक-
 परिणामविशेषा हि
 परिणामस्वभाव
 परितुष्यति नामैक
 परीक्षाक्षमवाक्यार्थ-
 परीक्षाक्षमवाक्यार्थ-
 परोक्षज्ञानविषय
 परोक्षोऽन्यविनाभाव-
 पर्वतादिविभागेषु
 पश्चादनुपलम्भेऽपि
 पारम्पर्येण साक्षाच्च
 पारम्पर्येण साक्षाद्वा
 पीतदोषाश्रवाकारो
 पुरुषानिगयो ज्ञातु
 पूर्वपक्षमविज्ञाय
 प्रकाशानियमो हेतो
 प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादी
 प्रकृताशेषतत्त्वार्थ-
 प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्त-
 प्रज्ञा येषु पटीयस्य
 प्रतिभण विशेषा न

८९	प्रतिज्ञातोऽन्यथाभाव	३०
५०	प्रतिपक्षस्थिर, भाव	८९
५२	प्रतिभाससिद्धाया	५४
७४	प्रतिभाससिद्धा घत्ते	४८
७०	प्रतिभाससिद्धैकत्र	५७
३२	प्रतिब्यूढस्तु तेनैव	७४
८३	प्रतिशरवैलाया	३६
८३	प्रतीतिप्रतिपक्षेण	४२
४७	प्रत्यक्षप्रतिसन्धेय	४५
७६	प्रत्यक्षभजसा स्पष्ट-	९२
९३	प्रत्यक्षलक्षण ज्ञान	४०
६२	प्रत्यक्षलक्षण प्राहु	२९
८९	प्रत्यक्षागमयोरिष्ट	८३
५७	प्रत्यक्षागमयोरिष्ट	९१
९३	प्रत्यक्षाणा परोक्षा-	७२
६८	प्रत्यक्षानुपलभश्च	७५
३९	प्रत्यक्षानुपलभ्याम्	७४
४१	प्रत्यक्षाभाप्रसंगश्चेत्	५४
५७	प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदो	३२
५५	प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथा-	२९
४९	प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन	७४
८१	प्रत्यक्षेऽपि समानान्य-	७१
३०	प्रत्यक्ष करणस्यार्थ-	३२
७८	प्रत्यक्ष कल्पनापीड	४९
७०	प्रत्यक्ष तद्गुणज्ञान	६२
४१	प्रत्यक्ष न तु साकार	४५
३०	प्रत्यक्ष परमात्मानमपि	५२
६९	प्रत्यक्ष वह्निरन्तश्च	४७
६५	प्रत्यक्ष मानस चाहु	४७
७०	प्रत्यक्ष यदि वाच्येत	६७
८८	प्रत्यक्ष श्रुतविज्ञान-	९३
७०	प्रत्यक्षकव्यवच्छेदप्र-	८१
३८	प्रत्यभिज्ञादिना सिद्धचेत्	५५
९१	प्रत्यभिज्ञा द्विधा	५९
८३	प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाण	८७
३१	प्रत्यभिज्ञाविशेषात्	४७
८२	प्रत्यय परमात्मान-	७२
३८	प्रत्येति न प्रमाहेतु	७४
४७	प्रदुर्लभं पुनरस्यैव	८३
६३	प्रदेगादिव्यवायेऽपि	३५
४३	प्रपेदे सर्वथा सर्ववस्तु-	५३
८८	प्रपञ्चोऽनुपलब्धैर्ना-	७५
८२	प्रभव पौत्पेयोऽस्य	८५
८०	प्रभु साक्षात्कृतानेय-	८४
३३	प्रमाणपूर्विका नान्या	५९
९२	प्रमाणमर्थमन्वन्धात्	६९
८०	प्रमाणमाविसबादात्	९६
७८	प्रमाणमाविसात्कूर्बन्	३६
७७	प्रमाणसाधनोपाय	७४
४८	प्रमाणस्य फल तत्त्व-	९३

इति सर्वमपेक्षेत	७४	कावदिवन्कारण	६०
इति न कर्णोष्टमत्पन्त	८२	काये तन्मात्र ते नस्य	६३
इदमेवमिति ज्ञान	९२	कार्यकारणयोर्विद्वि-	६७
इद विज्ञानमन्यद्वा	६८	कार्याभावगनेनाग्नि	६२
इन्द्रजालादिषु भ्रान्ति-	३६	कारणम्याध ने तेषा	४३
इन्द्रियाविषु नक्तत्व-	६७	कारणामभवात्प-	८८
उष्ट तत्त्वभेदातो	९३	कारण नाशमघात	६३
इष्ट सत्त हित	७७	कालापवर्षपठेन्न-	७३
इष्टमिडि परेषा वा	५३	कालनेनाथज्ञानाप	८६
उत्तरोत्तरवेहस्य पूर्व-	६२	कुतश्चित् सदसद्भाव-	५४
उत्पादविगम प्रौढ्य-	४६	कनापि विप्रलब्धात्	४१
उपमान प्रमिद्धायं-	९२	केवल प्रतिपत्ता	९०
उपलब्धेदथ हेतुत्वा-	७६	केवल लोकरुद्रपथ	९३
उपलब्धप्रनुपलब्धिभ्या	९१	को दोषो येन नित्यत्व	८६
उपादानस्य सूदनत्वाद्यु-	८५	कोमपान विनेय	६८
उभयावितवदभोक्ता	९०	कृतक क्षणिका न	७६
एकता भावमास्या ज्वेत्	६१	क्रमेणामुह युक्त	८६
एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्य-	३०	क्रमेणोच्चायमाणेषु	८८
एकत्र बहूभेदाना	५९	नमोत्पत्तो महत्त्वोत्त-	५१
एकाकाराविवेकेन	७३	लीगत्तरविजातीयं	६४
एकानेकभनेकान्त	५०	गत्वा मुद्गरमप्येव	३२
एकान्ते चेतयादृष्टे-	५७	गर्भे रसविशेषाया	६४
एकेन चरित्तार्थत्वात्	४२	गुणपर्यययोगेकत्वम्	४५
एक चक्षुर्लक्ष्मी	६७	गुणपर्ययवद्द्रव्य	६४
एतत्समानमन्यत्र	४२	गुणवद्द्रव्यमूलाद-	४५
एतदन घटादीना	६०	गुणाना गुणमन्वयो-	६१
एतेन पूर्ववद्गीनमयोग्या-	७६	गौरवायंवनत्कार्य-	४४
एतेन प्रत्यभिज्ञाना-	३५	प्रहादिगलय सर्वा	८५
एतेन भिन्नाविज्ञान-	६१	ग्राह्यग्राह्यवद्भ्रान्ति	४०
एतेन भेदिना भेदसम्-	५५	ग्राह्यभेदा न गतिरिति	३४
एतेन येषि मन्येरन्नप्रत्यक्ष	३२	विश्र मदेकमिति चेद्विद	६२
एतेन विरलसत्ताया	३३	विश्र दृग्यमिद सर्व	८७
एतेनातीन्द्रिय भावकार्य-	५४	चोदितो दधि स्वदेति	८०
एव अत्केवलज्ञानम-	८५	चोद्यन्ते शब्दलिङ्गभ्या	५५
एव हि सुगतादिभ्यो	९२	चोद्य महनि नीलादी	६८
अद्यप्रहविनेकत्वा-	७३	जानिनद्वयोत्पदि-	९०
अद्ययोगेदि तादात्म्य-	४८	जानिन्मरागा मवादा-	६३
अद्युपादानुमादृष्टे	४४	जानेविप्रतिपत्तीना	५३
कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु	७८	जालन्तरे तेषामुत्ते	५५
कथन्त समवी वतता	७०	जायन्त मश्टान्मान	३८
कथन्नातिलकालस्फुल-	४४	जीवतीति यत् मोक्ष	५९
कथमेजायं आकाशानिवृ-	३७	जीव प्रतिक्षण भिन्न	७३
कथेणा विगमे कस्मा-	८४	जीवच्छरीरप मोक्षु	६७
कथेणामपि कर्ताऽय	६०	जग्यवरपविच्छेदे	९३
कथेणामिति मत्कृत्य	८८	ज्ञाना द्रव्यादिवापर्यय	५०
कर्मादित्ये प्रवृत्ताना	८९	ज्ञान्या विज्ञप्तिमात्र	५२
कथ्या स्वपरसन्तान-	८७	ज्ञानज्ञानमिति ज्ञानम-	३७
कथ्यायामनामप्यभान्	६३	ज्ञानज्ञानरत्नात्मोप-	३६
कथया नदनदत्त्वेन	४२	ज्ञानागौरवु नवेत-	५८
कथ सति तदाकारे	३८	ज्ञापने न पुनश्चित्त-	३८

रागद्वेषी विहायैव	८८	विषयेन्द्रियविज्ञान-	३१
रूपादिदर्शनाभावात्	६४	वीक्षते किं तमेवाय	३९
रूपादीनि निरन्त्यान्त्यन्	६८	वेदनादिचिद्विष्टं चैत्	५१
रुक्षण तु न कर्तव्य	५१	वेदस्थापारूपेयस्य	८५
रुक्षण सममेतावान्	५२	वगादिस्वरधारया	८६
रुग्णसावनयोऽस्तुल्या	७५	वृत्तावपि न तस्यैव	६७
लोकतो वानुगन्तव्या	७१	व्ययन व्यक्तं सदा व्यक्त	५०
वचनं भावनादीनां	८१	व्यवत्यावरणविच्छेदे	८६
वागर्थदृष्टिभागेषु	५८	व्यवच्छेदस्वभावेषु	५९
वाचामपौरुषेयीणां	८९	व्यवच्छेदाविसर्वादे-	७५
वाचो विरुद्धकार्यस्य	७७	व्यवसायात्मसर्वाद्य-	५२
वाच प्रमाणपूर्वाया	८७	व्यवहारविकल्पो वा	३५
वाञ्छन्तो वान वक्तार	७७	व्यग्रहारादिनिर्माणो	४१
वादी पराजितोऽयुक्तो	८०	व्यग्रहारो जवेज्जानि-	३७
वायनामेवाद् भेदोऽयं	४३	व्याख्यानादौ विवक्षात	९०
विकल्पानां विसौपाच्च	६३	व्याधिभूतदहादीनां	५४
विकल्पसत्त्वंति	३८	व्याप्यव्यापकभावोऽय-	७४
विकल्पोऽर्थक्रियाकार-	३८	व्यामोहश्रवलाकार-	७२
विचित्रं ग्रहणं व्यभत	३०	व्यावृत्तिं पश्यत कस्मात्	५७
विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो	४३	शक्तावनिर्गम्यावान	७०
विच्छेदे हि चतु सत्य-	५१	शक्तिभेदे तथा सिद्धिं	६०
विच्छेदो वरमुच्छेदात्	८३	शब्दभागा स्वहेतुस्य	८८
विज्ञानवितथाकारा	४०	शब्दार्थयोर्विकल्पेन	८७
विज्ञानप्रतिभासेऽर्थ-	४८	शब्दादेरुपलब्धस्य	४७
विज्ञानमजसा स्पष्ट	८४	शब्दाद्यधीगविच्छेदे	७५
विज्ञानव्यक्तशक्त्याद्या-	४४	शब्देऽपि साधयेत्केन	७०
वितयज्ञानसन्तान-	३६	शब्दोत्पत्तिविनाशास्तत्सा-	७९
वितथेत रविज्ञाने	७३	क्षरीरग्रहणं येन तद्गुण-	६१
वितयोऽवितयञ्चापि	५८	गच्छुलीमक्षणादौ चैत्ताव-	५१
विपर्यासोऽपि किन्नेष्ट	३९	शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात्	८५
विष्णुताक्षमनस्कार-	३६	शास्त्रं दुरवगाहार्थतत्त्व	९१
विष्णुताक्षा यथा बुद्धि	३६	शास्त्रैर्निर्वातितं	८२
विद्ववाणो दृवाणो वा	८०	शास्त्रं तन्लक्षण-	९२
विद्वमे विद्वमेतेषां	३७	शास्त्रं शक्यपरीक्षणेषुपि	८१
विद्वज्ज्ञानसवेदो	३२	शिर पाभ्यादिमन्त्राद्या	७७
विरुद्धधर्माव्यास-	४८	शेषवद्वैतुरन्योऽपि	७६
विरुद्धधर्माव्यासिन	४६	श्रीवादिभूति प्रत्यक्षं	५२
विरुद्धासिद्धसन्दिरव्यति-	४१	स एवाय समन्वेति	५८
विरुद्धासिद्धसन्दिधा-	६६	सकलयहसामर्थ्यात्	७३
विरुद्धासिद्धसन्दिरवै-	७९	सकलज्ञस्य नास्तित्वे	८४
विरोधात् कश्चिदेकस्य	५२	सकलाग्रहणात्तेषां	८८
विरोधादन्वयाभावात्	७६	सकल सर्वैकान्त-	८१
विरोधानुपलमेन	६८	संज्ञानपरिणामात्म-	८८
विलक्षणार्थविज्ञाने	४८	सति आन्तेरदोषत्वेत्	३८
विवक्षानिरपेक्षास्ते	७७	सत्तायोगादिना सन्ति	५०
विवक्षानन्तरेणापि	७७	सत्ता सप्रतिबद्धैव	७६
विशेषकल्पनायां स्याद्	६५	सत्त्वमर्थक्रियाऽप्ये वा	७६
विषयलोकाधिकज्ञाने	८३	सत्त्वत्यक्तं परोक्षार्थं	६९
विषयोऽयमुपन्यास	३५	सत्त्वमेयत्त्वयोर्नास्ति	६९
विषयज्ञानतज्ज्ञान-	३४	सत्यप्यन्वयविज्ञाने	७४

तद्विधितं स्वभावोऽयं	४९	न च तेऽर्थविद्योऽर्थो-	७२
तद्विरम्य विरम्येतत्	८६	न च दृष्टेर्विशेषो म	५७
तद्विकेन भावाभ्येतत्	६५	न च नाम्नि स बाकार	४९
तद्वधनक्ति ततो नान्यत्	३४	न चानन्तरमिन्धेव	६५
तद्वधातिव्यतिरेकाभ्या	५५	न चेद्विशेषाकारो	५६
तन्मात्रभावो दृष्टान्ते	४३	न चेत्स परिवर्तते	६६
तल्लक्षणप्रपञ्चक	७६	न चेत्स परिवर्तते भाव एव	७०
तस्माद् दृष्टस्य भावस्य	४९	न चैकमेकरागादौ	४१
तस्मादनुमितेरर्थविषय-	५४	न जात न भवत्येव	४२
तस्माद् भावविनाशोऽयं	६६	न ज्ञायते न जानाति	४२
तस्मादभेद इत्यत्र सम-	५७	न तयो परिणामोऽस्ति	६२
तस्मादनेकरूपस्य	६०	नतं तदागमात् सिद्धयेत्	८५
तस्माद्विरासवोभाव	८९	न विद्यो नान्यथेत्यंते	३१
तस्मात्प्रकाशततो भ्रान्ति	४२	न निरोधो निरोधे वा	८९
तस्माद्भवलादेव-	७४	न भवेत् परिणामित्वा-	६४
तस्मात्सभागसन्तान-	६६	न भेदेपु न सामान्ये	५८
तस्मात्ससारवैचित्र्य	६४	न भेदोऽभेदरूपत्वात्	५४
तस्य वस्तुषु भावादि-	४९	नम श्रीवर्द्धमानाय	२९
तस्याद्दृष्टमुपादान-	४७	न युक्त निग्रहस्थान	८०
तस्यापि देहानुत्प-	६२	न वर्षापदवाक्याभ्या	८७
त्तादात्म्यनियमो हेतु-	४५	न विकल्पानपाकुर्वी-	४२
त्तादात्म्येनैव वायते	६१	न विशेषा न सामान्य	४९
तादात्म्यं तु कथञ्चित्	७५	न सर्वयोग्यता साम्यी	८७
तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञान	७३	न स्वतो नापि परत	३६
तादात्म्येन पृथग्भावे	६७	न स्वप्नेऽणिकादीना	८४
तादृशोऽभावविज्ञाने	८६	न स्वसवेदनात्तुल्य	३४
तादृशो वाचक शब्द	८७	नष्टो वा नान्यथाभूत	६६
तामेव पश्यन् प्रत्येति	४४	न हि केषादिनिर्भासो	४३
ताभ्याद्विरक्तिकादीना	४४	न हि जातु विपज्ञान	३९
तात्त्वादिष्वभिधानेन	८६	नहि शब्दाद्यसम्बन्धो	८७
तावता यदि किञ्चित्	३८	न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा	३७
तावत्परत्र शब्दोऽयं	३१	नात्यक्ष यदि जानाति	९१
तावद्भिरेव पूर्वत	४४	नानाकारणसामर्थ्या-	६८
तीक्ष्ण शोद्धोदने शृंग	४४	नानाकारैकविज्ञान	६७
तुलितद्रव्यसयोगे	४४	नानात्मविभ्रमादेव	६१
तुलोभाभरसादीना	७५	नानाम स्वात्तया सत्य	५४
तुल्यश्च गुणपक्षेण	६३	नानाम क्रमशो वृत्ते-	६०
तेषामेव सुखादीना	४०	नानैकत्र नचैकत्र	५६
दभ्युष्टादेरभेदत्व-	७९	नानैकपरिणामोऽयं	६७
दवीनादर्शनाभ्यासात्	८३	नानैकवचना शब्दा	५९
दर्शनादर्शने स्वाता	६७	नानैकान्तरग्रहप्रस्ता-	४७
दीपयेत् किन् सन्तान	४०	नामरूपादिहेतुत्व	७५
दूरदूरतरादित्यैरेक	५४	नान्यथानुपपन्न-	७४
देशकालान्तरव्यप्ति-	७१	नान्यथा विषया-	३१
दृश्यादृश्यात्मनो बद्धि-	४८	नावश्य चक्षुरादी-	६४
द्रव्यपर्यायसामान्यविशे-	२९	नाऽस्मृतेऽभिलाषोऽस्ति	६३
धर्मपर्यायसामान्य-	९०	नाशस्यैकार्यरूपस्य	७२
धर्मिधर्मस्य मन्देहे	७७	नाशोऽप्यणी न तेऽत्रा-	४४
ध्वनयस्तत्समर्थाना-	८८	निर्णयेऽनिर्णयानोहो	७३
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति	६४	नित्यस्यापि सत	८३

साधनात्साध्यविज्ञान-
साधन प्रकृताभावेऽनुप-
साधय्यादिसमत्वेन
साध्यसाधनभावो न
माध्यसाधनमकल्प
साध्याभास विरुद्धादि-
माध्यं सति विरोधोऽर्थ
साध्यं शक्यमभिप्रेत
सामग्रीविहितज्ञान-
सामान्यं च विज्ञेयाश्च
सामान्यं चैवपोहिना
सामान्यमेदरूपार्थ-
सामान्यमन्यथासिद्ध
सारूप्यंऽपि समन्वेति
सास्नादीना
सिद्धमर्थक्रियासत्त्व
मिद्धमेकमनेकालम-
मिद्धहिंसान्तस्तोय-
सिद्धं तन्किमतो ज्ञेय
सिद्ध प्रवचनं मिद्धपर-
सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं
सुखदुःखादिसवित्ते-
सुखादिविषय.
सुगतोऽपि भूगो जात
सुनिश्चितमनेकान्तम-
सूक्ष्मस्थूलतरा भावा
सूक्ष्मान्तरितद्वाराया.
सूचयन्ति हि कर्माणि
सूत्रेष्वेव तयोस्मन्ती
सक्षेपेण वचचित्
सख्यादिममभावेऽपि
सघातो हेतुरेतेपा
सम्बन्ध्यापि माभाषा
समावितान्यरूपाणा-
सयोगसमवायादि-
सवादासमवाभाव-

५२ | सवेदन न तेभ्योऽपि
६६ | सगयादिप्रसंग
७० | नसर्गात् सर्वभावानां
७९ | संसर्गां नास्ति विच्छेपात्
४१ | समरेन् परिणामात्ते
५३ | नसारिणा नु जीवाना
६९ | स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽपि
५३ | स्कन्धो भावानु रोचने
६८ | स्थूलस्यष्टविकल्पा-
७४ | स्मर्शोऽयं चाक्षुषत्वान्न
५६ | स्यादमभवनादात्म्य-
७१ | स्याद्वाद श्रवणज्ञान-
३३ | स्याद्विधिप्रतिपेक्षाम्ना
३३ | स्वचित्तमात्रगतवितार-
७५ | स्वन मामर्थ्यविकल्प-
७० | स्वन मिद्धेरयोगान्न
७० | स्वतन्त्रत्वे नु शब्दाना
८२ | स्वतस्तत्त्वं कुतस्तत्र-
३१ | स्वतो हि परिणामोऽय
८१ | भवनिवृत्तौ यथा तसा
८६ | स्वभावकारणासिद्धे-
३१ | स्वभावव्यवसायेषु
८३ | स्वभावातिसायाचानं
८० | स्वलक्षणममकीर्णं
४७ | स्वस्वभावस्थितौ
७३ | म्यानन्त्यदृष्टेर्भूताना
८५ | स्वापमूर्च्छाश्रवन्धोपि
८९ | हिताहिताग्निनिर्मुक्ति-
९० | हेतुत्वेन परस्तेपा
५८ | हेतुरेव यथा सन्ति
६८ | हेतुत्वान्पलंभोऽयं
९२ | हेत्वात्मनो पर हेतु
६८ | हेत्वाभासा विरुद्धाख्या.
७२ | हेयोपादेयतत्त्वस्य
४८ | हेयोपादेयतत्त्वार्थ-
८४

३२
९१
५४
५४
६०
७८
६७
६८
७२
६८
४७
९३
९०
३३
८७
४१
८६
३७
७८
६२
७७
७२
७०
४५
६६
६२
५१
२९
७६
५३
७५
६९
७६
८२
८९

कारिकावर्णनाभकाराद्यनुक्रमः

प्रपाद्य सन्नामान-
 प्रमाहेतुतदासा-
 प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वात्
 प्रमितोऽर्थं प्रमाणात्
 प्रयोपविष्टे वायु
 प्रकृपन्त प्रतिक्षिप्ता
 प्रबन्धेति विगताल्म-
 प्रवाह एक किन्वेष्ट
 प्रवृत्तेऽप्यन्वयेवतत्
 प्रवृत्तेऽप्यन्वयेवतत्
 प्रवृत्त रूपसंदान्तेत्
 प्रवृत्त किमतद्भूति-
 प्रसङ्गमेतान्यथा तदत्
 प्रसिद्धायेपतत्त्वार्थ-
 प्रस्फुट विपरीत वा
 प्रामाण्यमविसवादान्
 प्रामाण्य कथमसादी
 प्रामाण्य नागरीतेऽर्थे
 प्रामाण्य यदि शास्त्र-
 प्रायशोऽप्यन्वयवच्छेदे
 प्रायशो योगिविज्ञान-
 प्रायशकस्य तादृश्य
 प्रोक्षित मक्षयन्ति
 फलाभावादशक्तैश्च
 बभूवेति वय तावद्वह
 बलीयस्यबलीयस्त्वात्
 बहुभेद श्रुत साक्षात्
 बाधकासिद्धे स्पष्टामान्
 बालानां हितकामिनामति-
 बुद्ध बुद्ध प्रवर्ततेति
 बुद्धिपूर्व्यथा तत्त्वं
 बुद्धे पुरुषतन्त्रत्वे
 भावनादभ्युपैतिस्म
 भावनापाटवाद् बुद्धे
 भावात्तरसमारोपेऽभावि-
 भावोऽभावश्च वृत्तीना
 भासते केवल नो वेत्
 भिन्नमन्तर्बहि सर्व
 भूतानामेव केषामिच्चत्
 भेदज्ञानात् प्रतीयते
 भेदब्रह्मिण कृत्वा
 भेदसामर्थ्यमारोप्य
 भेदाणां बहुभेदाणा
 भेदाभेदव्यवस्थेन
 भेदाभेदात्पनोऽर्थस्य
 भेदाभेदो प्रकल्प्यते
 भेदिना प्रत्यभिज्ञेति
 भेदेऽपि वस्तुवृत्त्वान्न
 भेदो वा सम्भत केन
 ज्ञाने पुरुषवर्षत्वे

७५ मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ
 ७४ मलैरिव मणिविद्ध
 ६२ मार्गस्तद्विषयवर्चेति
 ९२ मान वस्तुवलादेव
 ९० मिश्रस्यत्वं कुतस्तत्र
 ३३ मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञ
 ८२ मिथ्याज्ञानादतिमोक्ष
 ४० मिथ्यात्वं सौगताना
 ६९ मिथ्याप्रत्ययवर्धेभ्यो
 ६५ मिथ्याभयानकश्रुतै
 ६१ मिथ्याविकल्पकल्प्यत-
 ५२ मिथ्याविकल्पविज्ञान-
 ३२ मिथ्याकान्तप्रवादेभ्यो
 २९ मिथ्योत्तराधामानन्यात्
 ३५ मोक्षज्ञानात् प्रवर्तन्ते
 ५४ यतस्त्वत्त्वं पृथक्त्वत्र
 यत्तावत् कृष्णावत्त्वात्
 ४६ यथा कार्यं स्वभावो वा
 ८१ यथा क्षणक्षयवेऽभूना
 ३५ यथा नैतन्मयन्त्यत्रे-
 ५१ यथाऽप्यनकल्पयेत्
 ६८ यथार्थमयथार्थं वा
 ५१ यथा निश्चयन तस्य
 ५८ यथा भूताविशेषेऽपि
 ३७ यथा बचनसर्वज्ञकार्य-
 ६२ यथा सत्त्वं सत्त्वत्त्वं वा
 ७४ यथैवात्मायमाकारम-
 ३९ यदा यम यथा वस्तु-
 २९ यदि किञ्चिद्विशेषेण
 ४२ यदि केचित् प्रवक्तारो
 ४३ यदि चैवविचो नित्यो
 ६४ यदि शेषपरवृत्ते
 ५३ यदि स्वभावाद् भावोऽप्य
 ७८ यद्देहातोऽर्थज्ञानं तद्वि-
 ७२ यद्यप्यनात्मविज्ञान-
 ६४ यन्न निश्चीयते रूप
 ४० यस्तावत् कर्षणावत्त्वा-
 ४५ यस्मिन्नद्यति यज्जात
 ६० यस्यापि क्षणिक ज्ञान
 ४५ वा दृष्टा सोऽप्यर्थो
 ५९ भावत्प्रकृत्यते रूप
 ६८ यावदात्मनि तन्वेष्टा-
 ४६ यावन्तीन्द्रियवर्चेतासि
 ४० युक्तायुक्तपरिषणक्षम-
 ७१ भुगपद् भिन्नरूपेण
 ४६ यत्र साक्षात्कृतास्तेन
 ७३ योऽप्यथा समवी
 ६१ यो हतोराम्योऽनिष्टे
 ४० रागादयं सनादीव-
 ५३ रागादिसाधना स्पष्टा

३८
 ८४
 ८४
 ३७
 ८९
 ८९
 ४७
 ३८
 ३१
 ८२
 ९१
 ९०
 ८८
 ८७
 ८६
 ७५
 ७१
 ६२
 ६५
 ३४
 ५६
 ६०
 ७८
 ३७
 ३४
 ३५
 ९२
 ९०
 ८७
 ४५
 ६०
 २९
 ८९
 ५६
 ८९
 ७३
 ४८
 ७६
 ७७
 ३१
 ५१
 ९४
 ६२
 ८५
 ८७
 ८९
 ७७

प्रकृत्याद्योपतत्त्वार्य-	११३	धून्यस्युतिविज्ञान-	११५
प्रक्रमार्थविशेषेण	१२५	श्रीमत्परमगभीर	१७
प्रक्रियाव्यतिरेकेण	१११	सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि	१०४
प्रतिज्ञाऽसाधन	११५	सत्य तमाहुर्विद्वांसो	१०७
प्रत्यक्षनिर्णयाक्षरं	१०१	सदर्थनियत ज्ञान	९८
प्रत्यक्षस्यापि सामग्री-	१०६	सद्वृत्तिप्रतिषेधाय	१०५
प्रत्यक्ष तद्गुणो ज्ञान	१०७	सदमद्वयवहाराय	१०५
प्रत्यक्ष निष्कल शेष	११५	स प्रत्यस्तमिताशेष-	१२६
प्रत्यक्ष विगद ज्ञान	९७	समर्थवचन वाद	१११
प्रत्यभिज्ञा तत	१०१	समर्थ स्वगुणैरेक	१०३
प्रत्यभिज्ञा फल	९९	समानपरिणामार्थं	११७
प्रमाणनयनिक्षेपा-	१२६	सम्प्रेक्षे नितरा	१२६
प्रमाणभयसम्बन्धा-	९९	सम्बल सर्वभावाना	१२२
प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्	१०३	सम्बन्धयोगत स्थान-	११९
प्रमाण क्वचिदेकस्य	१०१	सम्बन्धान्तरतो नास्ति	१२४
प्रमेयत्व निरक्षाना	१०२	सम्यग्ज्ञानाद् कुशा सत्य	१२२
प्रामाण्यप्रसिद्धार्थ-	९७	स विरुद्धोऽप्यथाभाव-	१११
प्रामाण्य यदि शास्त्र-	१२७	सर्वयान्योन्य-	११०
प्रेत्यभावात्ययो मान-	११५	सर्वथा भावात् सन्नेहे	१०९
यतिश्रुतादौ	१२६	सर्वथा विभ्रमे-तस्य	१०६
यथार्थमयथार्थं वा	१०७	सर्वमेक सतोऽभेदा-	१२६
यथा विभ्रमविच्छेदा-	१०६	सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे	१०२
यवद्रूपमसजान	११५	सहकमविवक्षाया	१२२
लक्षण सममेतावान्	९९	सहोपलभनियमो-	१०९
वाञ्छन्तो वा न वक्तार	१०१	सहोपलभनियम	१०९
विज्ञानगुणदोषाभ्या	१०१	साधन तत्त्वविज्ञान-	११९
विज्ञानस्यैकरूपत्वे	१०३	साधन प्रकृताभावे	१०२
वितथज्ञानसन्तान-	१०३	साध्याभास यथा	१०२
विद्वेषाणोऽनुवाणो वा	११३	साध्यो परतिरस्कार-	११३
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात्	१११	साध्य शक्यमभिप्रेत-	१०२
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात्	१११	सिद्धेऽकिंचित्करो	११०
विरुद्धोऽकिञ्चित्करो	१११	सिद्ध प्रवचन	११६
विवर्त सर्वैकान्ते	१००	सुखादिविषय	१२२
विषय सर्वगत सत्त्व	१०२	सचयापोहसन्तान-	११५
व्यभिचारादनिर्णीत	९७	सभवप्रत्ययस्तर्क	१००
व्यभिचारी विपक्षेऽपि	१११	सहायाद्देत्वभावे-	११०
व्याप्यव्यापकयोरेव	१०५	स्पष्ट सक्तिहिता-	९७
शब्दो लिंगादिभेद-	१२६	स्वादलभ परापेक्ष-	११३
शब्द शब्दान्तर	१२४	स्वनिश्चयफलापेत	९८
शब्द स्वयम्	११५	स्वभावपरभावाम्या	११५
शास्त्रार्थज्ञानसवाद	९८	स्वलक्षणमसकीर्णं	१०३
शास्त्र सत्य तपो दान	११५		

§ ५. प्रमाणसंग्रहगतानि अवतरणानि.

कीणावरण समविगतलक्षणोऽपि सन्	५०	नाप्रत्यक्ष प्रमाण न परलोकादिक	५०
विचित्राभिसन्धि अन्यथोपदेशयत्	११६	प्रमेयमनुमानमनागम च	११५
नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्त मानम्	१०१		

सत्यप्येकार्यकारित्वे
सत्यमर्थवलादेव
सत्यमर्थं तथा सर्व
सत्याकारावबोधेषु
सत्यानूनार्थतामेवो
सत्यालोकप्रतीतिर्ष्य
सत्यं तमाहृत्पाचार्या
सत्यं परिस्फुटं येन
सत्यं परिस्फुटं येन
सत्सप्रयोगजन्वेन
सद्भिन्नप्रतिभात्सेन
सदसम्मानशब्दावच
सदसम्मानमवाद-
सदापि सविकल्पापरा-
सदापि सर्वभावाना
सदोत्पादव्ययध्नीव्य-
सदुशान्मनि मन्वन्व-
सदुशासदुशात्मन
सं दृष्टान्तस्तदाभासा.
सद्दुत्तकेवलज्ञान
सन्तानं स परोच्छेदा-
सन्तानं स परोच्छेदा-
सन्तानसमुदायादि-
सन्तानस्यात्मनो वेति
सन्तानस्यात्मनो वेति
सन्तानान्तरवचनेत
सन्तानान्तरसद्भूते
सन्वेहलक्षणाभावात्
सन्वेहेऽपि च सन्वेह
सन्निधानं हि सर्वस्मि-
सन्निवेशादिभिर्दुष्टै
सन्निवेशादिवद्वस्तु
सं पुनर्वद्वेषा लोकाव्यव-
सं प्रत्यस्तमितानेपदोषो
सं प्रत्यस्तमितानेषोनिय-
समक्षसिद्धोऽमाना
समग्ररूपादीनाम-
समर्थं स्वगुणैरेक
समयस्तत्प्रकारेषु
समयस्तत्प्रमाणत्वे
समवायस्य दूषोऽत्र
समानपरिणामात्म-
समानपरिणामात्म-
समानपरिणामात्म-
समानपरिणामात्म-
समानपरिणामेन
समानभाव सामान्य
समानाकारशून्येषु
समानार्थपरानुत्ता-
समानाधारसामान्य-
समान केनचित् किंचित्

६७ समारोपव्यवच्छेद
८५ सम्प्रदायाविधातेन
७८ सम्प्रतिपत्तापारि-
५८ सम्बन्धनियमोऽय-
५८ सम्बन्धो यत्र मत्तिद्वे
४९ सम्बन्धो यत्र निजोति
३४ सन्त्यज्ञानाकुण्ड सत्य
५२ सम्बन्धान्भवस्थायी
७२ स यक्तो निश्चया
७७ सरूपनरूप वा
४६ सवर्णपदवाक्याना
६९ सविकल्पाविनाभावी
३० सर्वत्रप्रतिपक्षे तु
४५ सर्वनाशमय ज्योति
६५ सर्वत्र परिणामादी
४५ सर्वत्रैव न दृष्टान्तो
५५ सर्वथार्थक्रियायोगात्
५६ सर्वथा नास्ति सामान्य
८० सर्वथा विनयार्थत्वं
९१ सर्वथा श्लेषविश्लेषे
८३ सर्वथा सद्गुपादेय
८९ सर्वथैकान्तविक्षेपे
४७ सर्वथैकान्तविक्षेपे
८९ सर्वप्रकाशसामर्थ्यं
८३ सर्वभेदप्रभेद सत्
५१ सर्वभेदच्छेदज्ञान
३८ सर्वसन्तानविच्छेद
३९ सर्वात्मना निरगत्यात्
८६ सर्वाथैग्रहणामर्थ्यात्
७० सर्वाथैनामनादि-
४३ सर्वाथैनामनेकात्म-
४९ सर्वाथैन्यासम शब्द
८७ सर्वाथैसद्गुण शब्द
८२ सर्वैर्था देगकालावच
७१ सर्वकत्वप्रमगादिदोषो-
७२ सर्वकत्वप्रसंगो हि
४९ सर्वं समानमर्थोत्सा-
४५ सहदुष्टैश्च धर्मस्तन्न
५६ सहशब्दावदुष्टा-
५८ स हि शब्दार्थ-
४३ सहोपलम्भनियमान्ना-
७२ साकल्येन प्रकाशस्य
५४ साकल्येनेह सामान्यविशेष-
५६ साक्षात्कृतुं विरोध क
५५ साङ्ख्यं व्यवहाराणा
४५ सात्त्विकीभावादिप्रकाशस्य
४९ नदुशाना प्रबन्धोऽत्र
४७ सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञान
४८ सादृश्याद्यदि साधुवत
५९ सादृश्यान्कल्पत्वात्

३९
९३
४०
८७
५९
८०
८८
६७
७५
३४
८७
३०
७६
७८
७०
८०
४८
७९
५०
६८
८२
६६
९०
७८
५०
९२
७६
४९
८४
८७
५८
७९
७९
४९
७२
३३
७४
५८
९०
४१
७२
९१
७८
६७
८९
८७
६५
५७
८६

अतद्धेतुफलव्यावृत्त	१२०. १६.
अतद्धेतुफलापोह	३०. ८, ४९. १, ५६. ४.
अतद्धेतुफलापोहनिर्णय	१०८. १२.
अतादात्म्यस्वभाव	६८. २२; १०७ ९.
अताद्रूप्य	१५. २४.
अतिकरणप्रत्ययात्म्य	९८ २५.
अतिप्रसंग	५६. २९; १०४ ५; ११२. २८.
अतिमहोपाप	२९. ९.
अतियुक्तिमत्	३८. १८.
अतिरूढानुवाद	४२ २५.
अतिरेकव्यतिकरसकरप्रसंग	११९. ४.
अतिरेकिन्	८८. ९
अतिलौकिक	८४. ५.
अतिवृत्ति	७३. ३
अतिशय	९४. १; १०२ २९; १०५ ७
अतिशयाधान	७०. १९.
अतिसूक्ष्मेक्षिका	१४ २३
अतीत	१५. २१, ३३ २४
अतीतकार्यकारणता	११९ ६.
अतीततमवत्	२० ८
अतीतविषय	९८. ६
अतीतार्थ	५ १८
अतीतानागतादि	५३. २५
अतीन्द्रिय १९ ९, २१. ८, ५४. ४; ११५ ३०,	११६ १०
अतीन्द्रियज्ञान	२. ८.
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	२१. ८, ९७ ६
अतीन्द्रियमत्	९९ ९.
अतीन्द्रियार्थदर्शिन्	२ १३
अतीत्य	४४ १२
अत्यक्ष	४२. २३; ११ १७.
अत्यन्तभावानुपलब्धि	१०५. २६.
अत्यन्ताभेदभेदो	४८ २०.
अत्यन्तभेदोचित	२३ २१
अत्यादाराधिन्	९४ ६.
अत्यासन्न	४३. १८.
अर्थ	३ २३
अर्थ १८ १२, २०. १६; २२. १, ९० १४, ११४	२६, १२१. २३, १२३ २४, १२५ ३
अर्थकृत्	१००. २५
अर्थक्रिया १. ९, ४. ३, ५, ६, १२ ३, ५, ७६. २८,	११० १३; १२३ २५.
अर्थक्रियाकारविषयत्व	३८. २२.
अर्थक्रियाकारित्व	११०. १८
अर्थक्रियाथी	३ ११.
अर्थक्रियाऽयोग	४८. २२.
अर्थक्रियाविरोध	१०७ ८.
अर्थक्रियाऽसत्त्व	७०. ४
अर्थक्रियासमर्थ	४ ५; १४ २२.
अर्थक्रियासभवसाधन	१२. १५

अर्थक्रियाहेतु	७१. १.
अर्थग्रहण	२ २४
अर्थग्रहणशक्ति	२ २३.
अर्थजातिधर्म	१०६. २७
अर्थज्ञान २०. १८; ३० २३; १०९ २५.	११० ११.
अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षण	११० ११.
अर्थज्ञानविवक्षाप्रयत्नवायूदीरणकारण-	
व्यापारविशेष	१२४. १६.
अर्थज्ञानविवेकप्रतिभास	११२ २९.
अर्थज्ञानस्मृति	३४. २५
अर्थतत्त्व	१०. ४
अर्थदर्शनादिगुणयोग्यक्रियोग	११७. २८.
अर्थनय	२४. २३; १२३ २०.
अर्थपर्याय	१२३. २८
अर्थपरिग्रह	१८ ९; १२७ ३, २२.
अर्थपरिच्छेद	३२ २०.
अर्थप्रतिबिम्ब	३२ २७
अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रवेशादिसहचारिन्	१२०. २९
अर्थबल	८५ ९
अर्थबलायात	४२ ३, १०
अर्थभेदकृत् १५ ७; २४, २५, २६; २५ ७.	
अर्थमात्रावबोध	७५. २.
अर्थमात्रोपयोग	१०८. ८
अर्थवाकप्रत्ययात्मभेद	२५ २१
अर्थविद्	७२. २; १२५ ६
अर्थविवेकाप्रतिभासन	४८ १३.
अर्थविषयत्वनिराकृति	५४ १६
अर्थव्यभिचारित्व	२२. १६
अर्थराशि	४४. १२.
अर्थरूप	३३ २०.
अर्थसम्बन्ध	६१. ११, १२६. २०
अर्थसारूप्यमत्	२०. ९
अर्थसिद्धि	३ २४; १०८ ४
अर्थसवाद	१९. १४
अर्थसवादन	८१ १२; १२७. २२
अर्थस्मृति	३४ २५.
अर्थकारविकल्पधी	२ १९.
अर्थकारविवेक	४६. २; ४८ १८
अर्थातिशयवैधुर्य	९९. १८.
अर्थात्मन्	४८ ११.
अर्थात्मासभाव्याकाररन्ध्र	३४ ५
अर्थाधिगम	१२५ ५.
अर्थानुकारिन्	९७. ९.
अर्थान्तर	४४. ६, २४; १२४. १५.
अर्थान्तरत्वोक्ति	१३ ११
अर्थान्तरप्रसृति	११३ २.
अर्थान्तररम्भक्ति	११८ १८
अर्थान्तरसम्बन्धवैकल्य	११९ १७
अर्थापत्ति	७ २६
अर्थापरत्यनुमानोपमानादीनि	२१. ११

१४. प्रमाणसंग्रहस्य कारिकाधर्मानामकाराद्यनुक्रमः.

अक्रम करणादीति	१९	क्षणस्थानमस्तत्कार्य-	११५
अक्रम स च भेदा-	१२६	भूणयोगविभोगाम्याम्	१२२
अज्ञानमनेकान्त-	१७	चित्र दृग्भेद सर्व	१०३
अचेत करुणात्पन्त-	१२२	जात्यन्तरोपलम्भेन	१०८
अज्ञात सशयासिद्ध-	१११	जोयात् त्रैलोक्यनायस्य	१७
अतत्कार्यव्यवच्छेदे-	१०८	ज्ञस्य विभ्रमनकल्पे	१०६
अदृष्टदोषशका-	१२२	ज्ञान प्रमाणमात्मादे-	१२७
अव्यक्तस्यापरीक्ष-	१०६	तत सर्वं व्यवस्थेति	१०७
अध्यक्ष सर्वविज्ञान	१२१	तत्र चित्र भवेदेक-	१०३
अनुमानसमासार्थ-	१०१	तत्र मिथ्योत्तर जाति-	११२
अन्त ज्योति स्वत.	१२१	तर्कमर्थकद वृद्धे-	१००
अन्तरा स्वत. सिद्ध-	१९	तयार्थजातिचर्मा	१०६
अन्तर्व्यानावसिद्धाया	१११	तथा सद्व्यवहारस्य	१०५
अन्यथानिविचत सत्त्व	१०७	तथाहि सर्वहेतुना	१११
अन्यथायोगत	१०६	तदभावे प्रमाणाभ	९८
अन्यथासमवज्ञान	१०१	तदय भाव स्वभावेपु	११२
अन्यथासमवा-	१११	तदाभासो विपर्यास-	१००
अन्यथासमवाभाव-	१००	तान्येव पश्यन्	१०३
अन्यथासमवो	१०४	द्रव्यपर्यायिबोध-	१२६
अन्योन्यनिरपेक्षाणा-	१२६	तुलोभाभरसादीना-	१०७
अन्योन्यव्यवच्छेदो	१०७	द्रव्यपर्यायिसामान्य-	१२२
अपेक्ष सवनेकान्त	१०६	द्रव्यपर्यायिसामान्य-	१२६
अप्रत्यक्षोऽपि वेहे	१०७	द्रव्यसामान्यसहृार-	९९
असावस्थानपेक्षत्व	११३	द्वेषा समन्तभद्रस्य	११४
अभिरुद्धस्तु पर्याय-	१२६	न कश्चिच्छेतनो ज्ञाता	११६
अभिनाभावसम्बन्धे	१०६	नयद्वयविभागेन	१२६
असिद्ध सिद्धतेनस्य	११४	नयो ज्ञातुरभिप्राय	१२७
अहेतुरन्यहे-	१२२	नहि तै सर्वथा	१११
अह मसाभवो	१२२	नाभावस्य प्रमेयत्व	१०३
आत्मज्ञानादिभेदा-	१२५	नामरूपादिहेतुत्व	१०७
आत्मनो दोषसम्बन्ध-	११९	नित्य शब्दायमम्बन्ध	१२४
आत्माविभेदमाश्रित्य	१२६	नित्यमेकमनेकत्र	१००
आत्मेव मतिमान्	१०१	निरश कर्मसयोगा-	१००
आवृत्तरावृत् भागे	१०२	निर्वाणारो हि भाव	१०७
इति तर्कमपेक्षेत	१००	नेगम सप्तधा शास्ति	१२६
उत्पादविद्यमद्योष्य	११२	पदादिसत्त्वे साधुत्व-	११६
एकत्र मयेऽनन्त-	९९	पर्यायाद् व्यतिरेका-	१२६
एकान्ताश्रये	११०	परापरविभागेक-	१०३
एक षल जलैर्नान्यै	१०२	परोक्षपरतन्नाया	१२५
कर्मभामिति सत्त्वस्य	१२२	परोक्षोऽन्यविनाभाव-	१०१
कल्पना चार्थसम्बन्ध-	१२६	परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि	९७
कार्यकारणसन्तान-	१२६	परंज्योतिरनाकार	११८
कालैर्नैवावताऽनाप्त	९८	परज्योतिरलाभास	९९
कूटस्थस्य सत	१२२	पुरुषादिशयोऽज्ञेयो	११६
रूपा स्वपरसन्तान-	१२२	प्रकृतापानिधयस्तेऽपि	११६

अनिर्माक्ष	८९. २९.
अनियतस्निग्धरूप	१२१. १४
अनियम	९८. ११.
अनिश्चितपरपर	४७. ६.
अनिश्चितविषयव्यावृत्ति	१०८. ४.
अनुकम्पापर	२९. १२.
अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्ति	११८ २२.
अनुद्धतविकल्प	१०० २.
अनन्मत्त	४ ४.
अनुपकार	५५. १०, ११७. २५.
अनुपयोग	१०७. २४; १२७. १५
अनुपलब्धि	१०५. २, १७, ११०. ३.
अनुपलम्भ	२. १३; ७५ १४, २०; ७६ २; १०२. १३; १०५ ३०.
अनुपलम्भ	१०५. ३१
अनुपाख्य	११२. ७.
अनुपादानानुत्पत्ति	११८. २८
अनुपाधिका	३१. ३०.
अनुपाय	५५. ३
अनुभयवत्	१२५. २९.
अनुभवप्रामाण्य	२. १६.
अनुभववात्पन्	५१. १०; १२५. २३.
अनुभा	५. २०; ६. १८; १७. ९
अनुमान ३	८; १६. ४, ७; ५५ २६; ५८. ३; ७५. १०; ९२. २४; ९३. ५; १०० ६. १०; १०१ १९; १०७. १०
अनुमान	५ १५; ५२ २१.
अनुमानपरम्परा	१०६. ४, ९
अनुमानविजृम्भित	८५. २
अनुमानव्यतिरिक्त	५. ११; १०१. २४.
अनुमानसमासार्थ	१०१. १९.
अनुमानसमीक्षित	८४. १.
अनुमानादि	५. २
अनुमानाद्यतिरेक	२. ६.
अनुमानान्तर	५ १०
अनुमिति	५४. १६
अनुमेयत्व	८५. २०.
अनुयोग	२५. २२; २६. ५
अनेककारणपूर्वकत्व	१०८. ३१
अनेकत्व	२३ ७; १०२. २१.
अनेकत्र कादाचित्कवर्तन	१३ २४
अनेकत्रैकम्	४८ २७
अनेकप्रकारत	१९. २४, २५
अनेकमद्वयप्रवेद	५ ३६.
अनेकरूप	३०. १८.
अनेकलक्षणार्थ	११. ३
अनेकसामग्रीसन्निपात	१६ २
अनेकात्मक	४९ २७, १०३. १६
अनेकात्मपरिणाम	८८. १७.
अनेकात्मपरिणामव्यवस्थित	७०. ११.

अनेकात्मप्रगसन	४२. १०.
अनेकात्मसाधन	५७. २३.
अनेकार्थक्रियाकारिन्	४. १०.
अनेकान्त	३ २४, २१. १९; २५. १८; ४७. ६; ५०. १०; ९७. १६
अनेकान्तनय	४. २०
अनेकान्तनिराकरण	२२ ४.
अनेकान्तनिराकृति	२५. १४
अनेकान्तभाक्	१७ १३.
अनेकान्तविद्विषु ७९	१३, २९; ८९. २९; ११३ २३.
अनेकान्तविषय	२१ २५
अनेकान्तसिद्धि	३ १८; ६. १५; १६ २२; १०७ १; ११४. २५.
अनेकान्तात्मक	२५ १२; १०२ ११; ११२. २४; ११३. २४.
अनेकान्तात्मकार्यकथन	२१. १६
अनेकान्तात्माज्यं	४. १८.
अनेकान्तिक	१०८ ४, २६; १०९. २; ११४ ९
अनश	६. १७; ४५. २९
अन्त करणसन्धि	१२०. ९
अन्त शरीरवृत्ति	३६. ६.
अन्तरित	१०६. २६.
अन्तरण	९९ १; १०७. ४
अन्तरणबहिरणप्रत्यनीकस्वभावप्रतिक्षेप- विकल	११४ २७.
अन्तर्ज्योतिर्मय	१२०. १; १२१ २६
अन्तर्वहि	३. २४, ४. १७, ४१. १६
अन्तर्मात्र	२१ ५; ७६. १; १०५ २७
अन्तस्तत्त्व	१४ २३
अन्तर्व्याप्ति	१०६. ५; १०९. १६; १११. १२
अन्तस्तोमविगम	१०७. ३
अन्ताद्यो	११२ ३१.
अन्वपरम्परा	८५ ३०, ९८. २६, १०९ १०.
अन्वगुणदोष	८२ ४.
अन्वचेतसु	३२. १६
अन्वत्र विस्तरणोक्त	२२ १६
अन्वत्रैक्यम्	१६. १२.
अन्वत्रोक्तम्	२१ ११
अन्वत्रोपचारात्	२. ४; १२७ ५.
अन्वथात्	६६ ११, १४
अन्वथावधान	४९ १५
अन्वथानिर्णीत	१०८ २३, २७
अन्वथानिश्चित	१०७ २१; १०८ १८.
अन्वथानुपपत्ति	६ ४; ३८. २१; ५३. २९
अन्वथानुपपत्तिमान्	५३. २१.
अन्वथानुपपत्तिवितर्क	५ १६
अन्वथानुपपन्नत्व	७ ८; ३१. ६; ७४. १२, १४.
अन्वथानुपपन्नत्वनिमय	७१. १०
अन्वथानुपपन्नत्वरहित	७६. १०
अन्वथानुपपन्नत्वरहितविलक्षण	७९ २४.

§ ६. लघीयसूत्रय-न्यायविनिश्चय-प्रमाणसंग्रहान्तर्गतानां लाक्षणिकानां दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

अकलक १७. १५, २६. १६, ५२. ११, ९१. १२.	अग्नि ६९. २१: ७९. १३, ८५. २०.
अकलकमंगलकल १४. ९.	अग्निजन्मैव धूम १०. १४.
अकलकरत्ननिचयन्याय ८१. २१.	अग्निरत्र धूमात् १०. ११.
अकत्यावृद्धाह्नि १२५ १४	अग्निस्वभावाविरोध १०. १४.
अकार्यकारण ११२ ६.	अचल १३. २६; १०२. २८; ११२. २३.
अकारण ४७ २९, १०७. ३, १२४ २६	अचलात्मक ६५. १९, १०७. २१, १०८ १८, २४,
अकारणविशेषीयववत् ११९. १३.	२८, ३०, १०९ १, ११४ २२
अकिञ्चित्कर १ १५, ३२. २२, २३, ११० ६,	अचिन्ता ९८. ७.
२२, ३०, १११ ४, ११३ २७.	अचेतन १२ १६, ११९ ६; १२०. १०.
अकिञ्चित्करविस्तर ६६ २३, ७९. ३	अचैतन्य ५७ २५.
अकिञ्चित्करारेकाविपर्यामपराक्रम १२५. १३	अजगरमुखकुहरपरिपतन १०८. १५.
अकिञ्चित्करारेकाविपर्यासानिवृत्ति ९७ १२.	अजग्र ११३ १०.
अकिञ्चित्कारक ७९. २५	अजनकजन्य ६५. १०.
अकृतकत्वासिद्धि १०५. २८.	अजन्यजनककर्तृसहभावनियम १०५ १४.
अकृपाक्षु ४१ १७.	अजीव ११ ७.
अक्रम १५ २, २४ १८; ५२ ११; ९९ ८, १२,	अज्ञ ३९. ८; ७२ १.
१००. १७; १०९. १७; १०५. ४; ११२. ६,	अज्ञस्वभावात्मन् १४. १२.
११८. १९; १२६ १३.	अज्ञात ११०. ९, १०, १११. १०.
अक्षगोचर ४३ १८	अज्ञाताकिञ्चित्कराभिधान ११३. २०.
अक्षगोचरचेतस् ५०. १५	अज्ञानरूपहेतु ४०. २३.
अक्षज्ञान ५८. ३; ९७. १६	अज्ञानस्वभाव ११९ १९.
अक्षज्ञानानुब ५०. २२.	अज्ञानादि १२०. २.
अक्षगणिक १२ ५.	अज्ञेय ११६. १७.
अक्षगणिककारण १२ २७	अञ्जनादिवत् १२०. ४.
अक्षधी ९. ७.	अणु ४३. १८, ४४. १७, ६८. १४, ७१. १५, ७२.
अक्षवृद्धि १५ १८, ५१ ८	९, ७३ ३, ८, ७९. २०, १०२. १३.
अक्षमय ७८. १३	अणुमात्र ४१. २४.
अक्षय ४३. २५.	अणुपरिमाणव्यक्षणभवाद्यवीक्षण ६. १०.
अक्षलिगधी ९ २०.	अतत्कार्यव्यवच्छेद १०८. ८.
अक्षधन्दायविज्ञान १६ ३	अतत्कार्यव्यावृत्ति १०७. ६
अक्षसघात ६३ २२.	अतत्कारणव्यावृत्ति ११७ १२.
अक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धवर्धन ५२ ४.	अतत्कारादि ३५ १०.
अक्षार्थयोग २ १९.	अतत्त्व ३७. २०, २४, २७.
अक्षादि ५४. २, ६३. १०, ८३. २५, ९९. १.	अतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियम ११०. १.
अक्षानपेक्षण ९१. २६.	अतत्फलपरावृत्तार्थाकाररस्मृतिहेतु ७२. ११.
अक्षानुभूत ५०. ३०.	अतदर्थनिवृत्ति ३३. ११.
अक्षिणी विस्फाल्य १११. २४.	अतदर्थपरावृत्त ३३. ९.
अक्षिरजवत् ३१. २९.	अतदारम्भतया ४८ १८.
अगमयनिवचय ७ १२.	अतद्रूप १०. १.
अगोचर ३६. १.	अतद्वाति ५२ २.
अगृहीत ४६. १९.	अतद्वातवृत्तितुल्यरूप १२४. ५.

१. परिशिष्टेऽस्मिन् लाक्षणिका शब्दा स्यूलाक्षरेण निर्दिष्टा । स्यूलाक्का पृष्ठसंख्याद्योतका सूत्राङ्कात्प
पङ्क्तिसंख्याद्योतका ज्ञेया ।

अभिन्विपयत्व	३ २०.	अरक्त	१०२. २८.
अभिप्रायमात्र	२२ २०.	अलम्बात्मन्	२० १९.
अभिप्रायविमवाद	९ २.	अलाभादि	८१. ५
अभिप्रेतमात्रमुचित्व	२२ २२.	अलौकिक	२४ १६; ११५. २९
अभिप्रेतव्यभिचारित्व	२२. १६.	अलौकिकप्रतिभान	२२ १९.
अभिरूढ	१५. ९; १२६ १६	अलचनाह	९९ ९.
अभिलापतदवा	३०. १०.	अल्पभूय प्रदेशैकस्वत्वभेदोपलक्षण	६९ ३.
अभिलापवत्	३०. २३.	अल्पभेदाग्रह	४४. १७.
अभिलापविवेक	३० १०.	अल्पमहत्त्वाविज्ञान	७ २५
अभिलापसंसर्गयोग्यता	२० २८.	अवगृहीतविशेषाकाक्षण	२ २५.
अभिप्रेत	५३. २; १०२ १, ३	अवग्रह	२. २०, २१, २५
अभिलापानपेक्ष	१२५. १९	अवग्रहमात्र	१०६ ८.
अभिलापानभिलाप	१२३. ६	अवग्रहव्यापार	१०० ८
अभिलापिन्	५०. १८.	अवग्रहादि	३ १४; ११६ ५; १२५. १२
अभिलापिनी	१२४. ३१.	अवग्रहहावायुधारण्यत्मक	२१. ६
अभिन्नाप्यानभिलाप्यवहुवत्त्व	१२२. २०.	अवधारणाभाव	२२ ३; १२५ १३
अभिलाप	६३. २८; ६४. ४.	अवबुद्धबोध	२६. १९
अभिव्यक्ति	१०३ १०; ११८. २५.	अवयवावयविन्	१३. १४.
अभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती	१०२. २२.	अवयविन्	१२. २९, १४. ११, २३. २५
अभिनन्वाय	५६. २४.	अवरत	२५. २९
अभिसन्धि	२५ १८, २७.	अवस्तु	५३. १९, १०२. २१
अभूत	१५. १; ३४. ९, १०	अवस्तुनिर्भास	८ १४
अभूत भवति भविष्यति	१५ ९; २४ २५.	अवस्थादेशकाल	७६ २१.
अभूतात्वा	१०४. २२	अवस्थादेशकालसंस्कार	२३. १३
अभेद	४. ९; १५. ४, ५४. २३; ५५. १३; ५७. २७; १२४. २२.	अवस्थान्तर	११२. १४.
अभेदज्ञान	४५. ८	अवस्थान्ताविशेष	७३ २०.
अभेदप्रत्यनीकस्वभावविधिप्रतिषेधप्रतिबद्ध	१०६ १८.	अवाच्यता	१०८. १७; १२३. २६.
अभेदरूप	५४ २३.	अवाञ्छित	२२. १०
अभेदलक्षण	६. ७.	अवान्तरजानि	१३. २२
अभेदविरोध	१५. ३, २४. ९	अवान्तरात्मभेद	६८ ९.
अभेदव्यवस्थिति	७६ २१.	अवाय	२. २०, २६
अभेदावाय	११ २.	अवाग्दर्शन	८४. १०.
अभेदेष्टान्तरपरिग्रह	१२३. ८	अवाग्भागदाद्यिन्	१९. १९
अभ्यासातिशयनिवर्त	१२४. ११.	अविकल्पसामग्रीजन्यम्	१२५. २५.
अभ्युपायविरोध	३५ २६	अविकल्प	६. २८, ४९ १.
अभ्युपेताव्यवस्थिति	८१. ८	अविकल्पक	८. २०; ४२ ३, ५०. १४, ८२ ३०.
अभ्रान्त	५०. १४	अविकल्पधी	५ ६
अभ्रान्तमव्यभिचारीति	९. २१.	अविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षैकान्त	९८. १६.
अमान	८३. २८.	अविकारिणी	६२. २८.
अमूढचेतस्	९१ ४.	अविकारिन्	३२ २९, १२१. १०.
अमूर्त	२० १०, ११, २३. २२.	अविस्मय	१०. ४.
अमूर्तत्वामक्यातप्रदेशत्वभूकत्व	२१. १७.	अविकल्पितसकलकलेशराक्षिणित्वाद्य	९४. २.
अमूर्तभेदप्रमग	२३ १४	अविचलात्मन्	७०. ४, १०५. १७
अययार्थ	३४. १६; १०७ १४.	अविचलितात्मन्	१०७ २४.
अययार्थता	३५. १७.	अविचलिन्	११३. १९.
अययार्थत्वाभासविच्छेद	१०६. २३.	अविचारकत्व	५. ९.
अययपत्त्रतिभासायोग	९९. १०.	अविचारितगोचर	३८ १२.
अयोगिन्	५७. २५	अविजातीय	४४. २१.
अयोग्यता	१२४. १५.	अविज्ञाततयाभाव	३५. २६.
		अवितथ	२१. ८; ५८. २५ ११६. १५

अर्थपरिसमाप्ति	८०. २१.
अर्थोपपत्ति	२२ २०.
अर्थोपपत्तिकल्प	१०३ २०.
अर्थोपपत्तिप्रत्ययात्मक	१४ १९.
अर्थोपपत्तिप्रत्ययात्मकव्याख्यादानुकूल्य	२४. १२.
अर्थोपपत्ति	१२७. १९.
अर्थोपपत्तिव्युत्पत्ति	१३. २४.
अर्थोपपत्ति	४३. ६
अर्थोपपत्तिप्रत्ययात्मकसामर्थ्य	९७. १३.
अर्थोपपत्ति	५४. २, १०८. १८; ११९ ५.
अर्थोपपत्तिपरिचयतादि	६ ०
अर्थोपपत्ति	६ ६
अर्थोपपत्ति	६. ५
अर्थोपपत्ति	१०८ २१.
अर्थोपपत्ति	८३. १७, १२२. १०.
अर्थोपपत्ति	११२ २९.
अर्थोपपत्ति	९१ २०; १२२ ५
अर्थोपपत्ति	६२. ७ १२० ९
अर्थोपपत्ति	९. २३
अर्थोपपत्ति	९. १५.
अर्थोपपत्ति	५७. २५.
अर्थोपपत्ति	८०. २०.
अर्थोपपत्ति	३६ २०, ३८. ७, २८.
अर्थोपपत्ति	४० ३१
अर्थोपपत्ति	४४ १.
अर्थोपपत्ति	२१ १६
अर्थोपपत्ति	७ २५.
अर्थोपपत्ति	१११ २५.
अर्थोपपत्ति	१७. ९
अर्थोपपत्ति	२०. २५; ११९ १२
अर्थोपपत्ति	१२१ ४.
अर्थोपपत्ति	३१. १३, ४३. २३, ५१ २३, १०६ ४
अर्थोपपत्ति	६०. ९
अर्थोपपत्ति	४९. २७
अर्थोपपत्ति	५१ ११.
अर्थोपपत्ति	५४. ९.
अर्थोपपत्ति	१९ ६
अर्थोपपत्ति	४२ ३, ८४. ३१.
अर्थोपपत्ति	१११ २०.
अर्थोपपत्ति	३४. ३.
अर्थोपपत्ति	३७ ११.
अर्थोपपत्ति	९९. १८.
अर्थोपपत्ति	१००. ३.
अर्थोपपत्ति	९९. १९.
अर्थोपपत्ति	१९ २७
अर्थोपपत्ति	१०१ २३; ११५. १८.
अर्थोपपत्ति	३०. ७, ९९ ४.
अर्थोपपत्ति	२१. २१.
अर्थोपपत्ति	४८ २३.
अर्थोपपत्ति	११५. १२.

अर्थोपपत्ति	४३. ३०.
अर्थोपपत्ति	८०. ३०; १०४. १५, १०८. ५; १०९. १६
अर्थोपपत्ति	८०. ११.
अर्थोपपत्ति	४१. १८.
अर्थोपपत्ति	१००. २०.
अर्थोपपत्ति	४०. २८.
अर्थोपपत्ति	३३. २८; ११८. १९.
अर्थोपपत्ति	७९. १९.
अर्थोपपत्ति	७४. १०.
अर्थोपपत्ति	५७. १.
अर्थोपपत्ति	९९ ६, १११. १४.
अर्थोपपत्ति	११९. २९
अर्थोपपत्ति	१०७. ९.
अर्थोपपत्ति	७. १; ३३. ७; ६०. २९; १००. ६,
अर्थोपपत्ति	१०. २०, २४, २७; १०१ २४; १०२ २०; १०४. ८;
अर्थोपपत्ति	१०६ ९; १०८. ११, १३; ११३ १४, २९; ११५. २१;
अर्थोपपत्ति	११९. ३; १२०. ९, २९; १२१. ३; १२५. ६, ३०.
अर्थोपपत्ति	११७ ७
अर्थोपपत्ति	६ २०; ४३. १९; ९२. २४.
अर्थोपपत्ति	१०५. १९.
अर्थोपपत्ति	११८. ७.
अर्थोपपत्ति	४८. १०.
अर्थोपपत्ति	२० १.
अर्थोपपत्ति	२६ ३.
अर्थोपपत्ति	२५ ४.
अर्थोपपत्ति	१५. १८.
अर्थोपपत्ति	११५. १८.
अर्थोपपत्ति	८९ १८
अर्थोपपत्ति	१२०. १७.
अर्थोपपत्ति	८९. १०.
अर्थोपपत्ति	२५ २६; ८५. १०; ८७. ६; ११७ २;
अर्थोपपत्ति	१२३. ३१.
अर्थोपपत्ति	११. २७; ४०. १०; १०९ २०.
अर्थोपपत्ति	१२०. १.
अर्थोपपत्ति	८२ ३०
अर्थोपपत्ति	८६ ५.
अर्थोपपत्ति	१०४ ९.
अर्थोपपत्ति	११९. १८
अर्थोपपत्ति	९९. ६.
अर्थोपपत्ति	४१ ६.
अर्थोपपत्ति	८६ ६, ९८. २०.
अर्थोपपत्ति	९९ ८
अर्थोपपत्ति	१०२. २८.
अर्थोपपत्ति	९ १२, २४; ११६ ६ १०
अर्थोपपत्ति	११८ १७.
अर्थोपपत्ति	७३ ११, १२०. २४
अर्थोपपत्ति	२०. २५
अर्थोपपत्ति	६. २३, १०४. ३. १०५ २०; ११०.
अर्थोपपत्ति	१८; ११४. २०.
अर्थोपपत्ति	२१ ०; ९७. ७.

आकुल	१४. २४, ३३	१३; ५२ २७.
आकृतिभ्रम		७२ १
आक्षेपसमाधि		३३ १३
आगम	२२. १४, २६. २२; ८४ ५, ८५ ६, ८६	४, ९३ ५, १२२ १.
आगमार्थ		११६ १०
आगमाहितसंस्कार		७ १७
आचार्य		३४ १५.
आञ्जसम्	५ ७; ९३. ९	
आतिलक		४४. १६
आत्मकर्मफल		६३. १२.
आत्मघात		११६ २१
आत्मज्ञ		११९ २८.
आत्मज्ञानाधिभेद		१२५ २७
आत्मन्	१३ १३, २३. २४, २५ २३, २६ १०;	
	३१. २३, ५२ २६, ५९ २९, ८३. १५,	
	८४ ३१, ८९. २६, ९१. १६, ९८ २१.	
	१०१ १५, १०४ १९, १०६. २२, २४,	
	१११. १८, ११८ ३१; ११९ ६, २३,	
	२८; १२१. ११	
आत्मनियत		१२७ ७.
आत्मनिर्मासिभेद		११ ७
आत्मप्रतिबन्ध		१०३. ४.
आत्मविडम्बन		३१. ९
आत्मभावसिद्धि		१०४. १२
आत्ममनछन्दियार्थ		१९. ८
आत्मत्रिकल्पक		४६. २०
आत्मवित्		५१ २३
आत्मव्यवस्थित		७४. ८.
आत्मसमर्पण		३३. २४.
आत्मसमात्मन्		४०. १.
आत्मसहभाविन्		६९. ६.
आत्मशुद्धुखतपेणादिप्रवृत्तिनिवृत्ति		११९ १३.
आत्मसंविता		३१ २६.
आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिपक्ष		११९. ३०.
आत्मार्थ		१८ २१
आत्मार्थग्राहक		२० २३
आत्मार्थविषय		२१ ८
आत्मादि	१०४. ३, १२६. ११; १२७. २.	
आत्मादिप्रविभाग		१२६ २१
आत्मगदिव्यतिरेक		६०. ९
आत्मानि		७१. १६.
आत्मीय	८९ २०, १२० १	
आत्मेतरसम्बन्धवियोगकारणतत्त्वनादि		११९ ११
आत्मोत्कर्षणार्थ		११५ २०
आत्मसत्कृतानन्तभेद		२३ ११
आदित्य	५. २४, २५. २	
आर्षेपदोक्त		१३, ९.
आर्षकाव्यादि		१२७. १०.
आधिपत्य		३४. ६.

आनन्त्य	२५. ५; १२१. १६, १२५. २७.	
आनन्तर्य		७६ २५
आनुमानिक		३१ १३
आनुमानिकभोग		३१ २०
आन्तर		३१ १६
आप्तवाद		९१. ९
आप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिंगचारित्र		११७ २०.
आप्तेतरव्यवस्था		९. ३
आप्तोक्ति		९ २८
आवालप्रसिद्ध		३२ ७
आभञ्ज		९४. ९
आभिनिबोधिक	४ २३, ९ ७, ११७ १८	
आयुर्वेदादि	८५ २४, ८६. ४.	
आरम्भकावयवायोन्यावाप्ति		१२१ १३.
आरेकासिद्धते		८४ १०.
आलोक	१९ ११, १८, २०. २, १२०. ३.	
आवरणविगम		९९ ७.
आवरणविच्छेद	२०. १, ९१. २९; ११८. २५	
आवरणविच्छेदापेक्षा		१९ २०
आविर्भाव		८८ १२.
आविर्युतानाविर्भूतस्वरूप		२३. १२
आवृत	१९. १५, ६७. २. ७३. १४, १०३. १६, २८	
आद्यग्रह		८६. २४.
आद्यसमनक		४१ १६.
आश्रयविरहिन्		१०३. २३.
आश्रयान्निभाव		१०२. १२.
आश्रयासिद्ध		११६. २३.
आश्रय	८८. २१; १२२. ६.	
आश्रयादिभेद		४८. ७.
आसादितविधेय		७३ ३.
आसूक्ष्म		४४. ११
आहाराभाव		१०५. ११.
आहितनामक		२६ २
आहोपुष्टिका		११५. २१.
इच्छा		८९. २८.
इच्छादिसमवाय		११९ ५
इत्यन्भूत	१५. ८, १२६. १६.	
इदमल्प महद्भूतमासन्न प्राण्यु		७ २३
इन्द्र	१५ १०, १६ २०, २४ २६, २५. २०	
इन्द्रजालादि		३६. २८.
इन्द्रियगोचर		७२. १४
इन्द्रियभेदस्		५१. ३.
इन्द्रियज्ञान	९. २१, ९९. १६.	
इन्द्रियनिर्मित		२९. १९.
इन्द्रियप्रत्यक्ष		९७. ५.
इन्द्रियमनसी कारण		१९ १
इन्द्रियमनोगततिमिराद्यभात्र		१९. १
इन्द्रियार्थ		१९. ५
इन्द्रियार्थज्ञान		२१. ६.
इन्द्रियादि		६७. १८.

एकलक्षणानुपलक्षण	१०४. १५.	कर्मक्षयोपशमामेक्षिणी	१९ २१
एकवस्तुभावसम्बन्धविवेक	१२४. ३	कर्मनिर्मुक्ति	२३ ७
एकविवक्षा	२३ २६	कर्मपटलाच्छना	७८ १६
एकस्यूलनिर्मासविरोध	११ २८	कर्मफलसम्बन्ध	११९ ८
एकाकारविवेक	७३ ४	कर्मावरणचित्रात्मन्	१२१ ४
एकान्तकत्वप्रतिषेध	११३ २५	कर्मविद्यात्मविक्षान्ति	१९ २५
एकार्थकारित्व	६७ १७.	कर्माश्लेष	८९. ६
एकार्थनियम	१२४. ९	करणशक्त्यनुविधान	१०१ ५
एकार्थत्व	७२. २०	करणाकरणविरोध	११० २०.
एकार्थविषयतोपपत्ति	८ २२	करणातीत	५२. ११, १६. १२.
एकार्योपनिबद्धदृष्टि	१०९. २६.	करणभक्षिणातोपनीतश्रावणस्वभाव	११८ २७
एकानेक	४५. ६, ५० १०; ११४ २.	करणमनसी	१९ २६.
एकानेकत्वमावतियम	९९. २६	करणादिवत्	१८ २१
एकान्त ४. २, १८, १६ १७, २१ २१, २५ १३,	४२. ९, ५७. ८, १२६. ७	करणा १ ८; ८२ २१, १२० १५; १२२. ९	
एकान्तसाधिक	९६ १.	करणावस्व	८३. ८, ८९. २२
एकान्तवादिन्	१७ १४	करोति क्रियते	१५ ९, २४ २५
एकान्तविषय	२१ २६	कलसादि	६५. १०.
एकान्तान् रोगिणी	७३. ८	कलिलल	२९ १०.
एकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेद	१०६ १७	कल्पना ९ १, ४२ २८, ६३ १४, १२६. २०.	
एकान्ताश्रय	११० २९	कल्पनागीरव	१०८ ८
एकान्वयानुग	२२. २५	कल्पनागीरवपरिहार	११० १७.
एकान्वयात्मक	२३. २	कल्पनापोढ	४१. २५.
एकाशमाज्ञानुषंग	१०३. १२.	कष्ट	१२०. २७.
एकैकप्रतिपत्ति	७३ ४	काक	४६. १४; १०७. १८
एवम्भूत	१५. ११, २४. २७	काचाद्युपहृतेन्द्रिय	२०. २
एकोपलम्भनियम	१०९ ३०.	कादाचित्कसंवाद	१०६ १५.
एकोराधिप्रतिपत्ति	१०८ १०	का पि ली य प्र मे य	९३. २४.
एतस्मात्पूर्वपविचममुत्तर दक्षिण	७. १८.	काय	६०. १५, ६३ ०, १०४. २७.
अजसा २९ १४; ४० २९; ४९ ९; ८४ १३; ९२. १७.		कायविक्षान्तिवत्	११६. १०.
अश	४४. २४; ४८. २३.	कायादिप्रवृत्तश्रोतस्	१२७ ११
अशयहृदिवेक	७३ ९	कायाप्राय	६२. ११
अशो	४४ २४; ६७ २१.	कार्य ५ १७, २१, १२ ८, २७, ४३. २५, १०५.	
अशुपातानुमाद्युष्टि	४४. १८.	कार्यकारण ६. २०, १२ ९, १९ ६, ६२. १२.	
क न च र स म य	९३ २४	१०४ २९, १०८. २९, ३१, ११२ २३, ११५.	
कर्तृकर्मस्वभाववत्	२० १९	१, ११९ १८.	
कर्तृत्वायोग	१५. १२, २४ २७	कार्यकारणता	७३ २६.
कर्तृफलकर्मसु	१८ २२.	कार्यकारणत्वनिश्चय	१५. २०.
कर्ता	२३. २२; ६०. ३.	कार्यकारणभाव	१२ ७; १२४ १५
कर्तृरस्मरणाय	१०९. ७	कार्यकारणलक्षण	१२ ४
कर्त्रादि	२२ ५	कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्प	१२६. १४
कथञ्चित्प्राणिक	१२. ५	कार्यकालमप्राप्य	२०. ८
कथञ्चित्चेतनात्मक	८४. १७	कार्यकालानतिक्रम	१२ २८
कथञ्चित्भिलापमसर्गयोग्यायोग्यविनि-		कार्यमेव	१२ २६
भसिकज्ञान	७. २.	कार्यविरुद्धोपलब्धि	१०५ १९
कर्तृञ्चदमेव	२ २६, ११४. ३१.	कार्यविरुद्धोपलक्षितार्थधर्मितमेव	१२४. २५.
कथञ्चित्द्वान्ति	१०६ २४.	कार्यव्यतिरेकोपलक्षण	१२ १९
क पि ला दि	१२० १७.	कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता	६. २१
कर्म ६० ३, ८४ २३, २७, ८०. २२, २४, ८९. २; १००.		कार्यव्यभिचार	१०९ ९
१६, २३; ११९. २६; १२२ ७; १२७. ११.		कार्यसत्तानिवर्तक	६२. २२

अवितचप्रत्ययात्मकत्व	१०३. २२	असत्त्वास्तत्व	३७. २८
अवितयात्मकत्व	१४ ६	असत्त्वान् ११. ११, १३, १३ २०, ३५. १९	
अविति	३१ १९.	अनद्युपलम्भ	१०३. २०
अविद्यमानवितय	२० १३	अनद्युपलम्भ	१०५ ११
अविनाष्ट	१०२. २८.	असन्निकृष्ट	१८ ११
अविनाभाव १०१ १६, १०६ ५, १०८ १३, ११० ३१		असन्निकृष्टेन्द्रियायवत्	१८ १०
अविनाभावनिश्चय	७५. १०.	असमानमन्वित	४७ २
अविनाभावसम्बद्ध	७४ २३, ८२. ८	असमिन्विद्ययाधिपय	१२३. २५
अविनाभाविन्	१२३. २४	असम्प्लव	१०४ ११.
अविनाश	६५ ७	असम्बन्धानवस्था	११०. २२.
अविप्रकृष्टदेहादि	४०. २८.	अनकप	३३. ११, ३४ २९
अविप्रनिपत्ति	४२. २२	अनहानुपलम्भ	१०९ २
अविप्रतिसार	१०६ १६, ११५. ४	असाङ्ग्य	९९. २६
अविप्लव	९२ १३	असाधनाङ्गवचन	८० २०.
अविशेषी	८३. १८	असाधारण	२१. १७, १०९ १५, १८
अविशेष्यविशेषण	३२. ७	असाधारणत्व	११७ १३
अविश्रामानतत्त्व	६ १४	असाधारणनिर्भासविरहिन्	१०६ २३.
अविश्रामविज्ञान	४. १६	असाधारणकान्त	८ १९
अविश्रवद	१०५. १०	असाध्यसाधन	१४ २४
अविश्रय	८ २०	असिद्ध ३१ ६, ७८. ३०, १०९. २१, ११० १०;	
अविश्रयवाद्	१४ २१		१११ ८.
अविश्रयवाद् ९ १५, १६ ३, ५४. ९, ९१ १०, ९८. १५		असिद्धमिधर्मत्व	५३. २१
अविश्रयवादावियम	५०. १५	असिद्धविद्यद्वारेकान्तित्व	१०२. ६.
अविश्रयवादाक	५. २५; ७. २६, ८ १०, १४, २० २५.	असिद्धनिर्दि	३१. २९
अविश्रयवाद्स्मृति	५ १	असिद्धि	३१. २६, ७७ ५, ९७ १६.
अविश्रयवद्	३७. ११	असकीर्ण	४५ २४, १०३ १.
अवृत्ति	१०६. १०.	असक्रम	९८ ६
अवृत्त	२. ७	असख्यातप्रदेश	२३ २२.
अव्यतिरेक	१००. १८.	असख्येय	१२१ ४.
अव्यय	११२. २३.	असचार	३२ ७.
अव्यवधान	२१. ८	अमत्रवतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठित	४७. १.
अव्यापार	७० २४.	असम्प्लव	६६ २७.
अव्युत्पन्नसन्दिग्धमिधर्मस्तार्थप्रतीति	९७. ११.	असन्वित्	३२. २७
अव्युत्पत्तिसिद्धयविपर्ययविशिष्ट	१०२. ३.	अनवेद्यमार्कितिकरमनुपायमनुपेय	२१. १.
अव्यक्त	५५. २१.	असम्प्लव	४३. १८
अव्यक्ति	५८. २२; ७३. ८	अस्मत्कृतमानैकप्रत्ययविपर्ययत्व	२३. ५; ९८ १९.
अव्यक्तफलाभाव	५४ २०.	अस्विर	३७. ११.
अव्यक्तजन्मम्	१० १३.	अस्युष्ट	१६ ४
अशुद्ध	१४ ३.	अन्त्यात्मा	१०४ १९, २६.
अशून्यतानुपग	१०३. १८.	अन्मृत	६३. १८.
अशुभगोचर	५२. १०, ९९ ११.	अहमस्मीक्षिवाक्यादि	९०. १८.
अशुभमस्तलविशेषिणी	३२. १४.	अहंत्वा ३१ २०. ४१. ७; ११०. ९, २६; १२२. ४.	
अशुभक	५२ १७	अहंत्वक	१८. २७
अशुभादिश्यावृत्ति	१२४. ४.	अहो मत्प्रव्यवस्थिति	८२. १९.
असकलप्रतिपत्ति	११८. २२	अहो कलक्षण	११५. २९.
असकलसिद्ध	४८. ८.	आकाशानिवृत्ति	३७ ८; १२५. १५.
असत् ३३. २५; ३५. ३; ३९. १६, ४५. ११, १०५ ६, १२३. ३.		आकार	४९ २०.
		आकारमगिन्	३४. २०.
असत्त्व	३७. २४, २७.	आकाश	२१. १६.
असत्त्वार्थ	११५. २७.	आकुमार	२४. ८

क्षणिक	१२ ६, १५; ७६. १४, १०८ ५, ११३ १२	गुणसम्बन्धविवेक	१२०. ६.
क्षणिकज्ञान	३ १७, ४८ ७	गुणादिविनाश	२६ १०.
क्षणिकत्वविज्रप्तिमात्रनासन्तानान्तरविवेक	१०३ १४	गुणाना परमरूप	१४ ९
क्षणिकपरिमग्दलादि	६ १४	गुणाना वृत्त चरु	१३ २५
क्षणिकस्वलक्षण	१२ २५	गुणान्तर	१०४ १०; १२४ ११.
क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेय	१५ २०	गुणी	१२ २९, ६१ १२, १२४ २३.
क्षणिकात्मन्	७२. ९	गुणीभूत	२३. २३
क्षणिकादि	८६ ११	गुणोत्कर्ष	१०९ १८
क्षणिकैकान्त	१२ ३	गुण्येवमपरम्परायथावदधिगत	२६. २१.
क्षय	८८. २१, १२२ ६	गृहीतग्रहण ३ ८, ५८ १८, ७५ ५.	९२ २१
क्षयदर्शन	११२. ३१, १२० २३	गृहीताभिमुख्य	२६. ३
क्षयोपशमविशेषोपापेक्षा	१२७ १४	गृहप्रदीप	६२. २६.
क्षीयावरण	११६ २५	गोचरनिर्भास	४३ १३
क्षीररस	४४ २१	गोलादि	१३. २३
क्षुपुष्पवत्	२. ११, ११४ १	गोपुराट्टालिकादि	४३ ११; ६२ २३.
क्षरविपाणवत्	२४ ४	गौरवाधिक्यतत्कार्यभेद	४४ ९.
खलस्नेह	१२१. १८	गौरिव गवय इति	७. १०
गच्छपदभय	१०८ १५	ग्रहण	१ २१; ५ २४; २०. १४
गतिस्थितिकरणविघात	११८ २.	ग्रहादिगति	८५. १५; १२४. १८.
गन्धादि	६१. ६	ग्रामघानक्रमेतग्रामक	७. १९
गिरिष्ठ	१०८. १७, ११४. १२, १२१ २५.	ग्राह्यग्राहक	३३. २९; ४०. १३; ११०. १४
गरीयसी	४२. २८.	ग्राह्यग्राहकभावसात्'द्वि	२० १९.
गर्भ	६४ ३	ग्राह्यग्राहकविवर्ण निवृत्ति	१०९. २८
गर्भाण्डमुच्छितादिवत्	१२७. ९.	ग्राह्यभेद	३४. २०.
गवयर्दाक्षिन्	७ १०, ११	घट	२५. ३, ४४ २१.
गवयोऽयमिति	७ १०	घटादि	१८. १३; ६३. ५
गवादिवत्	१०४ ६.	चक्रक	४८. १४; १२६. २.
गवादिविकल्पोपजनन	१२४ १.	चक्षुरादि	१४. १३; ७८. १७; १०७ ६; १०८ ९.
गुण १२. २९, ४५ ५; ४९. २२, ६० २५, ६१. ६, १२; ९८ २०; १०३ १०.		चक्षुरादिकान्	९७ १८; १०२. १२; १०९. २१
गुणकर्मसामान्यविशेष	२३ ९	चक्षुरादिभी	३०. १५.
गुणगुणित् १३. १४; २३. २५. २६; १२४ २२		चक्षुरादिवत्	९३ १५
गुणगुणिविनाश	२६ १०	चक्षुर्ज्ञानप्रतिपेधक	१९ १७
गुणगुण्यादि	१३ २५	चक्षुप्	३५. ५; ११८ १६.
गुणदोष ८२. ८; ८३ २९; ९१. २३; १०१. ७, ९, १११. १, १२७ १६		चक्षुषो (निक्षेप)	२५. २९
गुणदोषवदो	८८. २५.	चक्षुषो (मतिज्ञान)	२ २८
गुणद्वेषिन्	२९ १०.	चक्षुषि (मत्स्य)	८८ १८.
गुणपक्ष	६३. ७.	चक्षु सत्प्रभावनादि	५१. २७.
गुणपर्यय	४५. ४, १२१. १८.	चक्षुरस्य वी	७४. ७
गुणपर्ययवद्ब्रह्म १४. २०; २४. १०; ४४. २५; ११४ ३०; ११८. २०		चक्षुरात् (अर्थनय)	२४. २३
गुणप्रधानभाव	२३. २०, २६.	चन्द्र	५ २०, २१
गुणप्रवृत्त	१४. ७	चन्द्रः शकालगतिनियमवत्	१२४. ८.
गुणभाव	६६, ८.	चन्द्रादि	८. १०; ९८. १५, ११५. ३.
गुणयोगनिवृत्ति	८३. २१	चन्द्रादिवस्तुनिर्भास	८. १४
गुणयोगविधायिग	१२६. १३	चन्द्रावधिपरभाग	७५. २९.
गुणवत्	४५. ५	चक्षुरादिवत्	५०. ८
गुणसम्बन्ध	६१. ६.	चक्षुरात्तार्थ	४२. २२.
		चक्षु १४. ७; ६७. १; १०२ २५; १०८ २३, २७, ३०; १०९ १, २.	
		चक्षुपत्व	६८ २५; १०९ २३.
		चक्षुपत्वादि	७८. ३०; १०४. ६; १०९. २१.

इन्द्रियाम्यस	२९ २०.
इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्व	२८. १२
इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष	२ ८
इयतो व्यापारान्	५. ९
इष्ट १०८ १७, ११४. १२, १२१ २५.	
इष्टतत्त्व	९३. २२.
इष्टविधातकृत्	१०८. ३, ११४ ११
इष्टसाधन	५३ २२
इष्टसिद्धि	५३. २३.
ईशानिकादि	९२ ११, ९९ ९.
ईश्वरज्ञानसंग्रह	५२ ८.
ईहा	२ २०, २५
ईहाधारणा	३. १
ईहितविशेषनिर्णय	२. २६
उक्तविधातकृत्	११९. ४.
उच्छेद	८३. ३.
उत्तरपरिणाम	२ २५
उत्तरोत्तन्देह	६२ १६
उत्पाद	११३ ४.
उत्पादविगमक्रियाग्राह	१०३. १२.
उत्पादविगमद्वीब्यद्रव्यपर्यायिसंग्रह	४६ २३
उत्पादविगमद्वीब्यलक्षण	१४. २०, २४ १०; ११२ १५; १११ २४
उत्पादविगमद्वीब्यविरह	१२५. २८
उत्पादव्ययद्वीब्ययुक्त	४ १७, १०. २५; ४५ ११; ११२ १८. ४५. ५
उत्पादव्ययद्वीब्यादि	
उत्तरोदयाविशेष	११२. १६.
उत्पत्तिसंहार	११२. १७
उदय	१११. १०
उदयस्थितिसंहारलक्षण	१०३. ३; ११२. ३०.
उदयस्थितिसंहारविरह	११५. १२.
उन्मार्ग	८२. २४
उन्मीलनादि	६४. १३.
उपकारक	२०. १३
उपकारागुणकारकत्वहेतु	१२०. १८
उपकार्येणकारकसन्निधान	१२०. २७
उपचार	६१. ९, २०; ७०. ७, १८. १२
उपनयादिसम	१११. २३.
उपमात्र	७ ६, १५; ९२. २७.
उपयोग	११९. ८
उपयोगवान्	५९ २९.
उपरम	४३. २५.
उपलक्षितसुखादिविज्ञानस्वलक्षणक्षयादिविशेषानुपलक्षण	१०६. ३
उपलब्धि	७६. १, १०४ १९; १०५. ३०.
उपलब्ध्यनुपलब्धी	११. २४.
उपलम्भात्मकत्व	११०. ४.
उपलम्भानुपलम्भयोग्य	१०९ २८.
उपहृतन	९३. २६.

उपादान	४७. २३, २६, ८६ २७
उपादानप्रकल्पित	१०५ ७.
उपादानादि	१९. २१
उपाधि	५५. १०, १३, १४, २१; १०८. ९.
उपालम्भ	९० १९
उपेक्षण	१३. १८
उपेय	२४. ८.
उभय	९० ६.
उभयत्र व्यभिचार	२२. १९
उभयदोषप्रसंग	११३ २८; ११४. ३; १२५ २९
उभयपक्षोक्तदोषारकानवस्थिति	८०. ९.
उभयपरिणाम	११८ २२.
उभयव्यवसाय	९८ १४
उभयात्मक	४९ ९
उभयानुभवविकल्प	११० १६, ११२. २.
उभयाभाव	११४ ५.
उभयोक्तिवत्	९०. १९
उभयोपयोगलक्षण	९८. २१.
उभयोपलब्धि	१४ ६.
उष्ट	८० ७
उपयोग	२ २३
उपयोग	२१ १४
उपाधिप्रतिषेध	१०४. १४
उपाय	१८ ८; २५. २०. १२७. २, १३
ऊर्ध्वताविवन्	११४. १.
ऊहादि	१०१. २२.
ऊजुमुनय	१४ २८, १२६ १३.
ऊजुमुनय	२४ १५
ऊ व भा दि म हा वी र	१ ४
एककारणप्रत्यन्तीकनियम	१२१. ५.
एकज्ञान	४५ २७
एकताभत्व	११७ १९.
एकत्रनिर्णय	३०. ५; ९९ ४.
एकत्रानैक	४८ २७.
एकत्व	२३. ३, ६; ११२ २७.
एकत्वनिवन्धन	५८ २५.
एकत्वानेकत्व	१२४. २३.
एकत्वैरेन वस्तुत	१३ १६. १००. २७
एकत्वमित	२३. २०
एकप्रत्ययमर्शव्यवस्था	११२. २७.
एकमनेकत्व वस्तुमान	१३ १५; १००. १५.
एकमनेकरूप	१५. २; २४ १८
एकमनेकाकार	३. १६
एकयोगक्षेम	११४. २१; ११८ ३०.
एकरागादि	४१. २७.
एकरूप	६१. १०; ८६. ३०.
एकलक्षण	६९ २७
एकलक्षणविद्विप्	७७. २; १२.
एकलक्षणसिद्धि	५. १७
एकलक्षणहानि	७६. १५

ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत्	१२४. १३	तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतु	८२. २४.
ज्ञानदर्शनवीर्यसुख	२१. १७	तत्त्वदर्शिन	३८. १४.
ज्ञानदर्शनो, गौलक्षण	११९. ३०.	तत्त्वनिर्णय	२ २
ज्ञानपरमाणुसंभ्य	११. २८.	तत्त्वनिर्णयादानहानधी	९३. १७
ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिन्	९९. २.	तत्त्वपरिच्छेद	१०७. ४.
ज्ञानप्रामाण्य	२०. १३	तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेद	११६. १३.
ज्ञानविरोधित्व	१९. १९	तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीति	१०३. १५
ज्ञानशब्दव्यवहारसाधन	१०५. २.	तत्त्वमिथ्याप्रतिपत्ति	११७. २८
ज्ञानसमवाय	१४. १२, १४	तत्त्वविनिश्चय	८२. २८.
ज्ञानस्वभावपरिणामिन्	१०४. १९.	तत्त्वव्यतिक्रम	१०९. २२.
ज्ञानहेतुत्व	३२. १५.	तत्त्वव्यवस्थान	५०. १९.
ज्ञानाकार	४९. १०; ५८. १६.	तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्र	८९. १९.
ज्ञानात्मकत्व	३. १	तत्त्वार्थनिर्णय	१८. ९, १२.
ज्ञानादि	२३. ११	तत्त्वाधिगम	१२७. १८.
ज्ञानाभिधानानुप्रवृत्ति	११७. १०.	तत्त्वानुसारिन्	४७. ३०.
ज्ञानावरणसंक्षय	७८. १०.	तत्त्वान्यत्नविवेक	१०५. २३.
ज्ञानावरणादिवस्वरूप	२६. ११	तत्त्वहेतुफलत्पन्	१. ७
ज्ञानावृत्तिविवेक	८४. १४.	तत्त्वप्रकार्यपिकर्ष	८९. १०.
ज्ञानार्थ	४६. १.	तत्त्वप्रकार्यपिकर्षनिर्हासितिशय- जातीयाभ्यासविवर्त्ती	११९. ३३
ज्ञानच्छाकरणशक्ति	११०. १७.	तत्त्वप्रकार्यपिकर्षविरोध	१०१. १०.
ज्ञानोदयसमव	२६. १२	तत्त्वप्रतिपादकस्वाभाव्य	२५. ६
ज्ञेय	१०. २३, ९१. १९.	तत्त्वप्रतिरूपकत्व	१३. ८
ज्योति	७८. १२	तत्त्वप्रतीत्यसमुत्पाद	६५. २६.
ज्योतिर्ज्ञानादि	९२. ५.	तत्त्वप्रत्यक्षरोक्षाक्षसम	४०. १.
तर्क	१००. ५, ७	तत्त्वप्रत्ययसाकर्म्य	१३. २३
तर्क ५. २; १७. ८; ६९. २८; ७४. २६, १००.	३०; १०१. १४.	तत्त्वप्रवृत्तिनिवृत्ति	५८. २८.
		तत्त्वसत्ताव्यवहार	५४. ५
तर्कपरिनिश्चित	७४. २२	तत्त्वसमानासमान	५८. २८
तर्क्य	१११. २४.	तत्त्वसम्बन्धस्मृति	६४. १२.
तर्क्य	८४. १	तत्त्वसमारोपविधिप्रतिषेध	१०७. ५.
तर्कागम	८१. १९	तत्त्वसाध्यसाधनसंस्थिति	७९. २१.
तच्छायाप्रतिपत्ति	११७. ३०.	तत्त्वसारस्तरभूत	६२. १०.
तज्जन्य	२०. ६	तत्त्वस्कारान्वयेकत्व	६४. ५.
तज्जन्यसाख्याव्यवसाय	९७. १३	तत्त्वव्यवहारसिद्धि	७. १
तज्जातीय	५६. २६	तत्त्वभावविवेक	६८. २०.
तज्ज्ञानपूर्वक	८४. १	तत्त्वरूपानवाप्ति	२४. २
तज्ज्ञानव्यवहार	६९. १६	तत्त्वबलक्षणभेद	१. २
तत्त्वरणस्वभावभेद	१२. २७	तथाकार	४८. १०
तत्त्वरणैकस्वभाव	१२. २६, २८, ११०. २३.	तथाधिगमाभाव	२६. ११
तत्त्वारणता	१८. १३, १९. ११.	तथानिनिवेश	५४. १०
तत्त्वार्थव्यतिरेक	५४. २.	तथापरिणत	१४. १३
तत्त्वार्थैकपर्यन्तभाव	७८. ५	तथापरिणाम	६३. ७; १०३. ४, ६; १०४. २६, ११२. २४; ११४. २८.
तत्त्वार्थैकदेश	१७. ८.	तथाप्रतिभासविक्रियाविरोध	११४. ३०.
तत्त्वद्वयान्तरकारकवर्ष	१२३. २९	तथाभावसकरव्यतिकरव्यतिरेक	२३. ५, ९८. १९
तत्त्व ४. १५; १५. २; २४. १८; ३७. १५, १९, २०, ३८. १८, ४०. १०; ४८. ११; ५२. १५; ६५. ११, ७४. १३, ८५. २३; ८६. १७, ९३. ७		तथाभावाभावनियमनित्वय	१००. ८.
तत्त्वज्ञान २. १; ८२. २७, ११९. १०, १२६. २२; १२७. १२		तथैवास्मरण	८. २०
तत्त्वज्ञानप्रभाव	८८. २३.	तथोपयोगलक्षण	२६. ३
		तदकारण	१८. ११, १२९

कार्यहेतु	६ २०, १०, १५, ७५ १३	कृतक	११२. ४.
कार्यादि	१०४. १६	कृतक	७६. १५; १११. १८
कार्यानुपलब्धि	१०५. ४.	कृतकत्व	६. २३; १०४. १४; १०५. २५, २८;
कार्यानुपलम्भ	१०५. २९.	१०८. ६, ११०. ७, ९; ११२. १६, ११३. १८.	
कार्याभावगति	६२. १३	कृतकानित्यादिवन्	१२४. ३०.
कार्योत्पत्ति	१२. १४	कृतस्य करणयोग	८. १३.
कारक	२५ ७	कृताकृतनियम	१११. २५.
कारक	१५. ९; २२ ५	कृतिकादि	९. २२.
कारककल्पना	१५. ११, २४, १२४ ३१.	कृतिकोदय	५. २३; १०४. ५.
कारकसापेक्षकल्पना	१०८ २; १२२. १९	कृतिकोदयदर्शन	२५. २
कारकसापेक्षकल्पनाविधेय	१२३. १३.	कृपा	१२२. ८.
कारकमेदमेदिन्	१२४. २४.	कृपालु	१२०. १७.
कारकमेदानुविधायित्व	१२४ २६.	कवलज्ञान	८५. २.
कारकलक्षण	१६. १५	केश्यादिनिर्मात	४४. ३.
कारण	१२ ८	केश्यादिविवेकवत्	९८ १७.
कारण १२ १६, १८ १०; २५ २५; ६२. २२, ६३		कील्य	१०३. २१.
२२, १००. १६, १२३. ३१; १२५. २; १२७. २३		कीशपान	६४. ७.
कारणकार्यभाव	१८ २१	कीटस्वप्नप्रसम	१०५. १९; १०८. ४.
कारणगुणदोषसाकल्पवैकल्य	११६ ९.	कीनस्तुत	१८ २५.
कारणपरम्पराभावप्रसंग	१२०. २५	कीमारादिवत्	९९ २५.
कारणमेदि	१०. ८	क्रम	३. १५; ८८. १; ११०. १९.
कारणमसिपरिच्छिन्नार्थ	२३ २.	क्रममेद	३. १९.
कारणविरुद्धोपलब्धि	१०५ २०	क्रमयुक्त	४५. १७.
कारणशक्ति	६. २; १२. २०	क्रमयोगपद्यविवक्षा	१२३. ५.
कारणसत्ता	१२. १४, १६	क्रमयोगपद्यासम्भव	१०८. २.
कारणसामर्थ्य	१२ २८	क्रमवृत्ति	३. १७
कारणानुपलब्धि	१५ ५.	क्रमवृत्ति ३. १५; १०४. २९, ११२. ३०; ११८.	
कारणासम्बाधोपविषय	७२ २७.	१७, २०.	
काल	१६. १४, २१. १७, २५ ६; ८६ ६;	क्रमस्थिति	४५. ३.
	१८. २७, १६४. २३	क्रमाक्रम	४. ४.
कालकारकलिग	१५ ७, २४ ५	क्रमोत्पत्ति	५१ १०.
कालदेशादिमेदिन्	८७	क्रियाकारक	१३. १५, १६. २२; २३. २५
कालदेशान्तरव्यापित्व	१०४ ३६	क्रियानिमित्तकभ्युत्पत्ति	२५. ९
कालमेद	१७ २	क्रियानिवृत्ति	११३. १९.
कालादि	१२३, १०.	क्रियामेद	२५. ८, १०
कालादिषमिकल्पना	१०४ ५	क्रियाविष्टब्रह्म	२५. ७
कालादिमेद	१६ २३; १७. २	क्रियाश्रय	१५ ८, ११, २४ २७; १११. १५,
कालादिलक्षण	१६ १२	१७, १९६. १६.	
कालादिव्यवहृतात्मपयसिमुपग्रह	१०७ २.	क्रियास्थिति	७६ १७.
कालाद्यनपेक्षित्	११२ १.	क्रोधादि	२३. १०.
कालान्तर	५. ८	क्रोधैकिकर्मोपादानयोग्यता	११९. २३.
कालापकर्षपर्यन्तविवर्त्तितिक्षया	७३. ७	क्व चित्तं	१३. १७
काष्ठन्यम्	१० १३	क्षणज्ञो	७१. १५; ७६ २८, ८०. ३१.
कुडधादिक	१०. १६	क्षणसमकान्त	१०५. २.
कुडधादितिरोहित	१९ १६	क्षणपरिणाम	१८. १७.
कुडधादि	४५ १९; ११२ ११.	क्षणभग	३ ७; १२. ९; ४६. १; ७१ २९.
कुडक	१०१ ३.	क्षणभगभग्नसम	१२. ९
कुडालादिषटादिवत्	१८ १८	क्षणभगसिद्धि	६. ७
कुडाल	२२. २	क्षणभगिन्	७१. २३.
कुटस्थ	१२२. १०	क्षणस्थान	११५. २७.

तनुकरणभुवनादि	१०८. ३३.	त्रय (शब्दनय)	२४. २४.
तन्तु	२५ ३	त्रयेण किम्	७४ १, २, १०४. ३
तन्तुल	२५. ४	त्रसंस्थावरादिगुणप्रकृपप्रिकर्ष	१२७ ८
तन्तुलपाकदिवत्	१०६. ६.	त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपण	२५. २६.
तन्नामप्रतिपत्ति	७. ११	त्रिकालगोचरानन्तपर्यायार्थी	११७ २६
तन्नामविकल्पविकलता	१२५. २०	त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषय	२२ २८.
तन्निर्हासातिशयानुविधान	१०१. ९.	त्रिकालविषय	८६ ८
तपस् २६. ९; ८८. २३, २४; ९४ २; ११५ २९.		त्रिपुरदहनादिवत्	११६. २१.
तपोनिर्जीर्णकर्म	२५. २५	त्रिभुवनगृह	९४ ४
तपोवन	४८ ५	त्रिलक्षण	१०३. २, १२०. २३.
तपस् १९ १५, १७, १८, २०, २९. १०; ३७ ३		त्रिलक्षणयोग	१०९ १३.
तमसोर्नैर्ष्य	१०८. २२.	त्रुटति	३४. ३
तमोविज्ञानाभावप्रसंग	१९. १७	त्रैलोक्य	५०. ४, ८२. ३०, ९०. २
तमोविज्ञानाभावनहेतुत्व	१९. १८	त्रैलोक्यनाथ	९७ २
तल्लक्षणप्रपञ्च	७६ ८.	दवि खाद	८० ७
तस्यैतिसम्बन्ध	१६ ६	दध्मप्लादेरभेदत्वप्रसगादेकचोदन	७९. ३०.
तादात्म्य ३ १९, २३ २५, ४८ २३; ६१. ७, ६७ २४; ७३ १९; ७५. २६; १०५. १२; १०७ १६; ११३. २८; ११४. २९, ३१; १२५. ५		दर्शन	९८ १३
तादात्म्यतद्गुत्पत्ती	५ १६; १० १०	दर्शनाददर्शन	१०६. ९
तादात्म्यनियम	४५ १४.	दर्शनाददर्शनसामान्यविशेषात्मन्	११७ २६.
तादात्म्यपरिणाम	११२ २३.	दर्शनाददर्शनविषय	१०९ ९
तादात्म्यविषयाभाव	२३ १८	दर्शनादर्शन	६७. २९.
तादात्म्यानतिक्रम	११२. १७	दर्शनादर्शनस्थिति	६८. ४.
तादात्म्यासिद्धि	१०५. ७	दर्शनादर्शनाध्यास	८३. ३०
तादृशवचनादिगुणोपपत्ति	१०९ १५	दान	११५ २९.
तामस	११६ १.	दाहार्त	८१. २०.
तामसखण्डक	२०. १	दाहाविसाहस	१०५ ९.
ताद्वय २० ६, ३३. २९, ६८ ३०		दिग्भागभेद	४१. २२.
ताम्रादिरचितकादि	४४. १५.	दिग्भिन्नाय	९, १५, ११८. १७
ताल्वादि	१३२ २९	दीपरक्षिप्तवत्	११८ १
ताल्वादिब्यापाराहितसस्कार	११८ १४	दीपादिद्रव्यवत्	११८ २८.
ताल्वादिसन्निधान	८६ २४; ११८ २५.	दुःखित	७८ २२, २३
तिमिरादि	१६ २१; १२०. ३.	दुर्नय	१० २४, १७ ३.
तिमिराद्यभाव	१८ २८.	दुर्नय १४ १७, २२, १५ ४, २४ २, १३. २०,	
तिमिराद्यग्रह	९८. १४.	दुर्नय	३८ ४, १०२. २३
तिमिराद्युपप्लवज्ञान	८. १०.	दुरवगाहार्थतत्त्व	९२. ४
तिमिराद्युभ्रमणनीयानसकोभादिहेतुत्व	१८. २७	दुस्तर दौस्थ्यम्	१२० ३०.
तिर्यक्	७. १२.	दूरदूरतरादि	५४ १२, १२५ ३२
तिरोभाव	११८ २३.	दूरक्षार्थज्ञान	१५ २६.
तिरोभावासम्भव	११९ २५.	दूरसन्नकार्यकारणभावप्रतिविधि	११७ २४
तीक्ष्णशुभ	४२. १९	दूरसन्नाक्षब्धि	१५. १९.
तीर्थकरणचनसग्रहप्रस्तावमूलब्याकारिन्	२३. १६	दूरसन्नादिकरणगुणवैगुण्यतरात्त्यादिभेद	११५ २
तुलान्त	७५ २६.	दूरसन्नादिविशेषस्थपुरुषैकविषयोलम्भ	१०६ ३०.
तुलितद्रव्यसयोग	४४ ६	दूरसन्नकार्यप्रत्यक्ष	१५. २५
तुलोन्नामरसादि	७५. २६, १०७. १५	दूषक	९८ २.
तुल्यकालता	७५. २४, १०७. १५	दुष्टतरमवदुःद्रव्य	२६ ८.
तुल्यजातीयसयोगसमायिन्	४३. २२.	दृश्यात्मन्	६ १२.
तुलोपलादिसंज्ञैवत्वस्य	१२१ ६१.	दृश्यादृश्य	१३. २५, १२०. २४
तिमिरादिक	८. ८, ५२. १.	दृश्यादृश्यभेदेतरात्मक	४ १४
		दृश्यादृश्यात्मकत्व	१३. २७.
		दृश्यादृश्यात्मन्	४८. २१

वाण्डालोपालवालोलविलोचन	३६. २९.
चारित्र	११९. १०.
चिकारण	६०. १५
चित्त	४ १५
चित्तमात्र	३८. २७.
चित्र	४२ ५, ६; ६८ ६; १०३ २८, २९.
चित्रतम	४२. ६; १०३. २९.
चित्रतर	४२. ६; १०३. २८.
चित्रनिर्भासिन्	४. १६
चित्रसाधित्	१४. २८
चित्राकारमेक	२४. १८
चित्राभिसन्धि	१०. ७
चिन्ता	४. २३; ५. २; ९ ७; १७ ७
चिन्तामयबुद्धि	१२७ २०.
चेतन	७३. १५; ८४. २१, १०६. २८, ११६ १; ११९ ५, १७
चेतनाणुसमूह	१४ २९
चेतनादिविकल्प	१२३. १२.
चेतनानिबृत्ति	१२० ९
चेतनेतरविकल्प	११५. ९
चेतनेतरसमवायिविवेक	१२०. १२.
चेतनोपतापहेतु	११९ २६
चेष्टासम्बन्ध	३० २३,
चेतसु	५१. १; ८१. १३; ८३. ८; ८९. २२, १२७. २३.
चेतन्य	१३ २६; १४. ८; ६२ २, ३; १००. ८; १०१. १०; १२१ १७; १२७ ५
चैतन्यपरिणामिन्	१०९. २.
चैतन्यपरितापवत्	१२१ ९.
चैतन्यप्रतिबन्धिन्	८४. २६.
चैतन्यस्वभाव	१४. २०; २४. १०; ९९ ५
चैतन्योपयोग	१०४. ७
चोच	६८. १२
चचल	८३ २५.
छायादि	५ १७
जगत्	८५ १६.
जम्भयूक	११४. १५.
जह	२६ १०, ३६ ११.
जहधी	५२. १७.
जहबृत्ति	९०. २४
जन	३७ ३; ६७ २१.
जनकजन्य	६५. ११; १०४ २२.
जन्ममरणोद्दि	१२०. ३१.
जन्मान्तर	६३. २९.
जय	११३. २२
जम्पराजयासमय	११४ १६.
जयामाव	११३. २१.
जलचन्द्र	५ २०, २१
जल्प	११३. २२
जल्पक	११४. १९.
जल्पानारम्भ	११४. १७.

जाडपहेतु	११५ २३.
जातमात्र	६३. ३१.
जाति	७९ २७; ११३. २३.
जाति	५३. ८.
जातितद्वत्	१३. १५; २३ २५
जातिउद्वेगोद्द्विवाव	९०. २६.
जातिद्वयगुणक्रियालक्षणानिमित्तानपेक्षसत्कार्म	२६. १.
जातिभेद	१२१. १६.
जातिभूकलोहितपीतवत्	३७. ९.
जातिलक्षणसवृति	१०७. ८.
जातिस्मर	६३. २४; १०७ १२.
जातिस्मरसवाद	१०४ १०.
जात्यन्तर	५५. १६; १०८ ५, ७; १२२. २५; १२३. ६; १२६. १.
जात्यन्तराधिगम	१०३. ५.
जिगीषतो	८१ ३; १११. १६
जिन	२६. १७
जिनपतिमिहिताद्योपतत्रप्रकाश	९३. २५.
जिनशासन	९७. २
जिनेश्वरपदप्रार्थितलक्षणस्वार्थसपति	२६. २४
जीव	११ ६; १४. २०; २१. १६, १७, २०, २१, २४; २३. ७, २२, २४ १०; ५९ २९, ७३. १४; ८४. २१.
जीवच्छरीर	१०४. ७.
जीवच्छरीरधर्म	६२. १.
जीवपदार्थविषयविशेषप्रत्यक	२६. ६
जीवमात्र	२१ २३
जीवराशि	१२० २३.
जीवशब्द	२१. २२
जीवस्थानगुणस्थानमार्गस्थाान	२६ ६, ८
जीवस्थानगुणस्थानमार्गस्थाानतत्त्ववित्	२५. २४
जीवस्वतत्त्वगिरूपणा	२३. २३
जीवस्वरूपगिरूपण	१३. १३
जीवाजीवप्रभेद	११. ५
जीवाजीवादि	११ ८
जीवादिद्वय	२५. २३, ९९ २८.
जीवाद्यर्थव्यपामय	२४. २३
जिनेश्वरशासन	९४. ९
जे मि नि	२. ११
ज्ञ	१४ १३; २१. २०; ५२. ७; ९१. २९; १०६. २४.
ज्ञत्त्वप्रसंग	१४. १३
ज्ञत्वविरोध	९९ २.
ज्ञाता	२३. २२; ५२. ८, १६; ११६ १
ज्ञातुरभिप्राय	१० २६; १८ ९; १२७. २.
ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्	२५. ११.
ज्ञान	८ ११; १८ ८, १०; २०. २३, २६, ३१ १३, ३२. १३, ४८ १०, ६९. ५, ८४ १८; २८. ८, ११; १०७ १२; १२५ ३, १२७ २, ४, ५, ६
ज्ञानज्ञान	३२. १३.
ज्ञानज्ञानलता	३२. १४.

ध्वनिभाग	८८. १.	मित्यक्षणिकपक्ष	१११ १७, १२४ ७.
ध्वनिविशेषाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी	११८. १९.	नित्यत्ववत्	९; ७६. १८, ८६. २५
मपुंसक	१६. १९	नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी	११८. २९
नय १०. २४, २६; १७ ३; १८. ९; २१. १५; २०. २५;		नित्यानित्य	१०६. ८
२२ २४, २८; २४. १९; २५ २६; १२७ ३		निदर्शनाद्यभाव	१२७. १३
नय १४. १७, २२; १५. ३; २५ १३, १५, ३४. ३, ३८		निर्वशादि	२५. २३; २६ ५
२७, १३. २२; १२४. २८; १२७. १७.		निपात	११४. १४.
न य च क्र	६३. २२; १२५. २७.	निमित्त	१६ २६; १००. १५, १७
नयद्वयविभाग	१२६ १७	निमित्तनैमित्तिकभाव	१२३ २३.
नयप्रवेश	१७ २६	निमित्तान्तरकल्पना	१०० २४.
नयलक्षण	१२६ २०.	निमित्तान्तर	१०६ २८.
नयानुगतनिकोप	२५. २०	निमित्तान्तरानपेक्ष	२५. २९.
नव्वरस्थानु	१११. २०.	नियतवृत्ति	५६. १९.
नष्ट	६७. १; १०२ २५.	नियतोद्भवैतरविवर्त	९८. २०.
नानाकारणसामर्थ्य	६८ १०.	नियम	४०. १७.
नानाकारिकविज्ञान	६७ २३.	नियमहेतु	१०५. १५.
नानात्मविभ्रम	६१. १२	नियमाभाव	७६. २५.
नानात्व	१५. ३; २४. २५; ६१ १६.	नियमायोग	६३. ११.
नानार्थवाक्य	१२४. ९.	निरर्थक	८५ २६.
नानार्थसाध्य	१४. १.	निरन्वय	४०. १७; ६५. ११, ७६ १८; १०७
नानार्थकज्ञान	११२. १०.		२२; १११. २६.
नानादिदेशभावि	१२. २५	निरन्वयक्षणिकचित्त	१. ६
नाशभा	५४ १३.	निरन्वयविनाश	७०. ५, १०५ २६.
नानासामग्रीसन्निपात	१७ १	निरपेक्ष	१५. ३; २४. २०
नानैकपरिणाम	६७. १२.	निरपेक्षत्व	२५ १४
नानैकवचन	५९. १२.	निरभिप्रायवृत्ति	१२० २२
नानैकव्यवस्था	११२. १०.	निरवयव	१००. १७.
नानैकसन्तानात्मन्	२३ ५; ९८ १८	निरस्तवाचकधी	१७ १२
नानैकस्वभावनियम	११२ २६	निराकारेतर	३२. १०
नानैकान्तप्रहृष्टस्त	४७. १८	निराभास	९९. १०
नाम (निकोप)	२६ ९	निरामय	१२२. २४.
नामरूपादिहेतुत्व	७५. २५; १०७ १६.	निरारेक	९ १५
नामस्थापनाद्रव्यभाव	२५ २४	निरालम्ब	१०० २
नाश	७२ २०; ११२ १६, १९; ११३. ५.	निराश्रय	८७ ६.
नाशसमकालकार्यकल्पना	१०५ ५.	निराश्रयीभाव	८३ १४; ८९ २५.
नाशादिशब्द	६४ १३	निरुपद्रवभूत	८३. १३
निसिप्तपदार्थ	२६. ५	निरुपाख्य	१०४ २४, ११०. १; ११३ २९,
निकोप	२६ ४		११९ ९, १२१. ६, २५, १२४ २४
निग्रह	८१. ५.	निसर्पाधिकप्रवृत्ति	११८. १२.
निग्रहस्थान	८० २१; ११४. १७	निरोध	८९ १३.
निर्जरा	८८. २१; १. २ ६	निरोधि	१६ १५
निर्जीणकर्मन्	२६ ९; ८८. २४	निरकृश	६९ २४, १०२. ८
निर्णय	२० २४; ७३. ११; १०६ २; १०८. २२, १३;	निरश	४९ १६, ५० ३; ६८ १७, १००. १६;
	११५. २४, १२०. २४, १२५ १२.		१०२ १०; १०४ ११; ११८ १८; १२१ २
निर्णयात्मकज्ञान	२१ १; ९८ २३.	निरशतत्त्वानुमिति	६ १९
निर्णयायत्त	२०. २६	निरशपरमाथ	१२० २२.
निर्णीति	१२५ १८.	निर्वाण	८३ २३.
नित्य	१४ ८, ५०. ३, १२. ७; ६४ ३०, ८३ १७, ८५	निर्विकल्प	४७ ३०.
	३०, ८७. ३; ८९ २८; १००. १५, १७; १०५ २८;	निर्विकल्पकज्ञान	३. १०
	१०७ २२, २४; १०८ १; १०९. १७; ११० १२;		

सदतत्कारणासम्भ	११० १२.	सदभोक्ता	२६. ११
सदतत्कार्यविच्छेद	१०७ ४	सदभ्युपगमोपाग्याभाव	२४. ३.
सदक्रियित्कारत्वं	५७ १६.	सदवयवविकल्पवनिवृत्ति	१००. २८
सदस्तरिणामित्त्व	२३. ३. ११४ २६	सदवयवान्तरसंज्ञानादर्शनविरोध	१०२ १५.
सदसंभूतिसंकर	१२३ १४	सदव्यतिरेकान्त	१६. १६
सदसंभूयधर्म	१०२ ६	सदासाध्यमसाधनम्	८२. १६.
सदसंभूयानुभवविकल्प	१२६ २.	सदहेतुत्वप्रसंग	४०. २३
सदसद्भ्रान्तिविच्छेद	१०८ १५.	सदाकार	३८. ९.
सदसद्भ्रुजान	१२५ ८	सदाकारविकारादि	६. ४
सदसद्भ्रुस्तुभेद	९० ६.	सदाकृति (नैयमाभास)	२३ २१
सदसद्भ्रगवृत्ति	९० ८.	सदागम	८५. ३.
सदसद्द्विषोपाध्यवसायानियमप्रत्यय	१००. ३.	सदात्मोत्कर्षण	११. ९.
सदसद्द्वयवस्था	११२. २४.	सदाभास	९ ८, १०; १०० १.
सदस्यन्तभेदाभिसन्धि	२३ २४	सदाभास (समहाभास)	१३. ५; २४. ३.
सदर्शक्यानुपपत्ति	१६ १५	सदाभास (ऋजुसूत्रभास)	२४. १६
सदर्शज्ञानाभ्यासप्रकर्षप्रभवपरिस्पृष्टप्रत्यय	११६ १२.	सदाभास (वादाभास)	८१. ८.
सदर्शप्रतिबन्धासिद्धि	१० ९	सदाभास (इष्टान्ताभास)	८० २८.
सदर्शदर्शनसमयसंचाद	९८ ३०	सदाभासविरोध	१०५ ३
सदर्शदर्शनाभाव	५८. १३.	सदाहारादिसामान्यव्युत्पत्तिद्विप्रमोय	६४. १८.
सदर्शदक्षिन्	८६. १.	सद्गुत्पत्ति	२० १९, २७
सदर्शदुक्	३३. ९.	सद्गुत्पत्तिसारूप्य	१५ २२
सदर्शवेदन	३३. १२.	सद्गुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचार	१६. ५
सदर्शसंचादस्मरणव्यतिरेक	१०९. ११.	सद्गुरितार्थगहन	८१. १५.
सदर्शानन्तरमानसप्रत्यक्ष	९८. ६	सद्गुपयोगविशेष	३ २.
सदर्शानावसा	१०. १०	सद्गुपादान	४७. १२.
सदर्शपलसंज्ञप्रदायापेक्ष	९८. २८	सद्गुमयात्पार्थज्ञान	१७ ३
सदर्शान्तरसाभिसन्धि	१३. १४	सद्गुमयात्यय	१६. १९
सदर्शान्तरसासिद्धि	१३. ३७	सदकार्यविषय	१५ २६.
सदर्शान्तरजन्यम्	१०. १३	सद्गुपबोधोपानुविधायिनी	१०१. ११.
सदर्शभिधानप्रत्यय	१२४. ५	सद्दर्शमानात्वप्रतिपादन	५८. ३०.
सदर्शासपरीक्षासंचण	२५ २७	सद्वाचासंभव	२६. ११.
सदधिगमयोगस्वभाव	१०३. २३.	सद्भाव	४६. ५; ११०. १२; १२५. २८.
सदमज्जवत्	७५. ३.	सद्भावाव्यवसायता	११२. ५.
सदनात्मक	१५. २१	सद्भावे भाव	२०. ९. २६
सदनिर्देश्य	६७. ५	सद्भ्रगनुकृति	१५ २४
सदनिराकृति	२५. १५	सद्द्विकरणदिपरापेक्ष	१२७. ७.
सदनुक्रिया	६४. ३०.	सद्द्विकारानुकारिणी	५२ २.
सदर्शकार्यसंबन्धव्यतिरेकपरिणाम	६७. २०.	सद्द्विकृति	६३. १६.
सदर्शकान्तात्मकतरत्वं	६०. ३०.	सद्द्विकृद्विषयत्वम्	१०५ १६.
सदर्शनशतत्वं	६. ६	सद्द्विषोपादशिनोऽभवधारण	९. ३.
सदन्यतरापाय	१५. ५; २४. २१	सद्द्विषोपादधारण	४४. १२.
सदन्यविधिसंश्लेषविषय	१०७. १०.	सद्द्विषोपानाश्लेष	१०४. १५.
सदपेक्ष	१४. २१; १७. ३	सद्द्विषयाकृति	६८ १२.
सदपीडास्फल्पन	५४. २५.	सद्द्विषयाविगमविकल्पविकल्प	१२२. २७.
सदप्रसिद्धम्	१५. १३, २५. १	सद्दृष्टि	४१. २८.
सदभावतरत्वं	२. १०, ११	सद्दृष्टिनान्तर्रीयक	१०४. २८.
सदभावविभावन	४०. २४.	सद्द्वैवर्त्य	७. ७
सदभावेऽभाव	२०. ९. २६.	सद्द्वैवर्त्यभाक्	५६. १७.
सदभिधानयोग्यतालक्षण	१२४. २८.	सद्द्वैवर्त्यसिद्धि	२०. ६.
सदभिधायित्वाद्यसंभवापालम्ब्य	१६. २३.	सद्द्वैवर्त्यव्यतिरेक	५५. १.

परबन्धोत्पत्ति	११९. २१.
परसत्त्व	६९. १७.
परसत्त्वसतत्त्व	३७. २७.
परस्परज्ञान	१०९. २६.
परस्परपरिग्रहपरिणामसिद्धि	१२६. ६.
परस्परपरिग्रहपरिणामाभिधानाभिन्	१८. १९.
परस्परपरिणामविनोदाहितविधिषययोग	११२. १३.
परस्परपरिणामस्थिति	१२१. २८.
परस्परपरिणामाहितविशेषपरिग्रह	११२. २०.
परस्परपरिग्रहस्थिति	११४. १.
परस्परपरिग्रहस्थितिलक्षण	१२०. ११.
परस्परविधिप्रतिषेधपरस्मावा	१२६. ५.
परस्परविनोदप्रतिषेधकार	१२०. २७.
परस्परविच्छेदपरिधात	११४. २४.
परस्परविच्छेदविन्	१०२. १३.
परस्परव्यपेक्षालक्षण	७. २५.
परस्परानात्मक	४. १.
परस्परविशेषक	६५. २३; ११४. २७.
पराबन्ध	८०. २३.
परार्थसपत्ति	२६. २५.
परापरकर्मप्रबन्ध	११९. २१.
परापरपर्यायावाप्तपरिग्रहस्थितिलक्षण	१२१. २३.
परापरसाधुनियममेवामाव	१२१. १०.
परापरविभागीकपरिणामविशेष	१०३. २४.
परापरविशेषकस्वभावपरिनिष्ठन	७०. १५.
परापरस्वभावानुगमपरावृत्तिप्रसंग	१२२. १९.
परापेक्ष	४३. ७; १२५. २४.
परामर्शनियम	१०७. ७.
परिकल्पितपरार्थान्वय	१२३. १७.
परिच्छेद	३२. २३, २४.
परिच्छेदात्मक	२०. १७.
परिच्छेद	१६. ११, २१; २०. १६.
परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव	२०. १८.
परिणाम	४६. ५; ५३. २; ७६. १७; ७८. २३; १००. २३; १०५. ८, १८; १०९. २१; १२०. ३२.
परिणामकल्पवित्पिच्छायागत	८१. २०.
परिणामपाटवातिगय	१२५. १५.
परिणामप्रसाधन	७६. २९.
परिणामविनाश	७९. ८.
परिणामविशेष	२. २६; ६०. १५; ८८. ८.
परिणामस्वभाव	७०. २९.
परिणामात्	६०. ५.
परिणामादि	७०. १; १२१. ३१.
परिणामाभाव	१०५. २५.
परिणामित्व	६५. २.
परिणामिन्	२३. २२; ४८. २७; १००. १६; १०८. २४, २८, ३१; ११२. ९; १२०. २५; १२३. ४.
परिणामिसहकारिकारण	१०५. १२.
परिमण्डलादि	६. १३.
परिस्पष्ट	५२. २७; ९८. ६; ९९. ६. ९; १२५. १७.

परीक्षा	१०६. २, १४.
परीक्षासम	१४. २४.
परीक्षासमवाक्यपरिनिष्ठितवैतसृष्ट	२७, ९१. १९.
परीक्षाफल	१०५. २०.
परीक्षित	१६. १२.
परीक्षानगमबन्धन	१०. १८.
परीक्षा १. १३; २१. ४, १५; १७. ४; १२७. ७.	
परीक्षा ८. १; ३१. ३; ४७. ४; ६९. १५; ८२. ८;	
९७. ७; ९८. १७; १०१. १६; १०३. २३; १०६. २२.	
परीक्षानानविषयपरिच्छेद	३१. ३.
परीक्षानार्थपरिच्छेद	९८. १७.
परीक्षता	२. ४.
परीक्षपरतन्त्र	१२५. १०.
परीक्षात्मन्	७२. २७.
परीक्षार्थगति	६९. २७.
परीक्षार्थप्रतिपत्ति	१०. ११, १६.
परीच्छेद-	८३. ११; ८९. २३.
परिज्योति	९९. ८; ११८. ७.
परिनादिविभाग	३८. १७.
पञ्चलक्षण	११५. २७.
पाचकपाठकादिवत्	२५. १०.
णटवोपपत्ति	१२५. २२.
पायिवादिविशेष	१२१. १८.
पापीयान्	१२०. ५.
पाततन्त्रानुपपत्ति	१२५. २.
पारमार्थिक	२५. १२; १०८. २.
पारम्पर्य	४१. ६; ४३. ७, ६३. १७; ७४. ३१.
पारार्थनियमामाव	१०८. २८.
पावक	५. ८; ७९. १३.
पिण्ड	४१. २४.
पितापुत्रवत्	११२. २६.
पीतदोषाश्रवाकार	८८. २८.
पीताचाकारज्ञानोत्पत्ति	२०. ३.
पुत्र	११२. ९.
पुद्गल	२१. १६; २३. ११; १२१. ४, १८.
पुद्गलस्वभावानुतिरेक	१२१. २९.
पुद्गलात्मक	२. २२.
पुमान्	१०. ७, १६. १८.
पुनर	१५. १०; १६. २०; २४. २६.
पुरुष	१३. २६; २३. ७.
पुरुषतत्त्व	२६. ७.
पुरुषतन्त्रत्व	६४. ३०.
पुरुषत्वादि	७८. ९, १२.
पुरुषधर्म	५३. १५; १०२. २. ६.
पुरुषपरिणामस्वभाव	१२०. ३१.
पुरुषासिधाय ३. १३; ८२. ५; ८५. ९; ११६. १७.	
पुरुषार्थ	७७. २५.
पुरुषार्थसिद्धि	१२०. ७.
पुरुषार्थविधायक	८८. १४; १२२. ३.
पुरुषार्थविशेष	१०. १.

पट ४९. २२; १०८. ९, १७, ११४. १२; १२१. २५.	
पटविपर्यस्त	४८. ४
पटसजातीयमन्बन्धाध्यवसायान्तर्रीयक	९९. १७.
पटसजानीयमिलापम्भूति	९८. १३
पटसमानार्थ	११७. २४.
पटसामान्याभिनिबोध	१०१. १५.
पटहानि	६२. ७.
पट्या	२३. २२.
पट्यार्वस्वन्नवत्	१५ २५.
पट्यान्व	८०. २८.
पट्यान्त	४३. ६, ८० ३०, १०६. १०.
पट्यापरस्वभावाविधान	११२. ३१
पट्टि	१७ ७, ५७. २१.
पट्टिपत्र	१४. ९.
पट्टिपत्रप्राप्त	१४. १०.
पट्टिपट्टबाधित	१२२. १३
पट्टिम्यान्वादिदोष	५९. १७.
पट्टिन्नुपपन्न	९ २४.
पट्टिपट्ट्युक्तिविसद्वार्थप्रवचनसमयान्तर	११६. २४
पेवत्ता	११५ २९
पेवत्तो देवत्ता	१५ २०, २४. २६.
पे व न न्दि न्	११४. २१.
पेवनाभिप	१२० १४
पेवकाल	५०. ६.
पेवकालस्वभावनियम	१२. १७;
पेवकालस्वभावानियम १००. १५; १०८. २; ११५. ३.	
पेवकालाधिनेदानुविधापिन्	१२३. १.
पेवकालान्तरव्याप्तस्वभाव	७१. २३.
पेवनाधिनेवत्	५५. २६.
पेवान्तर	५ ८.
पेवान्तरप्राप्ति	११९ २०.
पेह	६२. ४, १०७ ११.
पेहानुत्पत्तिप्रसंग	५२. १५.
पेहान्तरपरिग्रह	६४. २४.
पेपजाति	१०१ १२.
पेपत्रय	५३ १२.
पेपप्रभाव	११९ २७.
पेपवती	७७ २९.
पेपसम्बन्ध	११९. २८.
पेपससय	८९ ५.
पेपसस्तेपवित्पेहेतु	१२०. ३.
पेपावरणकारण	१०१ १०
पेपावरणक्षयोपशमातिशयवदा ९८. २९; ११७. २६.	
पेपावरणपरिह्राय	१०१ २.
पेपावरणपरिह्रायामाव	११६ ११
पेपावरणक्षयोपशमोदमवृत्ति	१२७ ८.
पेवति प्रीव्यति भद्रवत्	११. १; ४५. ६
पेव्य ११. १, १३ १; २२. २५, २३. २, ४४ २९;	
	४५ ५; ११४ ३०.
पेव्य (निक्षेप)	२६. ३.

पेव्य	१०९. २२; ११८. २९.
पेव्यगुणकर्म	१३. २१, १२३. ३
पेव्यगुणकर्मसामान्यविशेषनियम	१२१. १२.
पेव्यगुणसमवाय	११७ ११.
पेव्यपर्याय	२२. २७, १२५. २८, १२६ ७
पेव्यपर्यायिनयद्वयप्रविभाग	१२५. १.
पेव्यपर्यायपरमाणु	१०९. ४.
पेव्यपर्यायाधिक	२३. २, १६.
पेव्यपर्यायिमुल	२२. २५.
पेव्यपर्यायिसामान्यविधानप्रतिषेध	१२२. १६.
पेव्यपर्यायिसामान्यविशेषप्रविकल्प	१२६. १७.
पेव्यपर्यायिसामान्यविशेषप्रविभाग	९०. २.
पेव्यपर्यायिसामान्यविशेषविषय	११८. ३.
पेव्यपर्यायिसामान्यविशेषात्पर्यनिष्ठित	१६. १३
पेव्यपर्यायिसामान्यविशेषात्पर्यवेदन	२९. १५.
पेव्यपर्यायात्मक	४ १७, १० २५.
पेव्यपर्यायात्मन्	२. २१; ३. २३, ४ १.
पेव्यभावेन्द्रिय	२ २२
पेव्यव्यवस्थापन	४. २०.
पेव्यसामान्यनहारविषय	९९ २३.
पेव्याधिक	१० २६, ११ १
पेव्याधिकार्थ	५२ ६.
पेव्येन्द्रिय	२. २२
पेव्य शक्तिस्तदुभय वा	१६ १५.
पेव्य	४३. २३.
पेव्यग्रह	४५ ४.
पेव्यनिर्गत	३६. २०, ३९. २४.
पेव्यात्मक	४०. ११.
पेव्यन्त्रादिवत्	१२४ २२
पेव्यादिसख्याज्ञान	७. २६
पेव्यैव (प्रमाण)	२४. ४.
पेव्यविधानदीपवर्तादिक	९. १४.
पेव्यान्तरादि	९. १२
पेव्यैव प्रमाणे	८ २; ९७. ७
पेव्यैव	२१. १६, १७; २३. २०; ७६ ४.
पेव्यैवैयंकर	१ ३
पेव्यैवैरात्म्य	११४ ९
पेव्यैवैदि	११९ १९.
पेव्यैवैन्तर	७६ ४.
पेव्यैवैन्तराविषया	२१ २१
पेव्यैवैवैवै	२३ २६; १०६. ६.
पेव्यैवैवैवैवै	७७ ४
पेव्यैवैवैवैवै	२ २८; ३. १, ५. १
पेव्यैवैवैवैवैवै	८२. १६.
पेव्यैवैवैवैवैवैवै	६२. २९.
पेव्यैवैवैवैवैवैवैवै	११०. ८.
पेव्यैवैवैवैवैवैवैवै	६९ १०
पेव्यैवैवैवैवैवैवैवै	१२२. २७
पेव्यैवैवैवैवैवैवैवै	६६. १४.
पेव्यैवैवैवैवैवैवैवै	८८ ९.

प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्त	९७. ६.	प्रमाण	१७. ३; १८. ८, १०; २५. २६
प्रत्यक्षान्वयिनी	९९ १५.	प्रमाण १	१३, १५, ३. ८, ११; ८. ९; १६ ४;
प्रत्यक्षाम	८ ८, २०		१७. १०; १८. १९; ३६. १६; ५८. ११,
प्रत्यक्षामाप्रसंग	५४. १०.		६९. ११, ७५. ३; ८३. २२; ९१. १०;
प्रत्यक्षी	५१. २४.		९२. १८, ९७. ४, १११८ १५, ३०, ९९ १५, २१;
प्रत्यक्षोत्तरगोचर	४६. १९; १०७ ९.		१००. ७; १०१. २०, २२; १०३ २६; १०५. १९;
प्रत्यक्षानवबोध	३५. २५.		११५. ९, १८; ११६. ७; १२७. २, ४, ५
प्रत्यक्षनिमित्त	१२४. १७.	प्रमाणतदाभास	१०. २६
प्रत्यक्षीकव्यवच्छेदप्रकार	८१. २.	प्रमाणता	२. ३
प्रत्याभिज्ञा ५९. १६, ७३. १९, २७; ८७. ४, ९९.	२०; १०१. १४.	प्रमाणनय	२२. ४
		प्रमाणनयनिकोप	१८. ६; १२६ २१
प्रत्यभिज्ञावि ५५ ७, ९२. १८, ९७. ४, ७; १०७. ७.		प्रमाणनयनिर्णयानुयोग	२६. ७
प्रत्यभिज्ञान ४७. १२; ६५. २७; ११०. २४;		प्रमाणनयप्रवेक्ष	१७. १७
	११८. २४, १२२. २२.	प्रमाणप्रमेयभेद	१२५ १.
प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमिति	३५. २४.	प्रमाणप्रमेयव्यवहारनिवृत्ति	१२५. १०.
प्रत्यय	५२ ३०	प्रमाणप्रमेयस्वरूप	२२. २१
प्रत्ययभेदिन्	११५. १.	प्रमाणप्रमेयैकान्तभेदपरिहार	१२६. ६.
प्रत्ययसकर	१०२. २०.	प्रमाणप्रवेक्ष	३. २०
प्रत्ययमर्था ५ २; ९९ २१, २६; १०८ २५, १२१ १.		प्रमाणफल	३. १९; ९३ १७.
प्रत्ययस्तिमित्ताशेषबोध	८२. १३.	प्रमाणफलव्यवस्था	३ ७
प्रत्ययस्तिमित्ताशेषद्रव्यपर्यायभेद	१२६. १०.	प्रमाणसाधनोपाय	७४. १८.
प्रत्याख्यायन	५४. ५.	प्रमाणसामग्रीविशेष	१२५ ७.
प्रत्यासत्ति	३. १७	प्रमाणसख्या	५. २५
प्रत्यासत्तिनिबन्धन	६८ ११.	प्रमाणान्तर	३ ९. ५ ७; १५. २७, ३३. २०;
प्रत्यासत्तिविप्रकर्षोत्तरतम्य	१२७. १५.		९३ २; ९९. १९; १०९. १४; ११८. ७;
प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविकल्पप्रत्यस्तमय	१२०. २८.		१२१. ३१; १२५. ७
प्रत्यासन्नाग्रहणप्रसंग	११८ १६.	प्रमाणान्तरगोचर	७२. २७, ७४. १८.
प्रत्यासन्नोत्तरार्थप्रत्यक्ष	८. २१.	प्रमाणान्तरप्रवर्तन	९८ ३०.
प्रतीप	१८. १३; १२० २३; १२३. २९.	प्रमाणान्तरसत्ति	८. १२; १०८. ९.
प्रदेशवत्	१०२. १९.	प्रमाणान्तरसम्बन्धवासभव	११६. ८.
प्रदेशादिव्यवाय	३५. २१.	प्रमाणान्तरानुभवनिर्णय	९८ २३.
प्रधान	१४ २८; ५९ २०.	प्रमाणान्तरापेक्षण	१०५. २०.
प्रधानपुरुष	१०३. ९; १०८ ३१.	प्रमाणान्तरावाहन	१४ २१.
प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवाद	१००. १२.	प्रमाणाम	९८ १०, १४.
प्रधानादि	१०९. १.	प्रमाणेतरता	७३ २३.
प्रधानादियोग	८९. २८	प्रमाणेतरभेदनिच्छता	१२३. १४
प्रपञ्च	७१ २०	प्रमाणेतरव्यवस्था	८ ११.
प्रबन्ध	८५. १०, ८७. १०.	प्रमातृ	१०३. २२
प्रभव	६. २१; ७४ १०; ८५. १०; १०४ २२	प्रमासत्त्वसतत्व	३७. २४
प्रभवनिमित्त	१२०. २८.	प्रमासत्त्वसतत्व	३७. २३.
प्रभवप्रभवस	१२१. १३.	प्रमाहेतु	७४. ४.
प्रभवविरोध	११०. १५	प्रमाहेतुत्वामासभेद	७४. ५.
प्रभवसमर्था सती	११२. ८.	प्रमित	६२ २८; ९३. ३.
प्रभवसाधुत्वप्रत्यासत्ति	१२०. १६.	प्रमेय	४. १, १९; १०. २५; ६९. ११, २४; १०२.
प्रभवसामान्यसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्ष	११४. २८		१०. १२, १८; १०३. १९, २१; ११५. १०.
प्रभवस्मृतिप्रत्यभिज्ञाविधियात्	१०४. ११.	प्रमेयधर्मता	१०३. २२; १२७. १७.
प्रभवाभावविरोधप्रसिद्धि	१०८. १९	प्रतीवादि	८९. २०.
प्रभु	३४. १६; ८४ ३०; १०७. १४	प्रत्यलभेद	११८ २३.
प्रभत्त	५२. १७.	प्रत्यलानन्तरीयक	१०५. २९.
प्रभा	३८. ३.	प्रवास	८६. २०.

निर्दिष्टय	१५. २०.
निवृत्ति	८९. ६; ११२. २२.
निवृत्तिप्रतिबन्धयो.	१०५. १०.
निष्पारि ७६	१८; १०७. २३; १०८. १; ११०.
	१६; ११५ १८; १२३. १२.
निश्चय	६ २८; ३९ २०; ७२ १९; ७५. ३.
निश्चयन	५६ १०.
निश्चयनय	२३. ७; ११
निश्चयपर्याय	२३. १०
निश्चयव्यवहार	२२. २७
निश्चयसमापविधात	१०८. १५.
निश्चयात्मक	२३. २६
निश्चयात्मन्	६ २७
निश्चयाग्नपरिकल्पना	७ १
निश्चितसन्दिग्धव्यभिचारिन्	१०९. १२.
निष्कल	९७. १५; १०२. २३; ११५. ३०;
	११५. २६; १२४. ३१.
निष्कारण	१२. १७
निष्क्रिय	१३. २३
निष्पन्न	११२ १.
निष्पर्याय	९४. ३; १००. २६.
निष्पत्त्यनीकत्व	११४. २.
निश्चय	११९. १२, २९; १२०. ५.
निष्ठासिद्धि	६२. २५; ८९. १०.
निष्ठासिद्धिसामाज्य	६२. २९.
निष्ठुक	१००. २०.
नीलादि	६८ १२.
नू	८८ २४.
नैगम	१३. ११, १२; १४ ७; २३. २१.
नैगम	२३. १८, २६; १२६. ८.
नैगमादि	१२६. १७.
नैगमादिप्रमेद	२२. २४
नैगमाभास	१३. ११, १४, २३. २४
नैरन्तर्य	६८. १७; १२३. १९.
नैरन्तर्याविवेक	१२३. १८.
नैरन्तर्यानुसन्धिन्	४२ २.
नैरात्म्यसिद्धि	१०८. २१.
नैष्किकत्व	९४. २.
नीत्यादि	४९. १८.
न्यक्षय	१६ १२, २१. २३
न्याय	२९. ११; ८१. ६; १०८. १९, २४.
न्यायकर्मवचन	१०. १८
न्यायकर्मवचनोदय	३. २०; ४. १९; ८. ३.
न्यायभाष्य	९३. २६.
न्यास	१८ ८; २५. २९; १२७ २.
न्यायधिकतया	३५ २०.
पञ्चधर्म	१०९. १३.
पञ्चविपक्ष	११०. ३१.
पट	२५. ३
पटीयस्	५०. १४.

पटीयसी	७७. २४.
पद	२२. १०; २६. १६; ९८. १४.
पदवाक्यान्तर	१२४. २१.
पदविभाग	१२४. २.
पदसाम्यान्याय	३०. १४.
पदार्थज्ञानभाग	३०. १४
पर्याय	१४. २८; १५. ८; २३. ८; २५. ७;
	१२४. २९; १२६. १२, १६.
पर्यायमेद	१५. १०; १६. २१; २४. २६.
पर्यायाधिक	१०. २६.
पर्यायानुक्रमस्थिति	११८. ७.
परचित्तविद्	१०९. २६
परचित्ताविपत्तिप्रत्यय	३९. ७.
परचित्ताभाव	६. ५.
परताः	६. २७; ३६. २२; १०८. १६; ११०. १५.
परतिरस्कार	११३. २२.
परत्रासामर्थ्य	१०४. २५.
परवर्ति	६९. १७.
परदुःख	८२. २२; १२०. १४.
परदुःखपरिज्ञान	७८. २२.
परानियमोपलब्धि	११४. १४.
परनिर्वाण	१२०. १२.
परनि. शैत्यस्	९३. १८.
परपरिकल्पितद्रव्यसङ्ग	४. १९
परपरिकल्पितप्रमाणास्तर्भावित्तराकरण	२१. ११.
परपरिकल्पितानुमानाविज्ञान	८. ३.
परप्रत्यायनोपाय	१११. २०.
परप्रतिद्वयमाण	११५. १७
परभागपरिच्छेदाभाव	१९. १९
परमप्रकर्ष	२६. २३.
परभाग्य	२१. १९
परमाणु	४१. २२; ४४. २४; ४८. १७; ७०. १६;
	७१. २०; १०५ ३.
परमाणुकमनिषेधक्षणपर्यायसमास	११८. १४.
परमाणुमात्रप्रचय	१००. २३.
परमायत	३. १६; ४७. १४.
परमार्थविषय	१५ २९
परमार्थवेदसकलध्यानास्पद	९४. ७.
परमार्थव्यावहारिकार्थ	२५. २८
परमार्थसम्बन्धप्रामाण्युपायकृत्	२५. ७
परमार्थसत्	४. ५; ६. ६, १३.
परमार्थविस्तार	४१. १५.
परमार्थसिद्धिन्	४. १६.
परमार्थकृतान्तर	१०६. २०.
परमार्थकृतान्तरपरिणामाविधातिन्	३०. २६.
परमार्थकल्प	४. १०
परमार्थकल्पविधि	३. ७.
परमैक्य	२५. ९
पररूप	११५. ८, १५.
परलोकादिक	११५. १८.

बुद्धि	४. २, १९ ६, ७; ५६ ३, ६४. ३०, १०० १५, १०३ १२; ११९ ६, १२० ५, १२५ २६
बुद्धिकाययो	६२ १२.
बुद्धिगोचर	४१ २४
बुद्धिनिर्वासक्षणभङ्ग	४८. २१
बुद्धिपूर्व	४३ १२.
बुद्धिप्रकर्ष	७८ २६
बुद्धिविस्तार	७८ ९.
बुद्धेरकारण विषय	१५ १३, २५. १
बाह्य	२६. १६
ब्रह्म वा द	१३. ५, ८, २४. २, ३.
ब्राह्मणत्वादिवत्	१२४ २७
ब्रीहि	२५ ४
भ ग व द क ल क	२२ २०.
भ ट्टा क ल क दे व	१७ १८
भट्टाकल्कविरचित	३ २०, ४ १९, ८ ३, १० १८
भट्टाकल्कशशाकानुस्मृतप्रवचनप्रवेश	२६ २६
भयादि	४३ १३
भरणी	१०० ५
भष	६२. १६, १८
भवद्भूनादिसिस्थिति	६०. २०
भविष्यत्तमवत्	२० ९
भविष्यत्यात्मा	१०४ २४
भविष्यविषय	५ २५
भव्य	२६ १४
भव्याम्बुबहुमानु	२९ ४
भाव ७० २६, ९८ १२, १०३ १९; ११२ ११	
भावकार्यकारणतागति	५४ ४.
भावधर्म	५३ १९
भावधर्मपरिसमाप्ति	११०. १७.
भावन	५३ १९
भावना	९७ १७; ९८ ७, ११२ १२
भावनपाटव	७८ २६
भावनिक्षेप	२६ ३
भावलक्षण	१०४. २४
भावलक्षणवैधुर्म	११५ १३
भावविनाश	६६ ५
भाववर्धित	३५ ५, ८८. ८
भावसाम्य	६१ १८
भावसिद्धि	१०९ २९
भावान्तरसमारोप	७२ ५
भावान्तरसमंभव	६६ १७
भावान्तरस्मरण	१२१ १.
भावान्तराविशेषिन्	१०७ २५
भावाभावात्मन्	६९ २१
भावाभावव्यवहार	२ १५
भाविताकारणोचर	७२ ५
भावेन्द्रिय	२ २३
भावेकत्वाबाधन	११ १२
भिक्षकालार्थ	१२. २४.

मिन्नजातीय	८४. २१.
मिन्नवैचार्य	१२ २३
मिन्नप्रतिभास	१५ २६, ४६ २४.
मिन्नविज्ञानग्रहणाविक्रया	६१ १६
मिन्नाकाप्रसंग	५७ २८
मिन्नार्थता	१६ २१
मिन्नाभिन्न	५५ १५.
भूत	६० १४; ६२ ८, १२१ १७, २७
भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभेद	१६ १४
भूतदोषोद्भावन	११४ १८
भूतविशेष	६० १९, २०
भूधरादि	४३ १२
भेद	१५ २; ४० १६, ४६ ११, ५४ २३; ५५ १०, ५८ २१, ६० २५; ६१ १६, ३२; १०९ ३, ४, ५, १२४ २१; १२५ १७; १२६ ७, १३, १८
भेदान्तर्रीयक	११० २५.
भेदनिर्भासविवेक	१०५. ३
भेदज्ञान	४५ ७
भेदपर्यन्तयोग	३६ २२.
भेदप्रतिक्षेप	१३ ८
भेदप्रतिषेध	९८ ५; १०५ ५
भेदरूप	५४. २३
भेदलक्षण	११० १५, २५
भेदवादिन्	२३ १५
भेदवेदन	२५ २०
भेदसाधन	९८. ४.
भेदसामर्थ्य	६८. ११
भेदसवृत्ति	५५ २८.
भेदसंहार	११४ ३.
भेदाज्ञान	११ १८
भेदानुपलक्षण	१४ २९
भेदाभेद	४४ ३०; ४६. २०; १०८ १६.
भेदाभेदव्यवस्था	४० ४
भेदाभेदव्यवस्थिति	७१ ४, ८० ६.
भेदाभेदसाधन	९८ ५.
भेदाभेदसिद्धि	१०३. ३
भेदाभेदात्मक	४. ११; १० २३.
भेदाभेदात्मन्	७१ ४.
भेदाभेदाभिसन्धि	१० २३.
भेदाभेदेकान्त	३ २४.
भेदाश्रय	१४ ५.
भेदिन्	५८. २८; ७३. २७; १०४. २०.
भेदेकान्तासिद्धि	१०८. २९.
भेदोपन्यास	२५. २८.
भोक्ता	२३ २२
भोक्तृत्वविरोध	११९ २
भोगजन्मन्	३१. १६.
भोग्यविरह	२६ ११
भ्रातृवत्	९८ ११.
भ्रान्त	३८. ९; ११५. २६.

पुस्तकविवृत	१९. २३; १००. ११.	प्रतिपक्षसम	७८. १२.
पुस्तक	८०. २.	प्रतिपक्षान्तरिनाय	८९. ८.
पूर्वपूर्वशी	६२ १६	प्रतिपक्षापेक्षी	११५ २६.
पूर्वपूर्वप्रमाणत्व	३ ६	प्रतिपक्षि	११ १०.
पूर्वपूर्वप्रमाणियम	११५. १५.	प्रतिपक्षतु	१०. २५; ११८. १०.
पूर्ववर्तितसमोप्यादिकथा	७६ ७.	प्रतिपक्षप्रामाण्य	१०२. ७; १३७. १८
पूर्वविरकोटि ६१ २; १९ ६, ११८ २८, १२३ २८		प्रतिपक्षनिर्णय	१००. ९.
पूर्वविरस्यभावपरिहारावधानान्तराद्यक	१०८. ३.	प्रतिपक्षनिर्णय f	१०५. १५.
	१२५. २३.	प्रतिपक्षवैकल्य	११६. १६.
पूर्वापरस्यभावपरिहारावधानितलक्षण	१०५. १३;	प्रतिपक्षन्यतरथा	५. २५
	११०. १९, ११६. १.	प्रतिपक्षिन्म	३२. २८.
पूर्वापररावधिपरिच्छिन्नसत्तासम्बन्ध	११२ १७	प्रतिपक्षिन्मोदक	३३.५; १२५ २५.
पूर्वापरराविरोध	१५. २१.	प्रतिपक्षिदि	११७. २७.
पूर्वापरराविरोधरूपसमाव	२५. ११	प्रतिपक्षिमास	५७. १५, २१.
पूर्वाभ्यस्तस्तरणामिनाभ्रमिन्	१०५. १०.	प्रतिपक्षिमासिद्	५८. ८
पूर्वात्तराविशेष	११२. १९	प्रतिपक्षिमासिमा	१५ १९; ३२ १०; ५५ १७, ५७. २३.
पृथक्त्व	२३. ८	प्रतिपक्षिमास्येद	३. १५, १७; ११ २६; १५ ५; १५ २०;
पृथक्त्वद्वि	५५ ९		५७.८; १०६ १३; १०५ ३०; १०६ २०; ११०.
पृथक्त्वमहाभाव	११५ ३०.		१८ ११८. ५; १२२. ३१
पृथक्त्वान	६७ २६.	प्रतिपक्षिमासिमास्येद	१०३ ३.
पृथिव्यादिमृतविलक्षण	२३. २२	प्रतिपक्षिमासि	५१. ३.
पृथिव्यादिमेद	२३. १२	प्रतिपक्षिमासिदिनेपतिव्यय	९. १.
पृथिव्य	८५. ५; ८५. १०.	प्रतिपक्षिमासिदिनेपतिव्यय	६६. २५.
पृथक्त्व	२६ १५	प्रतिपक्षिमासिदिनेपतिव्यय	८. २०.
प्रकृत्यसम	११५. १२.	प्रतिपक्षिमासिदिनेपतिव्यय	९. ५.
प्रकृत्यपुनःपुनःविशेष	११६. ३६.	प्रतिपक्षिमासिदिनेपतिव्यय	५२. २९.
प्रकृत्य	७२. २५.	प्रतिपक्षिमासिदिनेपतिव्यय	३७. १२.
प्रकृत्याभियम	३३ २८.	प्रत्यक्ष	१. १२; २९. १५; ३० १७; ३० ३५; १२७. ७
प्रकृत्याभियमाभाव	१२३. ३०.	प्रत्यक्ष	२. ५; ३ ७, ५ ८, ११. १८; १५. २०, २३;
प्रकृत्याभियम	१२. १८		२१. ५; २८. ५, ३२. २७, ५५ १७, ५७. ५५, ५८.
प्रकृत्याभियम	१०६ १५, १०७. ५		१७, ५५ २५; ५०. १५, १८, २३; ५२. १, ५२; ५२.
प्रकृत्याभियम	११३ २१.		५३, ५७ १०, ७१ १३; ७२ २७, ७५ ११, ८५. १३;
प्रकृत्याभियम	११३. १६.		९६. १९, १०३ २२; १०५. ८ १०६. १.
प्रकृत्याभियम	११५. १६.		१९. २०; १०७. १२; १०९. ९; ११५. २६.
प्रकृत्याभियम	६६. २०; १०२ ९.	प्रत्यक्षनिर्णय	१०१. १३.
प्रकृत्याभियम	८०. १७, ११३. ६.	प्रत्यक्षप्रतिपक्षवैकल्य	१००. ५.
प्रकृत्याभियम	११३. २.	प्रत्यक्षप्रतिपक्षवैकल्य	५५. १९.
प्रकृत्याभियम	१२५ १७	प्रत्यक्षवैकल्य	९ ५.
प्रकृत्याभियम	१११. ६.	प्रत्यक्षवैकल्य	२९. १५; ३१. १५; ५०. २०; ५१ २८.
प्रकृत्याभियम	३७. १, ७७. २५; ११९ २३	प्रत्यक्षवैकल्य	११५. ६.
प्रकृत्याभियम	६०. १९.	प्रत्यक्षवैकल्य	७५. २०.
प्रकृत्याभियम	७८ १	प्रत्यक्षवैकल्य	१. ९.
प्रकृत्याभियम	११. १५; १२. १२.	प्रत्यक्षवैकल्य	८२. २५; ९१. २३.
प्रकृत्याभियम	१५. ५, २१. २३.	प्रत्यक्षवैकल्य	७ १५.
प्रकृत्याभियम	१२५ १.	प्रत्यक्षवैकल्य	१२७. १२.
प्रकृत्याभियम	१०७ २.	प्रत्यक्षवैकल्य	५५. २५.
प्रकृत्याभियम	११३. २७.	प्रत्यक्षवैकल्य	१५. २५
प्रकृत्याभियम	१११ २३	प्रत्यक्षवैकल्य	७५. ११, ७५. १७; १००. ५.
प्रकृत्याभियम	११५. २५.	प्रत्यक्षवैकल्य	६. २१; १२. ७.
प्रकृत्याभियम	१२३. ३०; १२४ १७.	प्रत्यक्षवैकल्य	१२. १९.

यस्मिन् सत्येव यद्भाव	१२. ८
यावज्ज्येयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुष-	
परिस्परिज्ञान	२. १०.
युक्तायुक्तपरीक्षणक्रमधी	१४ ६.
युगपत्क्रमभावि	४५. १६, ११८ ३०.
युगपद्भावविन्	१०५. १३; ११९. २४.
युगपद्भिन्नदेशोपलब्ध	११८. २४
युगपद्भिन्नरूप	८७. ४.
योगिना गति	४०. ३०.
योगिनिज्ञान	५१ २९
योग्यतापेक्षानादिसङ्केत	२१. २२.
योग्यतालक्षण	२. २४; ११९. २२
योग्यपक्ष	११०. २३.
रक्त	६७. २, १०२. २६, २८
रथ्यापुरुष	२. १२.
रसविशेष	६४ ३.
रसवीर्यविपाकादि	१२४ १८
रसादि	४४ ३०.
रागादि	६४. १५; ८९ १.
रागादिप्रतिपक्ष	११६. १६
रागादिसंबन्धताभावसाधनसामर्थ्यवैधुर्य	१०४. १७.
रागादिसाधन	७७. २.
रागद्वेष	८८ २५
राजकुलवत्	११४. १७
रिक्ता वाचोयुक्ति	१६ १७.
रूप	६८ २५
रूपज्ञान	११८ १.
रूपदर्शन	२०. १.
रूपभेद	६१. १४.
रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्व	२३. १२.
रूपादि	४४. ७, ६८. २७.
रूपादिदर्शनाभाव	६४ १२.
रूपादिक्षणक्षयादिरूपप्रतिभास	३. १२.
रूपादिमत्त्व	२३. १३.
रूपादिविवर्त	१०९ २२.
रूपादिविधेवाभाव	१०५ ८.
रूपेत्	१०४. ३०.
लक्षण	१२. ३, ५१ २०; ५२. १०, ६७ १०, ९९ ११.
लक्षणतया	४ ४.
लक्षणविज्ञान	१०५. १९.
लक्षणसंख्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिक्षे-	
पस्वरूपरूपक	२६ २२.
लवि.	२. २३
लब्ध्युपयोग	२. २२.
लताचूटादि	१०. १२.
लाभपूजाख्यातिहेतु	११५. २०.
लिंग	२५. ७.
लिंग	५. ६ १०, १४; ७. ८; १०४. १०.
लिंगप्रतिपत्ति	५ १२.
लिंगभेद	१५. १०.

लिंगलिङ्गिन्	५४. २०.
लिंगव्यवस्था	१६ १९.
लिंगसावतयोः	७५. ५.
लिंगादिभेद	१२६. १५
लिंगि	५. १०
लिंगिधी	५ १५.
लिंगिलक्षण	१०६. ६.
लिप्यादिवत्	१२३. २२.
लैंगिक	७४. २६, १००. ३०.
लोक	२२ १९; ६३. २४; १०४. २६; १२३. १.
लोकचसुध	४०. ४.
लोकवृद्ध्या	६३. १२
लोकविस्वादादशास्त्रागमनिकायादि	१०५. १९.
लोकव्यवस्थिति	५५. ७.
लोकव्यवहार	१४. १२; ८७. १८
लोकानुरोध	५२. १५.
लोकालोककलावलोकनवलप्रज्ञ	२६. ७.
लोकालोककलावलोकनवलप्रज्ञागुणोद्भूति	४५. ८
लोकोत्तर	२१ ८; ४३. ३०.
लौकिक	६ ३; १०३. २५.
वक्षता	७७. १५, २२; १०१. ८.
वक्तुरकौशल	५३ २३, ५७ १०,
वक्तुरभिप्रेत	१०. ४.
वक्तृत्व	१०९ १३.
वक्त्रभिप्राय	९ १४, २४, २२ १४.
वक्त्रभिप्रायानुविधायिनी	१०. ९.
वक्त्रभिप्रेतयात्र	२२ १३
वचन	२२. १३; ८१ ३; १०४. २६
वचनपुरुषत्वानुपलब्धि	१०४. १६.
वचनसंबन्धकार्यकारणमूत	७८. ७
वचनहेतु	७७ २४
वचनादि	७६. ३१; १०१ २.
वर्ण	२२, १०.
वर्णपदवाच्य	२२ १४; ८७ ९.
वर्णपदवाच्यव्युत्पादकसास्त्र	२५. ११.
वर्णपदवाक्याख्या	८८ २
वर्णपदवाक्यानुपूर्वी	१०१. ११; ११५. २०;
	१२४. ३; १२५ ११.
वर्णपदवाक्यानुपूर्वीसंहारातिशय	११८ १३.
वर्णपदसारूप्य	१२४. २१.
वर्णव्यतिरेकवत्	१२५. २८.
वर्णसंस्थानादिमत्त्व	९७ १८.
वर्णानुपूर्वीभेद	१२६. २.
वर्णव्ययानुस्मरणविकल्प	१२५ ११.
'वर्तते' कृति	१००. २७.
वर्तनालक्षण	१६ १४, २५. ६.
वस्तु	५४. १२.
वस्तुतत्त्व	४. १७; १०. २५, १६. ७; ८० २३
वस्तुवर्ग	७६. २८.
वस्तुवलायाततदवर्णान्तर	२. ३.

प्रयोगविरह	१० १४
प्रयोजक	२२. २.
प्रयोजन	८९ १३.
प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियममध्यतिरेक	१२३. ४
प्रत्यय	८६. ६, ९८. २७, ११३. १.
प्रवक्तु	४२. १४, ९०. २१, ६१. १६.
प्रवचन	२६ १८; ८१. २७; ९८. २५; ११६. ६, १५
प्रवचनेतरत्वसञ्चयुक्ति	११७. १९.
प्रवाह	४०. २४
प्रवृत्ति	१५ २७, ९९. १८.
प्रवृद्धाभिव्यक्त्यात्मकसम्यग्दर्शन	२६. ८.
प्रसिद्धप्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तिविप्रकर्ष	११२ २६.
प्रसिद्धसन्धानसामग्रीप्रभवतया	११६ ८
प्रसिद्धाहिसानूतस्तेयात्रह्यपरिग्रहस्त्वविपलागुणोत्कर्ष	११६ २४
प्रसिद्धार्थसाधर्म्य	७. ६, ८, १०.
प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धकपूर्ति	२९. ३.
प्रसिद्धि	२२. ११.
प्रसूते स्वान् पर्यायान्	१६. १८.
प्रस्तुतानुपयोगिन्	५१ २०
प्रस्तुतार्थव्याकरण	२६. ४.
प्रस्तुतानुपयोगप्रलाप	११४. १९.
प्रस्तुताप्रसिद्धि	२२ ६.
प्रसूक्त	३५ २०.
प्राकृतप्रज्ञाविगाहार्थदिग्भूढ	११६ २२.
प्राकृतलक्षण	११६. ३
प्रायत्नव्यवसाय	१९ ८.
प्रागभावप्रच्यसागव	१५. २१.
प्रागव्यय	१३ २५.
प्राग्भिशानोत्पत्ति	१९ १०
प्राङ् नामयोजन	४. २४.
प्राणादि	१२१. ३०.
प्राणादिपरिणामविशेष	१२७. १०.
प्राणादिमत्त्व	१०४ ७, १०८ १८, २१.
प्रातिपदिकार्थ	२२ ६.
प्रादुर्भावात्पयी	४५. ७.
प्रादेशिकप्रत्यय	२१. ६.
प्राधान्य	२४. १५
प्राधान्य	१ १४; २. २; ३. १०, १२; १४. १, ४, १८ १०, २०. २४; ४६ १९; ५२ २८, ५४. ९, ८१ १२, ८३. २५, २९; ८७. १४; ९१. २३; ९७. ९; ९९ २०; १२७ २२.
प्रेक्षाकारी	८८ २२; १२२. ७.
प्रेक्षापूर्वकारिन्	१०५. ९.
प्रेक्षावान्	१७ १५
प्रेत्यभावतत्त्व	११५. २८.
प्रेक्षित	५१. १०.
फल	३. ६, १२, ५. १; ५२. १६; ९८ ९, १२, २३; ९९ २०, २१
फलदायिन्	८९. ६.

फलवान्	२६. ४.
फलवेदक	६० ३.
फलहेतुव्यपोह	६५. ४.
फलात्मन्	६६. २, ११; ७० २६
फलाभाव	५८ २२, ६९ ९; १२४. १२.
फलीभाव	६६ ६.
फलोदय	७६ २४.
वदरादिवत्	६७. २३.
वग्ध	११९ २०.
वग्ध	८८. २०; १२२ ६.
वलीयस्	६२. ३०; १०७. ४.
वह्निगंत	६६ २७
वह्निरणव	२४. १०.
वह्निरर्थ	१४. १८; ३०. १८, ५३. २६.
वह्निरर्थप्रतिपत्तिहेतुगोपलब्धि	१६. ८.
वह्निरर्थविलम्बितावगुण्यवचसा	२४. १२.
वह्निरर्थविलम्बितचय	९ २८.
वह्निरर्थत्वम्	३९ १६.
वह्निरर्थविलम्बन	१०६. २२.
वह्निरर्थविसवादा	१० ९.
वह्निरन्त	३ २३, ६ १८, २६, ११. १८; ४७ ४, ६२ २५, ७० १०, १६, ७३. ११, ६०, १०५ ३; ११५. ११
वह्निरन्तर्भूतप्रतिभासविज्ञानकतानिवृत्ति	११२. २९.
वह्निरय	११०. १२; १२० २६,
वह्निरसाकल्प	१०७. ३.
वह्नि परमाणु	१५. १.
वह्निरर्थनादनन	१०६ ६.
वह्निरर्थभावप्रवाद	५२. १४.
बहुवह्निविधिसिद्धानिसूतानुक्तध्रुवेतरविकल्प	३. १४.
बहुभेद	४६. ११; ५९. २, ९३. ३.
बहुभेदासभव	११७ २२.
बहुविस्मय	३७. २
बह्वाक्षयग्रहाद्यष्टनत्वारिद्यत्	३ ५.
बाधक	२. १४.
बाधकाभावेतर	२. १५.
बाधकासिद्धि	३९ २०.
बाधा	८३. ६.
बाधारहित	२०. १०.
बाधारहिताभ्यवन्धिज्ञानन्तातीन्द्रियमुक्त	२६. १४.
बाल	२९ ९.
बालबुद्धवत्	१०४. २३
बालादिवत्	१२१. १; १२७ ६.
बालिशगीत	१९. २७.
बाह्यार्थ	१०३. १६.
बाह्यतरपक्ष	१०९. २९.
विद्वन्मिथ	७६. १०.
बीजपादपवत्	११९. २१.
बुध	२६. १९; ३७ १९; ८१. १५, १२७. २४
दुष्ट	१. ७; ४२. १६.

विपरीतग्रहक्षय	८८. २८.
विपरीतप्रतिपत्तिसद्भाव	२० ३
विप्रकर्ष	५४ ७
विप्रकृष्ट	८४. १३; १०८. २४; ११६. १५
विप्रकृष्टार्थविवक्षाविशेषसम्बन्धामिद्वि	१२४ १६
विप्रकृष्टार्थान्तरवत्	१२ ७
विप्रतिपत्ति ५१. १९; ५३ ८; १०१ २३, १०२. ७	
विप्रतिपत्तिवर्षन	९८ २८.
विप्रतिभास	११५ २; १२४ २२
विप्रलम्ब	४१. १७
विप्रलम्बनशाकिन्	८३. २४; ११६. २६
विप्रलम्बिन्	११६. १७
विप्रलम्बभव	९८. १६; १०३. १६
विप्लुत	९८. ७
विप्लुताक्ष	४१ ५.
विप्लुताक्षमनस्कारविषय	३६ २
विप्लुताक्षा बुद्धि	३६ १०.
विद्वेषाण	८०. १८, ११३. ७
विभ्रम ३४. १५; ३७. ६; १०३. १६; १०६ २५, २८; १०७ १, १३; १०९. २७; ११७ २३, १२०. १४, ३१; १२२. २०; १२५ १४	
विभ्रमकल्पना	१०४. २१, ११२ २७, ११७. ३१
विभ्रमविच्छेद	१०६ २६
विभ्रमविवेकान्तरीयक	१११ २
विभ्रमविवेकविकल	१२५ ११.
विभ्रमसूत्र्यप्रतिपत्तिविप्रतिपेक्ष	१०० २९
विभ्रमसिद्धि	१०३. १६.
विभ्रमसत्त्वेष	१०६ २४
विभ्रमहेतु	५७ १४
विभ्रमेतरविवेक	१२३ १४
विभ्रमोपलम्भ	१०६ १७
विभ्रान्त	४९ १८
विमत्सर	४९ २८
विमर्श	१०० ३.
विमुक्त	२५ २५
विमुखज्ञा	३२. ६
विरतविग्रहसम्बन्ध	११९ १५
विरुद्ध ४६. २८; ६२. १८, ७६ २९; ७७ ११; १००. ११; १०७ २१, १०८ १८ २४, ३०, १०९. १, ११० २७, २९; १११ ४, ५, ८; ११४ १४, २१, २८, १२१ ३१	
विरुद्धकार्य	७७ ७
विरुद्धवर्माध्यास ४६ २८, ४८ १४, ११० १४; ११२ १०, २८	
विरुद्धपरिणामिन्	४७ २२
विरुद्धव्याप्तिसिद्धि	७७ ८
विरुद्धहेत्वाभास	१०७ २३
विरुद्धादि	५३. ५, १११ २
विरुद्धाव्यभिचारिन् ११० ११, १११ ५, १११, १२७. १७	
विरुद्धासिद्धसन्दिग्ध	६६ २३; ७९ ३

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वय	४१. १०.
विरोध ३९ २६; ५२. २२; ५७. २८; ६९ २८, ७० २२; ७२ २४, ७६ १४; १०३. २४; ११३ २६	
विरोधपरिहार	१०३ १७.
विरोधानुपलम्भ	६८ १
विरोधिप्रत्ययविहितविशेषलक्षण	११२ २२
विलक्षणाार्थविक्षान	४८ ९
विवक्षा २३ २१, २६, ७७ २१, २७, ९० २९; १०१ ४, १२; १२४ १९.	
विवक्षानिरपेक्ष	७७ २५.
विवक्षाव्यतिरेकत्ववस्तु १५ १२, २४ २८, २५ ५	
विवक्षाव्यतिरेक	१६ ७
विवक्षाऽव्यभिचार	५८ ६
विवर्त	१०० ११.
विवर्तशक्तिविरहिन्	१२० २६
विवाद	१८ १८; १००. १२
विवादवृत्ति	१०६ २
विविधवर्माध्यासविकल्पविषयताविरोध	१२३. १
विविधानुविधान	९८ २
विवेककल्पनाविवेक	११२ ३०
विवेचक	१०६ ९.
विवृद्धाभिनिवेशन	२५ २३
विशद	१ १२, ९७ ३, ५
विशदनिर्भासिन्	२ ४
विशदायविभासन	८ १६
विशदेतरविकल्प	८ २१
विशेष ४५ २२, ४८ १७; ४९. ५, ५४ २४; ९९ ११	
विशेषाणविशेष्यधी	५९ ७
विशेषणविशेष्यभाक्	३० १९
विशेषप्रत्यस्तमय	१०२ २०
विशेषप्रतिभासन	२ ६
विशेषाकाङ्क्षा	२ २०
विशेषाकार	५६ १७
विशेषाधान	११०. ८
विशेषाविशेष्यपोह	११७ ९
विश्लेष	५४ २७
विश्व	१०२ १६; ११२ ६
विश्वरूप	६७ ७
विश्वलोकाधिकज्ञान	८३ २४.
विष	३९ ८; ७२. १
विषान	३९ १५
विषम	५० १०
विषमोऽयमुपन्यास	१८ ११, ३५ ७
विषय	२ २१
विषयज्ञानवत्	११७ १४.
विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेष	३४ १९
विषयद्वैविध्य	१०३ २३
विषयभेदैकान्त	८ २१
विषयनिषमिसिपातानन्तर २ २१, १००. ९	
विषयसन्निधानाहितविशेषविज्ञानवत्	११२ २१.

अन्तःज्ञान	११. २०
अन्ति ११.२१, १५ २६; ३५ ६, १२; ३६ २८, ३८ ४, ६, ३९ २१; ४०. १३, ४२ ९, ५३. १५, ५४ ९, १०२ २, ६	
अन्तिकारण	५७. ११; ९७ १४; १०१ ३.
मणि	३८ ४; ८४. २३
मणिअन्ति	३८ ४.
मय्यादिसामग्रीप्रभव	१०. १३
मति	४ २३; २२ २८.
मतिज्ञान	२. २८
मतिपूर्वक	७४ ३०
मतिभेद	२२ २८
मतिमान्	१०१. १५
मतिलक्षणमग्रह	६३ १२
मतिविकल्प	१२५ १९
मतिविभ्रम	१००. १
मतिश्रुत ९८ २०; १०६ २०; ११७. १५; ११८ ४; १२२. २१; १२६ १८.	
मतिश्रुतावधिमान पर्ययकेवन्तानि	१२७. ४
मयजानादि	१२७ ५
मदिरादिवत्	११९ १९.
मवत्	५१ २
मनोमति	२३ १.
मन्नादि	११९ १९
मन्द	७३. ९
मन्दबुद्धि	२२ १८, ७७. २२; १०१. ८
मयूरवत्	४६ १४; १०७. १८.
मलक्षय	७८ २६
मलविद्धमणिव्यक्त	१९. २४
महात्मन्	२६ २१
म हा वी र	१८. ५
महीयत्	५२ ११; ९९ १२.
मार्ग	८८. १८.
मार्गप्रतिपत्तिनिक्षिपेतरवस्तुस्वभाव	१२७ १४.
माश	६८ ४
माशान् रोष	६८ १८
मानाभेद	१०२ २८
मानस ५० २३, ९८. १०, १६, १७, १२० १७.	
मानान्तरसिद्धि	१०९ १०.
मानामास	९८ २२, २३
माया	१४. १०.
मिथ्याकारैलक्षण	४८. ११
मिथ्याज्ञान	८९. १७, २९
मिथ्यात्व	९३ २४.
मिथ्यार्थप्रतिभासिन्	५८. १५.
मिथ्यार्थसग्रह	१२६ ९
मिथ्यादुष्टि	११५. ५.
मिथ्याप्रत्ययमर्श	४७. १४
मिथ्याभयानकप्रस्त	४८ ५.
मिथ्याविकल्पक	३१. ९; ११७. २२

मिथ्याविकल्पज्ञानभावनापरिपाक	८२. २७.
मिथ्याविकल्पात्मक	१. ८.
मिथ्याविकल्पौष	४३. १५.
मिथ्याव्यवहार	४. ६.
मिथ्याव्यवहारभेद	४ १०
मिथ्येतरात्मक	४ १४.
मिथ्यैकान्त	१४. २, १४४ २३.
मिथ्यैकान्तकल्पकित	८१. १९.
मिथ्यैकान्तपरिग्रह	११०. २६.
मिथ्यैकान्तप्रलापिन्	११६ २२.
मिथ्यैकान्तप्रवाद	९१. ६.
मिथ्यैकान्ताविशेष	१४. ६.
मिथ्यैस्तर	७९ २७, ८० १४; ११३. २३.
मिथ्योह	१०१. ५.
मुक्तादिविशेष	११५ २
मुख्य (प्रत्यक्ष)	२ ८.
मुख्य	२०. २४, २६, २१ १; ७५ ३.
मुख्यसव्यवहार	१ १२.
मुनि	८८ २६.
मुमुक्षु	२० ३.
मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण	२६ २४
मुञ्छतादि	४०. ०; १०७ ३.
मूर्त्त	२० १०, ११९. २२.
मूर्त्तत्व	२३ १३.
मूर्त्तप्रतिबिम्बमत्	२०. ११.
मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बवारिन्	२२ १०.
मूर्त्तिभर्माभाव	२०. १०.
मूर्त्तिमत्	१२७. ११.
मूलनय	२३ २
मृग	४८ ५, ८०. ४, ५.
मृत्पिण्ड	२७ ३.
मैत्रकादिवत्	५९ २; १०३ ६; ११४. ७
मैत्र्यादिप्रतिरोध	८९. १७
मोक्ष	८३ १४, ८९ २५, ११९ १२
मोक्षज्ञान	८८ २६.
मोह	३५ १७, ३९. १९; ७३. ११
मोहादिमूर्त्तानुप्रवेण	११९. १९.
मोहादिसम्बन्धान्मयव्यतिरेकानुविधायिन्	१२०. २.
म्लेच्छादिव्यवहार	४६ १
यत्न	८५. २६
यथागम	१८. ६
यथार्थ	३४ १६; १०७ १८.
यथार्थदर्शन	९८ १५
यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्य	११७. १९
यथार्थदर्शनादिसाकन्तव्यकल्पप्रतिदन्ध	११६ ३०.
यथार्थनिर्णयसाधन	२. १.
यथार्थभाषयतजल्पव्यवसायशूद्र-यथाहिका	१२४ ११.
यथावस्तुवलागम	५३. १५
यदुच्छ्रया	६४. ४.
यमलकवत्	९१ २५

व्यावृत्तिमात्रक	५७. ६; १०९ २८.
व्यावृत्तिस्वभाव	१२३. १९
व्यावृत्त्यनुगमात्मक	१२१ १९
व्योमादिवत्	१२१ २९.
व्योमादिविशेषसम्बन्धवत्	१२४. १७
शकट	५ २३; १०४. ५.
शकटादिज्ञान	९. २२.
शकटोदय	२५ २.
शक्ति	१६ १५, १७, ४९ ५; ७०. १९.
शक्तिप्रतिभासादिभेद	१२३. १९.
शक्तिभेद	६०. १८.
शक्तिमत्	१६ १५, १७.
शक्तिविचित्रता	११२. ९
शक्तिसकर	१०३ ७, ९
शक्य	५३. २, १०२ १, ३
शक्यपरीक्षण	१७ १४, ८१ १८.
शक्र	१५ १०, १६ २०, २४ २६
शबलाकारज्ञानाभाव	११४ ६
शब्द (नय)	१५ ७, ११, २४ २५, १२६ १५
शब्द	३१. २२, ५६ २६, ५८ ४, २८; ५९ ८, १२, ७० २; ७९. १६, १७; ८६ २०, २४; ८७ २८, ९८ २८, १०४. ६; १०७ २४; १०९. १७, २१; ११५. ३०, १२४. २०, १२५ १९.
शब्दषट्पाठ्याख्य	८७ ७
शब्दज्ञान	१५ १२, १६ ४, २४. २८, २५ ५
शब्दधारा	११८ १४.
शब्दनय	२४ २४
शब्दनाशित्वसत्त्व	७९ ११
शब्दपर्याय	१०९ २२; १२३ २६, २७; १२४ १
शब्दपरिणाम	१०४ १३
शब्दप्रतिपत्ति	१५ २८
शब्दबुद्धि	६९. २२; १२२ २६
शब्दभाग	८८ ४
शब्दमात्र	८३ १५; ८९. २६
शब्दयोजन	५ ३
शब्दलिङ्ग	५५. २२
शब्दविनाशादि	११०. ७
शब्दवृत्ति	५६ २१, ११७ १
शब्दव्यवहारबाहुल्याभाव	२२ २१.
शब्दार्थ	१५ २८; १२४ १५
शब्दार्थग्रहण	१२२. २२
शब्दार्थज्ञान	१५ ३०
शब्दार्थतत्त्वज्ञ	९० १५
शब्दार्थदृष्टि	५८ १०.
शब्दार्थप्रत्यय	१६ १९
शब्दार्थविकल्प	८७ १९
शब्दार्थसंकेत	११७ १६
शब्दार्थसम्बन्ध	८७. २७; ११७ ४; १२४ ७.
शब्दादि	४७ २२, १०८. ३०; १२१. ५, १२७. ४

शब्दादिपरिणाम	७९. १७.
शब्दाद्ययोगविच्छेद	७५. ९.
शब्दानित्यत्वसाधन	७८ ३०.
शब्दानुयोजन	४ २४.
शब्दान्तर	१२४ २०.
शब्दोत्पत्तिविनाश	७९. २१.
शरण	१७ १५.
शरीरग्रहण	६१. ३.
शरीरस्थितिहेतुत्व	१०१. १०, १०५ १२
शरीरादिक रक्ष.	११; १०१. ९; १०४. ३; १२१. २८.
शरीरादिपरिणामोपयोगसाधन	११९. १
शरीरावयवभेद	१२४. १८.
शरीरावयवसम्पत्तिनी	११८. १४.
शशविषाण	१०९ २९.
शङ्कुलीभक्षणानि	५१. २.
शाखा	१४ ११, ४३ २९, ४४. ३, १०३. २५.
शान्ति	९४. ४.
शा व र	९३ २५.
शाबलेयादिभेदानन्वय	१२४. ५.
शाबलेयादिवत्	१२४. १.
शान्द	११७ १८.
शास्वत	९४. ७; १११. १५, १७.
शासन	९७. २; ११६. ७.
शास्त्र	७७. २२; ८०. १४; ८१. १८; ८२ ९; ८६. १५; ९२. ४, १४; १०१. ८; ११५ २६; ११६. २९; ११७. २; १२२. १३.
शास्त्रकार	८२. ९; ११६. २९.
शास्त्रगम्य	८१. १२; ११७. २२.
शास्त्रज्ञान	८५. २८.
शास्त्रप्रवर्तन	८६ १३
शास्त्रालिङ्ग	१०९ ८.
शास्त्रवस्तुत्वाभाव	२२. १८.
शास्त्रार्थज्ञानसवाव	९८ २४
शास्त्रार्थसंग्रह	९७ ८,
शास्त्रानुमानवत्	१०२ २६.
शिर पाण्यादिमत्त्वाद्या	७७ ८
शिलाप्लव	३६ ७; ७३ २७.
शिक्षापा	१० ११, १२.
शुक्त्यादि	९८. १५.
शुद्ध	१४ ३; ४२ १४.
शुद्धद्रव्य	११. १०.
शुद्धाशुद्धद्रव्यपर्यायपरिग्रहविभाग	१२३ १९.
शून्य	२ १०, १४ १८; ४२. ६; १०३ २९.
शून्यताप्रतिपत्ति	१०३. १८.
शून्यसमृत्तिविज्ञानकथानिष्कलवर्षान	११५. २२.
शुक्ल	१४. ११.
शेषपरावृत्ति	४५. २७.
शेषप्रलाप	१४. २६.
शेषवद्देशु	७६ ५
शेषविज्ञान	१. १३.

वस्तुभेद	१२६ १५.
वस्तुभाषोपग्रह	१०७-१
वस्तुविकल्प	११५. ९
वस्तुसिद्धि	८७. १४.
वस्तुत्वभावभेदक	२५. ८.
वस्तुनुरोध	५४ १३
वाक् १०. ४ ७, ७७ ७; ८७. १४, ८८. १२.	
वाक्य	२२. १०.
वागर्थज्ञान	१६ ६, ७
वागर्थदृष्टिभाग	५८ १८.
वागर्थव्यभिचारैकान्त	१०. १.
वाग्दोष	११४. १९
वाग्बुद्धि	२२ १७, ७७. २१; १०१. ७.
वाग्बुद्धेराद्रेक	७८. ८.
वाचक	२२. १४, १७; २५. २८, ८७. २८.
वाचोवृत्ति	८१ ९; ९० ६, १०१ ४, ११५ ७.
वाच्यवाचकलक्षणसम्बन्ध	१६ ८.
वाच्यवाचकव्यावृत्ति	१२४. ५.
वाह	८१, ३, १११ १५, १७
वाह	१०९. २, ९
वाही	८०. २३.
वासनानियम	११९ २४
वासनाभेद	४३ ५.
विकल्पसंख्या	२१ १५.
विकल्प ७ २४, ३१ १७; ३८ १८, २२; ४२. २,	
४७. ३०, ६३ २३, ७४. ११; ११२ १२	
विकल्पना	३९ १२
विकल्पान्तर्रीयक	९८ ३
विकल्पलक्षण	११३. ३
विकल्पसंहार	९८ ७.
विकल्पाविकल्पात्मा	६ २६.
विकल्पोत्पत्त्यभाव	२०. २८.
विकार	६३ १०; ८८. २; १२१ ११.
विकारिन्	११९ ६
विकृति	६२ २८
विक्रिया	४. ९
विक्रियाविरोध	१०८ ५
विषय	८४ २७
विग्रहव्यापिन्	१०४ १७, ११९ ३
विग्रहव्याप्तिविरोध	१०४. ११.
विचार	७५ २१; १०५ २२; १०६ ७.
विचित्र	१०५ १२.
विचित्रग्रहण	३०. १९.
विचित्रता	७२ २३.
विचित्राभिसन्धि	११६. २६; ११८ १०
विचित्रावयवात्मक	१०२ २७
विच्छिन्नप्रतिभासिनी	४३ ८
विच्छेद	५१ २७, ८३ ६.
विजातीय	१० ८
विजातीयव्यवच्छेदनिबन्धन	१२४ २९

विजिगीषु	८१. ६.
विज्ञप्ति	४०. ६.
विज्ञप्तिमात्र १४. १८, २३; ५२ १४; १०० २८; ११० १.	
विज्ञान १५ १४, २५ १; ८४ १३; १०३. ११.	
विज्ञानगुणदोष	१०१. ७.
विज्ञानप्रतिभास	४८ १३.
विज्ञानविक्रिया	६३. १७.
विज्ञानविशेषानुपत्ति	९८. २९.
विज्ञानव्यक्तिसम्बन्धाया	४४. ३०.
विज्ञानसन्तानभेदवाद	११०. २.
विज्ञानसंशय	९८. ६.
विज्ञानानसतत्व	६ १३.
विज्ञानाद्य	४६. २.
विज्ञानोपत्ति	१९. ९.
विज्ञेय	१०३ १०.
वितण्डालप्रतिस्कार	११५ ४
वितण्डादि	८१. ८.
वितथ	२५ ११; ५८ २५.
वितथज्ञानसन्तानविशेष	३६ १७; १०३ २७.
वितथनिर्भासाविशेष	१०३. १४.
वितथप्रतिभास	३७ १५, १६.
वितथप्रतिभासिनी	३६. १०.
वितथाकारा	४०. ६.
वितथार्थत्व	५०. १८.
वितथैतरविज्ञान	७३. २३
वित्तिसत्ता	३३. ३.
वित् १८. २४; ८३. ६; १०९. २४, २५.	
विद्वेषक	८०. २.
विद्या	३४ १५; १०७ १३.
विद्युदादि	८७. ३.
विद्वेष्टा	४१. १६
विद्वेष	९१ ६; १०७. १३.
विद्यानप्रतिषेध	५२ २२; ७५ १७, १०१. २०.
विधि	२२ ५.
विधिनियेवानुवादनिदेगादिवानय	२२ ५.
विधिप्रतिषेध	१६ २३; ९०. ३.
विनञ्जरविकल्पविषय	१२०. ३०.
दिनाद्य	६५. १६.
दिनाद्यानुपलक्षण	६५ २.
दिनिपातित	३३. १७
दिनियततदतत्प्राणामसतत्व-	
विवर्तप्रत्यविकार	९९. २४.
विनिश्चय	२ २०
विपल	४ ६; ८९. ५; १११. ९.
विप्लानप्रतिभास	१०८ १०.
विपर्यय	३० ८; ८३. ३.
विपर्यस्त	८०. २४
विपर्यय ३९ २१, १०० १, ४; १११. १; ११६ २१.	
विपर्ययानिवृत्ति	११०. ९.
विपरीत	३५. २०, ८० १८, ११३ ७

सत्यज्ञान	१८ २८
सत्यतप प्रभाव रहित	११६. २३
सत्यपदविद्या	२४ २४
सत्यस्वप्नवत	९९ ३
सत्याकारावबोध	५८ १९.
सत्यार्थप्रत्ययान्वित	५८ ४
सत्यानुतव्यवस्था	२२ २०
सत्यानुतव्यवस्थान्याथानुपपत्ति	२२ १५
सत्यानुत्तार्यताऽभेद	५८ ६; ११७. १८
सत्यालोकप्रतीत	४१ २८
सत्यैतरव्यवस्था	९ २९
सत्यैतरस्वरूप	१४ ५
सत्यप्रयोगजत्व	७७. ११
सदर्थनियत	९८. ९, ११
सदर्थान्तराणि	१३ २१
सदनेकात्	१०६. १२.
सदभेद	२४ १
सदविशेष	११ १२, २४ ३
सदभ्रजानसद्व	६९ १९
सदसज्जानसवावद्विषवादविवेक	३०. ३
सदसत्त्व	३५ ७, ४२ ८, १०९ २९, ११० १५; ११२. २२
सदसत्प्रमाण प्रमर्षकान्तात्मन्	१०२ ७
सदसत्प्राप्तित्यागेतरविकल्पविशेष	१२३ १४
सदसत्स्वार्थनिर्भास	११ २४
सदसदभिलापतल्लोगविकल्पविधान	१२३. ५
सदसदात्मक	४ १५, १६
सदसदेकान्त	१०२. ५
सदसद्भावविरोधप्रभव -	५४. ८
सदसद्भावात्मन्	२६ २
सदसद्विषयविवेकिन्	१२३. २५
सदसद्वधवहार	१०५ २३.
सद्वृत्तकेवलज्ञान	९१ २७.
सद्वृत्तिप्रतिषेध	१०५ १६.
सद्व्यवहारलक्षण	१०३ २३
सदात्मक	६२ २४
सदात्मन्	११ १८, १३. ४, ७, १९
सदादि (अनुयोग)	२६. ५
सदृश	८७ १०
सदृशपरिणाम	२३ ३, ९९ २५
सदृशात्मन्	५५ ६
सदृशापरदर्शन	१२३. २७
सदृशापरहेतु	७३ १९
सदृशापरपरोत्पत्तिविप्रलम्भ	११० २४
सदृशासदृशात्मन्	५६. १९
सद्रूपव्य	११ १३
सन्तान	१ ६, ४० २९, ८३ १, १५, ८९ २३, २६; ११२ २६; ११९ ८.
सन्तानसमुदायादिशाब्दभावाविशेष	४७ ९
सन्तानान्तर	४०. २९; ५१ १; ९८ ४; १२२ २२.

सन्तानान्तरगत	२३ ९
सन्तानान्तरसद्भूति	३८. २१.
सन्तानापेक्षा	२५ २६
सन्दिग्ध	७६. ३१; १०९. ६
सन्दिग्धादिवरिग्रह	१२७. १९
सन्दिह	२ १५, ८६. १७; ११८. १
सन्दिहलक्षणाभाव	३९ १९
सन्दिहविच्छिन्ति	८१. १५.
सन्निकर्ष १९. ९, ८६ १७; १०९ १२, २७; ११० ५, २९, ३१; ११४. १३; १२५ ७.	
सन्निकर्षादि	१. ४१, १९ ७
सन्निधानापेक्षिन्	११२ १२.
सन्निधानामेद	९८. १३.
सन्निवेश	८७. १९.
सन्निवेशविशेष	६७ ११.
सन्निवेशादि ४३. ११; ४९ १२, १०८. २३, २७, ३०	
सन्निधि	१९. ५.
सन्निधिष्ट	१५. १
सन्निहितविषयावग्रहसमीहावायधारणा- समानानुस्मरणसङ्कलनपरामर्शाभाव	१२५ १९
सन्निहिताणत्व	९७ १७
सपक्ष	१०९ १३.
सर्पवत्	४५. १९, ११२. ११.
सन्निहितविषयवलोत्पत्ति	५. ९
सन्मात्र	१३ १७.
सन्मात्रदर्शन	२ २४
नपदि	२५ २६
सप्त (नय)	१७ १०, २२. २४
सप्तमगी	९० ३, १२२ १७.
सप्रदेश	६७ २१
सप्रदेशाप्रदेश	६७ २९
सभागनिबन्धन	६५. २७.
सभागविसभागवत्	७१. ५, ९९ २५
सभागसन्तानकल्पना	६६ १
सम	५० १०, ५८ २४; ८९ २३
समक्रियाविशेष	१२४ २८
समक्षवत्	१६ ६.
समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्श- सम्बन्धाभिनिबोध	१००. ७
समक्षसजातीयसम्बन्धानुस्मरण- चिन्ताप्रकर्ष	१२५. २२.
समक्षसवित्	७२. ६.
समक्षैतरसप्लव	३० ४
समक्षकरणादि	४६. १५
समर्थ	४५ २५, १०३. २, ११२ ७,
समर्थवचन	१११ १५
समर्थगति	१७ ६
समनन्तर ५१ १, ६५ १३; १०५. ६; ११८ २३	
समनन्तरसाधारण	११७. २४
समनन्तरेतरविनाश	१५. २१.

विषयसाधनत्व	४. ७
विषयाकार	४. ७; ११० १.
विषयानुविधायिन्	१७ ११
विषयालोकव्यवहारविलोप	३१ १४
निवधिन	२ २२
विषयन्त्रियविज्ञानमनस्काराविलक्षण	३१. २५
विषयव्यपारिणाम	२३ ९; १०४ २३.
विसर्वाद	५ १७, १०५. १९
विसर्वादक	८ १०; ८१ १८
विसर्वादकान्त	१५ २७
विस्तरोक्ति	८०. १४.
विसृज्य	८१. २१.
वीरमि न	१७ १५
वृक्ष ७ १०, १०. ११, १४ १२, ४३. २९,	
४४ ३, १०३ २६; १२७. १०	
वृक्षदर्शिन	७ १०
वृक्षादि	५ १७, १०३ १४
वृत्तप्रसादवृत्तदोषप्रसर	११९ २९
वृत्तसमत्व	८३ ३०; ९१. २४
वृत्तिवाक्यार्थ	१० २१
वृत्तिधिकल्पविरोध	१२२ २५
वैद	८३. २२, ८५ २३
वेदानादिवत्	५१ १७
वेद्यता	११५ ११
वैद्यवेदकनिर्मास	१२४ ३१
वैद्यवेदकाकार	३ ७
वैद्यवेदकाकारभेद	६ १३
वैद्यवेदकाकारकज्ञान	११४ ९.
वैकल्य	२१ २१, १०३. २१.
वैतण्डिक	११५ ४
वैयर्थिकरण्य	११४ २.
वैलक्षण्यादिशब्दवत्	५८ २६
वैशद्य	२ ७
वैश्वल्य १०३. ६, १०४ १४, १२४ २६	
वस	१२०. २२.
वसादिवस्वरधारा	८६ २३.
व्यक्त ३१ ९; ५० ४; १०२ ६	
व्यक्ति ३२ ६; ३३ २५; ३५ ३; ५० ३; १०२	
१६; १०३. ८; ११८ १९	
व्यक्तधारणविच्छेदसंस्कारादिविरोध	८६. २१.
व्यङ्गशर्थाविद्योपानिवम	११८ २७.
व्यञ्जकव्यापार	११८ २७
व्यतिरेक	२३ ८, ९
व्यतिरेक ४६. १३; ४८. १४, ७७. ४, १००	
२०, १०७ १७, १०८ ९, १२६ १३.	
व्यतिरेकचिन्ता	१०१. ४.
व्यतिरेकपुन्यवत्व	२२. २६
व्यतिरेकप्रमिद्धि	७६ १४.
व्यतिरेकतरेकान्त	१६ २१.
व्यतिरेककान्त	१६ १६.

व्यपदेशनियमाभाव	१००. १९.
व्यपेक्षा	७. २४, ८. १६; १२७. ६.
व्यभिचार १ २६, १७ १०; ९९. १; १०६ १६;	
११४. १५.	
व्यभिचारिन् ११० ३१; १११. ९; ११४. २८;	
व्यवच्छेदत्वभाव	५९. ७.
व्यवच्छेदावित्तवादव्यवहृतुंमनुति	७५ ६.
व्यवसाय	३० १५.
व्यवसायकृत्	३९. १९.
व्यवसायफल	२०. २६
व्यवसायसाद्रूपमिनिबोधनियम	१००. २.
व्यवसायात्मक	२०. २३, २१ ८
व्यवसायात्मसवाद्यव्यपदेश्य	५२ ५.
व्यवस्थाभावप्रसंग	२०. २०
व्यवहार १४ १, ३७ ९; ७६ २२, ११७. २.	
व्यवहारगम	२३. ८, १२६ ११.
व्यवहारपर्याय	२३ १०.
व्यवहारप्रसाधक	४३ ३.
व्यवहारविरोधित्व	२४ १३.
व्यवहारविलोप	३५. १३.
व्यवहारादिधी	४३. ८.
व्यवहारादिनिर्मास	४१. ५.
व्यवहारानुकूल	२४. ६
व्यवहारार्थेक्ष	१४. १९.
व्यवहागमिवाद	९ ८, २४ ८, १०.
व्यवहाराविसर्वादी	१४. १७
व्यवहितोत्पत्ति	१५. २४
व्यस्त	१४ ३.
व्याकुलान्त	५२. १७
व्याप्यात्	९०. २९
व्याप्याविप्रतिपत्ति	११७ ३.
व्याधिमृतग्रहादि	५४. ७, १०८ १०.
व्यापक	१०६. ७.
व्यापकसाधिनी	१०५ २८.
व्यापकानुपपत्ति १०५ २५, २७; १०९ १४	
व्यापारभेद	१२३ ३१
व्यापारव्याहारविशेषाभाव	१०५ १०.
व्यापारमनारोप	१०८. १.
व्यापिन् ११८ २६	
व्याप्ति ५ ११, १७ ७; १०६ ७, १४, १०९ १६, १८	
व्याप्तिविधेय	१०४. १७
व्याप्य	१०६. ७
व्याप्यविनिर्वाचनी	१०४. २५
व्याप्यव्यापक	७४. १९, १०५. २७.
व्याप्यार्थ	१०५. २६.
व्यामोहविच्छेद	९९ १९; १०७ २
व्यामोहप्रवृत्तिसारवेदन	७७. २३.
व्यावहारिक	७५. १३, १९.
व्यावहारिकप्रत्युत्पादिप्रतिपत्तिव्याप्य	२५. १२.
व्यावृत्ति	५७. १; ९९ ५.

सर्वथैकान्तव्यतिक्रम	१२७. २०	सहदृष्टधर्म	७४. २५
सर्वदेशकालादिसम्बन्धसातत्य	११३. १४.	सहप्रतिभासकत्	३ १६.
सर्वनयाभासप्रतिपादख्यातिसख्येय	१२६. ३.	सहभावविषय	१०४. ९.
सर्वप्रकाशसामर्थ्य	७८ १०.	सहभावगति	१२ ९.
सर्वभाव	५४. २८; ६५. २३, ८०. ३१.	सहव्याप्ति	११९ ८.
सर्वभेदप्रभेद	५०. ७.	सहसिद्धि	१०० २१.
सर्वभेदेक्य	१३. ४	सहेतु	४३. ७
सर्वभिव्यक्तान्तासीति	११६. ७	सहोत्पत्ति	१०९ ६.
सर्वभिव्यक्तान्तादीतातिशयज्ञान	९८. २५	सहोत्पत्तिविकल्प	५१. १०.
सर्वभेक	११. १२, १२६ ९.	सहोपलभनियम	४१. ९; १०९ ३, ६, २४, २५
सर्वबोध्यता	८७. २३.	साकल्य	५. १०, ९ २४; २१ २०, ७२. २४; ७४. २३; ९१. ५; १०६ १४, १०८. २०; १०९ १८, १२७. १९.
सर्ववस्तुनिबन्धन	८४. २.	साकार	२९ १४, ४५. १७, १०७ १-
सर्ववस्तुसत्ता	५३. १६.	साक्ष	४४ ७.
सर्ववित्	९९ ९.	साक्षात्करण	४. २
सर्वविषय	५१. ६	साक्षात्कृतसमयसवाद	११६ ७
सर्वव्यवस्था	४६. १४	साक्षात्कृतशोषप्रपञ्चमूलनय	८४ ३०
सर्वव्यवहारसकर	११४ ४.	साक्षात्कृतशोषसोत्तरार्थ	९१. २६
सर्वसन्तानविच्छेद	७६ २४.	साक्षात्कृतदुत्पत्ति	१५ २४.
सर्वस्वाश्रयसम्बन्ध	१०२ १९.	साक्षिन्	११७. ३.
सर्वहिताभिधा	७८. ५	साक्षिसमक्ष	१११. १६.
सर्वहेयोभादियपरिज्ञान	११६. १४.	सात्मक	१०४. ६.
सर्वार्थगोचर	७८ १.	सात्मोभाव	८९. ५.
सर्वार्थवलोकन	९२. २.	सादृश्य	५७ ४; ६५ २७; ८६ ३०.
सर्वान्यसदृश	७९. १६	सादृश्यविनिबन्धना	५९. १६.
सर्वैकत्वप्रसंग	५७. ११.	साधकतम	२. २; ९९ १६; १०४. २७.
सर्वैकत्वप्रसंगादिव्योष	४०. ३	साधकभावकप्रमाणाभाव	२. १४
सर्वैकविदन	३३. ३.	साधन	६६. २०; १०२. ९.
सर्वोपलभनिवृत्ति	११० ३.	साधन	२५ २६, ५२ २१; ५९. २४; ६९. १५, ७०. ७, १०१ १, २१; १०४ १५; १११. ३, २२; ११९. १५.
सहकारिकारणवैकल्य	११०. २०.	साधनदूषणतटाभासवाक्य	२२. ६
सहकारिकारणापेक्षा	१०२. २२; १०३. ८.	साधनदूषणवचन	१११. १५.
सहकारिन्	४७. २७, १०३ ७.	साधनदूषणसामर्थ्यापरिज्ञान	११३. २०
सहकारिवैकल्यादि	११०. २३.	साधनसम्बन्धप्रतिपत्ति	१११. २१
सह क्रमभाविन्	११. २७.	साधनान्तर	७. २४; १०१. २४; ११४. ११.
सहक्रमविषया	१२२. १७.	साधनाभास	११० ९.
सहक्रमविचिन्	११. २४; ४५. २५; १०३. १.	साधनाविषयत्व	५३ ५.
सहक्रमवृत्ति	४४. २९.	साधनासाधनागव्यवस्था	१०. ३.
सहक्रमसयोगधमन्तिर	९९. ५.	साधनागवचनोपात्मच्छल	१११. १९
सहक्रमसयोगभाविन्	१००. ८	साधन्यादिसमञ्जाति	८०. १५.
सहक्रमसयोगलक्षण	१०१ २१	साधुत्वन्पुनार्थिक्यक्रमस्थिति	११६. २.
सहक्रमसयोगवैसख्यविरोधितेनेतर-		साधारण	२१ १९.
प्रभेदेकरिणाम	१००. १२	साधारणसाधारण	२१. १८
सह क्रमेण वा	१२ ५.	साध्य	५३ २, १०२. १, ३, ४
सहचरकाष्ठानुपलब्धि	१०५ ९.	साध्य	१७ ७; ६९. २८; १०२. ३; ११०. ९
सहचरकार्योपलब्धि	१०४ २६.		३०, १११. १, ११३-२२,
सहचरकारणानुपलब्धि	१०५ ११.	साध्यधर्मकल्पना	१०४. ४
सहचरकारणोपलब्धि	१०४ २८.	साध्यधर्मा	५९. २४.
सहचर	१०७ १६	साध्यपरिग्रह	१०१. १४.
सहचारिन्	१०४ २७.		
सह तद्वागवृत्ति	९० ११.		
सहवर्धन	१०९ ४		

श्री श्रो द नि	३७. १; ४२ १९.
श्रद्धादि	२०. २.
शामु	४९. ४.
श्रवणग्रहणयोग्यताव्यावृत्ति	१२३. २७
श्रवणज्ञानहेतुत्व	९३. १५
श्रावणत्वादि	१०४. १३; १०९. १७.
श्रीमत्परमगभीरस्वाहादामोघलाछन	९७ १.
श्री व ऋं मान	२९ ४.
श्रुत	४. २४, ९. १२, २१. १४; २५. १८, २६; ७४. ३१; ९२. १७, ९७. ३, ६;
श्रुतज्ञान	५ ३; ९. १४, १०. १६; २४ ११; ९३ ५.
श्रुतज्ञानतदामासव्यवस्था	९ १०.
श्रुतपाठव	१०१ १६
श्रुतभेद	२२. २४
श्रुतयोग्यत्वातिथयादानहानि	७९ २०.
श्रुतविकल्प	११८ ३.
श्रुतविज्ञानहेतु	९३ १९
श्रुतीर्षित	२५ २१.
श्रुति	९ १९, १० ९, १४ २१; ११६. २१, ११८. २, १२५. १७
श्रुतिकल्पनादुष्टादि	९ २५
श्रुतेन्द्रियातीति	८६. ८
श्रुत्य	९३. २७
श्रेयोवृत्तिसंप्राप्ति	११८ १०
श्रोत्र	११८ १६.
श्रोत्रयोचर	८८. ५.
श्रोत्रादिवृत्तिप्रत्यक्ष	५२ १.
श्लेषविधेय	६८ १४
श्व	५ २४, २५ ३.
शुद्धकारणी	१६ १७, २७, १७. १.
शुद्धग	४१. २२.
स एवाय	५८ २४, ८६. ३०.
सकर्मक	२३ ८
सकल आत्मा	१०४. २८
सकलकलाकलापमया	१२६. ५.
सकलकलाकलापसमाश्लेषजात्यन्तर- प्रतिपत्तिनान्तरीयक	११३. २७.
सकलग्रह	६०. २९, ७७. ११; १०८ ७
सकलग्रहनान्तरीयक	१०८ १०
सकलग्रहसामर्थ्य	७३. १५.
सकलज्ञ	८४. ९
सकलज्ञानावरणपरिसय	९९. १०.
सकलतत्त्वप्रतिपत्तिपत्र	१२३. १५.
सकलनित्यकल्पविकल्पितेतरस्वभावनियम	१२५. ९
सकलसामर्थ्य	२३ ७
सकलपरिणामिन्	१२१. ३.
सकलप्रमाणप्रभेदेयसावत्स्वत्पामिधायि	२१ १०
सकलवादिचञ्चलकालिन्	१७ १८
सकलचित्	१७ १४
सकलविषय	९४. ३.

सकलव्यच्छेदनिर्णयानिर्णयविप्रसंग	९७. १४.
सकलव्यवहृत्परिणामक	२१ १.
सकलगन्तियोग	१०३. ८
सकलश्रुतभावनामवरणविमलितनिश्चिन्तनेश- विकृन्मिमतकेवलज्ञानाधिगमफल	१२७. ११.
सकलशक्तिविरहिन्	१०४. २४. ११३ १.
सकलाकार	४७ २०.
सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोध	८१. १४, १२७ २४.
सकलाग्रह	६८. ९; ८८ ५.
सकलाङ्गगरीरवत्	५०. ७
सकलात्मन्	११०. २७.
सकलादेश	२१ १५, १६, १९.
सकलावयवोपलभामभव	१०२ १४
सकलप्रतिभासभेद	९८. ३.
सकलद्रव्यहणविभ्रम	८६. २४.
सकलानादेगोपलम्भ	११८. २६.
सक्त	३७ ३.
सक्त्य	१५ २; २४ १८
सत्त्वाचर	५०. ४.
सजानीयपरिणामाभिधृष्टि	८९ १
सज्जानपरिणामात्मत्वम्प्रतिपत्ति	८८. २७
सत्त्व	३७ २३, २८
सत्	११२. १५.
सत् १० २५, १४ २०, २०, २४. १०३८. ६; ४५. ११. ४६ २४, ४९ २८, ५० ७; ५२ ७; ८२ १८; ९८ ११, १०२ ९; १११. १५, १८-११३. १. ९	
सत्ता १३ १९; ५०. ५; ५३ ८, २६, ५९ ११. ७६ १७; १०२ २५, १८; ११३. २०; १२६ ५, ९.	
सत्तानुपग	५३ २५.
सत्ताभेद	२३ १८.
सत्तायोग	५०. ५.
सत्तालीक	२ १९
सत्ताव्यनिरिक्त	१०४ १८.
सत्तासमवाय	१३ २२
सत्त्व ३७ २३, २८, ५०. ३; ७०. १, ७६ २८; १०२ १६; १०४. २०; १०७ २१, २४; १०८ १८, २४, २७, ३०; १०९. १-११०. ७; ११३ २४, ११४. २०	
सत्त्वपुरुषत्ववन्तत्वादि	२. ११.
सत्त्वप्रमेयत्वाङ्गकृत्युत्त्वव्यमितकगुणित्वादि	२१ १८
सत्त्वरजसमम्	१३ २६.
सत्त्वाद्यं	१ ८.
सत्त्वादिपरिणाम	७९. १६.
सत्त्वादिभामान्यगुणमन्वय	१००. ८.
सत्त्वप्रत्यक्ष	६९. २३.
सत्त्वप्रत्यक्षकृतत्वान्त्व	१०२. २०.
सत्त्वप्रत्यक्षहेतु	१०२ १८.
सत्त्वप्रमेयत्व	६९. ७.
सत्त्ववृत्तिनिमित्त	१०४. १८.
सत्त्व ३४. १५, ५२. २०; ५४. १३; ७०. ३०; ७३. २९; ७८. १९; ८५. ९, ८८ १८; १०७. १३; १२०. ३.	

सख्यासक्येय	१२४. २१.
संग्रह	११. १०, १३. ४, ७, २४. १, ३.
संग्रहव्यवहारजुसूत्रार्थनयसम्यय	१२३. ७
संग्रहादि	२३. २६.
सषात	९२. ९.
सचयापोहसन्तान	११५. २३.
सचितालम्बन	९८. २
सज्ञा	४. २३, ५ १, २; ६०. १८.
सज्ञाकर्म	२६. १.
सज्ञान	१७ १०.
सज्ञान्तरविकल्प	१२०. १८.
सज्ञासज्ञिसप्रतिपत्तिसाधन	७ २०
सज्ञासज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति	७. ९
सज्ञिप्रतिपादन	७ ७.
सम्बन्धप्रत्यय	१००. ५.
सयोग	१०४ २८, २९.
सयोगकारण	१००. २३.
सयोगसमवायतदनुदय	१२५. २४.
सयोगसमवायादिसम्बन्ध	४८. २६
सवर	८८. २१; १२२. ६.
सवरण	८८ २३
सवादद्वै. २४; ९८. २९, ११५. ३, १०; १२५. १४.	
सवादनरपेक्ष	१२५ ३
सवादासामर्थ्यभेद	१००. ८.
सवादासमवाभाव	८४. ६
सवित्	४२. १, १२०. ६, १२१ ६
सवित्ति	४ ७, ३४ २०; ५४. २८
सवित्परमाणु	१५ २, २४. १७
सवित्त्वभाव	१०३ १३
सविदात्मन्	३८ १३, ९८. ४.
सवेद	३२ ६.
सवेदन	३२. ३; १०३. १३.
सवृत्ति	३ ८, ९; ११५. १६.
सवृत्तिवाद	११५. २१.
सव्यवहारानुपयोगिन्	१ १५.
सव्यवहारभाव	३ ११
सशय १००. २; १०८. २४, २८, ३१; ११० ३०, ११४ १	
सशयविपर्ययसकारण	१. १५.
सशयविपर्ययसिस्वप्नज्ञानादि	२४ ९
सशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोषप्रसंगानवस्थासकरा- भावकल्पना	१०३ ४
सशयादिज्ञान	१८. २७, २० २, ११५. १२, १९
सशयादिप्रसंग	९१ ४
सशयादिविदुत्पाद	१८ २५
सशयासिद्धव्यतिरेकानन्वयादि	१११. १०.
सशयैकान्त	६ ५.
सशयैकान्तवादिन्	८२ ४
सचीति	२. १४
ससल्लेष	६७. १७, १०४. ३१; ११३ २९
ससर्ग	५४. २७, २८.

ससार ६२. १३; ८३. १४; ८९. २५; ११९. ५, ८	
ससारपरिनिर्वृती	१२२. १३.
ससारमुक्तिभाक्	६०. १७.
ससारवैचित्र्य	६४. २१.
ससारिन्	२३ १०; ७८. १४; ८४ १७
सस्कार	३ १, ११८. २६, ११९. २०
सस्कारपाटव	८९ ८.
सस्कारसंस्थिति	६३ २४.
सस्कृतैन्द्रियवद्	१०३. ३.
सस्थानात्मक	८ १८, १०८. २५.
सस्थानादिमान्	१२१. २०.
सहत	१०८ २८.
सहारायुत्रनीलादि	११४. ६.
सहृताविकल्पावस्था	१२३ १२.
सहृताश्लेषचिन्ता	८. १७
साकर्म्य	६७ ११.
सानुत्	४९. १३.
सांख्यवहारिक	२. ८.
स्कन्ध २३ ६, ६७ २१; ६८ १, १४, १८, १२९. ३०.	
स्कन्धपरमाणुपर्यायभेद	२३ १३
स्तिमितान्तरात्मना	८. १८
स्त्री	१६ ८.
स्थानप्रसवतदुभयाभावसामान्यलक्षण	२५ ७
स्थायत्यस्या गर्भः	१६ १८
स्थवैयास	१५ १
स्थाणु	११४ १४
स्थानप्रस्थान	११९. १६.
स्थानसकरव्यतिकरव्यतिरेक	१२ २५
स्थापना	२६ २
स्थापनाविवत्	११७ २७; ११८ ६.
स्थापनाश्रुति	११८ ८
स्थिति	४५ ८; ११३ ५
स्थितिस्वभावाकान्त	१०५ १८.
स्थित्युत्पत्तिविपत्ति	१००. १७
स्थूल ४४ ६; ९८. १; १०५. ३; १२३ १८.	
स्थूलब्रह्म्यादिक	१२१ २५
स्थूलप्रमाणानवधारण	४४ १६
स्थूलन्यष्टविकल्प	७२. १४.
स्थूलात्मकमेकम्	८ १९
दिग्गव रुक्षताभाव	११९ २२
स्नेहादि	१२० १९
स्पर्श ६८ २५; ११५ १; १२१ २०	
स्पर्शप्रह	६८. २५.
स्पर्शादिविशेष	१०४ २६.
स्पष्ट २१ ६; २९. १४, ५० २२; ८४. १३;	
	९२ १७; ९७ १७, ११६ १५.
स्पष्टनिर्भास	१२२ १२.
स्पष्टाकारविवेक	१२५ १०.
स्पष्टास	३९ २०
स्पष्टावगह	११८ १.

स म न्त भ द्र	११४ २१	सम्प्रीतिपरिपादिभेद	४० ११.
समवृद्धि	८८, २६.	सम्प्लवप्रसव	१२१. ५; १२३. १३.
समभाव	५७ २७.	सम्प्लवस्थानपरिणामविरोध	१२१ २५.
समाभिहार	९८ ३०.	सम्बन्ध	५५ २५; ७५. १८; ८०. २७; ११९. २२.
समय १. ९, ५६. २५, ५८. ११, २२; ८७	२५, १२२. २०, १२४. १२.	सम्बन्धग्रह	५५ ६.
समयस्थिति	११०. १९	सम्बन्धनियम	८७ २५.
समयस्मरणाभाव	११९ ९	सम्बन्धनियमाभाव	१६. ७.
समयानपेक्षण	११७. ६	सम्बन्धप्रतिपत्	७. १५.
समयाविप्रलम्भन	८४. ६	सम्बन्धान्तर	१२४. १४
समरागादिदोष	४१ २७	सम्बन्धाभिज्ञान	१२४. ११.
समवग्रह	९९ ६	सम्बन्धासिद्धि	१६ १६, १०२ १४, ११३. १५; ११९ २
समवाय १४ ११, १३, १४, ४३ २९, ५२. ७; १२१ १२		सम्बन्धोपकाराद्यनवस्थादोष	१२२. २५
समवायसाकल्पवैकल्य	११७ १८	सम्भावितोद्बुत्तवृत्ति	११६. २४.
समवायान्तराभाव	१४ १५	सम्बोह	१०८ ५; १११. ६.
समवायाविशेष १०० २१; १२१. १२.		सम्बोहविकल्पाति	१११ २१; १२४ ९, १२७ २५.
समवायिन् ११. ९, १००. १५, ११४ ३१.		सम्बन्धविकल्पात्वे	२५ १५.
समविकल्पजनकत्व	१०७ ७	सम्बन्धकान्त	२१. २५.
समव्यपदेश	१२४ १०	सम्बन्धान	२९ १२; ६७. ९
समस्त	१४ ३	सम्बन्धानाङ्कुश	८८ १४; १२२. ३.
समस्तैक्यसग्रह	२४ १	सविकल्पक २४ ९; ३९ १०; ४५. २५; ४६	
समानपरिणाम २३ ६. ७, ५३ ३; ५६ १३; ११७ १		२४, ९७ १८; ९८ १०, १६; १०३ १; १०७. ९.	
समानपरिणामरहित	१०७ ६	सविकल्पलक्षण	४६. ५.
समानपरिणामात्मकत्वसकेतहेतु	७२ १६	सविकल्पाव्यासाद्यन	४५ ३.
समानपरिणामात्मकसम्बन्धप्रतिपत्ति	५४. १९.	सविकल्पावभासन	८ १७.
समानपरिणामिन् ४९ ६; ५६ २४, ७२. २६		सविकल्पाविनाभाविन्	३० ४.
समानवर्णभाग	१२४ २.	सर्वकर्मविनिर्मुक्त	२६. ९
समानशक्ति	१०३. ६.	सर्वगत १३. २३, ५० ३; ५२ ७; १०२ १६; ११८. २५.	
समानाकारकल्पना	५९. ५.	सर्वचित्त	१०९. ५.
समानाकारभूत्व	४९. ३.	सर्वज्ञ १७ १२; ७७. १५; ९१ २७; १०९ ७, ११ ३; ११०. ३.	
समानात्मन्	५९. ६.	सर्वज्ञप्रतिपेक्ष	७६ ३१.
समानार्थपरानुत्त	४७ २.	सर्वज्ञवाचिनी	७७ ७
समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यधी	४८. १	सर्वज्ञसंस्थिति	८५ २०.
समानान्वनिर्णय	७१ १४	सर्वज्ञादि	९२. १४.
समानेतरपरिणामातिशय २३. ४ ९८. १८		सर्वज्ञादिविशेषाभाव	२ १३.
समानोन्नयहेतु ३९ १०, ८८ ४		सर्वतोमास	१९. ८
समारोपव्यवच्छेद ३. ९, १०; ८ १२, ३९ १०.		सर्वान सङ्गत्य चिन्ता	८. १८.
समित ६५ १३		सर्वधानुपलभ	४९. ३.
समितकर्मयोगिन् ४४. १५		सर्वधानुपलभ	८६ ११.
समीक्षक १०६ १२		सर्वधावर्णनात्य	७८ १८.
समीक्षाकारिन् १०६. १६		सर्वधाऽवगतव्यक्तकल्पना	१२५. ३०.
समीक्षाविरोध १०५ २१.		सर्वधावगतव्यक्तवत्	१२५. ३०.
समीहित १२५ १२		सर्वधाऽविकल्पक	९. ५.
समुदाय ११०. २६; १११ ३.		सर्वधाऽसकर्मवस्था	११ २३
समुदायसमुदायिनियोग १२३. ३		सर्वधैक्यत्वविशेषी	२४. १६
समुपलक्षितविशेषसंख्या १२५ १८.		सर्वधैक्यत्व	२२. ३, ११०. ११.
सम्प्रत्यस्तमितशेषनियम ७१ २४.		सर्वधैक्यत्वान्त्याग	२१ २३
सम्प्रदाय १२४ १८.		सर्वधैक्यत्वान्तप्रवादातीतगोचर	८१. २६
सम्प्रदायाधिकच्छेद ९८ ३१; १२४. २८		सर्वधैक्यत्वान्तविकल्पे	६६ २८
सम्प्रदायगिवात ९३ ७.		सर्वधैक्यत्वान्तविकल्पेपतस्वगार्ग्यव्यवस्थान	९०. २८

स्वभावोत्पदाविघात	१०९. २२.
स्वभावोपलब्धि	१०५. १९.
स्वभावोपलम्भोपयोगसस्कारविशेष	१२५. १८.
स्वभूतिमात्र	४. ६.
स्वभूतप्रणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापन	८. ४.
स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ति	१०. १६.
स्वयमनाद्येयातिशयात्मन्	११३. १.
स्वयमभेदक	११. २५, २६, १३. २.
स्वयमभू	१९. २
स्वयमभू	११५. ३०.
स्वाध्यायतप प्रभावमूल	११८. ११.
स्वाभिलाष्यानभिलाष्यत्व	१२३. २०.
स्वरसत	१११. २९.
स्वरसमभू	११२. २१.
स्वरस्रवृत्ति	११२. २०.
स्वस्वचित् रचितदर्शनप्रदर्शनमोत्र	१४. ८; १०७. ४.
स्वरूप	१३. २६; ११५ ८; १३५ ४
स्वरूपतरुविभ्रम	११७. २५.
स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविधिष्ट	२१. २४.
स्वरक्षण	३. २४, ८. १५, ११. ३९, २०, १२. १९, १४. २२, १७. २; ४५ २४; ४६. १३, २६; ४८. ८, ९; ५९. ११; १०३. १; १०७. १७; १२३. १५
स्वरक्षणभेदाभेद	१३. १२.
स्ववचनप्रतिघाती	११५. ५
स्ववचनविच्छेद	११४ ५.
स्वविभ्रयनिर्भासाविवेक	१२५. ४.
स्वविषयनिश्चय	१०८. १२
स्वविषयव्यवस्थापनविकल्प	२. २४.
स्वसम्बन्धोपलब्धि	१०४. १८.
स्वसर्वानुपलम्भ	८४ ९.
स्वसामान्यलक्षण	१०७. ८.
स्वसवित्	३. ५.
स्वसविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भ	६. ११.
स्वसवेदन	६. २८, ३४. १२; १०१. २३; १०३ १७; १०४ २०.
स्वसवेद्य	८ १६, ३२. २९.
स्वसु	२१. २.
स्वसुभाव रहित	१४. १४.
स्वसुभावस्मित	६६. १७.
स्वहेतु	३९ २६; ८८. ४; १२५. २.
स्वहेतुजनित	२०. १६.
स्वहेतुप्रकृति	८९ २.
स्वहेतुप्रतिपक्षपाटव	१२०. ३
स्वहेतुत्व	२० १७.
स्वाकार	१२५. ९.
स्वातन्त्र्यदृष्टि	६२. ८.
स्वातन्त्र्यलब्धि	१ ४.

स्वार्थप्राधान्य	१७ ३.
स्वार्थभेदनिराकृति	१३. ५.
स्वार्थभेदानवबोध	११. २०.
स्वार्थमात्राव्यवसाय	१८. १३.
स्वार्थविवेक	१८. २०.
स्वार्थालोकपरिस्फुट	१९. ३.
स्वार्थार	६७. २३.
स्वार्थमूर्च्छासिक्तत्व	५३. २४.
स्वार्थिप्रयत्नवर्तन	११. ६.
स्वार्थव्यव	१५. १३.
स्वार्थव्यव्यापित्व	११२. २१
स्वार्थमात्राभिनिबोध	११६. २१.
स्वार्थमात्राव्यवसाय	३८ २७; ११७. २९.
स्वार्थमात्राविग्रहविकल्प	१०३. १५.
स्वार्थमात्राविषय	१२०. १३.
स्वेष्टसिद्धि	२६. २५.
स्वोपलभानियम	१०९. ३०.
स्वोपादानसहकारिविधर्तविकल्प	१०५. १४.
हृतस्यव्यव	३. १८.
हर्षविषादादि	५. १५.
हर्षादि	३३. १५.
हा कष्ट	४२. १७
हानादिबुद्धि	३६. १५.
हानोपादानोपेक्षाप्रतिपक्षफल	७. १३.
हित	४७. २३.
हितकामिन्	२९. ६.
हितहितप्रतिपत्ति	११९. १३.
हितहितप्रतिपत्तिपरिवर्जन	१२०. २१.
हितहितप्रतिपत्तिपरिहातोप्येयससम्बन्धि	१२७. ९.
हितहितविवेकविरह	१०० ४.
हितहितप्रतिपत्तिनिर्मुक्तिक्षम	२९. १६.
हितहितप्रतिपत्तिपरिहारसमर्थ	२१. ६; १७. ७.
हीनस्थानप्रापण	११९. २०
हेतु	१०३. ११.
हेतु	१७ ७, ५३ १२, २२; ६२ ३, ११; ७५ १३, १४, ७८. २४; १०५. ३०; १०९. १७, २७; ११०. ६; ११२. २०.
हेतुफलभाव	१००. १.
हेतुफलसन्तानवद्	४५. १४.
हेतुलक्षण	१०३ २३.
हेतुत्व	६. २८; २६. २३.
हेतुसामिधान्नासामिधानाविशेष	१०१. ५.
हेतुसाम्य	४०. १६.
हेत्वाभाव	७६. ११.
हेत्वाभास	७६. २९; ११०. १०.
हेय	८२ १८.
हेयोपादेयतत्त्व	८२ १५.
हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरितीतव्युत्पत्ति	८६ १६.



साध्यविक्षाप्त	५२. २३.
साध्यसम	१११. २३.
साध्यसाधन उ. ६; ७९ ११; ९२. २७; १०६ १५;	
	१११. २५, ११३. १; ११९. १५.
साध्यसाधनधर्म.	८०. २७
साध्यसाधनमिथ्यासकत्वाभिव्यक्तिवैद्य	१२०. ५.
साध्यसाधनसम्बन्धासिद्धि	११३ २८
साध्यसाधनसकल्प	५२. १५.
साध्यस्य अनन्यत्वसिद्धि	६६ २८; ११५. १५.
साध्यार्थासम्भवाभावनिवृत्तमनिरूपकलक्षण	१०३. १३.
साध्यार्थसम्भवाभावनियमासिद्धि	११०. १३.
साध्यविवेकिकल्प	८० २८
साध्याभ्यसमवनिवृत्तमनिरूपकलक्षण	१०७ २३.
साध्याभास	५३ ५; १०२ २, ५
साध्याभिव्यक्तिमात्र	१०१ २१.
साध्याभिव्यक्तिमात्राभिव्यक्तिवैकल्यलक्षण	५. १५.
साध्याभिव्यक्तिमात्र	३५. ६.
साध्यास	१५. ३, २४ १९.
साध्यासकल्प	२५. १५.
साध्यास्युपदेश	८५. २८.
साध्यास्युपदेशविशेष	१०६. २०.
साध्यास्युपदेश	१२. २६, १०६. २०; ११५ १.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	९७, ८; १२४ १३.
साध्यास्युपदेशोपपत्तिताकारमेवित्	६८ २९.
साध्यास्युपदेश	३३. १९; ५१. २२, ५९. ५, ५०. ६;
	५४. २४; ५६ ३; ५८. २१; ७९. ८;
	९९. २५; १०२ १९, २०, १०७ ७.
साध्यास्युपदेश	३३. ६; ५५. १.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	७१. ८.
साध्यास्युपदेश	४. १, ११ १९, ५६ २८.
साध्यास्युपदेशपरिणामधी	९१. ५
साध्यास्युपदेशसमवायव्यपदेश	१२०. ९.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१०; १२२. १८.
साध्यास्युपदेशोपपत्तिविषय	९७ १८
साध्यास्युपदेशोपपत्तिसाधन	११० २८
साध्यास्युपदेशोपपत्तिविषयान्	११७. ९
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१०१. १३
साध्यास्युपदेशोपपत्तिविवेक	२३. १
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	३३ ६; ९७. १२, ११५. २६; ११८ ६.
साध्यास्युपदेशोपपत्तिविषय	११७ १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्तिविषय	१००. २३.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	७५ २९
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	५०. १९; ८३ २२.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११६ २२.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११६. ९, ११६. ६.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८१ २७; ११६. ६.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२० १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१११. २.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११५. २१.

साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८२. ६३.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	४०. ६
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११३. २.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८३. २.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२५. २५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१०३. ३६.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	३. १५; १३. ३३.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२१. १९.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२६. २०.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	३१ १९.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८५. १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२९, २१. १५, २३. २३; ५०. १७; ६३. २३;
	८३. १८; ९८. १६, १०५. २५; १०९. १;
	११२. १२, १२१. ७, १२२. ११; १२५. ८.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२३. ७.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२३. २५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८० ५. ५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२. १३.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	६. २.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१५. १०.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२. ९; २१. १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	४८ २२.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	३०६. २९.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१०१. ५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११३. १८.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	९८. २३.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२२. ७, ५९. २८; १०५. ७.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२३. २३; ८६. २७.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११२. १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११३. ३०.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	७३. २२; ७६. २२.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२६ ५
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८. १९.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८५. १९.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	४५. ५; ९० २२.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	२५ ३.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८२ १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	९३. २५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११३ २८.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	९८. १.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	६४. १५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१५ २८, ३०, ५६ २१; ५८. १६, १९, २३; ८६.
	२३; ८७ १५, २३, २८, ११७. १; १२४. ७.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	११७. ५
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२३. २५.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	६१. ६, ११; ११५. १.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	१२५ २०.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	७. २०.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	६८ २०.
साध्यास्युपदेशोपपत्ति	८१. १३; १२७. २३.

तत्त्वसं० प० तत्त्वतंत्रग्रहणञ्जिका (गा० सीरिज बडौदा) १३२, १३३, १३६, १५९-१६१, १६३, १७३.

तत्त्वार्थभा० टी० } तत्त्वार्थविषयमभाष्यटीका सिद्ध-
तत्त्वार्थसिद्ध० } सेनीया (आगमोदय समिति
सूत्रत) १४३-१४७, १५०

तत्त्वार्थसारः (प्रथमगुच्छक काशी)
१३४, १३५, १४३, १४५-१४७

तत्त्वार्थसू० तत्त्वार्थसूत्रम् (जैनग्रन्थरत्नाकर बवई)
१३२-१३५, १३८, १४२, १५२-१५४,
१६१, १६९, १७०

तत्त्वार्थश्लो० तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् (निर्णयसागर
बवई) १३२-१३५, १३७-१४१, १४४-
१४९, १५१-१५३, १५५-१५७, १६२-
१६४, १६६, १६७, १७०, १७१, १७५ १७८,
१७९

तत्त्वार्थहरि० तत्त्वार्थभाष्यहरिभरीया वृत्तिः (आत्मान-
न्दसभा भावनगर) १४३-१४७.

तत्त्वार्थवि० भा० तत्त्वार्थविषयमभाष्यम् (आर्हतप्र-
भाकर कार्यालय पुना) १३४, १३५, १४०,
१४२-१४७, १५२, १५३

तत्त्वोपप्लव० तत्त्वोपप्लवसिंह लिखितः (प० सुखला-
लसक्तः B. H. U. काशी) १४६, १६२.

त्रिंशिकाभा० त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः (By
सिल्वनलेवी. पेरिस) १५६.

धर्मसं० धर्मसंग्रह. (आर्यन सीरिज ऑक्सफोर्ड
यूनि०) १६२

धर्मसंग्र० धर्मसंग्रहणी (आगमोदय समिति सूत्रत)
१६३, १६४, १६९

धर्मसं० वृ० धर्मसंग्रहणीवृत्ति (आगमोदय समिति
सूत्रत) १७७.

धवलटी० सत्प्रक० धवलटीका सत्प्रकृषणा लिखिता
(प० हीरालालसत्का अमरावती) १३४, १३५,
१४३-१४८, १५२, १५३.

नयचक्रम् (भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बवई) १४३-१४७

नयचक्रम्० नयचक्रवृत्ति. लिखिता (२३० जैनमन्दिर
रामघाट काशी) १३३, १४३, १४४, १४६,
१४७, १४९, १५३, १६२, १७०, १७७, १७८

नयप्रदीप. (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १४३,
१५१, १५२

नयरहस्यम् (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १४३.

नयवि० नयविवरणम् (प्रथमगुच्छक काशी) १४३,
१४४, १४६, १४७, १५२, १५५, १७०.

नयोप० नयोपवेशः (जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
१७०.

नन्दिमू० नन्दिसूत्रम् (आगमोदय समिति सूत्रत) १३२.
नन्दि० मलय० नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका (आगमोदय
समिति सूत्रत) १८१.

न्यायकुमु० न्यायकुमुदचन्द्र. (भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
बवई) १३८, १६०, १६३, १७०, १७९.

न्यायकुमु० टि० न्यायकुमुदचन्द्रटिप्पणम् (भाणिकचन्द्र
ग्रन्थमाला बवई) १६६, १७०.

न्यायकुमु० लि० न्यायकुमुदचन्द्रः लिखितः (स्याद्वाद-
विद्यालय काशी) १३८, १४१.

न्यायकुमु० न्यायकुमुदचन्द्रलि. (चौखम्बा सीरिज
काशी) १३४, १४०

न्यायदी० न्यायदीपिका (जैनसाहित्यप्रसारक कार्यालय
बवई) १३२, १३४, १३५, १५५, १६२,
१६४, १६८

न्यायप्र० } न्यायप्रवेश. (गा० सीरिज बडौदा)
न्यायप्रवे० } १६१, १६३, १६५, १६६, १७७.

न्यायवि० न्यायविन्दुः (चौखम्बा सीरिज काशी)
१३६-१३९, १४१, १५५, १६१-१६३,
१६५-१६८, १७५, १७८.

न्याय वि० टी० न्यायविन्दुटीका (चौखम्बा सीरिज
काशी.) १३७, १४८, १६८, १७६.

न्यायवि० टी० टि० न्यायविन्दुटीकाटिप्पणी (विन्डो-
यिका बुद्धिका रशिया) १३५

न्यायमा० न्यायभाष्यम् (गुजराती प्रेस बवई) १६३.

न्यायमुलग्रन्थः (तत्त्वसंग्रहणञ्जिकायामुद्धृत)
१६१, १६६

न्यायम० न्यायमञ्जरी (विजयानगरम् सीरिज
काशी) १३७, १५४, १६२, १६३.

न्यायवा० न्यायवार्तिकम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१६२, १६३

न्यायवा० ता० टी० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (चौखम्बा
सीरिज काशी) १३४, १३७, १३९, १६२.

न्यायवि० न्यायविनिश्चयः (सिंधी जैन सीरिज
कलकत्ता) १३२-१३४, १५५-१६०.

न्यायवि० वि० न्यायविनिश्चयविवरणं लिखितम्
(स्याद्वाद विद्यालय काशी) १३२-१३४,
१३८, १४८, १४९, १६४, १७१-१७६, १७७-
१८०.

न्यायसू० न्यायसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१३९, १४१, १६२, १६५, १६६,

न्यायवि० टि० न्यायविनिश्चयटिप्पणम् (एतत्पुस्त-
कस्थम्) १७२-१७५, १७७-१८०

न्यायावता० न्यायावतारः (श्वेताम्बर कान्फेन्स बवई)
१३७, १६२, १६३, १६५, १६६, १७०, १७७.

सप्तदशमासिन्	७२. ९, ७३. २२.
स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिबिम्बोपलम्भ	११८ २
स्फुट	२१. ८, ८६. ८; ९९ ६, १०२. १६
स्मरण	१७. ९, १०४. २२
स्मरणपूर्वक	९७ ७
स्मृति ५. १, १५, ९. ७; १५ १८, २३, २८, ९९ १५; १०९	९, १२५ १३.
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिवोधात्मिका	२३. १
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानगदि	१५ २९
स्मृतिबीज	१२५. १८
स्मृतिकल्प	१०१. २२
स्मृतिव्यापन	९९ १६
स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिवोधात्मक	२१ ७
स्मृतिहेतु	२. २८, ३ १
स्याच्छन्द	२१ २६
स्याञ्जीव एव	२१ २५
स्यात्कार	२२. १, ३
स्यात्प्रयोग	२१ २३
स्यात्सत्येव जीव	२१. २६
स्याद्वाद	२१ १५, १६, २२ ६
स्याद्वाद १६. २५, १७. १२; ९०. २४, २९; ९१	४; ९३ १५, २७
स्याद्वादनयसंज्ञित	२१. १४.
स्याद्वादिन्	१ ३
स्याद्वादेक्षणसप्तक	१८ ५
स्वगुण	१०३ ३
स्वगुणपर्यायि	११ ८, २३ ६; ४५ २५
स्वचित्ताभाव	६ ६
स्वचित्तभाववर्तारसोपानपोषण	३३ १४.
स्वतन्त्र ६२. ४; ८६ २०; १०७ ११; १२२ ३	
स्वत ६. २७; १३. १९; ३६ २२, ३७ १५,	
७८. २३; ९२. ५; १०३ १४, ११०.	
	१५, १२५. ४
स्वत प्रमाण	९८. २८, ११६ १०
स्वत प्रामाण्यविप्रतिषेध	१०९ ३
स्वत सर्व	१३ २२, १२३ ३
स्वत क्षामर्थाविलेप	८७ १५
स्वत सिद्ध	९९. १; १२१ २६
स्वत सिद्धि	४१. २८, १०० १९
स्वनिर्वासभेद	१२. २९
स्वनिर्वासभेदात्मकज्ञान	१३ ६.
स्वनिर्वासिज्ञान	११ ६
स्वनिश्चयफलापेत	९८ २२
स्वपक्ष	४. ५
स्वपक्षविपक्ष	१४. २
स्वपर्याय	११ ६, ४५ ६
स्वपर्यायभेदालयेक	१३ ८.
स्वपरस्मानसन्तानोच्छेदकारण	८२. २१.
स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्था	११५ १६.
स्वपरप्रतिवेदिन्	१२६ १९.

स्वपरप्रत्यक्ष	११७. ३१
स्वपरभेदव्यवहारपरिग्रह	१२३. १५
स्वपररूप	६९. २१.
स्वपरविसादव्यसनीयेन	१४ २५
स्वपरसन्तानभावना	१२०. १८
स्वपरसन्तानस्यासहकारकारण	१२२ ८.
स्वपरस्वभावानुगमव्यावृत्तिवत्	१२२ १८.
स्वपररात्मन्	३९ २७.
स्वपरिणामविकल	१०४. २५.
स्वप्नाति ११० १४, ११४ १०, ११६ १६.	
स्वप्नान्तरवत्	१४. ७
स्वप्नेक्षणिकादि	८४. १४.
स्वप्नणीतागमस्यापन	१०. १९
स्वप्नवेक	४७ ४, ७८ ६
स्वप्नप्रवकायवाग्व्यवहारानुमेय	११६. १६.
स्वप्नप्रमाणविवृति	११० ३
स्वप्नभाव ५ १७, २१, २० २०, ६०	२८, ११२ २१
स्वप्नभावकार्यभेद	१७ २
स्वप्नभावकार्योपलब्धि	१०४ २१
स्वप्नभावकारणसिद्धि	७७ ११.
स्वप्नभावकारणोपलब्धि	१०४ २३.
स्वप्नभावनैरात्म्य	१२४ २४
स्वप्नभावपरभाव	११५. ७.
स्वप्नभावपरिहारविरोध	१०५ १८.
स्वप्नभावप्रतिबन्ध	१०६. १४.
स्वप्नभावप्रतिबन्धपरिच्छेद	१२७ १८.
स्वप्नभावप्रामाण्योपिहस्वार्थप्रतिपादन	२१ २२.
स्वप्नभावभेद ३ १४, २४ २०, ९८ १२, ११०	२१, १२३. ४.
स्वप्नभावभेदानुपलब्धि	११७ १०
स्वप्नभावभेदाभावकल्पना	३ १५
स्वप्नभावलाभ	१८. २०.
स्वप्नभावविप्रकर्ष	६ २०.
स्वप्नभावविच्छेदकार्यानुपलब्धि	१०५. २९
स्वप्नभावविच्छेदव्यापककारणोपलम्भा-	
नुपलम्भप्रयोगभेद	१०६. १
स्वप्नभावविच्छेदव्याप्तोपलब्धि	१०५ २७.
स्वप्नभावविच्छेदोपलब्धि	१०५. १७, ३१.
स्वप्नभावव्यवसाय	७२ १९.
स्वप्नभावसहचकारणकार्यभेदपरिग्रह	१०५ २८.
स्वप्नभावसहचकारणोपलब्धि	१०५. ८
स्वप्नभावहानि १०२. १८, १०९ १२३.	
स्वप्नभावहेतु	६ १९
स्वप्नभावातिशयाभाव	७०. २२.
स्वप्नभावान्तरिचन	६८ १७.
स्वप्नभावानुपलब्धि	१०५ १. २.
स्वप्नभावान्तर	१०५. १५; ११३. १९
स्वप्नभावान्तरग्रहणाय	१२३. ५
स्वप्नभावान्तरपरिणामात्मक	१०४. २४.
स्वप्नभावान्तरनिवेक	१०२ १२.

- योगभा० } योगभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज
योगसू० व्यासभा० } काशी) १४२, १४६, १५५,
१६२.
- योगभा० तत्त्ववै० } योगनाभ्यतस्ववैशारदी (चौखम्बा
योगसू० तत्त्ववै० } सीरिज काशी) १४६, १६०
- योगभा० भा० योगभाष्यभास्वती (चौखम्बा सीरिज
काशी) १४६.
- रत्नाकराव० रत्नाकरावतारिका (यशोविजयग्रन्थ-
माला काशी) १४०, १५२.
- राजवा० राजर्षासिकम् (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी सत्या
कलकत्ता) १३४, १३५, १४३-१४७, १४९,
१५२, १५३, १५७, १७०, १७९
- लघी० लघीयस्त्रयम् (सिधी जैन सीरिज कलकत्ता)
१३२, १६२, १७०, १८०.
- लघी० टि० लघीयस्त्रयटिप्पणम् (पतन्मुस्तकस्थम्)
१६०, १६१, १६७, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७, १८०.
- वाङ्मन्यायः (महावोधि सोसाइटी सारनाथ) १३७,
१३९, १६६, १७५.
- वाङ्मन्यायटी० वाङ्मन्यायटीका (महावोधि सोसाइटी
सारनाथ) १३२, १३९, १४५, १५९, १७९
- विक्रान्ति० विधिकी } विक्रान्तिमात्रतिसिद्धिः विज्ञ-
विज्ञान्तिमात्र० विद्यतिकी } त्तिका (By सिल्वनलेवी
मेरिस) १५८, १६०.
- विधिवि० विधिविवेकः (लाजरसकम्पनी काशी) १३७.
- विधिवि० न्यायकणि० } विधिविवेकन्यायकणिका-
न्यायकणि० } टीका (लाजरस कम्पनी
काशी) १३७, १६०.
- वादविधिः (प्रमाणमीमासाभाष्यटिप्पणोल्लिखिता)
१६६
- विशेषा० भा० विशेषावश्यकभाष्यम् (जैनधर्मप्रसा-
रकसभा भावनगर) १३२, १३४, १३५, १४३-
१४७, १५२, १५३, १६३, १६४, १६९.
- वैशो०सू० वैशेषिकसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१६५.
- व्या० प्र० } व्याख्याप्रज्ञप्तिसतकम् (पूजाभाई
भगवतीसू० } ग्रन्थमाला अमदावाद) १४२, १५१.
- शब्दकल्पद्रुमः कौश. (कलकत्ता) १६२.
- शावरभा० शावरभाष्यम् (आनन्दाश्रम सीरिज
पूना) १४०
- शावरभा० बृहती शावरभाष्यबृहतीटीका (मद्रास
मुनि० सीरिज) १५६.
- शावरभा० बृहतीप० शावरभाष्यबृहतीपञ्जिका
(मद्रास मुनि० सीरिज) १६०, १६९.
- शा० भा० भामती आङ्कुरभाष्यभामतीटीका (निर्णय-
सागर बवई) १३९, १४६, १६०
- शास्त्रदी० शास्त्रदीपिका (विद्याविलाम प्रेस काशी)
१५५, १८२.
- शास्त्रवा० शास्त्रवातिसमुच्चय (आगमोदय समिति
सूरत) १३८, १६३, १६८.
- शास्त्रवा० टी० शास्त्रवातिसमुच्चययशोविजयटीका
(यशोविजयग्रन्थमाला काशी) १३३, १४९,
१५०, १७०
- शिक्षासमु० शिक्षासमुच्चयः (विन्गोथिका वृद्धिका
रशिया) १३१, १७५.
- षट्पद० बृह० षट्पदानसमुच्चयबृहत्सूतिः (आत्मान-
न्दसभा भावनगर) १३२-१३५, १३९, १६२
- षष्ठिस्तत्रशास्त्रम् (योगभा० तत्त्ववैशारद्यामुद्रितम्)
१४६.
- सम्प्रति० सम्प्रतितकः (पुरातत्त्व मन्दिर अमदावाद)
१४२-१४४, १५३, १६९.
- सम्प्रति० टी० सम्प्रतितकटीका (पुरातत्त्व मन्दिर
अमदावाद) १३२, १३४, १३५, १३८-१४१,
१४५-१४८, १५०, १६०, १६४, १७०, १७९.
- सप्तभगित० सप्तभगितरङ्गिणी (रामचन्द्रशास्त्रमाला
बवई) १४९, १५१, १७०
- सर्वार्थसि० सर्वार्थसिद्धिः (कोल्हापुर) १३४, १४०,
१४३-१४८, १५२, १५३, १७०.
- सांख्यका० सांख्यकारिका (चौखम्बा सीरिज काशी)
१५४.
- सांख्यका० माठरजू० सांख्यकारिकामाठरवृत्तिः
(चौखम्बा सीरिज काशी) १७७.
- सांख्यतत्त्वकी० सांख्यतत्त्वकीमुदी (चौखम्बा सीरिज
काशी) १६५.
- सिद्ध० द्वावि० सिद्धसेनद्वाविज्ञानिका (भावनगर)
१६१, १६७
- सिद्धिवि० सिद्धिविनिश्चयः (सिद्धिविनिश्चयटीकात
उद्धृत.) १३३, १३६, १३९-१४५, १४८,
१५२, १५४, १५६, १५८, १५९, १६३-१७०,
१७३, १७४, १७७, १७८.
- सिद्धिवि० टी० सिद्धिविनिश्चयटीका लिखिता (५०
सुखलालसल्का B. H. U. काशी) १३२,
१३४, १३५, १३७, १४०, १४१, १४६,
१४८, १४९, १५३-१६०, १६३, १६४, १६७,
१७१, १७२, १७७, १७८.
- सूत्रकृतागशी० } सूत्रकृतागशीलाङ्कटीका (आग-
सूत्रकृतागशी० } मोदय समिति सूरत) १४६,
सूत्रकृतागशी० } १५२, १६४.

§ ७. टिप्पणनिर्दिष्टानां ग्रन्थानां सूचिः, सङ्केतविवरणञ्च.

अद्वयवज्रसं० अद्वयवज्रसंग्रहं (गायकवाड गोरियटल सीरिख बडोदा) १३१
 अनुयोगं } अनुयोगद्वारसूत्रम् (आगमोदय समिति
 अनु० सू०) } सूरत) १३२, १४४, १४५-१४७.
 १५२-१५४
 अनेकान्तजय० अनेकान्तजयपताका (यशोविजय
 ग्रन्थमाला काशी) १६३.
 अन्ययोगस्य० } अन्ययोगव्यवच्छेदद्वारशतिका
 स्थादावम० का० } (रायचन्द्र शास्त्रमाला बवई)
 १४२, १७०.
 अभिधर्मको० अभिधर्मकोश. (काशीविद्यापीठ ग्रन्थ-
 माला) १६२, १६९, १७९.
 अभिधर्मको० व्या० अभिधर्मकोशव्याख्या (काशी
 विद्यापीठ ग्रन्थमाला) १५६.
 अभिसमयालकारालो० अभिसमयालङ्कारालोक (गा०
 सीरिख बडोदा) १३१, १७२.
 अमरकोश (निर्णयसागर बवई) १७५
 अवमन्त्रिनिरा० अवमन्त्रिनिराकरणम् (एशियाटिक
 सोसाइटी कलकत्ता) १६०.
 अष्टसं० अष्टसं० अष्टसती, अष्टसहस्र्यां मुद्रिता
 (निर्णयसागर बवई) १३४, १३७, १३९,
 १४०, १४२, १४५, १५९, १६०, १६८,
 १७०, १७२-१७५, १७७-१७९
 अष्टसहस्री० अष्टसहस्री (निर्णयसागर बवई) १३१,
 १३५, १३८, १४०, १४६, १५५, १५६,
 १५९, १७०, १७१, १७३
 अष्टसहस्रि० अष्टसहस्रीविवरणम् (जैनग्रन्थ
 प्रकाशक समा अमदावाद) १५०
 आत्मतत्त्ववि० आत्मतत्त्वविवेक (जीवानन्द कल-
 कत्ता) १६८
 आप्तप० आप्तपरिज्ञा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनो सस्था
 कलकत्ता) १३३, १५५, १५८, १७९.
 आप्तमी० आप्तमीमांसा (जैनसिद्धान्तप्रका० सस्था
 कलकत्ता) १४२, १४३, १४५, १५१, १६८,
 १७०.
 आराधनाकथाकोश (बवई) १६४.
 आब० नि० आबशयकनिर्मुक्ति. (आगमोदय समिति
 सूरत) १३४, १४४-१४७, १५१, १५२

आब० नि० मलय० आबशयकनिर्मुक्तिमलयगिरिटीका
 (आगमोदय समिति सूरत) १४२, १४३,
 १४८, १४९, १५२, १५३.
 इष्टोपदेशटी० इष्टोपदेशटीका (माणिकचन्द्र ग्रन्थ-
 माला बवई) १४८
 उत्तरा० उत्तराध्ययनसूत्रम् (आगमोदय समिति
 सूरत) १६१.
 उत्पादादिसि० उत्पादादिसिद्धि. (जैानन्द पुस्तकालय
 सूरत) १८१.
 उपायहृदयम् (गा० सीरिख बडोदा) १६६
 कर्मग्रं० कर्मग्रन्था (आत्मानन्द ग्रन्थमाला भावन-
 गर) १५४
 कर्मग्रन्थटी० कर्मग्रन्थटीका (आत्मानन्द ग्रन्थमाला
 भावनगर) १४८
 क्षणभंगसि० क्षणभंगसिद्धि (एशियाटिक सोसाइटी
 कलकत्ता) १३७
 गृह्यतत्त्ववि० गृह्यतत्त्वविनिश्चय (आत्मानन्द समा
 भावनगर) १४९-१५१
 जगु.भ्रातकम् (विन्मभारती ग्रन्थमाला शान्तिनिकेतन)
 १६०
 जीवकाण्डम् (रायचन्द्रशास्त्रमाला बवई) १५४.
 जैनतर्कभा० जैनतर्कभाषा (सिधी जैन सीरिख
 कलकत्ता) १३२-१३५, १३९, १४३-१५०,
 १५२, १५३, १६२, १६३, १७०, १७५ १७७
 जैनतर्कवा० जैनतर्कवासिकम् (लाजरस कम्पनी
 काशी) १३२, १४७, १५५, १६१, १६४,
 १७१, १७२, १७५, १७९.
 जैनतर्कवा०वृ० जैनतर्कवासिकवृत्ति. (लाजरस
 कम्पनी काशी) १३३
 जैनशिलालेखम० जैनशिलालेखसंग्रह (माणिकचन्द्र
 ग्रन्थमाला बवई) १७१
 तर्कभा०मो० तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्तीया लिखिता
 (मुनि पुण्यविजयसत्का पाटन)
 १३५, १४२, १६८
 तर्कशास्त्रम् (गा० सीरिख बडोदा) १६६.
 तत्त्वसं० तत्त्वसंग्रह (गा० सीरिख बडोदा) १३१,
 १३६-१३८, १४५, १४६, १५५, १५७,
 १५९-१६४, १६७-१६९.

१ परिशिष्टेऽस्मिन् अङ्का पुण्डसव्यावोधका ज्ञेयाः ।

§ ६. अकलङ्कप्रणीतत्वेनोक्तानां लघीयस्त्रयादिप्रन्थत्रयबाह्यानां कियतां गद्यपद्यानां सूचिः ।

§ १. सिद्धिविनिश्चयटीकायां लिखितायाम्—

पृ० ६९ A. “कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहस्रवो गुणा' इत्यस्य 'सुखमाह्लादनाकार
विज्ञान मेघबोधनम् । शक्ति क्रियानुमेया स्याद्यून कान्तासमागमे ॥” इति निर्दशनं स्यात् ।”

[न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० २३० B.) 'सुखमाह्लादनाकारम्' इति श्लोक 'तदुक्त
स्याद्वाद्वाह्लादार्थे' इति कृत्वा समुद्धृत । निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० ७८ । न्यायकुमु०
पृ० १२९ । सन्तति० टी० पृ० ४७८ । स्या० रत्ना० पृ० १७८ । प्रमेयरत्ना० ४।७]

पृ० १२० A. तदुक्तं न्यायविनिश्चये—“न चैतद्बहिरेव किं तर्हि ? बहिर्बहिरेव प्रतिभासते
कृत एतद् भ्रान्ते तदन्यत्र समानमिति ।”

§ २. तद्वार्थश्लोकवार्तिके—

पृ० १८६. युक्तमुक्तञ्च कैश्चन—“अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय विन्तयेत् । आशिमूल्येन
तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥” [सिद्धिवि० पृ० ९७ B.]

[श्लोकोऽयं न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ४२४ B. ४६३ B.) समुद्धृत]

पृ० २८१. तथोक्तम्—“स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽयस्य वाचिन । नासाधनाङ्गवचन
नादोषोद्भावनं द्वयो ॥”

[श्लोकोऽयम् अष्टसहस्र्या (पृ० ८७) प्रमेयकमलमातृष्टे च (पृ० २०३ A.) उद्धृत]

पृ० ४२४. तथा चाहुरकलङ्कदेवा—“शब्द. पुद्गलपर्याय स्तन्व. छायातापविषत् ।”
[सिद्धिवि० पृ० ४६३ A.]

§ ३. प्रमाद्यपरीक्षायाम्—

पृ० ५४. तदुक्तम्—“व्यवसायात्मनो वृष्टे सस्कारः स्मृतिरेव वा ।

वृष्टे वृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥” [सिद्धिवि० पृ० २१]

[पूर्वाहं न्यायविनिश्चयविवरणेऽपि (पृ० ३६९ A.) उद्धृतम्]

§ ४. न्यायकुमुदचन्द्रे—

पृ० ३७०. “द्रव्यात् स्वस्वादिभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति
जलकल्लोलवज्जले ॥” [सिद्धिवि० पृ० १७४]

§ ५. न्यायविनिश्चयविवरणे लिखिते—

पृ० २३ A. कथं तर्हि कथितम् “स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽयस्य वाचिन ।”

पृ० ३० A. ५० A. उक्तञ्च—“सिद्धं यत्र परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयो । तत्रमाणं ततो
नाम्यदविकल्पमचेतनम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ८० A.]

पृ० ४६ B. तदुक्तं सिद्धिविनिश्चये—“पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं सूक्ष्मम् ।
यद्वचयस्यति वैशद्यं तत्सिद्धयोऽसिद्धसदृशस्मृते (तद्विद्धि सदृशस्मृते) ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३२]

पृ० ८४ A. यद्वचयति—“सकलाकारं वस्तु निविकल्पकमिति ।”

पृ० ८६ B. एतदेव स्वयं देवंदक्तं सिद्धिविनिश्चये—“प्रत्यासत्त्या ययैकं स्यात् भ्रान्तिप्रत्य-
क्षयोस्तथा । भागतद्भवभेदेऽपि ततस्तत्त्वं द्रयात्मकम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३१५]

पृ० ८२ B. तदुक्तम्—“जीवस्य सविवो भ्रान्तिमिहितं मदिरादिवत् । तत्कर्मिण्युक्तं तस्य
प्रबन्धोऽजादिरिष्यते ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३७३]

[श्लोकोऽयं प्रमाणनिर्णयेऽपि (पृ० ७१) समुद्धृत]

न्यायावता० टी० न्यायावताटीका (श्वेताम्बर
कान्धेस बवई) १४३, १४५, १४६, १४८,
१४९

पञ्चास्तिका० पञ्चास्तिकाय (गयचन्द्रशास्त्रमाला
पञ्चास्तिका०) बवई) १४४, १६१, १६९

पत्रप० पत्रपरीक्षा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी सत्या
कलकत्ता) १३२, १५५, १७१.

परमात्मप्र० परमात्मप्रकाश (रायचन्द्रशास्त्रमाला
बवई) १६१.

परीक्षामु० परीक्षामुखम् (प्रथमगुच्छक काशी)
१३२, १३३, १३७, १३९, १४०, १४८,
१५२, १६२-१६६, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७

पात० महाभा० पातञ्जलमहाभाष्यम् (चौखम्बा
सीरिख काशी) १४२, १४४, १४७

पात० रह० पातञ्जलरहस्यम् (चौखम्बा सीरिख
काशी) १४६.

प्रमाणनय० प्रमाणनयत्त्वालोकालङ्कार (यथोविजय
ग्रन्थमाला काशी) १३२-१३५, १३७, १३९,
१४०, १४२, १४४-१४९, १५२, १६२,
१६३, १६५, १६६, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७.

प्रमाणनि० प्रमाणनिर्वय. (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
बवई) १३२, १३३, १५६, १६२, १७७.

प्रमाणप० प्रमाणपरीक्षा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी
सत्या कलकत्ता) १३१, १३२, १३४, १३५,
१३९, १६२, १६४, १७५

प्रमाणमी० प्रमाणमीमांसा (सिंधी जैन सीरिख कल-
कत्ता) १३२-१४०, १४८, १६२-१६४, १६६,
१६८, १७०

प्रमाणमी० भाषाटि० प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पणानि
(सिंधी जैन सीरिख कलकत्ता) १६६, १७५

प्रमाणवा० प्रमाणवार्तिकम् (भिक्षुपट्टलसाकृत्याय-
नसक्त प्रफुल्लकम्) १३१-१३३, १३६-१३९
१४१, १४२, १४६, १४७, १५२, १५५-
१५७, १५९-१७०, १७९-१८१.

प्रमाणवार्तिकाल० प्रमाणवार्तिकालकार. (महाबोधि
सोसाइटी सारलाय) १५७-१५९

प्रमाणवार्तिकालि० प्रमाणवार्तिकालकार. लिखित.
(भिक्षुपट्टलसाकृत्यायनसक्त मद्रथीयपुस्तकम्)
१३२-१३५, १३७, १३८, १४१, १४६,
१४८, १५८, १५९, १६२, १६५, १७०, १७२,
१७९, १८०

प्रमाणवा० मनोरथ० प्रमाणवार्तिकमनोरथमन्दिनी-
टीका (भिक्षुपट्टलसाकृत्यायनसक्त प्रफुल्लकम्)
१३३, १३६, १४२.

प्रमाणवा० म्ववृ० प्रमाणवार्तिकस्वोपमवृत्ति (भिक्षु
पट्टलसाकृत्यायनसक्त प्रफुल्लकम्) १८१, १८२.
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका
(भिक्षुपट्टलसाकृत्यायनसक्त प्रफुल्लकम्)
१८१, १८२.

प्रमाणस० प्रमाणसंग्रह. (सिंधी जैनमीरिख कलकत्ता)
१३२, १३४, १३९, १४८, १५५-१७२, १७७.

प्रमाणसमु० प्रमाणसमुच्चय. (मैसूर युनि० मीरिख)
१३६, १५६, १५७, १६१, १६२, १६६

प्रमाणसमु० टी० प्रमाणसमुच्चयटीका (मैसूर युनि०
सीरिख) १३७, १५५.

प्रमेयक० प्रमेयकमलमातृण्ड. (निर्णयसागर बवई)
१३३, १३८, १४३-१४७, १४९, १६०, १६६.

प्रमेयरत्नको० प्रमेयरत्नकोशः (जैनधर्मप्र० सभा
भावनगर) १७०.

प्रमेयरत्नमा० प्रमेयरत्नमाला (काशी विद्याविलास
प्रेस) १३४, १४०, १५६, १७०, १७८

प्रवचनसा० प्रवचनसारः (रायचन्द्रशास्त्रमाला बवई)
१६९

प्रश्न० भा० प्रश्नस्तपाहभाष्यम् (चौखम्बा सीरिख
काशी) १६०, १६२.

प्रश्न० व्यो० प्रश्नस्तपाहभाष्यमवतीटीका (चौखम्बा
मीरिख काशी) १३९, १५४

बृहद्बोधः (गा० सीरिख बडोदा) १३१.
बोधिचर्या० बोधिचर्यावतार (एगियाटिक सोसा-
इटी कलकत्ता) १४५

बोधिचर्या०प० बोधिचर्यावतारपत्रिका (एगिया-
टिक सोसाइटी कलकत्ता) १३१, १३८.

बृहत्कल्पभा० बृहत्कल्पभाष्यम् (आत्मानन्द जैन-
ग्रन्थमाला भावनगर) १५२, १५३

ब्रह्मसू० ब्रह्मसूत्रम् (चौखम्बा मीरिख काशी) १६१
महोदय. (स्याद्वदरत्नाकर उद्धृतः) १३५.

भास्कर भा० ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् (चौखम्बा
मीरिख काशी) १८२

भाष्यमिकका० भाष्यमिककारिका (विन्डोपिका-
बुद्धिका रघिया) १३२.

भाष्यमिकवृ० भाष्यमिकवृत्ति (विन्डोपिका बुद्धिका
रघिया) १५४.

मी० इजो० मीमांसादलोकवार्तिकम् (चौखम्बा-
मीरिख काशी) १३३, १३९, १४०, १४२,
१५५, १५७, १६३, १६७, १६८.

मूलावा० मूलाकार (माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बवई)
१५२-१५४.

मुक्त्यनना० मुक्त्यनुशासनम् (माणिकचन्द्रग्रन्थ-
माला बवई) १३७, १४५, १६९.

योगनू० योगसूत्रम् (चौखम्बा सीरिख काशी) १६९.

पृ० ११४१. अकलकोऽप्यभ्यधात्—“विद्वद् हेतुमुद्भाव्य वादिन जयतीतर । आभासान्तर-
भुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥”

[श्लोकोऽप्य तत्त्वार्थश्लोकवास्तिके (पृ० २८०) सन्मति० टीकाया (पृ० ७५९) न्यायवि०
विवरणे (पृ० ५२८ A.) प्रमाणमीमांसायाञ्च (पृ० ६५) उद्धृत]

§ ६. प्रमाणमीमांसायाम्—

पृ० १२. यदाह—“वीर्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्युसा कुत पुन । ज्योतिर्ज्ञानाविसवाद श्रुताञ्चेद्
साधनान्तरम् ॥ त्रिकालविषय तत्त्व कस्मै वेदो निवेदयेत् । अक्षय्यावरणकान्तात्र चेद्देह तथा नर. ॥”

[सिद्धिबि० पृ० ४१३, १४]

§ १०. सप्तभङ्गतरङ्गियाम्—

पृ० ७६. तदुक्त भट्टकालङ्करदेवैः—“प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा विदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥”

[श्लोकोऽप्य स्वरूपसम्बोधने मूलरूपेण निष्टद्विक्त]



शुद्धयः पाठभेदाश्च

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
३.	१०.	प्रमाण्य	प्रामाण्यम्	P. ४६.	२८.	-द्वधर्माप्यासेन	-द्वधर्माप्यासेन
६.	१७.	-रन्तवच प्रत्य-	-रन्तवचाप्रत्य-	P. ४७.	१.	न्यायसंभवतावा-	असंभवतावा-
८.	२२.	-विषय-	-विषय-	P. ४८.	११.	-स्मनस्त-	-स्मनस्त-
९.	७.	अक्षधीःस्मृति-	अक्षधीःस्मृति-	५३.	१६	सर्वस्तुसत्ता	सर्वस्तुसत्ता
१२.	१७	-कालनियमा-	-कालस्वभावनियमा-	P. ५४.	९	प्रामाण्यमविस-	प्रमाणमर्थस-
१४.	२१.	इति श्रुते । प्र-	इति । श्रुतेः प्र-	५४.	१०.	क्षाभाप्र-	-क्षाभप्र-
१४.	२३.	तदपि सूक्ष्मे-	तदपि सूक्ष्मे-	५४.	२७.	केवल	केवल.
२०.	३.	भूमूर्धना	भूमूर्धनाम्	५८	३.	-मानतदि-	-मानतदि-
२०.	१३.	अलक्षणत्वेन	लक्षणत्वेन	५९	५.	मेदव-	मेदव-
२१.	१९.	परिणामतो	परिणामतो	६०	१०.	चेदभि-	चेदभाभि-
२२.	५.	-वैशवाक्येषु	-वैशादिकाक्येषु	६०.	३०	तदनेकान्तात्मक	तदनेकान्तात्मक
P. २३.	१६.	-प्रस्तावमूल-	-प्रस्तारमूल	६१.	१४.	प्रसक्त	प्रसक्ता
			(न्यायकुमुदचन्द्रे)	६२.	१२.	कार्यकरणयो	कार्यकारणयोः
२३	२३.	गुणीभूता सु-	गुणीभूता सु-	P. ६६.	२७	बहिर्यत	बहिर्यत
२४.	११.	श्रुतज्ञानेन	श्रुतज्ञानेन	७१.	२९.	क्षणज्ञोपि	क्षणमज्ञोपि
P. २५.	८.	-भेदकृत्	-भेदकः (न्याय- कुमुदचन्द्रे)	७२.	२.	न च ते	न च ते
P. २५.	२७.	-निरूपणम्	-निरूपणप्रवणम् (न्यायकुमुदचन्द्रे)	७९	१७	गर्वाभ्यासा-	सर्वाभ्यासा-
३०	२४.	-र्थकतानत्व-	र्थकतानत्व-	८२.	१८.	सर्वथासदु-	सर्वथासदु-
P. ३२.	१७	असिद्धिरि-	असिद्धेरि-	८२.	२२.	कणोष्टमत्व-	कणोष्टमत्व-
३९.	२०.	निश्चय	विनिश्चय	८४.	५	-लौकिकम्	-लौकिके
४१.	१०.	-कानन्वयत्वत	-कानन्वयत्वत.	८४.	२६.	-मर्ष्याञ्चै-	-मर्ष्याञ्चै-
४२.	२.	-कुर्यान्-	कुर्यान्-	P. ८८	५	सकलाग्र-	सकलाग्र-
P. ४३	३०.	अनन्य-	अनन्य-	१०१	३.	कुतको	कुतको
		अनर्थ-	अनर्थ-	१११	४.	-ञ्चिन्तकरोज्ञात	-ञ्चिन्तकरोज्ञात
				२८.	८	१०५. १०६	१०५. १०६
				३९	३९.	४६	८६. } परिशिष्टेषु

P. एतच्चिह्नद्विक्ताः पाठभेदा ।



स्यामाङ्ग० } स्वामाङ्गसूत्रम् (आगमोदय समिति
स्यामाङ्गसू०) सूरत) १४२, १५२, १६९.
स्या० म० स्याद्वादमञ्जरी (रायचन्द्रशास्त्रमाला
भवई) १४३-१४७, १५१.
स्या० रत्ना० स्याद्वादरत्नाकरः (आर्हतप्रभाकर
कार्यालय पूना) १३३-१३५, १४०, १५१,
१६०, १६४, १७०, १७९.
हेतुवि० हेतुविन्कुः (P. तारकसमहासयेन हेतुविन्दुटी-
कात् उद्धृत) १३६, १७४, १७७, १७९.
हेतुवि० टी० हेतुविन्दुटीका अर्थाटकृता लिखिता
प० सुखलालसत्का B. H. U. काशी)
१३७, १३९, १४४, १७०, १७८.

ई० ईश्वरभण्डारीयन्यायकुमुदचन्द्रस्य प्रती उपलब्धा
श्रुतिता विवृतिः ।
का० कारिका ।
गा० गाथा ।
ज० जयपुरीयपाटोदीमन्विरसत्का विवृतिप्रतिः ।
न्यायकु० न्यायकुमुदचन्द्रः ।
पू० पृष्ठम् ।
प० पद्मनिः ।
मू० लघी० मुद्रित लघीयस्त्रयम् (माणिकचन्द्रग्रन्थ-
माला भवई)
श्लो० श्लोक ।
सम्पा० सम्पादकः ।



§ न. टिप्पणनिर्दिष्टानाम् आचार्याणां सूचिः.

अकलक	१३२, १४२, १५५, १६२, १६३, १७१.	प्रज्ञाकरगुप्त	१३२, १५८.
अकलकूवाद्याचार्य	१४९	प्रभाचन्द्र	१३८
अनन्तवीर्य	१३५	अदन्तयोगसेन	१३७.
आर्यरक्षिताचार्य	१३२	अदन्तशुभगुप्त	१५९
उ० यशोविजय	१५०, १५१.	मलयगिरि	१४३, १५०, १५१.
कुमारलन्दिभट्टारक	१६४.	मल्लवादिन्	१७९.
कुमारिल	१३३.	वातिककार	१६४.
जिनभद्रगणिकामअमण	१३२.	वार्पगण्य	१६२
जेनतर्कवातिककृन्	१७१	विद्यानन्द	१३८, १७१.
तत्त्वसप्रहकार	१३१.	सम्मतिटीकाकार	१३८.
देवनन्दिन्	१७८	समन्तभद्र	१५०, १५१, १६८, १७८, १७९.
धर्मकीर्ति	१३२, १३४, १४१, १६८.	सिद्धसेनगणिप्रभृति	१४९
नन्दिभूषणकार	१३२.	सिद्धनेनेदिवाकर	१५२, १७८, १७९.
नागार्जुनप्रभृति	१३२, १७२.	हेमचन्द्रादि	१५०.
पात्रस्वामिन्	१६४.		



